PRATINIDHI HASYA KAHANIYAN

Edited by

MANMOHAN SARAL : SHRI KRISHAN

प्रतिनिधि-साहित्य-माला

प्रतिनिधि	हास्य	कहानियाँ	१२.५०
प्रतिनिधि	हास्य	एकांकी	(प्रेस में)
प्रतिनिधि	ऐतिहासिक	कहानियाँ	(प्रेस में)
प्रतिनिधि	रंगमंचीय	एकांकी	(प्रेस में)
प्रतिनिधि	बाल	एकांकी	(प्रेस में)

●

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ६

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	१२ रुपए ५० न० पै०
प्रथम संस्करण	:	१९६०
चित्रकार	:	योगेन्द्र कुमार लल्ला
मुद्रक	:	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-१

प्रस्तावना

हिन्दी की प्रतिनिधि हास्य कहानियों का यह संग्रह आखिर पूरा हो ही गया !

इस वाक्य के विश्लेषण से एक साथ तीन बातें सामने आती हैं। पहली तो यह कि हास्य या हास्य कहानी क्या है ? दूसरी बात इस संग्रह की कहानियों के प्रतिनिधि होने के सम्बन्ध में और तीसरी इसके आखिर पूरा हो ही जाने में हुए कार्य और श्रम के सम्बन्ध में।

संग्रह के लिए कहानियाँ चुनते समय हास्य क्या है और कहानी में हास्य है अथवा नहीं, इसका सही मापदण्ड स्थिर करना आवश्यक हो गया था। इस निर्वाचन में यथाशक्ति उसका पालन किया गया है।

हास्य क्या है, इसका उत्तर देना साहित्य की अपेक्षा दर्शन-शास्त्र का विषय अधिक है। सरल भाषा में इसे यों कहिये कि हम हँसते क्यों हैं ? प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य लेखक बर्नार्ड शॉ ने लिखा है : 'कोई भी चीज जो हँसाये हास्य है।' फ्रांसीसी आलोचक बर्गसॉ ने इस प्रश्न को हल करते हुए हास्य की परिस्थिति और प्रकृति का विश्लेषण किया है। उन्होंने कई निष्कर्ष निकाले हैं—हास्य सर्वथा मानवीय वृत्ति है और मानव-जीवन से बाहर उसकी कोई गति नहीं है; हास्य के लिए भावुकता और उद्वेग का सर्वथा अभाव अनिवार्य है क्योंकि हास्य और भावुकता एक दूसरे के शत्रु हैं; हास्य एक सामाजिक वृत्ति है, वातावरण अथवा परिस्थिति में किसी प्रकार की असामाजिकता हास्य को जन्म दे सकती है।

बिलकुल ऐसी ही बात हमारे प्राचीन आलोचकों ने भी कही है। हास्य की उत्पत्ति का कारण असंगति, बेमेलपन, विपरीतता, औचित्य से शून्य अथवा परिनिष्टित मार्ग से हटी हुई बात मानी गयी है। ऊँट से लम्बे पति के साथ नाटी पत्नी या पूतना-जैसी भीमकाय स्त्री के साथ बच्चों-जैसा छोटा पति आदि अनुपातहीन घटनायें हास्य का कारण बनती हैं।

हर काम करने का एक ढंग होता है, एक समय होता है। जीवन में परिस्थिति के अनुकूल आचरण किया जाना आवश्यक है। किन्तु कभी-कभी मनुष्य नयी परिस्थिति में भी पुरानी परिस्थिति, आदत या प्रणाली की तरह ही कार्य कर जाता है और इस तरह हास्य का विषय बन जाता है। उदाहरण लीजिये—एक दारोगा फोन पर बात कर रहा है। दूसरी ओर से सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कहा—'मैं एस० पी० बोल रहा हूँ।' सुनते ही दारोगा तनकर खड़ा हो जाता है और तड़ाक से हाथ उठाकर आदत के अनुसार फौजी सलूट बजाता है। टेलीफोन के सम्मुख उसका यह आचरण सहज ही हास्य का विषय बन जायेगा। बर्गसॉ ने ऐसी ही घटनाओं के लिए कहा था कि जब मनुष्य अपनी नैसर्गिक स्वतन्त्रता छोड़कर यन्त्र की भाँति कार्य करने लगता है,

तब वह हास्य का विषय बन जाता है। सड़क पर चलते-चलते फिसलने पर हँसी आने का कारण भी यही है। यहाँ पर लोग कहेंगे कि एक के तो चोट लग गई, और आप हँस रहे हैं। लेकिन फिसलना तो छोटी-सी बात है, किसी ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि किसी मनुष्य की मृत्यु पर हँसा जा सके तो जरूर हँसना चाहिए।

हास्य एक प्राकृतिक देन है और वह प्रेम की ही तरह स्वतः उत्पन्न होता है। जबकि प्रेम दो वस्तुओं के आकर्षण से उत्पन्न होता है, हास्य दो वस्तुओं के विकर्षण का परिणाम है।

हँसनेवाले के दृष्टिकोण से भी तनिक देख लिया जाये। इसके निमित्त मनोविज्ञान का आश्रय लेना होगा। फ्रायड के काम-वासना सिद्धान्त को भी हास्य की उत्पत्ति का आधार बताया गया है। व्यक्ति की यौन-वासना, घृणा-द्वेष आदि दमित वासनाओं का अपेक्षाकृत निरापद निकास का मार्ग हँसना ही है। ये निकास के मार्ग यों तो और भी हो सकते हैं—स्वप्न, भूलें आदि। जैसे किसी पटवारी की कलम गिर गई, देखकर एक शोषित किसान ने कह दिया, "मुंशीजी, आपकी छुरी गिर गई।" लोग हँस पड़े। लेकिन वास्तव में यह घटना पटवारी के अनुचित रूप से उसे चूसने के कारण हुई। उसके हृदय की दमित भावनाओं, फ्रायड के शब्दों में, वासनाओं का व्यक्तीकरण है। लेकिन घृणा या काम-वासना के निकास के मार्ग की कल्पना से सब प्रकार के हास्य की व्याख्या नहीं हो सकती। अक्सर दूसरों की भूल या दुर्दशा में जो हास्य जागृत होता है उसमें हँसनेवाले के छिपे अहं और उच्चता की भावना ही अधिक उत्तरदायी है। प्रत्येक हँसनेवाले में थोड़ी-बहुत दबी हुई क्रूरता होती है। सज्जन दूसरों की भूलों और दुर्दशा को सहृदयता से टाल देते हैं, लेकिन दूसरे उन पर हँसते हैं। उच्चता की भावना के साथ-साथ कुछ धन्यवाद की-सी भावना भी होती है। उदाहरण, 'इससे यह भूल हुई है, शुक्र है, मुझसे नहीं हुई।'

एक कल्पना और भी है। जब कोई विपरीतता या बेढंगापन दिखाई देता है तब उससे भारी अनिष्ट की आशंका होती है और मन में अजीब-सा तनाव हो जाता है। लेकिन यदि संयोग से कोई भारी अनिष्ट नहीं होता, तब सहसा ही प्रसन्नता से हँसी निकल जाती है। डार्विन, वाट्सन आदि मनीषियों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। यहीं पर करुणा और हास्य को विभाजन-रेखा आती है। केले के छिलके से कोई फिसल गया। यदि वह झाड़-पोंछकर सकुशल उठ बैठे तो लोग हँस पड़ते हैं, लेकिन यदि इस घटना में उसकी टाँग टूट जाय तो यही हास्य करुणा में परिणत हो जाता है। वस्तुतः हास्य और करुणा पास-पास ही हैं। ओलिवर होम्स ने लिखा है—
'Laughter and tears are nearly related, both being moved by the same machinery of sensibility, the one being wind-power and the other water-power.'

सबसे अधिक हँसी आती है मूर्खता पर। यह मूर्खता चाहे हँसानेवाला स्वयं करे अथवा दूसरों से कराये। इसीलिए हास्य के नाम पर जो-कुछ लिखा जाता है

उसमें अधिकांश का विषय यही रहता है। अधिकांश में तो लेखक स्वयं ही हास्योत्पादक पात्र होता है और अपनी काल्पनिक या सच्ची मूर्खताओं द्वारा पाठक को हँसाने का प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त भाषा का हास्य भी प्रचलित है, जैसे अवधी या भोजपुरी संवादों पर हँसी आ जाती है। यह हँसी भी वैषम्यमूलक ही है क्योंकि हम इस तरह की भाषा सुनने के आदी नहीं होते। हास्योत्पादन में फिर चामत्कारिक घटना-संयोग का नम्बर आता है। एक ऐसी ही घटना याद आई—एक बार नानाजी और नानीजी का अलग-अलग फोटो लिया था। पहले नानाजी का फोटो लिया, फिर नानीजी का। भूल से नानाजी का फोटो लेने के बाद रील घुमाना रह गया और नानीजी का फोटो नानाजी के फोटो के ऊपर ही खिंच गया। इस अनायास ही खिंचे डबल एक्सपोजर को देखकर सबको सहसा ही हँसी आ गई। हुआ यह कि उसमें ऊपर का चेहरा और कोट तो आया नानाजी का और नीचे का भाग, लहंगा आदि नानीजी का आ गया।

हास्य दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। हास्य के विषय को देखनेमात्र से यदि दर्शक में हास्य की उत्पत्ति हो तो वह हास्य आत्मस्थ होता है; जो हास्य दूसरे के कारण से ही होता है, उसे परस्थ कहा जाता है। पहले में पात्र स्वयं हँसता है, दूसरे में वह दूसरों को हँसाता है। प्रभाव और परिमाण की दृष्टि से हास्य के तीन प्रकार माने गये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीनों के भी दो-दो भेद होते हैं। उत्तम के भेद हैं, स्मित और हसित; मध्यम के विहसित और उपहसित; अधम के अपहसित और अतिहसित। ये प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकते हैं। इस तरह हँसने की क्रिया बारह प्रकार से हो सकती है। लेकिन गुण की दृष्टि से देखा जाय तो और प्रकार भी सामने आते हैं। एक तो हुआ शुद्ध हास्य लेकिन जहाँ दूसरों को मूर्ख बनाने के लिए हास्य किया जाय उसे उपहास कहते हैं। यह उपहास कटुता-सहित और कटुता-रहित दोनों प्रकार का हो सकता है। द्रोपदी की दुर्योधन से हँसी कटुता-सहित थी जबकि सूर की गोपियों द्वारा उद्धवजी का उपहास कटुता-रहित था।

पाश्चात्य वर्गीकरण थोड़ा भिन्न है। वहाँ हास्य के साथ-साथ तीन नाम और लिए जाते हैं—व्यंग्य (Satire), वक्रोक्ति (Irony), विदग्धता (Wit) और हास्य (Humour)। इनमें आपस में बहुत थोड़ा अन्तर है जो स्पष्ट है। हास्य की विशेषता है, उसकी निर्मलता। व्यंग्य सदा सोद्देश्य होता है, उपहास के द्वारा ताड़ना ही उसका अभिप्राय हुआ करता है। वक्रोक्ति में चुभन लिए हुए कटुता होती है। विदग्धता सदैव बुद्धि के चमत्कार पर आश्रित रहती है। हास्य में इन सबसे पृथक् स्वच्छ मन का सहज उच्छलन होता है। हास्य का उद्देश्य कटुता आदि से पूरी तरह रहित है। हमारे आचार्यों ने इन चारों को अलग नहीं माना है, हास्य के इर्द-गिर्द ही सबको उलझा दिया है। यही कारण है कि हिन्दी में हास्य के नाम पर व्यंग्य ही प्रायः अधिक चलता है। उसमें उद्देश्य होता है—किसी-न-किसी प्रकार की सुधार-भावना।

इस संकलन के लिए कहानी-निर्वाचन में बहुत प्रयत्न करने पर भी इस चतुर्विध उलझन से बचाव पूरी तरह नहीं हो पाया है, तो इसके पीछे भी यही कारण है।

व्यंग्य और हास्य, दोनों को अलग करने में कई मतभेद हैं। इनकी विभाजन-रेखा पहचानना आवश्यक है। निष्पक्षता और सद्भावना तो दोनों के ही लिए अनिवार्य है। चेस्टरटन ने कहा है—'अच्छा व्यंग्य एक शीशा होता है, जिसमें सूअर सूअर ही दिखाई देगा और फरिश्ता फरिश्ता ही।' एक दूसरी बात जो व्यंग्य में हास्य से अलग है वह यह कि उसमें स्थायी चुभन और कटाक्ष होता है। यदि आप किसी का इतना मजाक उड़ायें कि उसमें आपकी दयालुता ही समाप्त हो जाये तो आपका हास्य व्यंग्य की कोटि में आ जायेगा। अच्छा व्यंग्य हमारे मस्तिष्क में ऐसे खटकता है जैसे आँख में किरकिरी, इसीलिए कहा गया है कि व्यंग्य कसना कोई खेल नहीं है बल्कि बड़े कौशल का काम है। हेजलिट का कथन है: 'जीवन की उलझनें और अन्याय हमें केवल आँसू बहाना ही नहीं सिखातीं बल्कि हमारे मस्तिष्क में विषैले व्यंग्य की उद्भूति भी करती हैं।' इस तरह व्यंग्यकार का दायित्व जीवन के दृष्टिकोण से बहुत बड़ा है। मेराडिथ के अनुसार वह एक सामाजिक ठेकेदार होता है जिसका काम गन्दगी के ढेर को साफ करना होता है।

समाज और जीवन के लिए हास्य की उपादेयता भी कम नहीं है। हँसमुख होना मनुष्य के गुणों में गिना जाता है। सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में इस गुण से कितने ही जटिल प्रश्न सहज ही सुलझ जाते हैं। हास्य का महत्त्व जीवन के विविध क्षेत्रों में व्याप्त है। वास्तव में यही वह गुण है जो मनुष्य को अन्य जीवों से अलग करता है। हँसने की शक्ति केवल मनुष्य में है। यह हमारे मानसिक तथा भाव जगत् के सन्तुलन की रक्षा करता है। एक तरह से हास्य मनुष्य की बहुत बड़ी शक्ति है जो जीवन की विभिन्न कटु से कटुतर गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होती है, निराशा और अभावों के अन्धकार में प्रकाश प्रदान करती है, निरुपाय और असहायावस्था में आश्रय बनती है। हास्य के वरद हस्त के नीचे ही मनुष्य ने मृत्यु तक का हँसते-हँसते वरण किया है। हास्य वह गोवर्धन पर्वत है जिसके नीचे संसार और विधना के सभी दुःखों और संकटों से मनुष्य बचता रहा है।

किन्तु इस वरदान-स्वरूप, व्यापक और उपयोगी गुण के साथ विडम्बना यह रही है कि इसका कभी उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सका। इसे उच्च और मान्य आसन पर पदासीन करने की बात तो क्या, विज्ञ और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने इसकी ओर कभी दृष्टिपात तक न किया। ऐसी बात नहीं कि हास्य से उनका सामना ही न हुआ हो, किन्तु वे इसे छूत की बीमारी समझकर यथासाध्य इससे दूर ही रहे। यदि किसी ने इसकी कभी कोई व्याख्या की भी तो इसे अवगुण माना और इसको निम्नवर्ग से ही सम्बन्धित रखने का प्रयास किया। इस तरह श्रेष्ठ वर्ग के लेखकों तथा विचारकों ने अपने व्यापक अध्ययन और मनन की परिधि में इसे आने ही नहीं दिया।

हास्य के प्रति इस उपेक्षा का फल यह हुआ कि इसका दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन पूरी तरह नहीं किया जा सका। जो कुछ है भी वह इतना अल्प और विवादास्पद है कि कहीं एकमत होना सम्भव नहीं है। विश्लेषण क्षेत्र के साथ-साथ ही इस उपेक्षा का प्रभाव हास्य के रचनात्मक पक्ष पर भी कम नहीं पड़ा है। यों तो विश्व-साहित्य में ही हास्य साहित्य का परिमाण अनुपाततः न्यून है किन्तु हिन्दी साहित्य के लिए यह कहा जाता रहा है कि हिन्दी में हास्य का सर्वथा अभाव है। यह अभाव क्यों है, इसके कारणों के और अधिक विस्तार में न जाकर जितना कुछ हास्य-साहित्य हमारे यहाँ है, उस पर ही दृष्टि केन्द्रित करके हम आगे बढ़ते हैं।

मुक्त हास्य का अभाव तो हिन्दी की जननी संस्कृत में भी है। उसका हास्य विशेष सीमाओं में बँधा है। उनके आलम्बन निश्चित हैं। नव-रसों में हास्य को रखा तो अवश्य गया है किन्तु उसे बहुत ही गौण स्थान दिया गया है। हिन्दी के पुराने लेखक भी उन्हीं परम्पराओं का निर्वाह करते रहे, उन बन्धनों को लाँघकर आगे बढ़ने का साहस उन्होंने नहीं किया। सभ्यता और समाज के विकास के साथ-साथ हिन्दी का हास्य संस्कृत की रूढ़िग्रस्त परम्परा का अन्धा अनुयायी न रह सका। सूर के कृष्ण की बाल-लीला-वर्णन में मधुर हास्य के दर्शन होते हैं, उनकी गोपियाँ विदग्धता और व्यंग्य-गर्भित कटूक्तियों का बड़ी कुशलता से प्रयोग करती हैं। तुलसी ने भी यत्किंचित् हास्य-रचना की है। 'रामचरितमानस' में शिव-विवाह, परशुराम-संवाद, लक्ष्मण-शूर्पणखा प्रसंग, नारद-मोह आदि प्रकरणों में सफल हास्य दृष्टिगत होता है। रीतिकालीन दरबारी कविताओं में भी हास्य पाया जाता है। इतने पर भी यह निश्चित ही है कि उस समय के साहित्यकारों की प्रतिभा हास्य की डगर पर जंजीरों में बँधी ही दौड़ पाती थी। हास्य के आलम्बन अत्यन्त सीमित थे। वे आमतौर पर पेटू ब्राह्मण, कंजूस राजा, विदूषक आदि ही हुआ करते थे।

आधुनिक साहित्यकारों में भारतेन्दु ने ही पहले-पहल हास्य की आत्मा को पहचाना। समाज की कुरीतियों और बेढंगी बात की उन्होंने बुरी तरह खिल्ली उड़ाई और इस तरह उन्होंने अपनी इस धारणा का प्रदर्शन किया कि इन्हें समाप्त करने का एकमात्र और सरलतम उपाय यही है। अपनी ईश्वरीय प्रतिभा से उन्होंने अच्छे हास्य का सृजन किया। उनके बाद तो हिन्दी में गद्य, पद्य दोनों में ही हास्य की रचना होने लगी। सर्वश्री प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने उन्हीं दिनों रचना की।

आगे की प्रगति के लिए विदेशी साहित्य, यहाँ का प्रान्तीय साहित्य और विशेषकर उर्दू साहित्य अधिक उत्तरदायी है। पश्चिमी साहित्य ने जिस तरह यहाँ के साहित्य को प्रभावित किया यदि यह न हुआ होता तो निःसन्देह हिन्दी में हास्य रस का विकार इस दर्जे तक न हुआ होता। उर्दू ने भी तो बहुत-कुछ वहीं से सीखा है। ज्यों-ज्यों अंग्रेजी का साहित्य और उसके माध्यम से फ्रांस, रूस आदि देशों की भाषाओं का साहित्य यहाँ आता गया, हास्य की ओर सबका ध्यान गया। अँग्रेजी के

साप्ताहिक 'पञ्च' का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी देखा-देखी उर्दू में लखनऊ से 'अवधी पंच' निकाला गया। इस तरह विदेशी हास्य के सम्पर्क में हिन्दी के लेखक का आना और अधिक आसान हो गया। कुछ दिनों बाद श्री ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'हिन्दू पंच' हिन्दी में निकाला और इस तरह हिन्दी में हास्य-पत्र के अभाव की पूर्ति की।

वर्तमान काल की ओर बढ़ते ही श्री जी. पी. श्रीवास्तव का नाम सामने आता है। यह हिन्दी की हास्य-कहानियों के जन्मदाता कहे जाते हैं। इन्होंने कहानियों के अतिरिक्त हास्य प्रहसन भी लिखे। फ्रांस के मोलियर का प्रभाव इन पर स्पष्ट दिखाई देता है। उनकी कितनी ही रचनाओं का अनुवाद भी इन्होंने किया है। इनके हास्य का आज कलात्मकता की दृष्टि से नहीं, हास्य कहानियों के विकास-क्रम की दृष्टि से विशेष मूल्य है। इनका हास्य अपहसित कोटि का है। स्थूल उपादानों की विकृतियों से ही हास्य उपजाने का यत्न इन्होंने किया।

शंकर ने व्यंजित हास्य की सृष्टि की लेकिन उनका काव्य ही उल्लासमय हो सका, गद्य तो संजीदा ही रहा। इसके बाद कुछ तत्कालीन लेखकों ने भी इस दिशा में अपनी कलम चलाई किन्तु स्तर ऊँचा न उठ सका। केवल भाषा और त्रिभंगमुद्रा ही हास्य की वस्तु समझी जाती रही।

इन्हीं दिनों पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की हास्य रचनाएँ भी सामने आईं। उनकी रचनाओं में सानुप्रास भाषा-शैली तथा साधिकार शब्द-प्रयोग से हास्य की अजीब-सी उद्भावना होती थी, लेकिन इनका हास्य भी श्रेष्ठता नहीं पा सका।

वस्तुतः यह हिन्दी हास्य का 'एक्सपेरिमेण्ट युग' था। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर श्री शिवशम्भू शर्मा (बालमुकुन्द गुप्त) ने सन् १९०३ में 'भारत-मित्र' के पृष्ठों पर 'शिवशम्भू के चिट्ठे' के नाम से हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण पत्रावलि प्रकाशित कराई जो काफी लोकप्रिय हुई। इनकी रचनाओं में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य का पैनापन अधिक था। समाज के रीति-रिवाज, राजनैतिक समस्याओं आदि सभी देशव्यापी बातों को लेकर इन्होंने व्यंग्य लिखे। कुछ इसी प्रकार की चिट्ठियाँ दुबे जी के नाम से श्री विश्वम्भर शर्मा लिखते रहे। बिलवासी मिश्र और महाकवि चच्चा के नामों से श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा का हास्य सामने आया तथा उन्हीं दिनों 'विशाल भारत' में एक बंगाली सज्जन श्री रासबिहारी बोस ने 'परशुराम' उपनाम से कुछ हास्य रचनाएँ प्रकाशित कराईं। इन हास्य कहानियों में मनोवैज्ञानिक हास्य पहली बार सामने आया।

इन्हीं दिनों उर्दू के अजीमबेग चगताई की कहानियों का हिन्दी अनुवाद भी 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ और फलतः उनकी शैली तथा तकनीक का प्रचुर प्रचार हिन्दी-क्षेत्र में भी बढ़ा। उन्होंने हास्य उत्पन्न करने के लिए हास्योत्पादक शब्दावलि का नहीं वरन् घटनाओं का सहारा लिया। 'कोलतार', 'शरीर-बीबी', 'अल-शजरा', आदि उनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

इसके बाद तो हिन्दी के हास्य-लेखकों को एक मार्ग मिल गया। अँग्रेजी तथा

इसके माध्यम से फ्रांसीसी, रूसी तथा कुछ अन्य भाषाओं के हास्य साहित्य से प्रभाव ग्रहण कर नये-नये माध्यम से हास्योत्पादन किया जाने लगा। कुछ मौलिक सूझ भी दिखाई देने लगीं। पागलपन और प्रलाप जैसी मूर्खताओं को भी हास्य की सामग्री बनाकर लिखा गया। होली के अवसर पर उपाधि-वितरण भी हास्य की ही नयी शैली कही जा सकती है। चलती-फिरती पुस्तकों की आलोचना के नाम से जीवित व्यक्तियों का हास्यपूर्ण परिचय देना भी ऐसा ही एक उदाहरण है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि हास्य-साहित्य हिन्दी में अब उपेक्षित नहीं है। इस पक्ष में भी काफी सन्तोषजनक प्रगति दिनोंदिन हो रही है। हिन्दी में नयी-नयी हास्य शैलियों तथा नये-नये लेखकों का उदय इसका प्रमाण है। प्रस्तुत संग्रह में भी हिन्दी-हास्य की कुछ नयी शैलियों और कई नयी प्रतिभाओं का समावेश किया गया है। अवश्य ही हिन्दी साहित्य को उनसे बड़ी आशाएँ हैं।

हास्य कहानियों में हास्य के सभी प्रभेदों का प्रयोग मिलता है। केवल हँसाने के उद्देश्य से लिखी गई मनोरंजक कहानियाँ, समाज की किसी रूढ़ि पर तीखा व्यंग्य करनेवाली सुधारवादी व्यंग्यात्मक कहानियाँ, किसी विशेष हास्यास्पद चरित्र को लेकर लिखी गई चरित्र-प्रधान हास्य कहानियाँ—सभी प्रकार हिन्दी में प्रचलित हैं। यहाँ भी हमने इन सभी प्रकारों को एकत्र करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत संकलन की कहानियाँ हिन्दी हास्य के सभी प्रभेदों का यत्किंचित् प्रतिनिधित्व कर सकेंगी। प्रतिनिधित्व की बात इस कारण कही जा रही है कि हमने अपनी जान में सभी आमंत्रित लेखकों की श्रेष्ठतम रचना ही संग्रहीत की है। संकलन के लिए कहानियाँ आमंत्रित करते समय हमने प्रत्येक लेखक-बंधु से यह अनुरोध किया था कि अमुक प्रकार की अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना संग्रह करने के लिए प्रेषित करें। इन कहानियों के प्रतिनिधित्व में शंका तभी हो सकती है जब लेखक ने स्वयं अपनी कहानी की श्रेष्ठता आँकने में भूल की हो। ऐसी किसी त्रुटि के लिए यद्यपि हम पर कोई दायित्व नहीं आता, फिर भी यदि अजाने ही अज्ञानता में हमने निर्वाचन में कहीं भूल कर दी हो तो क्षमाप्रार्थी हैं।

एक बात संकलन के लेखकों के विषय में भी। हम यह घोषणा नहीं करते कि इस संकलन में सम्मिलित हुए लेखक ही हास्य-कथा-लेखक हैं, इसके बाहर के नहीं; साथ ही यह दावा भी नहीं करते कि ये सभी लेखक हिन्दी में हास्य-लेखक के रूप में ही जाने जाते हैं। इनमें कई ऐसे भी हैं जिन्होंने गिनती की ही हास्य कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु उनमें ही हमें कोई एक ऐसी उत्कृष्ट जान पड़ी कि स्थान देना आवश्यक हो गया। कुछेक नये और अख्यात लेखक भी हमने निर्भीक होकर प्रस्तुत किये हैं, हमें विश्वास है कि उनकी रचनाएँ कुशल लेखकों की कहानियों के सामने फीकी नहीं लगेंगी।

हमें इस बात का विशेष गर्व है कि हिन्दी में इतना बड़ा कहानी-संकलन यह शायद पहला ही है। इतने बड़े संकलन में, जिसमें लेखकों की संख्या ५० के लगभग हो गई है, सभी कहानी एक ही-से स्तर की होंगी, यह सम्भव नहीं हो सकता। फिर

श्रेष्ठता और विशेषकर हास्य कहानी का अच्छा लगना तो अपनी व्यक्तिगत रुचि पर ही निर्भर है। हमें आशा है कि प्रत्येक प्रकार की रुचि के पाठकों को अपनी पसन्द की कहानियाँ प्रचुर मात्रा में मिल सकेंगी।

इस संग्रह की योजना तीन वर्ष पूर्व बनाई गई थी किन्तु कागज की तंगी के कारण यह विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। इस अवधि में इन लेखकों ने कई इनसे अच्छी रचनाएँ भी लिखी होंगी, हिन्दी-हास्य-साहित्य ने भी नये प्रयोग उपस्थित किये हैं किन्तु उनका दिग्दर्शन कराना इस संग्रह की सीमाओं से बाहर की बात हो चुकी है। इसलिए इस तरह की किसी कमी के लिए सम्पादकों को दोषी न ठहराने की आशा अपने विज्ञ पाठकों और सहृदय समालोचकों से हमें है।

सम्पादन, निर्वाचन, संचयन आदि में व्यय किये अपने श्रम की चर्चा करना उचित नहीं जान पड़ता। यह तो सुस्पष्ट और सहज अनुभव करने की बात है। जितना कुछ श्रम हुआ भी है, वह सफल तो तब कहा जायेगा, जब यह संकलन प्रेमी पाठकों द्वारा पसन्द किया जायेगा और सुधी आलोचकों द्वारा इसे मान मिलेगा।

इस महत् योजना के सफलतापूर्वक पूरा होने में मेसर्स आत्माराम एण्ड संस के संचालक श्री रामलाल पुरी का पूरी रुचि लेना बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। स्नेही लेखकों ने भी अपना रचनात्मक सहयोग देकर हमें बल प्रदान दिया है। चित्रकार बंधु योगेन्द्रकुमार लल्ला के श्रम का परिचय तो संग्रह की सज्जा स्वयं दे देगी। इन सबके प्रति आभार-प्रदर्शन सम्पादक अनिवार्य समझते हैं।

—मनमोहन सरल
—श्रीकृष्ण

क्रम

दावत की अदावत

अन्नपूर्णानन्द

●

श्री अन्नपूर्णानन्द का जन्म सन् १८९५ में काशी के एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था। बी० एस-सी० तक आपने शिक्षा प्राप्त की। उन्नीस वर्ष तक श्रीकाशी विद्यापीठ और भारतमाता मंदिर के संस्थापक सुप्रसिद्ध दानवीर शिवप्रसाद गुप्त के मन्त्री रहे। आप योरप भी घूम आये हैं।

हिन्दी के हास्य साहित्य क्षेत्र में आपका ऊँचा स्थान है।

आप उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री संपूर्णानन्दजी के अनुज हैं।

रचनाएँ

'महाकवि चच्चा', 'मगन रहु चोला', 'मेरी हजामत', 'मंगलमोद', 'मन-मयूर', आदि।

मुख्यमन्त्री की कोठी, लखनऊ

पन्द्रह मिनट तक सब हँसते रहे, मैं खड़ा दाँत पीसता रहा ।

यह मैंने आज ही जाना कि जिस सड़क पर एक फुट मोटी धूल की परत चढ़ी हो वह फिर भी पक्की सड़क कहला सकती है। पर मेरे दोस्त झूठ तो बोलेंगे नहीं। उन्होंने कहा था कि पक्की सड़क है, साइकिल उठाना, आराम से चले आना।

धूल भी ऐसी-वैसी नहीं। मैदे की तरह बारीक होने के कारण उड़ने में हवा से बाजी मारती थी। मेरी नाक को तो उसने अपने बाप का घर समझ लिया था। जितनी धूल इस समय मेरे बालों में और कपड़ों पर जमा हो गई थी उतनी से ब्रह्मा नाम का बुड्ढा कुम्हार मेरे ही ऐसा एक और मिट्टी का पुतला गढ़ देता।

पाँच मील का रास्ता मेरे लिये सहारा का रेगिस्तान हो गया। मेरी साइकिल पग-पग पर धूल में फँस कर खुद भी धूल में मिल जाना चाहती थी। मैंने इतनी धूल फाँक ली थी कि अपने फेफड़ों को इस समय बाहर निकाल कर रख देता तो देखनेवाले समझते कि सिमेंट के बोरे हैं।

खैर, किसी तरह सड़क खतम हुई और मैं एक लम्बी पगडण्डी तय करके उस बाग के फाटक पर पहुँचा जिसमें आज मेरी मित्र-मण्डली सुबह से ही आकर टिकी थी।

फाटक पर खड़े होकर मैंने अपने को झाड़ा-झटकारा। जरूरत थी फावड़े की पर मैंने हाथ ही से अपने शरीर की धूल हटाई।

मैं बिलकुल लस्त हो गया था। धूल की वैतरणी पार करने के बाद यह बाग स्वर्ग-सा प्रतीत हो रहा था। हृदय धीरे-धीरे आनन्द की पेंग मारने लगा। बारह बज गये थे, मित्रों ने रसोई तैयार कर ली होगी, मेरा इन्तजार कर रहे होंगे। पता नहीं बाटियों को लोगों ने घी में तर कर रक्खा है या नहीं। मैंने कह तो दिया था।

बाग में मैं दाखिल हुआ। बीच में एक बारहदरी थी। चांडाल चौकड़ी वहीं ठहरी होगी। मैं उसी तरफ बढ़ा। मन में सोचता जा रहा था कि एक बार पहुँचते ही सबको खूब लताड़ूँगा कि दावत देने की आखिर यह कौन-सी जगह थी। शहर से इतनी दूर और ऐसी खराब सड़क!

लेकिन बारहदरी में कोई दिखायी न पड़ा। किसी पेड़ के नीचे सब होंगे। 'बहरी तरफ' का मजा पेड़ों ही के नीचे आता है।

मैंने सारा बाग छान डाला, कहीं किसी की गन्ध भी न थी। आखिर मामला क्या है? दूर पर एक माली कुछ काम करता दिखायी पड़ा। उसके पास जाकर मैंने पूछा—"क्यों भाई! आज सुबह शहर से कुछ लोग यहाँ सैर के लिये आये थे?"

"नाहीं तौ!"—उसने कहा।

"अरे मुरारी नाम का कोई आदमी नहीं आया था ? इकहरा बदन, साँवला रंग, गाल पर एक बड़ा-सा मस्सा ।"

"नाहीं, कोई नहीं आवा रहा ।"

"मुरली नाम का कोई आदमी ? लम्बा कद, चपटी नाक, घूर पर पड़े हुए जूते-सा मुँह ।"

"नाहीं ।"

"और माधो नाम का ?"

उसने झुँझला कर कहा—"नाहीं साहब ! माधो नाम का भी कोई नाहीं आवा रहा; और मुन्नू, मँहगी, मँगरू, मेवा, मोहन, गुनेस्सर नाम का भी कोई नाहीं आवा रहा ।"

मैं अपना सिर पकड़ कर वहीं बैठ गया । मैं फिर बेवकूफ़ बना, इसी एक साल में तीसरी बार ।

पहली बार, गंगा में नाव पर इन बदमाशों ने मुझे दावत के लिये बुलाया और भाँग पिला कर सोता हुआ छोड़ कर भाग गये । दूसरी बार, खुद सब खा-पीकर मुरारी के मकान पर आये थे, मुझे दावत के नाम पर वहीं रोक रक्खा, पास के किसी कमरे में जलते तवे पर पानी के छींटे दे-देकर मुझे भुलावा दिया कि खाना तैयार हो रहा है; अन्त में रात के बारह बजे मैं खाली पेट रोता-कलपता घर लौटा ।

और आज यह तीसरी बार । गरमी का दिन, दोपहर का समय, शहर से कोसों दूर और ऐसी खराब सड़क !

मैंने उस माली से कहा—"जरा पाँच मिनट के लिये अपने कानों में उँगली तो डाल लो ।"

"काहे ?"— उसने चकित होकर पूछा ।

"अपने दोस्तों को मैं गाली दूँगा ।"

"साहब, फजूल हमार वखत मत खराब करो ।"

"तुम कर क्या रहे हो ?"

"इहै पेड़ हम उखाड़ रहा हैं ।"

"लाओ मैं उखाड़ दूँ ।"

मेरे एक झटके में पेड़ जड़ से उखड़ गया । मैंने यह सोच कर जोर लगाया था कि अपने दोस्तों के कान उखाड़ रहा हूँ ।

रोता-झींकता मैं उसी 'पक्की' सड़क से लौटा । मैं था साइकिल पर सवार पर यदि साइकिल ही मेरे ऊपर सवार होती तब भी उसे आगे बढ़ाने में मुझे इससे अधिक जोर न लगाना पड़ता । धूप की तेजी के साथ-साथ हवा भी तेज हो गयी थी । धूल की बहार इस समय मैं आँखों से कम, आँखों में ही अधिक देख रहा था ।

साढ़े तीन बजे के करीब मैं शहर पहुँचा । मैं थकावट और भूख से मुर्दा हो रहा था पर इस समय मुझे सिर्फ़ एक धुन थी—मुरारी को पकड़ कर पीटने की । वही ऐसी

शरारतों का आविष्कारक और सूत्रधार होता है।

मैं सीधे मुरारी के मकान पर पहुँचा। उसके छोटे भाई से भेंट हुई। मैंने पूछा—"मुरारी है?"

"नहीं।"

"कहाँ गया?"

"मैं नहीं जानता।"

"मर गया हो तो साफ-साफ बता दो, मैं हँसी-खुशी घर जाऊँ।"

"आप बहुत थके-माँदे जान पड़ते हैं। जल पीजियेगा?"

"मैं इस समय मुरारी के खून का प्यासा हूँ। आये तो उससे कह देना।"

पास ही में मुरली का मकान था। वहाँ गया, वह भी न मिला। माधो से भी भेंट न हुई। मैं समझ गया कि सब-के-सब जानबूझकर कहीं छिपे हुए हैं। यह तो वे सब जानते ही होंगे कि इस समय में बनैले सूअर से भी ज्यादा खतरनाक हो रहा था।

मैं अपने मकान की ओर चला। रास्ते में पंडित नेकीराम से भेंट हो गयी। वे इसी जिले में बी० एन० डबल्यू० रेलवे के राहुलगंज नामक स्टेशन के स्टेशन-मास्टर हैं। मेरा कुछ एहसान उनके ऊपर था, इससे मेरा लिहाज करते थे।

नमस्कार-प्रणाम के बाद मैंने पूछा—"कहिये कहाँ जा रहे हैं?"

"दो महीने की छुट्टी मैंने माँगी थी जो मंजूर हो गयी है। एक हफ्ते में घर जानेवाला हूँ। आज कुछ सामान खरीदने शहर आया था। आप तो कभी आते ही नहीं, कई बार प्रार्थना की कि एक रात वहीं बसेरा कीजिये।"

"अच्छा आऊँगा। हो सका तो आपके जाने के पहले ही आऊँगा।"

उस समय मैं भूखा-प्यासा अधिक बातें नहीं कर सकता था। मैं किसी तरह गिरता-पड़ता घर पहुँचा।

तीन दिन तक मुरारी, मुरली, माधो या मोहन किसी की सूरत न देख पड़ी। चौथे दिन सब के सब साथ ही मेरे मकान पर आये। पूर्व इसके कि मेरा पारा चढ़े उन सबने हँसना शुरू किया और ईश्वर झूठ न कहलाये, पन्द्रह मिनट तक लगातार सब हँसते रहे। मैं खड़ा दाँत पीसता रहा।

मुरारी ने हँसते हुए कहा—"देखो, जब तक तुम हम लोगों को एक दावत न दे लोगे तब तक हम लोग तुम्हें इसी तरह बेवकूफ बनाकर छकाया करेंगे।"

किसी तरह अपना गुस्सा पीते हुए मैंने कहा—"अपने घर पर तो मैं तुम लोगों को दावत दे नहीं सकता, मेरी पत्नी तुम लोगों को समाज की तलछट समझती है।"

"अच्छा! बाहर कहीं।"

"राहुलगंज चलोगे? छोटी लाइन से तीन स्टेशन है यहाँ से। बड़ा रमणीक स्थान है। वहाँ के स्टेशन-मास्टर मेरे मित्र हैं। दावत का सारा प्रबन्ध कर रक्खेंगे।"

मेरी यह राय सबको पसन्द आयी। कल ही वहाँ चलने की पक्की ठहरी। दूसरे

दिन शाम को पाँच बजे की गाड़ी से हम लोग रवाना हुए और छः बजते-बजते राहुलगंज पहुँच गये।

पंडित नेकीराम मेरे साथ इतने आदमियों को देखकर घबराये। उन्हें अलग ले जाकर मैंने उनसे कुछ बातें कीं। वे हँसकर चुप हो रहे। मैंने पूछा—"आप कल सुबह जा रहे हैं?"

"कल सुबह नहीं, बल्कि आज ही रात में तीन बजे की गाड़ी से। मेरे रिलीफ आ गये हैं। कल से मेरी छुट्टी शुरू होगी।"

इधर मुरारी और मोहन में यह बहस हो रही थी कि आसन कहाँ पर जमाया जाय। मुरारी प्लेटफार्म पर ही दरी बिछाकर बैठना चाहता था। मोहन की राय थी कि सामने कुएँ की जगत पर बैठक जमे। पर मैंने जो राय दी वह अपनी नवीनता के कारण सबको फौरन पसन्द आ गयी।

स्टेशन की बगल में और रेल की पटरियों से कुछ फासले पर पानी की एक टंकी थी। जमीन से करीब चालीस फुट की ऊँचाई पर यह लोहे के खम्भों के ऊपर बैठायी हुई थी। चढ़ने के लिये बगल में लोहे की पतली-सी सीढ़ी लगी थी। टंकी ऊपर से ढकी हुई थी।

मैंने कहा कि क्यों न इसी टंकी पर चढ़कर बैठा जाय। चाँदनी रात में बड़ा मजा रहेगा। चारों ओर से हवादार जगह, फिर नीचे से पानी की तरी। पास में पेड़ों का झुरमुट होने के कारण कोई देखेगा भी नहीं।

बस यही ठीक रहा। मेरी सूझ की सबने तारीफ की। टंकी पर एक दरी बिछा दी गई और मित्र-मण्डली उस पर जा धमकी। कहकहों का बाजार गर्म हुआ, गुलछर्रे उड़ने लगे। दो-ढाई घण्टा तो देखते-देखते बीत गया। नौ बजे लोगों की राय हुई कि अब खाना आना चाहिये। ऊपर ही खाया जायेगा। मैं प्रबन्ध करने के लिये नीचे भेजा गया।

पंडित नेकीराम अपने कमरे में स्टेशन पर बैठे हुए थे। मैंने जाकर कहा—"पंडितजी! अब कोई आदमी दीजिये जो सीढ़ी गिराने में मेरी मदद करे। लेकिन पहले एक घड़ा पानी पीने का ऊपर रखवा दीजिये, गरमी का दिन है।"

पंडितजी ने अपना नौकर मेरे साथ किया। नौकर जिस समय घड़े का पानी लेकर टंकी पर चढ़ा उस समय दोस्तों ने समझा कि अब भोजन भी आता होगा। लेकिन नौकर ने उतर कर मेरी मदद से लोहे की सीढ़ी खिसका कर नीचे गिरा दी।

मैं नीचे बैठकर तमाशा देखने लगा। करीब आधा घंटा लोगों ने और इन्तजार किया। फिर यह राय हुई कि कोई नीचे उतर कर देखे कि भोजन पहुँचने में क्यों देर हो रही है। मुरारी नीचे आने के लिये खड़ा हुआ।

पर यह क्या? सीढ़ी कहाँ गायब हो गयी? मुरारी ने झुककर देखा तो सीढ़ी जमीन पर गिरी हुई दिखायी पड़ी।

उस छोटी-सी दुनिया में जो इस समय पानी की टंकी पर स्थित थी एक क्रान्ति-

सी पैदा हो गयी। मुझे अभी तक इसका खेद है कि काफी प्रकाश न होने के कारण मैं अपने मित्रों का चेहरा अच्छी तरह नहीं देख पाया था। शोर काफी सुनायी पड़ रहा था।

मैंने नीचे से पूछा—"क्या है मुरारी! क्या शोर कर रहे हो?"

"अजी यहाँ की सीढ़ी कैसे गिर गयी?"

"तुम जानो, मैं क्या जानूँ!"

"बड़ी मुश्किल हुई। हम लोग नीचे कैसे उतरेंगे?"

"नीचे उतरने की जरूरत क्या है? अब सबेरे नीचे उतरना। बड़े भाग्य से ऐसा उच्च स्थान प्राप्त होता है।"

"फजूल मत बको!"

"देखो चाँदनी खिली हुई है। शीतल-मन्द-सुगन्ध बयार बह रही है। ऊपर निर्मल निरभ्र आकाश का वितान है, नीचे हरी-भरी पृथ्वी का प्रसार है।"

"अच्छा चुप रहो।"

"आदर्श ऋतु है, सुन्दर स्थान है, मनोरम दृश्य है। इससे अधिक क्या चाहिये? निश्चिन्त होकर प्रकृति का निरीक्षण करो।"

"तुम न मानोगे?"

"अच्छा कविता करो, या कहानी कहो, रात कट जायेगी। जरा यह तो सोचो कि इस समय तुम लोग स्वर्ग के कितने निकट हो।"

मैंने पंडित नेकीराम के नौकर से कह दिया था। वह एक हाथ में लालटेन और दूसरे में मेरी थाली लिये पहुँचा। मैं वहीं बैठकर खाने लगा। मोहन ने ऊपर से पूछा—"अजी हम लोग क्या खायँगे?"

मैंने कहा—"क्या बताऊँ? बड़ा अफ़सोस है! इसी अफ़सोस में मैं आज कुछ ज्यादा खा रहा हूँ!"

"मर जाव खाते-खाते"—मोहन ने कहा।

"यह कचौरियाँ बड़ी लाजवाब बनी हैं। कहो तो मैं एक टुकड़ा तुम लोगों के देखने के लिये ऊपर फेकूँ?"

इसका मुझे कोई उत्तर तो न मिला पर कुछ लोगों के कराहने की आवाज मुझे साफ सुनायी दी। मैंने फिर कहा—"अजी इस रबड़ी की खुशबू से तो दिल हरा हो गया। तुम लोगों तक इसकी खुशबू पहुँच रही है या नहीं?"

इस बार भी मुझे कोई उत्तर न मिला। मैंने ऊपर अपनी निगाह उठायी। आपने अँधेरे में किसी बिल्ली की आँखें चमकती हुई देखी हैं? ठीक उसी तरह की चार जोड़ी आँखें टंकी के ऊपर से मेरी ओर आग फेंक रही थीं।

खाना खतम करके मैं वहाँ से चलने लगा। चलते हुए मैंने कहा—"ऊपर एक घड़ा पीने का पानी मैंने रखवा दिया है। खाली पेट ठण्डा जल पीना आयुर्वेद में त्रिदोषनाशक माना गया है।"

थोड़ी दूर जाकर मैं फिर लौटा। एक बात मैं भूल गया था। मैंने कहा—"हाँ, एक बात और। पंडित नेकीराम ने कहा है कि रात में अगर किसी ने शोर किया तो वे पुलिस को खबर दे देंगे कि कुछ बाहरी लोग बिना इजाजत स्टेशन की टंकी पर चढ़ गये हैं और ऊधम मचा रहे हैं।"

"तुम्हारा संहार हो"—मुरारी और मोहन ने कहा।

"तुम्हारा सत्यानाश हो"—मुरली और माधो ने कहा।

ग्यारह बज गये थे। स्टेशन पर आकर मैं लेट रहा। राहुलगंज ब्रांच लाइन का एक स्टेशन है। रात में गाड़ियाँ नहीं आती-जातीं। स्टेशन पर इसलिए शान्ति थी।

सुबह साढ़े तीन बजे की गाड़ी से पंडित नेकीराम रवाना हो गये। मैं भी उसी गाड़ी से रवाना हुआ। पण्डितजी ने नये स्टेशन-मास्टर से, जो उनके मित्र थे, चलते समय कह दिया कि उनके कुछ मेहमान पानी की टंकी पर सो रहे हैं, उन्हें सुबह छः बजे की गाड़ी के समय से सीढ़ी लगाकर उतार दीजियेगा।

घर आकर मैं कई दिन तक बाहर नहीं निकला। मुरारी वगैरह आते थे और हाथ मलकर लौट जाते थे।
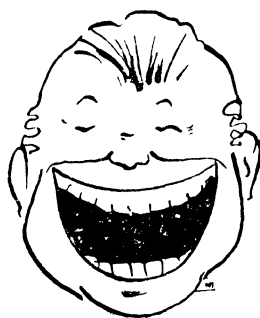
जेलर का रोमान्स

अनन्तगोपाल शेवड़े

●

श्री अनन्तगोपाल शेवड़े का जन्म सन् १९११ में सौंसर जिला छिंदवाड़ा, मध्य-प्रदेश में हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी है, लेकिन बचपन से ही आपको हिन्दी से रुचि रही। एम० ए० उत्तीर्ण करने के बाद आपने अंग्रेजी साप्ताहिक 'इण्डिपेण्डेण्ट' की स्थापना की। सन् १९४२ में राजनीतिक बन्दी हो गये। कारागृह में लिखने का अवकाश काफी मिला और अनेक कहानियों व लेखों के अतिरिक्त तीन उपन्यास लिखे, जो प्रकाशित हो चुके हैं। 'मृगजल' उपन्यास पर आपको मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद् की ओर से पुरस्कार प्रदान किया गया है। 'ईसाईबाला' आपका सर्वप्रथम उपन्यास है।

गुजराती, मराठी, सिंधी, कन्नड़ आदि भाषाओं में भी आपकी रचनाओं का अनुवाद होता रहता है। आप दैनिक 'नागपुर टाइम्स' के संचालक हैं। आप अंग्रेजी में भी लिखते हैं।

आपकी पत्नी श्रीमती यमुना शेवड़े भी मराठी की सुयोग्य लेखिका हैं।

रचनाएँ

'ईसाईबाला', 'पूर्णिमा', 'मृगजल', निशागीत', 'ज्वाला-मुखी', 'मंगला', 'परिक्रमा, 'सन्तरों की डाली', 'तीसरी भूख' आदि-आदि।

खुर्शिद विला, धर्मपेठ, नागपुर
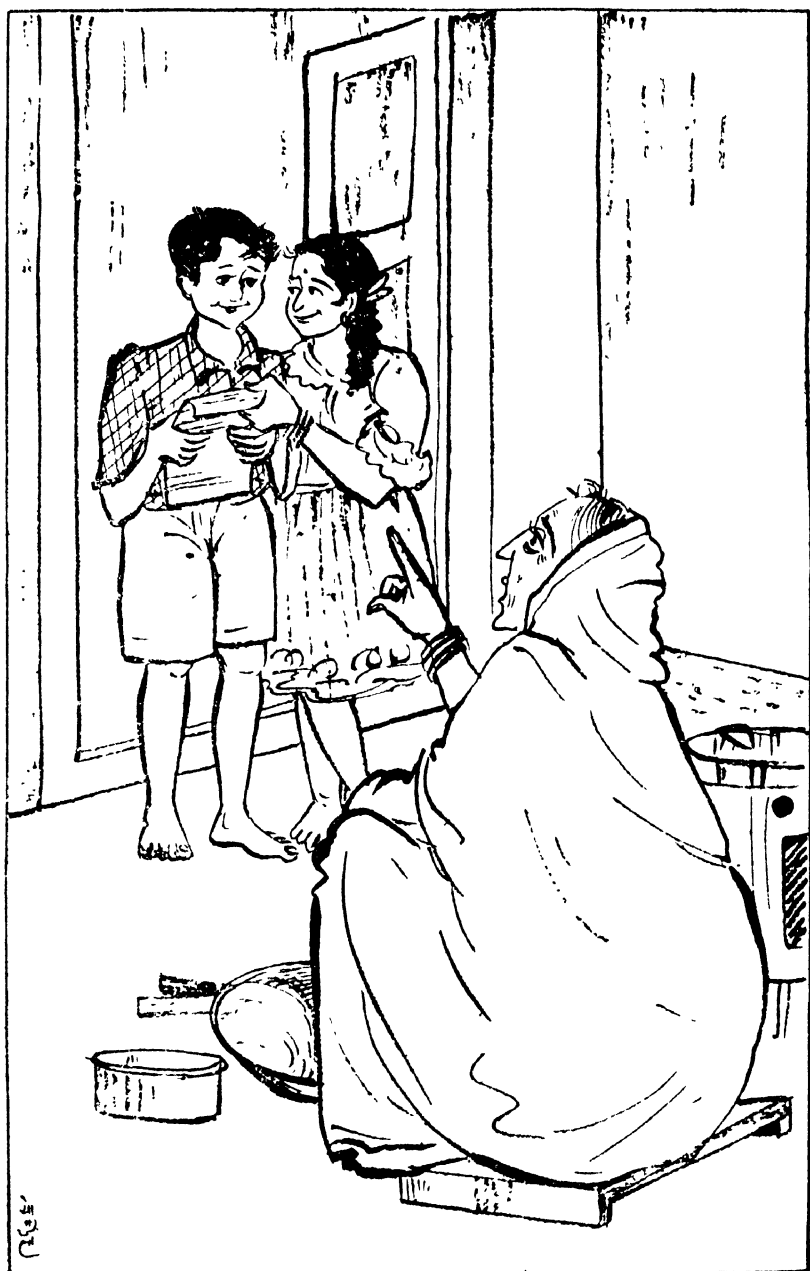
बड़ा भैया चिट्ठी पढ़ने लगा—'प्रिय रानी..........।'

रोमांस किसे कहते हैं यह मूलचंद जेलर को तब मालूम हुआ जब उनकी जेल में छः राजबन्दियों का एक जत्था तबदील होकर आया।

सन् बयालीस के आन्दोलन का जमाना था। जेलों पर जैसे मुराजी कैदी टूट पड़े। जेल के कर्मचारियों की बड़ी मुसीबत थी। जब देखो तब 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो!' और 'वन्देमातरम्!' के नारे लगते। बात-बात पर जेल के कानूनों को लेकर हाकिमों और राजनीतिक कैदियों के बीच झगड़ा हो जाता। डिसिप्लिन कायम रखना जान पर आफत थी। राजबन्दियों की सुनो तो जेल का एडमिनिस्ट्रेशन चौपट, और न सुनो तो बायकाट, भूख-हड़ताल, दंगा-फसाद!

लेकिन जेलर मूलचन्द कोई कच्ची गोली से खेलने वाले अफसर नहीं थे। जेल की नौकरी करते-करते अट्ठारह साल बीत गये थे। सन् तीस का आन्दोलन भी उन्होंने देखा था हालाँकि उस वक्त वह मामूली नायब जेलर थे। और बाल भी जो पक रहे हैं वे सिर्फ़ धूप में नहीं पके हैं। इसलिये जब उन्हें हुक्म मिला कि उन्हें अपनी जेल में छः राजबन्दियों को रखना है तो मूँछों पर हाथ फेरते हुए उन्होंने फौरन छुट्टू की माँ को बुलाकर कहा—

"देखो जी, सरकार ने हम पर एक बड़ी भारी जिम्मेदारी सौंपी है। अगर हम उसमें कामयाब हुए तो सीनियर जेलरी पक्की है। फिर तुम कर लेना शान से मुन्नी और बिटिया का ब्याह, और पढ़ा लेना बड़े भैया, बच्चू और छुट्टू को। फिर तबादला होगा हमेशा बड़ी जगह—अब जैसे जंगली जिलों में नहीं, इसलिये अभी से कहे देता हूँ कि हमारे आराम का ख्याल ऐसा रखना कि हमारी ड्यूटी में कोई खलल नहीं पड़े—समझीं?"

छुट्टू की माँ ने भी गोदी के बच्चे को संभालते हुए, जरा घूँघट खींच कर कहा—"जी!"

अट्ठारह साल की नौकरी, चालीस-इकतालीस की उमर और पाँच बच्चे—मूलचंद जेलर की अब तक इतनी कमाई थी। शादी हुई तब पत्नी की उमर होगी सोलह-सत्तरह। वह एक-दो दर्जे हिन्दी पढ़ी थी और कभी भूले-भटके साल छः महीने में वक्त मिल गया तो 'रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाए पर वचन न जाई—सरणम्' पढ़ लिया करती थी। एक···दो···तीन···चार···पाँच इत्यादि बच्चों को जन्म देकर उन्हें पालना-पोसना और जेलर साहब की दुबली तनख्वाह में घर-गृहस्थी चलाना कोई मामूली बात थी? पर मूलचंद जेलर की पत्नी यह काम सफलता के साथ कर

लेती थी।

लेकिन इसके अलावा और कुछ नहीं। न कहीं बैठने-उठने जाती और न कभी सिनेमा देखने। हाँ, कहने को 'कृष्ण-जन्म' सिनेमा वह देख आई थी और उसके बाद कई दिनों तक गद्‌गद् होकर 'गोबर्धन गिरधारी' की रट लगाती रही थी।

लेकिन जेलर साहब की दुनिया इससे कुछ अलग है। सुबह तड़के ही लॉक-अप खोलना, गिनती, हाजिरी, परेड, राउंड आदि के चक्र में ही दिन बीत जाता और शाम को फिर वही गिनती, लॉकअप करके रात को एकाध बार चैकिंग करना पड़ता। एक ही ढर्रे की नीरस जिन्दगी थी।

पर इन राजबन्दियों के आने के बाद उनके कार्यक्रम में फर्क पड़ा। परेशानियाँ जरूर बढ़ गईं, काम भी बढ़ गया, लेकिन कुछ नवीनता भी आ गई, कुछ लुत्फ़ आने लगा।

उनकी जेल छोटी थी। उसकी आबादी थी सिर्फ़ अस्सी यानी इतने कैदियों के लिये उसमें जगह थी। लेकिन जब ये छः राजबन्दी सेण्ट्रल जेल से बदल कर आये तो उनके लिए एक स्वतन्त्र बैरक खाली करके देनी पड़ी, जिसके कारण उस जेल की आबादी और घट गई। लेकिन सारा जेल का काम एक तरफ और इन छः सुराजियों का काम एक तरफ।

ये हैं भी जरा अलग किस्म के कैदी। सभी पहले दर्जे में रखे गये हैं। महीने में बीस रुपये का सामान खरीद कर अपनी सुविधाएँ बढ़ाने का इन्हें हक है, हफ़्ते में चार चिट्ठियाँ ये लिख सकते हैं और मँगा सकते हैं। अपने कपड़े—यानी जेल का लिबास नहीं—पहन सकते हैं और लिखने-पढ़ने की इन्हें आजादी है। कैरम, ताश, बेडमिंटन ये खेलते हैं और अपना मैस ये खुद चलाते हैं, जिसमें तरह-तरह की मिठाइयों के प्रयोग करके ये लोग पाकशास्त्र में रिसर्च करते हैं।

मूलचंद जेलर सोचते—बड़े खुशकिस्मत कैदी हैं। इनका जेल ही में रहन-सहन इतना ऊँचा है जो मुझे बाहर रहकर भी नसीब नहीं। काश, मैं इनसे अपनी जगह बदल पाता।

लेकिन सबसे अधिक मजा उन्हें आता इन राजबन्दियों का पत्र-व्यवहार पढ़ने में। जेलर के नाते उन्हें इनकी एक-एक चिट्ठी—चाहे बाहर से आई हो या जेल से जा रही हो—सेंसर करनी पड़ती और जहाँ जरा-सी भी बात एतराज के लायक होती तो उन शब्दों या वाक्यों पर डामर की स्याही पोतनी पड़ती।

शुरू-शुरू में तो उन्हें यह काम परेड लेने की तरह ही रूखा लगा, लेकिन बाद में तो उसमें उन्हें नई दुनिया ही दिखाई देने लगी। उन राजबंदियों में एक थे साठ वर्ष के बूढ़े आचार्य। बाहर कोई आश्रम चलाते थे। उनके पत्रों में आशीर्वाद, उपदेश और गीता के सिवा और कुछ नहीं होता था। और लोग तो हफ्ते में चार चिट्ठियाँ भेजने के हक को पूरा आजमाया करते थे, पर यह महाशय महीने में एक चिट्ठी भेजकर संतोष कर लेते थे। इनके पत्र तो जेलर साहब बिना पढ़े ही पास कर

देते थे।

एक सेठजी थे, जो बाहर की दुनिया से अपने आप को एक क्षण के लिये भी अलिप्त नहीं रख पाते थे। उनका शरीर तो जेल में था पर मन चौबीसों घंटे जेल के बाहर रहता। वह एक बार काँग्रेस को चन्दा देकर असेम्बली के मेम्बर बन गये, लेकिन अब जेल में उन्हें लगने लगा कि यह मेम्बरी बहुत महँगी पड़ी। बाहर लड़ाई के कारण काले बाजार में इतनी गजब की कमाई हो रही थी कि उससे फायदा न उठा सकने के कारण उनके प्राण 'काँई करूँ रे ?' कहकर भीतर-ही-भीतर छटपटा रहे थे। एक बार तो उनसे अपने दो साल के बच्चे के नाम पर लिखे पत्र में यह कहे बिना नहीं रहा गया।

"देख, पहलाद, अपणे मुनीम काकाजी से कह दीज्यो कि धर्मादा में लाख पचास हजार खरच हो जायें तो बाधो नई, पर या नरक से तो छुटकारा करो।"

जेलर साहब ताड़ गये कि यह बात धर्मादा में नहीं रिश्वतखोरी में लाख पचास हजार देकर रिहाई कराने की है, सो उस पर फौरन डामर की स्याही पोत दी। सेठजी को जब पन्द्रह दिन तक भी इस मूलभूत प्रश्न का जवाब नहीं मिला तो फिर अपने उसी दो वर्ष की उमरवाले बच्चे को गुस्से में लिखा :

"पहलाद, म्हारी चिठी में मै काँई रोऊँ हूँ थें, और कोण कूं बंचावे है कि अपणे आप ही बांचे हैं ?"

जेलर साहब को हँसी आ गई तो उसमें वह कालख पोतना ही भूल गये।

एक-दो राजबंदी ऐसे थे जिनकी चिट्ठियाँ काम से काम रखतीं—अत्र कुशलम् , तत्रास्तु ! तबीयत अच्छी है, ठंड पड़ने लगी है, हम इतने बजे सोकर उठते हैं, इतने बजे प्रार्थना करते हैं, यह खाते हैं, वह करते हैं इत्यादि-इत्यादि। चिट्ठियाँ पास हो जातीं।

लेकिन एक-दो राजबंदी ऐसे थे जिन्हें जेल जैसे जेल ही नहीं लगती। उनके पत्र-व्यवहार में ऐसी मस्ती कि देखते ही बनता है। बहुत फक्कड़ तबीयत के आदमी लगते हैं ये ! दिन भर जनाब किताबें पढ़ते हैं, गपशप करते हैं और हफ्ते की चारों चिट्ठियाँ, पूरे तीन-तीन सफे की, ठाठ के साथ लिखते हैं और सब की सब चिट्ठियाँ उनकी पत्नियों को ही जाती हैं।

एक की शादी हुए आठ साल हो गये। एक लड़का भी है तीन साल का। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि जनाब अभी परसों ही शादी करके जेलखाने में आये हैं। लिखते हैं :

"प्रिय रानी,

लोग कहते हैं इसे जेल। पर है यह मेरे लिए एक स्वर्ण मन्दिर। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए हम यहाँ आये तो हमें स्वयं पर अभिमान है कि इतिहास के निर्माण में हमारी भी—स्वल्प-सी क्यों न हो—अंजलि है। सो हमारी मस्तानगी का क्या पूछना !

हाँ, तुम्हें और विजय को घर छोड़ आया हूँ—तुम्हारी याद ही मुझे चौबीस घंटे आया करती है। जो व्यथा है वह है केवल तुम्हारे विरह की। किन्तु यह व्यथा भी

कितनी मीठी है, कितनी मधुर !

अपने मानस-मन्दिर में मैं सतत तुम्हारी ही मूर्ति देखता हूँ। तुम्हारी मीठी वाणी मुझे इस क्षण भी एक अपूर्व संगीत की तरह सुनाई देती है। तुम्हारे व्यक्तित्व की सुन्दर आभा मुझे इन लोहे के सीखचों और पत्थर की दीवारों का भी विस्मरण करा देती है। मेरे जीवन के रोम-रोम में, कण-कण में, तुम्हीं व्याप्त हो और व्याप्त होकर मुझे चेतना और स्फूर्ति देती रहती हो। सच बताओ, रानी, यह मेरा पिछले जन्म का कौन-सा पुण्य है जो तुम मेरा भाग्य जगाने आई ?

तुम्हें छोड़कर और किसी का नहीं

—किशोर।"

जेलर सोचता, क्या जेल में ऐसी चिट्ठियाँ भी लिखी जाती हैं ? पागल कहीं का ! लाओ डामर···

पर इसमें काटने लायक क्या है ? सरकारी नियमों में तो ऐसी बातें काटने की कोई हिदायतें नहीं हैं ? अच्छा, जाने भी दो। देखें, जवाब क्या आता है।

उस दिन रात को जेलर ने छुट्टू की माँ को जब 'रानी' कहकर पुकारा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

ठीक चौथे दिन राजबंदी किशोर के नाम एक मोटा नीला लिफाफा आया जिसे देखते ही जेलर साहब भाँप गये कि कैदी की रानी ने जवाब दिया है। जेलर साहब ने पढ़ा :

"प्रिय,

आप जेलखाने में हैं, मुझ से दूर, पर इसका मुझे तनिक भी रंज नहीं। मेरी छाती अभिमान से फूल जाती है और सहेलियों के सामने मेरा सिर गर्व से उठ जाता है क्योंकि आपने बहादुरी और पुरुषार्थ का काम किया है, स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय योग दिया है। अपना लाड़ला विजय आप पर गर्व करेगा और मेरे सौभाग्य पर ईर्ष्या।

हाँ, विरह-व्यथा तो है ही। भावनाओं के आवेग को कैसे रोका जाय ? पर आप ठीक कहते हैं, इस व्यथा में भी कितना माधुर्य है !

आपको पाकर मैं धन्य हो उठी। आठ वर्ष पूर्व मैंने आपके और आपने मेरे गले में मोगरे के फूलों की माला डालकर एक दूसरे को प्रेम-बंधन में जकड़ लिया। उसके बाद हमारा प्रणभरा, आंनदमय जीवन शुरू हुआ। जैसे उसे अभी आठ ही दिन हुए हों। आज भी उन मोगरे के फूलों की सुगंध मेरी नासिका में भरी हुई है···"

"हैं ! यह तो अजीब चिट्ठी है !" जेलर साहब ने सिर खुजाते हुए कहा। बड़े मजे की औरत मालूम पड़ती है यह किशोरी देवी। कोई स्त्री अपने पति को ऐसी चिट्ठी लिख सकती है—ऐसा उन्हें आज तक ख्याल ही नहीं था।

मन-ही-मन बोले : 'यार, अपनी शादी तो बेकार ही रही। शादी करना और प्रेम करना तो इन नौजवानों से सीखो। कमबख्त हैं तो जेल में पर लिखते ऐसा हैं जैसे स्वर्ग-लोक में हों। वाह रे, पट्ठे !'

'पर हमें छुट्टू की माँ ने ऐसी चिट्ठी कभी नहीं लिखी'—जेलर साहब ने अपने आप ही शिकायत की।

'वाह, उस बेचारी का क्या दोष? वह आखिर पढ़ी ही कितनी है!'

'पर मैंने भी ऐसी चिट्ठी उसे कहाँ लिखी है, हालांकि मैं मैट्रिक पास हूँ।'

दूसरे ही दिन उन्हें किशोर की चिट्ठी सेंसर करनी पड़ी। जवाब देने में जनाब एक दिन की भी देर नहीं करते—जेल में इन्हें आखिर काम ही क्या है! लिखते हैं:

"रानी,

तुम्हारे पत्र ने तो अपने आठ वर्ष के नैसर्गिक प्रणय-जीवन की स्मृतियाँ ताजी कर दीं। यह आठ वर्ष का समय एक स्वर्णिम स्वप्न के समान है—अभंग, अटूट। हम लोग मन और शरीर से ही नहीं, आत्मा से भी एक हैं।

ये आठ वर्ष कैसे बीत गये—दिवस और रात्रि, प्रभात और संध्या, जीवन के कलह की ठोकरें और प्रसाद, सुख और दुख, सब कुछ आये और चले गये, पर छोड़ गये मीठी स्मृतियों का कभी न खाली होने वाला खजाना। आज उन्हीं का भंडार पाकर मैं पत्थर की दीवारों से घिरी हुई इस दस कदम की दुनिया को भी एक बड़ा साम्राज्य मानता हूँ जिसका एकाधिपति मैं स्वयं हूँ।

कौन जानता है कि यह विरह, जो मातृभूमि के प्रति किये गये कर्त्तव्य के कारण भोगना पड़ा है, हमारे पवित्र प्रणय को और भावी जीवन को अधिक पूर्ण और अधिक प्रिय बनाने के लिये नहीं आया है।

क्योंकि यह निश्चय समझो, रानी, कि यद्यपि आज तुम्हारे और मेरे बीच अनिश्चित कारावास का व्यवधान—अनिश्चित इसलिये कि मैं नजरबंद कैदी हूँ, सजा-याफता नहीं—एक दुर्लंघ्य बाधा बनकर आ खड़ा है, तथापि वह दिन दूर नहीं है जब हम, तुम और विजय तीनों ही एक दूसरे के सन्निकट होंगे और कष्ट और व्यथा के ये दिन भी हमारे मिलन-त्यौहार पर बीते हुए जमाने की स्मृतियाँ-मात्र बन जायँगे।

आज लगता है कि हमारे आस-पास रात घिर आई है, पर कोई रात हमेशा के लिये नहीं आती। प्रभात को आना ही होता है, सूरज को भी चमकना ही पड़ता है..."

"बहुत अच्छा पत्र है," जेलर साहब ने कहा।

एक बार किशोरी देवी ने लिखा, तब शायद उनका लड़का बीमार था:

"विजय बीमार पड़ गया था, अब अच्छा है। पर मैं कितना घबरा गई थी! आपकी आज्ञा का स्मरण हुआ—वीर स्त्री बनो! आज जो दुश्चिंता मुझे भोगनी पड़ती है, वह क्या इस अभागे देश के हजारों-लाखों घरों में विद्यमान नहीं है, जिनके पुरुष या तो जेलों में सड़ रहे हैं या लड़ाई के मैदान में लड़ रहे हैं? फिर मुझे ही अपने भाग्य से क्यों शिकायत हो? फिर आप मुझे विजय भी तो दे गये हैं। मैं अपने आपको अकेली या असहाय क्यों मानूँ? विजय आपकी ही प्रतिमा है। उसे जब छाती

से चिपटा लेती हूँ तो सोचती हूँ कि आप ही मेरे निकट हैं।

आपके पास तो ऐसा कोई सहारा नहीं है।"

जेलर साहब ने सोचा : 'हम यदि कहीं बाहर जायेंगे तो छुट्टू की माँ भी शायद ऐसा ही करेगी। करेगी तो सही पर पत्र में नहीं लिख पायेगी। उसे थोड़ा बहुत चिट्ठी लिखना सिखलाना ही चाहिये। मुन्नी और बिटिया ब्याह के बाद अपना-अपना घर बसायेंगी और लड़के भी पढ़-लिखकर नौकरी करने यहाँ-वहाँ चले जायेंगे। फिर हम दोनों के लिए हम ही रह जायेंगे। ऐसी हालत में यदि मैं बाहर गया या छुट्टू की माँ मायके गई तो...

नहीं, चिट्ठी के लुत्फ ही कुछ और हैं।'

जेलर साहब की धर्मपत्नी के सामने जब यह प्रस्ताव रखा गया तो बोली : "इस उमर में ?"

"अरे, अभी उमर ही क्या हुई है ? मैं तो चालीस के आस-पास हूँ और तुम तो मुश्किल से तीस की दहलीज पार कर रही हो। कहते हैं, इंग्लैण्ड में तो इसके बाद ही शादी होती है और उसी तरह रंगीन जैसे जवानी में ही हो...आखिर जो लोग जिन्दगी बसर करना जानते हैं उन्हें उमर का क्या ख्याल !"

एक बार किशोर ने अपनी पत्नी को लिखा :

"जब मैं तुम्हें पत्र लिखता हूँ, वे क्षण मेरे लिये सबसे मीठे, सबसे सुखी होते हैं। तब लगता है कि मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ और तुम साकार होकर साक्षात् मेरे सामने ही बैठी हो।

पर तुम मेरे सामने नहीं रहतीं—मेरे अन्तर में, मेरे हृदय के सिंहासन पर आसीन हो। तब लगता है कि मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ, मैं सदैव तुम्हें अपने आप में ही पाता हूँ। यदि ऐसी अनुभूति न होती और तुम्हारे प्रति इतना तादात्म्य न होता, तो न जाने कैसे मेरे जेल के ये पहाड़-से दिन कटते।

हाँ, पहाड़ से ही तो हैं। कभी-कभी मन उदास हो जाता है—आखिर मनुष्य हूँ। सुख और दुख के उतार-चढ़ावों का नाम ही तो जीवन है।

कभी-कभी लगता है, चारों ओर जैसे दावानल जल रहा हो। जमीन में भी आग लगी है और आसमान में भी। पर जब तुम्हारी याद आती है तो सोचता हूँ यह सब आभास मात्र है, असत्य है। जो सत्य है वह है तुम्हारी प्रीति, तुम्हारी सरस स्नेह-वर्षा। और एक क्षण में ही सारा अंतर्दाह नष्ट हो जाता है।

रात को तारों को देखता हूँ। सोचता हूँ, इन तारों को तुम भी देखती होगी। मेरी और तुम्हारी दृष्टि उन तारों पर मिलन करती होगी और एक दूसरे को अपना मूक संदेश सुनाती होगी। ओह, ये तारे भी कितने भाग्यवान हैं जो तुम्हें और मुझे देख सकते हैं, पर हम कैसे अभागे हैं, जो एक दूसरे को नहीं देख पाते।

और यह प्यारी सुहावनी उषा, जो असंख्य किरणों को जन्म देती है और अपनी अलौकिक प्रतिभा से सारे विश्व को चकाचौंध कर देती है।

तुम साथ होती तो इन दृश्यों का आनन्द कितना बढ़ जाता !

आज इन बातों की मधुर स्मृति ही मेरा सबसे बड़ा बल है, सबसे बड़ी प्रेरणा है। उसमें आज ऐसी शक्ति और स्पंदन है जो मेरे इस मरुस्थल से जीवन में भी शान्ति और सांत्वना की हरीतिमा बिछा देती है।"

इस तरह न जाने कितने पत्र आये और गये। जेलर साहब यह भूलने लगे कि इन पत्रों को उन्हें सेंसर करना है। वह उनकी प्रतीक्षा इस तरह करने लगे जैसे यह सब पत्र-व्यवहार उन्हीं का हो। बार-बार कह उठते :

"यार, सचमुच, हम बदकिस्मत इस दुनिया से एकदम अछूते रहे। खैर, देर हो गई लेकिन अब भी कोई बात नहीं। ईश्वर ने चाहा तो···"

जेलर साहब ने एक दिन छुट्टू की माँ से कह ही डाला : "भई, मैंने तो आज चार महीने की छुट्टी के लिये दरखास्त दे दी।"

"क्यों ? अभी छुट्टी लेकर क्या करोगे ? मुन्नी का ब्याह होगा तब लेते।"

"अरे, तब की तब देखी जायेगी। छः साल से छुट्टी नहीं ली। और इन सुराजी कैदियों के काम ने तो ऐसा परेशान कर डाला कि कुछ दिन बगैर आराम किये अब मैं आगे काम नहीं कर सकूँगा। इसलिए सोचा कि जरा सफर कर आऊँ।"

"मैं भी साथ चलूँ ? नहीं तो बड़ी तकलीफ होगी। पर ये बच्चे ?"

"तुम कैसे चल सकोगी, रानी ?" जेलर साहब ने मुस्कान बिखराते हुए कहा।

अपनी धर्मपत्नी के मुँह से तकलीफ शब्द सुनकर उनकी बाँछें खिल उठीं। यह शायद वही बात है जिसे वह राजबंदी विरह-व्यथा कहता था। आखिर हमारी रानी भी कम नहीं है। बोले :

"बच्चों की देखभाल तो करनी ही होगी इसलिए तुम्हारा जाना नहीं होगा। लेकिन मुझे तकलीफ होगी जरूर। तुम्हें छोड़कर इतनी दूर इतने दिनों के लिए जा रहा हूँ।"

"नहीं, मैं सारी तैयारी अच्छी तरह कर दूँगी—बिस्तर, कपड़े, खाने का डिब्बा, सुराही—कोई तकलीफ न होगी। हाँ, जाते ही राजी-खुशी की चिट्ठी जरूर भिजवा देना," जेलर साहब की पत्नी ने कहा। छुट्टू गोदी में रो रहा था और बच्चू माँ का आँचल खींच रोटी माँग रहा था।

अच्छा ! चिट्ठी की इसे भी याद है ! मैंने इसे पढ़ाने में जो मेहनत की उसी का नतीजा है—जेलर साहब मन ही मन बोले।

एक हफ्ते के अन्दर ही छुट्टी मंजूर हो गई, क्योंकि अब कोई सुराजी कैदी उनकी जेल में नहीं था। सेठजी का धर्मादा का पुण्य शायद काम आ गया और आचार्यजी अस्वस्थता के कारण रिहा कर दिये गये। एक दो आदमी यों ही छोड़ दिये गये और जो मनचले युवक थे उन्हें फिर सेण्ट्रल जेल में तबदील कर दिया गया। इसलिए जेल विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल ने जेलर साहब की दरखास्त फौरन मंजूर कर दी।

मूलचंद का सारा परिवार आज उनकी तैयारी करने में जुटा है। मुन्नी माँ के

साथ चूल्हे के पास बैठकर पूड़ी-तरकारी बना रही है, बिटिया बताशे खिलाकर छुट्टू का रोना बंद करने की कोशिश में है और बड़ा भैया बिस्तर बाँधने में बाबूजी की मदद कर रहा है। टिफिन कैरियर, जिसके चार डिब्बों में से एक गायब है, सुराही, बिस्तर, ट्रंक जिसका रंग उड़ गया है, छड़ी, छाता सब बिलकुल तैयार हैं। टाँगे पर सामान लद गया है। मूलचंद जेलर ने दिल से पूछा : कहीं वह भारी तो नहीं हो रहा है? गला न रुँध जाये इसलिए पहले से ही लौंग मुँह में डाल ली है। हालाँकि इस उमर में आँसू बहाना ठीक नहीं, फिर भी उन्होंने रुमाल रख लिया। उनके पैर भारी से मालूम पड़ने लगे। अपनी धर्मपत्नी की तरफ स्नेह से देखते हुए उन्होंने कहा :

"अच्छा, जाता हूँ।"

"बाबूजी, मेरे लिए गेंद लाना," बच्चू ने कहा।

"मेरे लिए हाकीस्टिक," बड़े भैया ने फरमाया।

"हमें पीं पीं करने वाली गुड़िया," बिटिया का हुक्म था। छुट्टू तो माँ की गोदी में था—रोने से उसे फुरसत कहाँ? और मुन्नी अब जरा स्यानी हो गई थी इसलिए बच्चों की तरह माँगना अब ठीक नहीं, यह सोचकर चुप थी।

"मुन्नी के लिए हम साड़ी लायेंगे," जेलर साहब ने कहा।

लेकिन इस सब कलरव में जेलर साहब के कान श्रीमतीजी की वाणी सुनने के लिए उत्सुक थे।

"जाते ही पहुँचने की चिट्ठी जरूर भेजना," वह बोली।

चिट्ठी! शाबाश! जेलर साहब का दिल प्रसन्न हो गया। यही तो असली बात है। बाल-बच्चों की चिल्लपों में भी उनकी धर्मपत्नी असल चीज नहीं भूली, यह उनके लिए परम संतोष की बात थी। रुमाल की जरूरत नहीं पड़ी और जेलर साहब जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाकर टाँगे में बैठ गये।

पहला मुकाम महीने भर के लिए छोटे भाई के यहाँ था जो एक तहसील में पुलिस का दारोगा था। वहाँ की बड़ी से बड़ी दुकान पर जाकर मूलचंद नीले रंग का लैटर पैड और लिफाफे खरीद कर लाये, जिन पर गुलाब के फूल छपे हुए थे। पचास कागज के लिए उसने ढाई रुपये रखा दिये। खैर, कोई बात नहीं—चार महीने यानी एक सौ बीस दिन में ये बहुत कुछ खतम हो जायेंगे। लिखने को तो मैं रोज चिट्ठी लिख सकता हूँ, पर छुट्टू की माँ का जवाब आये बगैर लिखते जाना भी तो अच्छा नहीं लगता।

पहली चिट्ठी लिखने में जेलर साहब को तीन दिन लग गये। जितना काम आसान सोचा था उससे मुश्किल निकला। आखिर आदत भी तो कोई चीज है। अब तक जेलखाने के कागजों पर दस्तखत फटकारने के सिवा उन्होंने किया ही क्या था? शब्द नहीं आते थे, आते-आते रुक जाते थे, काफी काटपीट करनी पड़ती थी। पसीना तो खैर आता ही था! लिखावट भी इस तरह की होनी चाहिए थी कि उनकी रानी की समझ में आ जाये।

जब डाकिए ने एक मोटा लिफाफा जेलर साहब के घर दिया तो उस पर गुलाब का फूल देखकर बड़ा भैया पुकार उठा: "अम्मा, किसी के ब्याह का निमंत्रण आया है।"

मुन्नी बोली, "नहीं, अम्मा, बाबूजी की चिट्ठी है।"

जेलरनी आटा गूँध रही थी। बीच-बीच में चूल्हे में फूँक मारती जाती थी। निर्विकार होकर बोली :

"क्या लिखा है?"

मुन्नी बोली, "मैं पढ़ूँगी।"

बड़ा भैया बोला : "मैं पढ़ूँगा।"

बिटिया क्यों पीछे रहने लगी : "अम बी तो पढ़ छकते हैं!"

"चल, चल, बड़ी आई है पढ़नेवाली!" बड़ा भैया कर्कश स्वर में बोला, "पहले अपना पाठ पढ़।"

बड़ा भैया था तो मुन्नी से छोटा, पर लड़का था इसलिए चिट्ठी पढ़ने का अधिकार जमा बैठा। पढ़ने लगा :

"प्रिय रानी···"

"हैं! क्या पढ़ता है रे, पागल?" माँ चिल्लाकर डाँटने लगी—"मुन्नी, तू पढ़।"

मुन्नी ने बड़े भैया के हाथ से चिट्ठी खींच ली।

"हाँ, अम्मा, इसमें पहले प्रिय शब्द लिखा था, फिर बाद में काट दिया। रानी भी काट दिया है। सिर्फ लिखा है : छुट्टू की माँ।"

"ठीक है—पढ़," माँ बोली।

चिट्ठी पढ़ी जाने लगी और जेलर साहब के परिवार के सब लोग चूल्हे के आस-पास बैठकर चिट्ठी सुनने लगे।

"जब से वहाँ से चला हूँ ऐसा जान पड़ता है कि कोई चीज घर छोड़ आया हूँ। बड़ा भला-भला-सा लगता है···"

"क्यों री, मुन्नी, तैयारी में कौन-सी चीज भूल गई? ट्रंक में तो तूने ही सामान रखा था न?" माँ ने पूछा।

"हाँ, अम्मा, पर बिस्तर तो बड़े भैया ने बाँधा था। कहीं कंबल रखना तो नहीं भूल गया—ठंड के दिन हैं। बाबूजी कहते थे कि ये कंबल कितने मँहगे हैं—दो में तो चौथाई तनख्वाह उड़ गई।"

"अच्छा, पढ़ आगे," माँ बोली।

मुन्नी पढ़ने लगी : "दिल भारी-भारी लगता है। कुछ सूझता नहीं। खाने को तबीयत नहीं करती···"

"हाय, राम! वहाँ जाकर तो इनकी तबीयत खराब हो गई!" जेलरनी बोली।

मुन्नी पढ़ती गई :

"लगता है चारों तरफ अँधेरा हो, और बहुत दूर एक आशा का दीपक दिखाई दे रहा हो।"

"यह आसा कौन है, मुन्नी ?" जेलरनी के कान खड़े हो गये।

"होगी कोई !" मुन्नी को चिट्ठी में दिलचस्पी आ रही थी और अब वह पढ़ने के बीच में कोई बाधा नहीं चाहती थी।

"ऐसा लगता है कि मैं मरुस्थल में हूँ—नीचे आग, ऊपर आग। पैर जलते हैं, दिल में भी आग है। पर घर की याद करके दिल को ठंडक पहुँचाने की कोशिश करता हूँ...

...सुबह उठते ही देखा, उषा के मुँह पर लाली छाई हुई है, और वह कोमल किरणों को जन्म दे रही है..."

"हाय राम ! यह उषा तेरी चाची जी के जीजाजी की लड़की है। उसकी अभी उमर ही क्या है—पंदरह भी मुश्किल से पूरे हुए होंगे।"

मूलचंद जेलर की पत्नी को अपने पति का पत्र पढ़कर बहुत दुःख हुआ। फ़ौरन बड़े भैया से जवाब लिखवाया :

"बाबू जी से कहना कि चिट्ठी मिली और मिलने के बाद अच्छी तरह से पढ़ी। उससे मालूम हुआ कि आपको बहुत तकलीफ है। मैंने मुन्नी से पहले ही कहा था कि तैयारी में कोई चीज भूलना नहीं। पर दिखाई देता है कि वह भूल गई। क्या चीज बाबूजी भूल गये हैं सो सोच के बताना। अम्मा कहती हैं कि ढूँढ के भेज देंगे।

दिल भारी लगता है और खाने की तबीयत नहीं होती, तो कहना कि पेट ठीक नहीं है। मुन्नी चूरन की शीशी रखना भूल गई सो वहाँ से ले लेना। तीन आने में तो आती है। शरीर के आगे तीन आने की क्या कीमत है !

बड़े भैया, आगे लिख कि वह गाँव भी ऐसा दलिद्दर मालूम पड़ता है कि मुनसीपालटी की बत्ती भी वहाँ नहीं है। पहले से मालूम होता, तो कहना कि मोमबत्ती साथ रख देते। और संभाल के धीरे से पूछना, बड़े भैया, कि यह आसा कौन है ?

वहाँ शायद गरमी बहुत पड़ती है। नहीं तो ठंड के दिनों में ऐसे पैर कैसे जलते ?"

बड़ा भैया कलम डुबा-डुबाकर लिखता जाता था और स्याही के धब्बे उस लेटर-पेपर पर गिराता जाता था, जो बच्चू की गणित की कापी में से पन्ने फाड़कर बनाया गया था, जैसे अपने पिता की तरह चिट्ठी सेंसर कर रहा हो।

"हम बतायें, अम्माँ ? बाबूजी अपने जूते भूल गये, जूते ?" बच्चू बीच में ही बोल उठा और दौड़कर बाबूजी के कमरे से जेलर साहब के घुटनों तक आने वाले सरकारी जूते उठा लाया और माँ के सामने पटक दिये।

"हट रे पागल !" अम्माँ बोली—"ये जूते ड्यूटी के बाहर भी कोई पहनता है ?"

बड़ा भैया लिखने में इतनी शक्ति लगा रहा था कि उसका ध्यान और कहीं नहीं था। वह चिट्ठी में ही लिख गया :

"हट रे पागल !" फिर बोला : "हाँ, अम्माँ, आगे बताओ ?"

"लिखना बेटा, कि अगर चप्पल फट गई हों और पैर जलते हों तो दूसरी जोड़ी जरूर खरीद लेना ।

और कहना कि सबसे बुरा लगा अम्माँ को उषा के लच्छन देखकर । अभी कल की लड़की और माँ बन गई । कलजुग है, कलजुग ! अभी ब्याह भी नहीं हुआ । ये सब सिनीमा की करतूत है । और जरा बेशरमी तो देखो कि बच्चे का नाम रखा है किरण । कहना नाम बदलकर कीचड़ रख देना और उससे मेरा संदेसा कह देना कि मेरे घर में पैर रखा तो खबरदार ! साफ-साफ लिख देना, बड़े भैया, कि आजकल की इन फैसन की लड़कियों से तो हम घोर गँवार पुरानी औरतें ही लाख दर्जे अच्छीं । हम लिखना-पढ़ना नहीं जानतीं तो क्या हुआ, पर कहना कि ऐसे धन्धे तो नहीं करतीं ।"

डाकिये ने जब जेलर साहब को वह मोटा लिफाफा दिया तो बाग-बाग हो गये । लिफाफा फाड़ते समय उन्हें लगा कि कहीं उनका हाथ तो नहीं काँप रहा है ।

जैसे-जैसे वह चिट्ठी पढ़ते जाते थे वैसे-वैसे उनके चेहरे का रंग उड़ता जाता था । जब आखिरी वाक्य पढ़ चुके तो चिट्ठी उनके हाथ से छूट गयी और उन्होंने अपना दाहिना हाथ अपने करम पर दे मारा ।

फौरन उन्होंने डाकघर जाकर जेल के आई० जी० साहब को तार दे डाला :

"मेरा आराम पूरा हो गया । बकाया छुट्टी कैंसिल करने की इजाजत दी जाये ।"

नियुक्ति-पत्र

अनिल विद्यालंकार

श्री अनिल विद्यालंकार का जन्म सन् १९२८ में उत्तर-प्रदेश के एटा जिले में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही समाप्त करके आप आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्था गुरुकुल काँगड़ी में प्रविष्ट हुए जहाँ तेरह वर्ष विद्याध्ययन करने के उपरान्त आपने विद्यालंकार की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्राप्त की। तदनन्तर आपने आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० तथा मेरठ कालिज से एल० टी० की उपाधि प्राप्त की। आजकल आप मेरठ कालिज के एल० टी० विभाग में प्राध्यापक हैं।

हिन्दी के अतिरिक्त आपने अंग्रेजी, संस्कृत, रूसी तथा फ्रेंच भाषाओं का पर्याप्त अध्ययन करके उनके साहित्य से भी प्रेरणा ग्रहण की। इन चारों भाषाओं की कुछ मुक्त रचनाओं का आपने हिन्दी में अनुवाद भी किया है।

दार्शनिक भावों को लेकर कुछ गीतों की भी सृष्टि की है। गद्य के क्षेत्र में कहानी, एकांकी तथा निबन्ध लिखने की ओर विशेष प्रवृत्ति है। कहानियों तथा एकांकियों में प्रायः हास्य तथा व्यंग्य का पुट रहता है।

९१, साकेत, मेरठ

जीवन में पहली बार मुझे भिखारी के माथे पर शिकन दिखाई दी।

इस शहर की माल रोड पर घूमते हुए यदि कभी आपकी दृष्टि पचपन नम्बर की कोठी की ओर चली जाय तो आपका ध्यान बरबस उस कोठी की गैरेज की ओर जायगा। सबसे पहले उस कोठी में एक अँगरेज अफसर रहता था और गैरेज में उसकी कार रहती थी। बाद में कोठी को एक जमींदार ने किराये पर ले लिया और गैरेज में उसकी भैंस रहने लगी। जमींदारी समाप्त होने पर जमींदार साहब को जहाँ पहले इतनी बड़ी कोठी अपने लिए छोटी मालूम पड़ती थी वहाँ दो कमरे भी आवश्यकता से अधिक लगने लगे। उन्होंने कोठी का अधिकांश भाग कई लोगों को किराये पर उठा दिया। भैंस बाहर खुले में बँधने लगी और गैरेज में किरायेदार बनकर मेरे मित्र भिखारीलाल ने प्रवेश किया।

उसके आते ही अगले दिन गैरेज के टीन के फाटक पर रंगीन खड़िया से मोटा-मोटा लिखा दिखाई देने लगा—

शाही आवास

बी० लाल, बी० ए०

बी० ए० के साथ ही एक कोष्ठ में बहुत ही छोटा-सा एक अक्षर 'वि' भी लिखा हुआ था जिसका तात्पर्य था कि भिखारीलाल ने बी० ए० पास नहीं किया था अपितु वह बी० ए० का विद्यार्थी था। यह बात दूसरी है कि अधिकतर दर्शक अपने दृष्टिदोष या प्रमाद के कारण केवल बी० ए० पढ़कर ही सन्तुष्ट हो जाते थे।

भिखारी जैसे चलते-पुर्जे आदमी दुनिया में कम ही मिलेंगे। वह उड़ती चिड़िया की परछाईं देखकर उसके पंखों का रंग बता सकता था। वह मेरा कभी सह-पाठी रहा था इस नाते मैं उसका विशेष स्नेह-भाजन बना हुआ था पर अन्दर ही अन्दर मैं उसे अपना गुरु मानता था। छोटे बच्चे जैसे बाजीगर के हाथ की सफाई के काम हैरानी से देखते रहते हैं ठीक वैसे ही मैं भिखारी के दिमाग की उधेड़-बुनं देखता रहता था। मुझे वह बुद्धू कहता था और मुझे कभी भी उसके मुँह से अपने लिये यह सम्बोधन सुनकर बुरा नहीं लगा। उसकी तुलना में मैं सचमुच ही बुद्धू था। वह न जाने कितनी बातें मुझे रोज समझाता पर मेरी मोटी अक्ल में वे कभी-कभी ही पड़ पातीं। सालों पहले कही हुई उसकी बातें मुझे अनेक महापुरुषों के कथनों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह याद हैं।

वह अकसर कहा करता था, "आदमी वह है जो एक बार भगवान् को भी चकमा दे दे। धोखा खानेवाली औरतें होती हैं। वह देखा था न शकुन्तला का सिनेमा?

आदमी बन आदमी ! और सुन, दुनिया में दिनभर में हजारों आदमी पैदा होते हैं; और तजुर्बे की बात कहता हूँ, हर हजार में से नौ सौ निन्यानवे बेवकूफ होते हैं—बिलकुल गधे ! बस वह जो हजार में से एक आदमी है न, उसी के बल पर दुनिया चलती है। पर मजे की बात यह है, यह किसी को नहीं पता कि कौन नौ सौ निन्यानवे में से है और कौन हजार में से एक। पर सुन, अपने लिये तो मैं गारण्टी करता हूँ—भगवान् ने मुझे घास चरने को नहीं बनाया।"

और भिखारी झूठ बोलता हो, ऐसी बात नहीं थी। उसका दिमाग ही कुछ ऐसा था कि सारी दुनिया को चक्कर देकर भी वह स्वयं अपनी जगह आराम से खड़ा रह सकता था। उसकी हर बात पते की होती थी और साथ ही फुर्ती की। जब तक और लोग समझ पाते तब तक वह सोच लेता था, जब तक और सोच सकते तब तक वह बोल पड़ता था और जब तक कोई और बोल सके तब तक वह काम कर चुकता था। जिन्दगी में वह किसी से मात खा जायेगा ऐसा मुझे कभी मालूम नहीं पड़ा।

भिखारी का नाम ही भिखारी था अन्यथा वह दिल का, दिमाग का और बात का—सभी चीजों का धनी था। यदि धनी नहीं था तो केवल एक जेब का। जेब तो शायद उसकी सदा ही खाली रहती थी। यदि कभी इधर-उधर से कुछ मिला भी तो वह पैसा हाथ से जेब तक आते-आते गायब हो जाता था। एक बार मैंने उससे कहा भी, "भिखारी, तुम्हें कुछ कमाने की चिन्ता नहीं रहती ? साल-दो-साल में कहीं शादी हो गई तो कैसे काम चलाओगे ? मुझे देखो न, ट्यूशन से जो कुछ कमाता हूँ उसमें से भी थोड़ा-सा जोड़ता ही रहता हूँ।"

भिखारी के हाथ में उस समय एक छाता था। उसे खोलकर मुझे दिखाता हुआ बोला, "समझा कुछ ?" और मैं हैरान-सा होकर देख ही रहा था कि वह बोल पड़ा, "तो समझ, जब तक यह छाता खुला है न और इसकी तानें कसी हैं तब तक आँधी हो या वर्षा, इस पर एक शिकन नहीं पड़ने की। और जहाँ यह जरा-सा ढीला पड़ा तो इसमें शिकन-ही-शिकन दिखाई पड़ेंगी। आया समझ में ? दुनिया में पैदा हुआ है तो तनकर चल, फिर क्या मजाल जो माथे पर एक भी शिकन पड़ जाय।"

फिर थोड़ी देर रुककर वह बोला, "हाँ, तू कमाने की बात कर रहा था। तो सुन, अमरीका में एक आदमी था। नाम उसका भूल गया हूँ। वह भी मेरी ही तरह फक्कड़ था ! बस, एक दिन उसकी पैसा कमाने की मर्जी हुई। तो जानता है उसने क्या किया ? सारे शहर में उसने इश्तहार बँटवा दिये कि फलानी-फलानी जगह एक ऐसा घोड़ा दिखाया जा रहा है जिसकी पूँछ तो मुँह की जगह और मुँह पूँछ की जगह है। और फिर हिन्दुस्तान हो या अमेरिका, मैंने कहा था न हर हजार आदमियों में से नौ सौ निन्यानवे गधे होते हैं। सो वहाँ हजारों-हजार आदमी बड़ी-बड़ी रकम के टिकट लेकर वह घोड़ा देखने पहुँच गये। और जानता है उस आदमी ने क्या दिखाया ? बिलकुल एक सादा घोड़ा। बस उसे घुमाकर खड़ा कर दिया था। रातब की बालटी से उसकी पूँछ बाँध दी थी और पैर बाँधने के खूँटे से उसकी गर्दन बँधी थी।

"आया कुछ समझ में ? अरे मेरे पास तो थोड़े से पैसे हो जाँय—बस इश्तहार छपवाने लायक। फिर देखना रुपयों की वर्षा न कर दूँ ! मैं इश्तहार निकलवाऊँगा कि मैंने नीम के पेड़ पर ऐसी निबोलिया उगाईं हैं जिनका स्वाद बिलकुल बादाम की तरह है। जब हजारों लोग टिकट के दो-दो रुपये दे चुकेंगे तब मैं उन्हें ये ही सादी निबोलियाँ चखने को दूँगा। जब वे कहेंगे कि ये तो कड़वी हैं तो मैं सीधे से कह दूँगा, 'जी हाँ, ये जरूर कड़वी हैं, पर कुछ बादाम भी तो कड़वे होते हैं।"

इस तरह की एक नहीं, अनेक योजनाएँ भिखारी के दिमाग में भरी रहतीं, पर अब तक उनमें से सफल कोई नहीं हुई थी। धैर्य के साथ थोड़ा-थोड़ा पैसा कमाना भिखारी के बस का नहीं था। वह सदा ही एकदम ढेरों रुपये कमाने की कोई न कोई उधेड़-बुन करता रहता था।

उन्हीं दिनों की बात है। शहर की एक बड़ी सूती मिल के दफ्तर में दो क्लर्कों की जरूरत हुई। मैं बी. ए. पास करके टाइप करना सीख रहा था और भिखारी की बी. ए. पास करने की पंचवर्षीय योजना का अन्तिम वर्ष था। वह मुझसे बोला, "करता है एप्लाई ? चल, तू भी कर और मैं भी करता हूँ। अरे वेतन की ओर क्या देखता है ? वेतन पिचहत्तर है तो पाँच सौ ऊपर से बनायेंगे। चल लिख एप्लिकेशन।"

हम दोनों ने ही उस स्थान के लिये प्रार्थना-पत्र भेज दिये और संयोगवश दोनों के लिये ही इण्टरव्यू का बुलावा भी आ गया। मेरे लिये किसी इण्टरव्यू में जाने का यह पहला ही अवसर था। अभी इण्ठरव्यू में पन्द्रह दिन थे इसलिये मैंने सोचा कि अपने आप को इस इण्टरव्यू के लिये पूरी तरह तैयार कर लेना चाहिये। अपने अनुभवी मित्रों से पूछना प्रारम्भ किया कि इण्टरव्यू में किस-किस तरह के प्रश्न पूछे जाते हैं और उनका कैसे उत्तर देना चाहिये। किसी ने मुझे अपना सामान्य-ज्ञान बढ़ाने का सुझाव दिया तो बड़े परिश्रम से जमा किये हुए रुपयों में से एक छोटा विश्व-कोष खरीदकर ले आया और उसमें से पहाड़ों की चोटियों की ऊँचाइयाँ, नदियों की लम्बाइयाँ, लड़ाइयों की तारीखें, संसार भर के देशों की राजधानियों, राजनैतिक पार्टियों और प्रधान-मंत्रियों के नाम, भारतवर्ष की पंचवर्षीय योजनाओं के आँकड़े और न जाने क्या-क्या रट-रटकर याद करने लगा। इस तरह की सभी जानकारियों को याद करने में मैं दिन-रात एक कर रहा था और कुछ दिनों के परिश्रम के बाद तो मुझे यह विश्वास-सा होने लगा कि संसार में दो ही सर्वज्ञ हैं—एक तो परमेश्वर और दूसरा मैं।

और उधर भिखारी था कि जैसे उसे इण्टरव्यू की कोई चिन्ता ही नहीं थी। एक दिन शाम को मेरे कमरे में आया तो मैं पढ़ रहा था।

"क्या कर रहा है बे ?" मेरी पीठ पर धम् से एक मुक्का जमाते हुए वह बोला।

"कुछ नहीं, यह एक किताब खरीदकर लाया था—'मॉडर्न इण्टरव्यू।' इसी के पन्ने पलट रहा था।"

"मॉडर्न इण्टरव्यू ! क्या लिखा है इसमें ?"

"बस यही बताया है कि आजकल के इण्टरव्यू में कैसे तैयार होकर जाना

चाहिये, कैसे सवालों का जवाब देना चाहिये, आदि-आदि।"

"रहा न बिलकुल गधा ही! अरे, इण्टरव्यू की तैयारी कहीं किताबें पढ़कर होती है, चल बैठ सामने। मैं कराऊँ तुझे इण्टरव्यू की तैयारी। तो तूने यह विश्व-कोष घोट डाला है। अब पूछूँ सवाल?"

पहले तो मैं कुछ हिचकिचाया। फिर यह सोचकर कि मुझे भी इण्टरव्यू के रिहर्सल का अच्छा मौका मिल रहा है, मैं भिखारी के सामने हिलती हुई कुर्सी पर जमकर बैठ गया और बोला, "ले पूछ ले, क्या पूछता है? पिछले पन्द्रह दिन और पन्द्रह रात मैंने बेकार नहीं खोये।"

"अच्छा तो बता," भिखारी छूटते ही बोला, "भगवान् ने मुँह के ऊपर नाक क्यों बनायी है, मुँह के नीचे क्यों नहीं बनायी?"

मैं सोच रहा था कि भिखारी मेरे विश्व-कोष में से कोई जानकारी सम्बन्धी प्रश्न पूछेगा। इस तरह का बे-सिर-पैर का प्रश्न सुनकर मैं झुँझलाकर भिखारी को बुरा-भला कहने ही लगा था कि वह बोल पड़ा, "नहीं आया उत्तर? अरे ऐसे सवालों के जवाब तेरे जैसे रट्टुओं से थोड़े ही निकलेंगे। इन्हें कहते हैं कॉमनसैन्स का सवाल। इन्हें हल करने को फुर्तीला दिमाग होना चाहिये। अब सुन इसका उत्तर। भगवान् ने नाक मुँह के ऊपर इसलिए बनायी कि जिससे चाय पीने में आसानी रहे। अगर तेरे मुँह के नीचे नाक होती और तू चाय पीने लगता तो मुँह में चाय पहुँचाने को प्याला कितना तिरछा करना पड़ता और जब तक मुँह को चाय का स्वाद आ पाता तब तक आधी गरम-गरम चाय नाक के ऊपर गिर जाती। तब तेरी नाक जल जाती कि नहीं? अच्छा अब एक और बता कॉमनसैंस का सवाल। लोहे की खान में से सोना क्यों नहीं निकलता?"

मैं भौंदू बना भिखारी के मुँह की ओर देखता रहा। यदि भिखारी चाहता तो मैं भारत की एक-एक खान में से निकलनेवाले कोयले और सोने के आँकड़े प्रत्येक वर्ष के हिसाब से सुना सकता था, पर भिखारी का यह बेतुका सवाल मेरी बुद्धि की पहुँच से परे था।

वह फिर अपनी स्वाभाविक अदा से बोला, "मैंने पहले ही कहा था कि तेरे जैसा बुद्धू इन सवालों के उत्तर नहीं दे सकता, अरे कितनी मामूली-सी बात है। लोहे की खान में से सोना इसलिए नहीं निकलता कि जब उसमें से सोना निकलने लगेगा तो वह सोने की खान हो जायगी, लोहे की खान नहीं रहेगी। आया समझ में? मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है। वे लोग जरूर ताड़ जायेंगे कि तू रट्टू दिमाग का आदमी है। दुनियावी कामों में सफल नहीं हो सकता। पर तू चिन्ता मत कर! मैं कल फिर आऊँगा और इण्टरव्यू की तैयारी में जो कमी रह गयी है उसे पूरी करवा दूँगा।"

अगले दिन शाम को भिखारी फिर ठीक समय पर आ गया। उस दिन मैंने विश्व-कोष का एक भी पन्ना नहीं पलटा था। भिखारी की सीख सुन लेने के बाद उसकी आवश्यकता भी नहीं रही थी। जब वह आया तो मैं बिस्तर में पड़ा ऊँघ रहा था।

"बस यही तेरी हालत रही तब तो हो गया तेरा चुनाव। अरे, वे तो आदमी की शक्ल देखते ही पहचान लेते हैं कि वह कितनी चुस्ती से काम करने वाला है। चल उठ बिस्तर से। अब बता कि इण्टरव्यू लेने वालों के सामने जाकर कैसे खड़ा होगा ?"

"क्यों, खड़े होने में क्या खास बात है ?" मैंने कुछ झिझकते हुए पूछा।

"ओह, तुझे तो हरेक बात नये सिरे से समझानी पड़ेगी। देख, खड़े होने के दो ढंग होते हैं, 'अटैंशन' और 'स्टैण्ड एट ईज'। अगर तू जाकर 'अटैंशन' खड़ा हो गया तो वे समझ लेंगे कि यह बिल्कुल भौंदू है, और जो तू खड़ा हो गया 'स्टैण्ड एटईज' तो वे कहेंगे कि तू बेअदब है। इसलिये देख, खड़े होने का सही ढंग यह है कि पैर तो रहें 'अटैंशन', हाथ रहें 'स्टैण्ड एट ईज'। आया समझ में ?"

इसके बाद भिखारी ने मेरे हाथ-पैर मोड़कर मुझे खड़े होने का सही ढग सिखाया। फिर बोला, "अब सीख बैठने का ढंग। तूने ज्योमैट्री पढ़ी है ? देख खड़े होकर हाथ मिलाते समय कमर पर अन्दर की ओर ७५° का कोण बनना चाहिये। बैठकर बात करते समय बाहर की ओर १५° का कोण और अपने प्रमाण-पत्र आदि उन्हें थमाते हुए अन्दर की ओर ६०° का कोण। आया समझ में ?"

भिखारी ने इन सब कोणों के बनाने का ढंग प्रदर्शन द्वारा मुझे समझाया। फिर बोला, "एक बात और, जब तू उनसे हाथ मिलाये तो इस बात का ध्यान रखना कि कोहनी बिल्कुल सीधी न हो, बल्कि उस पर अन्दर की ओर १६५° का कोण बना हुआ हो। और हाँ, हाथ का अँगूठा भी तर्जनी अँगुली के साथ समकोण न बनाये नहीं तो वे इसका बहुत बुरा अर्थ लगायेंगे। ध्यान रखना कि हाथ मिलाते समय अँगूठा सदा नीचे की ओर २५° के कोण पर झुका रहता है।"

इण्टरव्यू की ज्यामिति पढ़ाकर भिखारी तो चला गया पर कोणों को पढ़ते-पढ़ते मेरा सिर तब तक वृत्त की तरह घूमने लगा था। उसका बताया हुआ कुछ भी ठीक-ठीक याद नहीं रहा। यह तो ध्यान आ रहा था कि मुझे कहीं पर ६५° का कोण बनाना है पर वह कोण कमर पर बनेगा या कोहनी पर यह बिलकुल भूल गया था। मुझे लगा कि पिछले पन्द्रह दिन जो मैंने विश्व-कोष रटने में खोये थे अगर मैं भिखारी से इस व्यावहारिक पाठ को सीखने में लगाता तो कहीं अच्छा रहता।

इण्टरव्यू की ज्यामिति से भी कहीं बढ़कर समस्या थी इण्टरव्यू के लायक उचित कपड़ों की। अगर किताब में न लिखा होता तो भी यह बात मेरी समझ में आसानी से आ जाती कि इण्टरव्यू में मुझे अच्छे कपड़े पहनकर जाना चाहिये। मेरे पास तो एक सात साल पुराना गरम कोट था। उसी को धुलवाकर रंगवा लिया और एक सस्ती-सी खाकी पैण्ट के साथ मुझ जैसी हैसियत के लड़के के लिये एक अच्छी पोशाक तैयार हो गई।

पर जब इण्टरव्यू वाले दिन मैंने भिखारी को एक बहुत ही सुन्दर सर्ज के सूट में खड़ा पाया तो मैं भौंचक्का-सा देखता ही रह गया। इतना तो मैं जानता था कि भिखारी अपने सारे कपड़े बेचकर भी इतना शानदार सूट नहीं पहन सकता था। पूर्व

इसके कि मैं अपनी हैरानी को शान्त करने के लिये उससे कुछ पूछता, वह स्वयं ही बोल पड़ा, "अरे, देखता क्या है? ड्राइ-क्लीनर को पूरे पाँच रुपये देकर यह सूट किराये पर लिया है। इण्टरव्यू लेने वालों को क्या पता कि यह किराये का है। आधे से ज्यादा असर तो पोशाक का पड़ता है। मेरी माने तो तू भी एक सूट किराये पर ले आ और देख जरा देखकर लाना। यह जो मेरा कोट है न—अरे अब तो मेरा ही है—यह फूल के काज के नीचे जरा-सा रफू किया हुआ है। मेरा ध्यान गया तो मैं दूसरा सूट लेने गया, पर मेरे नाप का कोई नहीं निकला। हाँ तो तू जा रहा है न सूट लेने?"

मैंने अपनी पूरी योग्यता के साथ भिखारी को यह समझाने की कोशिश की कि मैं इण्टरव्यू की तैयारी पर पहले ही इतना रुपया खर्च कर चुका था कि अब और अधिक खर्च करने की हिम्मत नहीं थी।

"बुद्धू कहीं का! तू तो जिन्दगी भर कोई अकल की बात नहीं सीखेगा। अबे देख मेरे कपड़ों को और अपनों को। कोई लड़की वाला इस समय मुझे देख ले तो बीच सड़क पर ही सगाई करने की जिद करने लगे।"

ऐसी ही बातों में इण्टरव्यू की घड़ी भी आ गई। दो स्थानों के लिये पाँच सौ प्रार्थना-पत्र आये थे जिनमें से पच्चीस को इण्टरव्यू के लिये बुलाया गया था। इण्टरव्यू के कमरे के बाहर प्रतीक्षा करते हुए मुझे ऐसे डर लग रहा था मानो मुझे शेर की माँद में घुसना हो और दूसरी ओर भिखारी ऐसे निश्चिन्त था मानो सचमुच ही अपनी ससुरालवालों से मुलाकात करने जा रहा हो।

जब मैं अपना नाम पुकारे जाने पर इण्टरव्यू के लिए कमरे में घुसा तो बस इतना ही देख पाया कि सामने तीन आदमी बैठे थे। एक मोटा-सा सेठ था, दूसरा बिलकुल नौजवान मैनेजर और तीसरा एक बूढ़ा-सा मुनीम। आगे क्या हुआ यह मुझे कुछ याद नहीं। बस ज्यों ही मैनेजर ने यह कहा, "अच्छा, इसके नतीजे की सूचना आपको घर पर ही मिल जायेगी," मैं फौरन कमरे से बाहर भाग खड़ा हुआ।

मेरे बाद ही बी. एल. वर्मा का नाम पुकारा गया और भिखारी एक बार मेरी ओर मुसकरा कर बड़ी अदा के साथ अन्दर घुस गया। इण्टरव्यू में थोड़ा-थोड़ा ही समय लग रहा था। दस मिनट बाद वह भी बाहर आ गया। आते ही मुझसे बोला, "क्या-क्या पूछा था तुझसे?"

मुझे कुछ याद होता तो मैं बताता। मेरी सूरत देखकर वह बोला, "बस तू तो गया। अरे, जब तू ठीक ढंग से बैठ ही नहीं पाया होगा तो इण्टरव्यू क्या खाक हुआ होगा। और ले अब मेरी सुन। मेरे अन्दर जाकर बैठते ही वे तीनों भी अपनी-अपनी कुर्सियों में ज्यादा सावधान होकर बैठ गये। जान गये थे न कि इस बार कोई लायक आदमी इण्टरव्यू देने आया है। वह जो बूढ़ा-सा मुनीम था न, मिल का मालिक, वह मुझसे पूछता है, 'बताइये दुनिया में सबसे पहले नाचना किसने सिखाया?' और मैंने छूटते ही जवाब दिया, "श्रीमान्, बन्दर को नाचना तो आदमी ने सिखाया था और आदमी को नाचना औरतों ने।" बस मेरे उत्तर को सुनकर बूढ़ा इतना खुश

हुआ, इतना खुश हुआ कि बस कुछ पूछ मत।

"और वह जो लड़का-सा मैनेजर था, वह तो बिलकुल मेरे जैसा ही लगता था। बोलता कम था पर था बड़ा होशियार। मैंने कहा न कि बिलकुल मेरे जैसा ही था। सारे समय मेरी ओर टकटकी लगाकर देखता रहा। जरूर मेरे कपड़ों की तारीफ कर रहा होगा। मैंने कहा था न कपड़ों का बड़ा असर पड़ता है। बस, समझ ले दो में से एक जगह मुझे मिली-मिलाई है।"

भिखारी को यह अन्तिम बात कहने की आवश्यकता नहीं थी। इण्टरव्यू का वर्णन करने के उसके ढंग से ही मैं मान गया था कि एक जगह अवश्य उसके हाथ लग गई है। तब मुझे पहली बार अपने दब्बूपन पर गुस्सा आया।

हम लोग अभी मिल के दफ्तर से एक फर्लांग भी न जा पाये होंगे कि पीछे से वहाँ का एक चपरासी साइकिल दौड़ाता हुआ आया। उसके हाथ में एक लिफाफा था जिसे भिखारी को थमाता हुआ वह बोला, "मैनेजर साहब ने आपके लिये भेजा है।"

हम दोनों ही दंग रह गये। भिखारी को नियुक्ति-पत्र इतनी जल्दी मिल जायेगा इसकी आशा स्वयं उसको भी नहीं थी।

लिफाफा हाथ में लेते हुए वह बोला, "ले, मान गया न ?"

"मान गया, उस्ताद," मैंने अपने मन की ईर्ष्या को अन्दर-ही-अन्दर दबाते हुए कहा, "पर देख, यह नियुक्ति-पत्र बाद में खोलना, पहले मिठाई खिला दे।"

"अरे चल तो खा ले। तू भी क्या याद करेगा कि किसी सेठ के नये क्लर्क से पाला पड़ा था।"

भिखारी ने मुझे अपने साथ एक अच्छे रेस्तराँ में ले जाकर एक-से-एक अच्छी चीज खाने को मँगवाई पर ईर्ष्या से जलते रहने के कारण मुझे एक का भी स्वाद नहीं आया। पाँच रुपये दस आने का बिल भिखारी ने चुकाया और हम बाहर निकल आये।

कुछ दूर चलकर भिखारी बोला, "अरे यार, यह तो देख लूँ कि मुझे किस तारीख से ड्यूटी पर जाना है।"

उसने लिफाफा खोलकर अन्दर का कागज पढ़ा और तब जीवन में पहली बार मुझे उसके माथे पर शिकन दिखाई दी।

मैंने उचककर उस कागज पर नजर डाली तो उसमें लिखा देखा, "मेरे इस सूट को, जिसे आप ड्राई-क्लीनर के यहाँ से ले आये हैं, कृपा करके जल्दी ही वहाँ पहुँचा दीजिये।

—मैनेजर"

कयामत का दिन

अमृतलाल नागर

श्री अमृतलाल नागर का जन्म सन् १९१६ में हुआ था। १९३५ में 'वाटिका' कहानी-संग्रह द्वारा आपने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। १९३७ में 'चकल्लस' हास्य-साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। १९४० में बम्बई चले गये जहाँ फिल्मी दुनिया से निकट संपर्क रहा और 'संगम', 'कुँवारा बाप', 'राजा', 'वीर कुणाल', 'मीरा', 'कल्पना' आदि अनेक चित्रों के संवाद लिखे।

अब तक आपकी दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। अनेक रचनाएँ बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी रूपांतरित हुई हैं। स्वयं भी गुजराती, मराठी, बंगला, तमिल आदि भाषाओं के अच्छे जानकार हैं। अभी दो वर्ष पूर्व तक आप आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र पर ड्रामा-प्रोड्यूसर के पद पर कार्य कर रहे थे, किन्तु आजकल स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं।

रचनाएँ

'बूँद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'महाकाल', 'तुलाराम शास्त्री', 'नवाबी मसनद', 'एटम बम', 'सेठ बाँकेमल', 'वाटिका' आदि।

चौक, लखनऊ

एक हाथ जुम्मन ने पकड़ा, एक हाथ बकरीदी ने...

ऐन आधीरात के वक्त कादिर मियाँ को मालूम हुआ कि ख़ुदावन्द करीम ख्वाब में कह रहे हैं—'अमाँ कादिर, तुम दुनिया के भोले-भाले बाशिन्दों को मेरा यह इलहाम सुना दो कि कल जुमेरात के दिन शाम की नमाज़ के बाद मैं आऊँगा, और उसी वक्त तमाम लोगों से मिलकर कयामत का दिन मुकर्रर करूँगा।' देखते ही देखते मालूम हुआ कि अल्लाह मियाँ की बड़ी लम्बी सफ़ेद दाढ़ी ख्वाब को बटोरकर ले गयी। मियाँ कादिर की आँख जो पट से खुली तो देखते क्या हैं कि आसमान में एक बड़ा चमकदार तारा टूट रहा था। मियाँ कादिर ने चारपाई पर लेटे-लेटे ही कल्मा पढ़ा।

पिछली शाम घर में दुपट्टा रंगने के लिए पीला रंग मँगाया गया था। ख़याल आते ही मियाँ कादिर ने झट से उठकर उसे खोजा और अपना कुर्ता और लुंगी रंग डाली। बाक़ी रात ख़ुदा की इबादत में बितायी, और सबेरे तड़के ही मियाँ कादिर पीला कुर्ता और लुंगी पहनकर घर से निकल पड़े।

पाटेनाले के मोड़ पर मियाँ हादी एक हाथ में चिलम लिए बड़बड़ाते हुए आते दिखायी पड़े। वह नानबाई को बात-बात में 'कमीना-साला' कहते हुए चले आ रहे थे। वजह सिर्फ़ इतनी ही थी कि मियाँ नानबाई की दुकान पर जब आप तशरीफ़ ले गये तो उस वक्त वह भट्ठी में दियासलाई दिखा रहा था। उन्होंने चिलम बढ़ाकर आग माँगी। उसने उनकी 'लिक्विडेशन' में आयी हुई आँख की शान में चन्द चुने हुए अल्फाज़ कह दिये। इस वक्त जो मियाँ नानबाई के लिए अपने प्रेम की उमड़ती हुई दरिया में नालायक, कमीना, उल्लू का पट्ठा वगैरा नामों के बड़े-बड़े जहाज तैरा रहे थे, यह सब मियाँ नानबाई की ही बातों के तुफ़ैल से था। मगर जो सामने से मियाँ कादिर को इस भेस में आते हुए देखा तो बस एकदम बुत बने खड़े रह गये।

"अमाँ कादिर ? अमाँ हैं ! अमाँ किधर चले ?" हादी मियाँ कादिर को सिर से पैर तक तीन बार देख गये।

"लाहौलविलाकूवत !" मियाँ कादिर ने निहायत नफ़रत के साथ जमीन पर थूककर कहा—"अबे तुझे इसी वक्त टोकना था, कम्बख़्त !"

"वल्ला ये मजा देखिये। अमाँ तुम तो बिना बात के बिगड़ जाते हो। भई बात क्या है ? अमाँ इस नाराजी···"

कहाँ तो मियाँ कादिर अल्लामियाँ का फरमान सुनाने जा रहे थे और कहाँ कम्बख्त काना मिल गया और वह भी अलस्सुबह, घर से निकलते ही। झुंझलाकर कहा—"ले बस, अब रास्ता छोड़, मनहूस कहीं का ! सुबू ही सुबू टोक दिया लेके।"

बस अब हद हो चुकी थी। मियाँ हादी की शान में ऐसे-ऐसे बेहूदा अल्फाज

कह दिये जायँ और मियाँ हादी जहर के कड़वे घूँट की तरह उसे चुपचाप पी जायँ, यह जरा नामुमकिन-सी बात है। मगर उस वक्त यह 'नामुमकिन' भी मियाँ कादिर के फकीराना भेस को देखकर अगर 'मुमकिन' हो गया तो कोई ताज्जुब की बात न थी। आप बराबर यह जानने के लिए इसरार करते ही रहे कि आखिर मियाँ घर-बार छोड़कर इस तरह जा कहाँ रहे हैं।

इधर मियाँ कादिर का यह हाल था कि वह उन्हें एक चाँटा रसीद करने जा ही रहे थे कि भाई बकरीदी आते हुए दिखाई पड़े। उन्होंने मियाँ कादिर को जो इस भेस में देखा तो बस देखते ही रह गये, और इसके बाद मियाँ हादी को इस तरह रास्ता रोककर खड़े देखा तो मामला कुछ-कुछ समझ में आया। चट से कह उठे—"अमाँ होगा भी। अब ये तो हुआ ही करता है। भई, जिस घर में दो बर्तन होते हैं, बजते ही हैं। मगर इसमें इतना नाराज होने की क्या बात है? अमाँ, ये तो घर-घर में लगा ही रहता है। खैर, होगा भी। चलो हम चल के समझाये देते हैं। आइन्दा भौजी तुम्हें इस तरह···"

बकरीदी मियाँ कादिर को घर की तरफ ढकेलने लगे। मियाँ कादिर को और भी ताव आ गया। बोले—"कह दिया कि रास्ता छोड़ दो। मगर तुम लोग मानते ही नहीं। खामखाँ को ताव दिलाये चले जा रहे हो। बेफजूल की बकवास लगा रक्खी है। यहाँ हमें पारवाले साईं जी के तकिए तक जाना है।"

"न भाईजान! अमाँ हटाओ इस झगड़े को। घर-घर में यही होता है। अब कल ही था, मुझसे और तुम्हारी भौजी···"

"देखा, फिर वही? अमाँ वह बात नहीं, हजार बार कह दिया, लाख बार समझा दिया कि अल्लाह-ताला···"

बुद्धन, अच्छन, जुम्मन—इतनी देर में सभी जमा हो गये। अब भाई बकरीदी समझा रहे थे—"अमाँ, तो अल्लाह की इबादत करने से तुम्हें कौन रोकता है, भाईजान? घर पर बैठकर क्या ये सब नहीं कर सकते? अब आप ही इन्हें समझाइये, मियाँ अच्छन साहब। देखिये भला कोई बात भी तो हो। घर में कोई बात हो गई होगी।"

"देखिये-देखिये जरी संभलकर जुबान से बात निकालियेगा, मियाँ बकरीदी। कह दिया कि कुछ भी···"

"तो आखिर बात क्या है? अब ये जो तुम घर-बार छोड़कर फकीरी ले रहे हो इसका कोई सबब भी तो होना चाहिये, भाई मेरे।" मियाँ अच्छन साहब ने कादिर की पीठ पर बड़ी गर्म-जोशी के साथ हाथ फेरते हुए कहा।

मियाँ कादिर सचमुच निहायत परीशान हो चुके थे। अच्छन साहब से बड़ी नम्रता के साथ कहा—"वही तो मैं भी अरज करने जा रहा हूँ, बड़े मियाँ। मैंने कहा कि···"

मियाँ कादिर की बात शुरू भी न होने पाई थी, कि मियाँ बुद्धन बोल उठे—"अब तुम बताओगे क्या? वह तो सुनी-सुनाई बात है। आखिर इतने आदमी यहाँ खड़े

हैं, कसम खा के भला कोई यह तो कह दे कि हमारे घर में आज तक कभी भी लड़ाई नहीं हुई। अरे भाई, यह तो हुआ ही करता है। अब आप समझिए कि···"

आँखों में आँसू छलछला आये। मारे ताव के चेहरा सुर्ख हो गया। एक बार पूरे जोश के साथ अपने को छुड़ाकर मियाँ कादिर ने बुद्धन की ओर बढ़ते हुए कहा—"अपनी औकात समझ के मुँह से बात निकालनी चाहिए, समझे बुद्धन? मारे जूतों के खोपड़ी गंजी कर दी होगी। बेईमान कहीं का! बड़ा सुकरात की दुम बना है। चला वहाँ से बताने वाला।"

मियाँ बुद्धन को भी ताव आ गया। मारे तेहे के आगे बढ़कर बोले—"ऐसी मुरव्वत की ऐसी-तैसी! अमाँ तुम्हीं देख लो भाई बकरीदी, एक तो मैं समझा रहा हूँ और यह हैं कि···इस हेकड़ी में न रहियेगा मियाँ, समझे? वाह अच्छा-खासा स्वांग बना रक्खा है! जरी-सा घर में झगड़ा क्या हो गया कि चले साहब फकीराना भेस धरकर तमासा दिखाने। अमाँ ऐसी-ऐसी लन्तरानियाँ···"

ताव में आकर मियाँ कादिर ने लपककर बुद्धन की गर्दन में हाथ डाला और खोपड़ी पर एक कड़ाकेदार चपत मार उसे ढकेलते हुए कहा—"बड़ा आया है वहाँ से जज साहब का बच्चा बनकर, मियाँ-बीबी का फैसला चुकाने। कह दिया बेफजूल की बातें मत करो। मगर नहीं, खामखाँ अपनी हेकड़ी दिखाते जायेंगे। बेईमान कहीं का!"

जब तक लोग आगे बढ़कर इन दोनों का बीच-बचाव करें तब तक मियाँ बुद्धन के दो-तीन हाथ करारे-करारे पड़ ही गये। वल्लाह, उस वक्त मियाँ बुद्धन के वह जोश, वह वलवले और वह तेहेबाजी देखते ही बनती थी। जी में तो बहुत आया कि लपक कर मियाँ कादिर से बदला लें, कई बार गालियाँ देते हुए तेजी में आ, लाल-पीली आँखों के साथ आगे बढ़े भी, मगर मियाँ कादिर के कैंडे को देखकर जरा सहम जाते थे। दूसरे बीच-बचाव करने वाले भी बहुत से थे। अब लोगों में चैमेगोइयाँ यह होने लगीं कि इस वक्त कादिर मियाँ जोश में हैं, अगर फकीर होकर चल दिये तो चार बाहर वाले आकर यही थूकेंगे कि मुहल्लेवालों ने रोका तक नहीं।

भाई बकरीदी ने मियाँ अच्छन साहब से कहा—"देखिये बड़े मियाँ, बड़ा गजब हो जायगा जो कादिर चल दिया। कसम खुदा की, वल्ला मैं सच कहता हूँ बड़े मियाँ, कि पूरे मुहल्ले भर के मुँह पर अपने हिसाब जैसे कालिख पुत जायगी। और फिर भाई, सच तो यह है कि आज इसके ऊपर तो कल खुदा न करे हमारे ही ऊपर बीते। और यह तो सबके घर में लगा ही रहता है। मर्द आदमी, किसी बात पर ताव आ गया, घर छोड़कर चले जा रहे हैं साहब।"

बहरहाल बड़े मियाँ, जुम्मन और बकरीदी ने मिलकर यह तय किया कि कादिर को, चाहे कुछ भी हो, घर लौटाकर ले जाया जायगा। बस, फिर क्या था, एक हाथ जुम्मन ने पकड़ा एक हाथ बकरीदी ने, कोई पीछे से घेर रहा है, कोई बगल से रोक-थाम कर रहा है और कादिर मियाँ हैं कि तमाम उछल-कूद मचा रहे हैं; इस ले-दे में

बीच में इनकी सुनता ही कौन है। किसी तरह उन्हें लोग घर की तरफ ले ही चले।

इधर यह हाल कि पास-पड़ोस की तो क्या कहिये, आस-पास के तीन-चार मुहल्लों तक की औरतें मियाँ कादिर के घर पर जमा हो गई थीं।

सबसे पहले फातिमा को ही इस बात की खबर मिली थी, जब कि मियाँ कादिर हादी से उलझ रहे थे। बीबी फातिमा ने झप-से अपना दुपट्टा सँभालते हुए ऊपर छत से अपनी पड़ोसिन खैरातिन को पुकारकर कहा—"ऐ बहन, तुम्हें एक बात बताएँ।"

खैरातिन ने रकाबी धोते हुए तुनुककर जवाब दिया—"ऐ चलो हटो, तुम्हें न तो कुछ काम न धन्धा। बस ले के सुबू-सुबू बातें बनाने बैठ गईं। उँह, ऐसा भी क्या मुआ निठल्लापना!"

"ऐ नौज बीबी, तुम तो हवा से लड़ती हो। मुझे क्या गरज पड़ी थी जो तुम्हें कोई बात सुनाने आती? वाह रे दिमाग! जमीन पर पैर ही नहीं पड़ते बीबी के। मर्दुआ जरी लाट साहब की अर्दली में क्या हो गया कि अपने को लाट साहब की बच्ची समझने लगीं।"

"देख खबरदार, जो अबकी मरद-पीर तक पहुँची तो तेरा मुँह ही झुलस दूँगी, हाँ! चुड़ैल की नानी कहीं की!"

वाकया है कि अगर अख्तरी उस वक्त वहाँ न पहुँच जाती तो मुहल्ले में एक अच्छा-खासा हंगामा मच जाता। एक तरफ तो लोग मियाँ कादिर को मनाने जाते और दूसरी तरफ औरतें आपस में तू-तू मैं-मैं कर आसमान सिर पर उठा लेतीं। मगर खैर, मौके पर अख्तरी के पहुँच जाने की वजह से तमाशे की सूरत कुछ और हो गई। किस्सा यों हुआ कि अख्तरी जब खैरातिन के यहाँ आग लेने आई तो उसने हाँफते हुए, उसे मियाँ कादिर के फकीर हो जाने का हाल बतलाया। खैरातिन फातिमा से लड़ना बन्द कर, एकाएक, अख्तरी से मियाँ कादिर की बाबत बातें करने लगी।

बीबी फातिमा ने झमककर कहा—"ऐ बहन वही तो मैं भी इन्हें सुनाने आई थी। लेकिन यह हैं कि सुबू-सुबू कोसा-काटी करने लगीं। ऐ हाँ, जरी इनके मिजाज तो देखो! ओपफोह हवा से लड़ाई लड़ती हैं ये तो।"

खैरातिन ने झपाके के साथ दुपट्टा सिर से उतारते हुए, जोश में आ फातिमा की तरफ हाथ बढ़ा-बढ़ाकर कहना शुरू किया—"ऐ तुम तो बड़ी नन्हीं-बालीं! जरी ईमान से बताओ तो कि मैं किस दिन किस के साथ लड़ी? मैं तुम्हें बताए देती हूँ बहन, किसी पर झूठी तोहमत लगाना अच्छा नहीं होता।"

अख्तरी ने बात बदलते हुए कहा—"ये क्या तुम लोग सुबू-सुबू कसीदा काढ़ने बैठ गयीं? फातिमा बहन, अब तुम कोई नन्हीं-सी नहीं रही, जो ये सब अच्छा लगे। इस बुढ़ापे में तो जरी अपनी लल्लो को काबू में रक्खो।"

बीबी फातिमा रो-रोकर कुछ कहने ही जा रही थीं कि बाहर के हंगामे ने तीनों का ध्यान अपनी तरफ खींच लिया। मियाँ कादिर उस वक्त मियाँ बुद्धन को सबक दे

रहे थे। किस्सा-कोतः यह कि इसी तरह धीरे-धीरे चन्द ही मिनटों में मुहल्ले की तमाम औरतें इकट्ठा होकर मियाँ कादिर के मकान पर मिसकौट करने पहुँच गयीं थीं। कादिर की बीबी उस वक्त इत्मीनान. से चारपाई पर बैठी हुई जमुहाइयाँ और अँगड़ाइयाँ ले रही थीं। एकदम से जो मुहल्ले की तमाम औरतों ने मिलकर धावा बोला तो ये घबरा उठीं। उधर औरतों ने जो ये देखा कि बीबी न रोती हैं, न बेहोश हुईं और मजे से चारपाई पर पड़ी हुई अँगड़ाइयाँ ले रही हैं, तो आपस में फुस-फुस करने लगीं।

एक ने कहा—"ऐ बहन देखा ? जो ये ऐसी न होतीं तो मर्दुआ घर-बार छोड़कर ही क्यों जाता ?"

दूसरी ने मुँह बिचकाकर उत्तर दिया—"उँह, ऐसी मुई औरत भी किस काम की जो अपने मरद को यों तकलीफ दे। मुँह नोच ले ऐसी मुई का तो।"

बूढ़ी खुरशीद ने आगे बढ़कर काँपती हुई आवाज के साथ कादिर की बीबी से कहा—"ऐ बेटा, तुम्हें अपनी जुबान जरी काबू में रखनी चाहिये। ऐसी भी क्या मुई लल्लो कि जो जी में आया निकाल दिया ! और हम तो कहते हैं कि भाई, बड़ा गमखोर है हमारा कादिर। जो और कोई होता तो जुबान खींचकर रख लेता। ऐं, अब तुम भी बच्ची नहीं हो, अल्ला के फजल से बाल-बच्चेवाली हो, समझदार हो; और कादिर भी हमारा कोई निठल्ला नहीं है। तुमको···"

खुरशीद की बात काट, नाक पर उँगली रखते हुए शहजादी बोल उठी—"ऐ नौज बीबी, ऐ वो निठल्ला क्यों ? सैकड़ों-लाखों से अच्छा कमाता है और यह भी नहीं कि उसे कोई बुरी लत हो। मैं तुझसे सच कहती हूँ बहन, ऐसा समझदार लड़का हमारे मुहल्ले भर में क्या, शहर भर में कोई नहीं।"

फातिमा ने आगे बढ़कर हाथ नचाते हुए कहा—"ऐ है, कोई लाख समझदार क्यों न हो मगर यह रोज-रोज की किचकिच हाय-हाय कोई कब तक सहे ? मरद आदमी, ताव में आकर फकीरी ले ली ?"

कादिर की बीबी इन तमाम बातों को सुनकर एकदम हक्का-बक्का-सी हो गयी। उसे खाक भी समझ में न आया कि माजरा क्या है। वह बेचारी खड़ी-खड़ी इन औरतों के मुँह की तरफ देख रही थी, और वे थीं कि सवाल पर सवाल कर इसके छक्के छुड़ा रही थीं। इस लानत-मलामत से घबराकर आखिरकार कादिर की बीबी सिर पर हाथ रख रोने बैठ गयी।

फातिमा ने आगे बढ़कर हाथ हिलाते हुए कहा—"और जो पहले ही से इतनी समझ आ जाती तो काहे को ये सब भुगतना पड़ता ? मगर नहीं, उस वक्त तो जोम सवार था। उँह, आग लग जाय मुए ऐसे जोम में। ऐसा भी क्या मुआ झगड़ा जो आदमी को फकीर बना के ही छोड़ा।"

कादिर की बीबी यह सब सुनते-सुनते तंग आ चुकी थी। रोकर बोली—"ऐ बहन, जरी मेरी भी तो सुन लो। मैं कहती हूँ, मैं अपने इतने बड़े लड़के की कसम

खाती हूँ.....''

खुरशीद ने आगे बढ़कर काँपती हुई पर तेज आवाज में कहा—''ऐ है, जरी देखो तो, मालिक को उधर साईं बना के भेजा, अब लड़के को खाये जाती है। वाह री औरत ! इतनी उमिर तो मेरी भी होने को आई, कोई सत्तर और छै बरस तो मुझे भी जमाना देखते हो गये मगर वाह, तुझे क्या कहूँ ? अहा-हा बलिहारी है तेरी !''

फातिमा ने शहजादी को टहोका मारते हुए कहा—''ऐ बहन तुम मेरी क्या उमर समझती हो ? कोई साठ और पाँच बरस की उमर होगी मेरी भी, मगर नहीं, ऐसी मुई बज्जात औरत मैंने भी अपनी उमर भर में नहीं देखी। हम तो कहेंगे कि भई हमें कोई सूली पर चढ़ा दे, मगर अपने कलेजे के टुकड़े की कसम !—भई हमसे तो कभी भी न खाई जाय।''

शहजादी भी कुछ कहने ही वाली थी कादिर की बीबी एकाएक तड़पकर बोल उठी—''ऐ तुम लोग अपनी ही कहे जाओगी कि किसी की सुनोगी भी ? मैं कहती हूँ कि चाहे मुझसे जो कसम ले लो जो मैंने किसी से कुछ भी कहा हो और जो मुझे कुछ भी मालूम हो तो मेरे तन-मन में कीड़े पड़ें।''

अख्तरी ने बड़े लहजे के साथ कहा—''ओह री मेरी बन्नो, ऐसी बड़ी भोली तो हो ही !''

अख्तरी और भी अभी न जाने क्या-क्या कहती मगर उस वक्त तक लोग मियाँ कादिर को पकड़े हुए घर ले आये। शहजादी ने जीभ को दाँतों से नीचे दबाते हुए दयनीय मुद्रा बनाकर कहा—''ऐ है, जरी हमारे कादिर की तरफ देखो तो। बिचारे का मुँह कैसा उतर गया !''

खुरशीद बोली—''ऐ मैं कुरबान जाऊँ। इस मरी-पीटी चुड़ैल ने अल्ला जाने कैसा-क्या कर दिया कि बेचारा एक रात में ही आधा रह गया।''

बहरहाल, यही हंगामा मचता रहा। इत्तफाक से मियाँ शुबराती को एक काम से चौक की तरफ जाते वक्त अकबरी दरवाजे के पास पीरू पहलवान दिखाई पड़े। शुबराती ने लपककर पहलवान के कन्धे पर हाथ रक्खा और बोले—''ये लीजिये, तुम तो यहाँ मजा कर रहे हो, और वहाँ तुम्हारे दोस्त कादिर पर कैसी बीत रही है कि बस अल्ला ही जानता है।''

पहलवान ने घबराकर पूछा—''क्यों-क्यों खैरियत तो है न ?''

''सब खैरियत ही है ! वह बेचारा तो घर-बार छोड़ फकीरी लेके चला जा रहा है और आप खैरियत की दुम पकड़कर चले हैं।''

''अमाँ हैं ? अमाँ तुम ये क्या कह रहे हो शुबराती मियाँ ? आखिर यह बात क्या हुई ?''

मियाँ शुबराती ने एक बार चारों तरफ सतर्कता के साथ देखा और फिर पीरू के नजदीक आते हुए बोले—''हुआ क्या ? अमाँ भाई सच-झूठ की तो अल्ला ही जाने, मगर हमने सुना है कि उसकी जोरू के साथ लड्डुन की निगाहें कुछ खराब-सी थीं।

कादिर ने यह सब देख लिया, बस इसी से उसने फकीरी ले ली। और इतना तो भाई हम भी कहेंगे पहलवान, कि हजारों बार खुद हमने अपनी आँखों से देखा कि कादिर की बीबी और लड्डुन हँस-हँस के बातें कर रहे हैं। मगर हमको क्या ? हमने सोचा कि किसी के मामले में हम टाँग क्यों अड़ायें ? अरे हाँ भई, जो जैसा करेगा वैसा ही पायेगा।"

पहलवान ने पूरी बात भी न सुनी और लपककर कादिर के घर की तरफ चले। जाकर देखा तो चारों तरफ बड़ी भीड़ जमा है और चबूतरे पर पीला कुर्ता और पीली लुंगी पहने मियाँ कादिर घुटनों में मुँह छिपाये बैठे हैं। घर के अन्दर अलग हंगामा मचा हुआ है। भीड़ चीरते-चीरते पहलवान कादिर के पास तक आये और उसकी पीठ पर हाथ फेरकर बोले—"अमां कादिर !"

कादिर मियाँ उछल पड़े और पहलवान को गले से लगाते हुए रोकर बोले—"सबेरे से हमें सबने तंग कर रक्खा है। इनके हाथों से हमें नजात दिलाओ, भाईजान।"

पीरू पहलवान ने कादिर को सीने से लगाकर भर्राये हुए गले के साथ पूछा—"आखिर तुम्हें ये फकीरी लेने की क्या सूझी थी ?"

कादिर ने रोकर कहा—"अमाँ वही तो बताते हैं भाईजान। बात यों हुई..."

बीच ही में टोककर मियाँ बकरीदी ने आगे बढ़ते हुए कहा—"ये क्या बतायेंगे ? मैं तुम्हें सब बताये देता हूँ।"

कादिर मियाँ फिर चीखकर बोले—"बस सबेरे से इसी तरह नाकों चना चबवा रहे हैं। पूरी बात सुनते नहीं और बीच में टाँग अड़ा देते हैं।"

पहलवान ने तेवर बदलते हुए कड़ककर कहा—"अब की जो बोला उसकी जुबान पकड़कर खींच लूँगा। हमें कोई कादिर न समझ ले कि रो देंगे; मारे चाटों के मुँह रायता कर दिया जायगा। हाँ जी कादिर तुम कहो।"

कादिर ने अपने आँसू पोंछ, सुबुकते हुए कहना शुरू किया—"अमाँ कल रात को हमने एक ख्वाब देखा कि जैसे बड़ा चाँदना सा फैल गया है और सामने खुदावन्द करीम खड़े हुए हमसे कह रहे हैं कि तुम लोगों को यह बतलाओ कि हम कल दुनिया के हाल-चाल देखने आयेंगे और सबका फैसला करेंगे। सो भाई, वही सब कहने मैं आज सुबू पार वाले साह जी के तकिये पर जा रहा था कि इन लोगों ने मुझे रोक लिया। सुबू पाँच बजे से, अब ये बारह-एक बजे का टेम हो गया और अब तक इसी तरह रोक रक्खा है। अब शाम की निमाज के बाद अल्लाहताला तसरीफ लाया चहें और यहाँ ये हाल है कि दुनिया भर में किसी को खबर ही नहीं। मगर हम क्या करें। वह रहमानेरहीम सबके दिल का हाल जानता है। अगर इन लोगों ने रोक न रक्खा होता, तो क्या मैं अब तक ये खबर न सुना देता ?"

यह हाल अब जो कोई सुनता है, उसी के छक्के-बक्के छूट रहे हैं। आनन-फानन में यह खबर पाटेनाले के कोने-कोने में पहुँच गई, और सब लोग मियाँ कादिर की जियारत के लिये आने लगे।

खुदा की मरजी, एक घण्टे के बाद एकाएक आसमान पर बादल घिर आयें, बिजली चमकने लगी, घनघोर काली घटाओं से मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। तब तक मियाँ कादिर के इस इलहाम की चर्चा तू-मैं की जबान पर होती-होती सारे शहर में फैल गयी थी। और उस वक्त भाई बकरीदी के बतला देने की वजह से पूरा-का-पूरा पाटानाला कम्बख्त हादी काने को कोसता हुआ, तस्वीह के दानों को दना-दन फेरता, हाथ और आँखें आसमान की ओर उठाकर रोते हुए कलमा पढ़ रहा था।

शादी के पूरे एक साल बाद

अरुण

●

श्री अरुण का जन्म सन् १९२८ में हुआ था। आप आगरा विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं। विद्यार्थी-काल से ही लिखने की ओर रुचि रही है। अब तक आपकी दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, कई प्रकाशन के पथ पर हैं। आपकी 'सचित्र गृह-विनोद' पुस्तक उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है।

साहित्य-सृजन आपकी पैतृक सम्पत्ति है। आपके पिता श्री मदनमोहनजी ने भी 'निष्काम' उपनाम से इस दिशा में काफी यशोपार्जन किया है। हिन्दी के सभी प्रतिष्ठित पत्रों में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

आप क्रिकेट के भी अच्छे खिलाड़ी हैं और उत्तर-प्रदेश के सर्वप्रमुख कैंट-स्पोर्ट्स-क्लब के कप्तान हैं।

रचनाएँ

'भोर की किरणें', 'अमृत और विष', 'मृत्यु में जीवन', 'नुक्कड़ की बत्ती और रास्ते', 'रेलगाड़ी के डिब्बे', 'हास-परिहास', 'सचित्र गृह-विनोद', 'सचित्र व्यंग-विनोद' आदि।

निष्काम प्रेस, मेरठ

देवेश प्याला उठाकर बोला, 'मैं भाभीजी की सेहत के लिए पीता हूँ।'

"अजी, सुनना जरा," मैंने पुकारा।

"मैं उधर ही आती हूँ जी, मुझे भी एक बात कहनी है," मेरी पत्नी ने वहीं से उत्तर दिया।

श्रीमती जी दनदनाती आ पहुँची। चूल्हे के पास बैठने से चेहरा कुन्दन-सा चमक रहा था, मानो किसी एक्सप्रेस के एंजिन की आगे की लाइट हो। "कहो जी, क्यों बुलाया था ?"

मैंने पूछा, "पहले तुम बताओ, क्या बात कहनी थी ?"

श्रीमती जी की कनपटी भी लाल हो आई। शरमाकर उन्होंने तिरछी निगाहों से मेरी ओर देखा। "है कुछ बात। पहले तुम बताओ ?"

मैं मर मिटा, "ओह विवाह से पहले देखते समय युवती की यही अदा तो होती है जो हर युवक के दिल पर कापीराइट लेकर उससे हाँ कहलवा लेती है। हे मेरे आसमानी बाप, तूने कैसे-कैसे हथियार ईजाद किये हैं !"

श्रीमती जी की आँखों में वह झलक थी जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

"और विवाह के बाद यह अदा केवल चलने वालों के लिए या यार-दोस्तों के लिए रिजर्व रख दी जाती है जिससे वे दिल पर हाथ रखकर कहें कि हाय हाय, फलाने को कैसी तीखी बहू मिली है। अरी खुदा की बन्दी, हमारे दिल पर पेटैण्ट की मोहर लगाने के बाद कम से कम दिन में एक बार तो यह झलक दिखा दिया करो।"

"हटो जी, तुम बड़े वैसे हो···बताओ न क्या कहना था ?" वे मचल उठीं।

"नहीं, नारी प्रथम। एक यही निशानी तो आजकल के पुरुषों के शौर्य की परिचायक रह गई है।"

श्रीमती जी रूठकर बोलीं, "यह तो मुझे पता था कि तुम अपनी करके मानोगे। अच्छा बताती हूँ···अगले सप्ताह में हमारे विवाह की पहली सालगिरह है।"

मैं उछल पड़ा, "जनाब, यही अर्ज करने को तो मैंने आपको यहाँ तक आने का कष्ट दिया था। बस, तो तय रही। कर डालो एक दावत !"

"तुम मरदों का क्या ! कह दिया कर डालो न एक दावत ! बिना सोचे-समझे।"

मैं अपनी श्रीमती जी की बुद्धि का कायल हूँ। चुपचाप कान फटफटा लिये। "हाँ भैना, हम सब तो उल्लू के पट्ठे हैं। बताओ क्या-क्या सोचा जाये।"

श्रीमती जी ने और पंख पसारे। उनकी वाणी में स्वत्व का ओज और आ घुसा था, और थी मेरी बुद्धि के प्रति उपेक्षा। 'यही सोचना है कि सालगिरह मनानी है या

नहा, मनानी है तो किसे-किसे बुलाना है, बुलाकर क्या-क्या खिलाना है ? एक बात है !" उनके स्वर में चुनौती थी ।

मैं गिड़गिड़ाया, "सालगिरह मनानी है यह तो तय समझो । मित्रों को बुलाना है बाहर वालों को नहीं । हाँ, क्या खिलाना है, यह समस्या सामने है । दावत कई तरह की होती है—गीली सूखी, तर खुश्क, खोमचेवाले की, होटल की, आलू के भल्ले की, चाय-नमकीन की, पूरी-कचौड़ी की । खैर, यह भी तुम जानो । मैं तो यही सलाह दे सकता हूँ कि जो दावत में आये उसे अगले दिन सबेरे तक खाने की जरूरत न पड़े ।"

श्रीमती जी ने इस अवहेलना की दृष्टि से मेरी ओर देखा कि मेरी हड्डी-हड्डी में कम्पन व्याप गयी । रीढ़ से यह सिहरन निकलने पर मेरी जान में जान आयी । मैं उनकी मन की अर्धचेतना की राय से एकमत हो उठा कि किस गधे ने मुझे एम० ए० में पास कर दिया । खैर, एल० टी० में तो मैंने पाल्सन के कई बक्स खाली कर दिये थे ।

वे तरस खाकर बोलीं, "तुम लोग बाहर अपना काम कैसे चलाते हो ?···देखो, पार्टी में कम से कम पाँच कन्या, पाँच लंगर अवश्य होने चाहियें ।"

दिमाग की क्या आला उपज थी, पर मैं ठहरा कूढ़मगज । बोला, "क्यों, अपने अनुभव सुनाकर ललचाने को या उनका सम्बन्ध तय करने को यह दावत दे रही हो ?"

वे बुरी तरह झल्ला उठीं । वे कहने जा रही थीं, 'कैसे मूर्ख से पाला पड़ा है !' किन्तु नहीं, उन्होंने अपने को रोक लिया, क्योंकि वे एक हिन्दू पतिव्रता स्त्री हैं । "मेरा मतलब बिनब्याहों से नहीं था । मैं चाहती हूँ कि शास्त्रों के अनुसार शुभ दिन पाँच युवक और पाँच युवती कम से कम हों तो बहुत अच्छा ।"

शास्त्रों का अपनी सुविधानुसार बदलकर अर्थ लगाना देख मैं उनकी चतुरता पर दंग रह गया । मैंने सिर हिलाकर हामी भरी ।

"तो कागज लाकर लिखो । एक लता और उसके पति, दूसरे देवेश तथा उसकी पत्नी, तीसरी रमा, चौथी कान्ता, पाँचवीं वासन्ती, छठे आनन्दकुमार, सातवें तुम्हारे मित्र टुण्डे मास्टर ··" वे 'टुण्डे मास्टर' कहकर खूब हँसीं ।

मैंने मन-ही-मन सरस्वती मैया पर पाँच पैसे का प्रसाद चढ़ाया कि उनके हँसने से वह सूची अधूरी रह गयी, नहीं तो पता नहीं जाने कहाँ जाकर समाप्त होती । यदि मेरी दुआओं में शक्ति होगी तो अगले साल ही टुण्डा मास्टर किसी स्कूल का प्रिंसिपल हो जायेगा ।

मैंने डरते-काँपते एक तरमीम पेश की, "तुमने हेमन्त और उसकी पत्नी का नाम तो लिया ही नहीं ।"

उनकी सुन्दर तोते के समान नाक कुछ चढ़ गयी । "हेमन्त को तुम चाहो तो बुला लो पर उसे बात करने का सलीका कहाँ है ! न उसमें और न उसकी पत्नी में ।"

मैंने अपने प्रिय मित्र का पक्ष ले विरोध किया । "नहीं, नहीं, वह तो बड़ा हँसमुख है । संसार में उसके सिवाय शायद ही कोई जानता हो कि व्यंग, चातुरी, वक्रोक्ति, हास्योक्ति, व्याजोक्ति, रसिकता, विनोद, ठिठोली में कहाँ और क्या अन्तर है ।"

वे तिनककर बोलीं, "हाँ, मुझे क्या पता नहीं था कि तुम उसकी ओर से बोलोगे। खैर, मेरा क्या बुला लो। फिर दावत फीकी रह जाये तो मुझसे मत कहना।"

मैं जान छुड़ाने की गरज से बोला, "हाँ, तो कुल मिलाकर हमें चौदह आदमियों को बुलाना है।" मेरे दिल ने हँसकर बुद्धि की पीठ ठोकी कि उसने जिह्वा देवी से तेरह नहीं कहलवाया। "अब यह बताओ कि उन्हें खाने में क्या दोगी ?"

मेरी पहली बात उन्होंने बिना चूँ-चपड़ किये मान ली मानो इतने सारे नाम गिनाने में अच्छी-खासी कसरत हो जाने से वह थक गई हों। "खाने के बारे में एक बात साफ कहे देती हूँ कि तुम्हारे दोस्तों के लिये चूल्हे के सामने बैठकर फुँकना मेरे बस का नहीं। फिर इतनी सारी मिलने वाली आयेंगी, उनके साथ बातें भी तो करनी होंगी।"

मैं भी मान गया कि उस दिन चूल्हे के सामने जाना अपनी मौत बुलाना है। मैं सोच में पड़ गया।

पर उनकी बुद्धि ने डण्ड-बैठक लगाई। पहले गोते में ही मोती हाथ था। "बस, बाजार से मिठाई-नमकीन मँगा लेंगे। चाय का पानी रसोई में उबलता रहेगा जिसे रमलू केतलियों मे लौट-पलटकर दे जाया करेगा।"

मेरी आदत ही शक्की थी। बात-बात मे बाल की खाल निकालता था। यह तो उस नीली छतरी वाले की मेहरबानी है कि शादी के बाद से मेरी यह आदत बहुत कम हो गयी थी। "चाय-पार्टी कुछ··मेरा मतलब है··तुम समझ गई होंगी··"

मेरे पोंगेपन पर फिर उन्हें तरस आ गया। "क्यों, चीज़ काफी मँगा लेंगे, खूब ट भरकर खाना। मै शर्त लगाती हूँ कि यदि तुम चार रसगुल्ले एक साथ खा लो तो आठ दिन तक कुछ न खाओ।"

दिमाग की घुण्डी खुल गई। कितनी महान् मुश्किल कितनी आसानी से हल हो गई थी ! मुझे अपने चौघटपने पर हँसी आ गई।

यह आज की नहीं हर दिन की कहानी थी। मैं प्रतिदिन पट गिरने की कोशिश करता था, पर हमेशा चारों खाने चित्त आता था।

वह दिन आ गया जिस दिन पिछले वर्ष रात के तीन बजे आग के चक्कर लगवाकर जंगली घोड़े को साधा गया था।

मैं इतना सध चुका था कि अपनी पत्नी की तसल्ली करने के लिये कान दबाये फटाफट दो कमीज और पॉच पतलून बदल गया। और उन्होंने उस दिन वह साड़ी पहनी जो उन्हें विशेषतया प्रिय थी और जिसे न पहनने के लिये मैं उन्हें सौ बार कह चुका था।

दावत का समय हुआ और लोगों का आना आरम्भ हुआ। हमारे मित्र कितने लायक हैं, यह उस दिन ही पता चला। सब हमारे लिये भेंट लिये चले आ रहे थे। उपहारों से ही उनका परिचय मिल रहा था।

भला सोचने की बात है कि विवाह को एक वर्ष हो चुका और रमा जी 'भाई के पत्र' उठाये चली आ रही हैं। मेरे दिमाग में फिर एक शक का कीड़ा उठा कि वे

दरअसल भाई हैं या बहन। टुण्डे मास्टर एक बाल चिपकाने की शीशी ले आये थे और बैठे-बैठे हाँफ रहे थे मानो दो मन का बोझ उठाकर लाये हों। हाँफने की सफाई में कहने लगे कि सारे शहर में घूम-फिरकर यह सुन्दर उपहार पसन्द कर पाया हूँ। मुझे निश्चय हो गया कि शहर के किसी-न-किसी कोने में जरूर क्लियरैन्स सेल हो रही है।

जब सब निमंत्रित आ चुके तथा अहसानों के बोझ से लादी अपनी दो-दो सेर की भेंट दे चुके तो हरीश ने अपना तोहफा पेश किया। एक बक्स और उस पर दो गुड़ियाँ। बक्स में लगे तार को दबाने पर वे खूब नाचती थीं। उसने कहा, "भगवान करे, भाभी हमेशा अपने साहब को इस तरह नचाती रहें।"

देवेश बोला, "गुड़ियों के कारण तो ऐसा मालूम पड़ता है कि भाभी जी साहब के इशारों पर नाच रही हों।"

इस पर हेमन्त ने तुर्रा जोड़ा, "भई, नचाये कोई भी, इसमें इतना भेद नहीं। असल में तो दो साथ हैं। इसका क्या अर्थ है? हरीश का इससे क्या मतलब है?"

फिर देवेश उठकर खड़ा हुआ। उसके हाथ में बच्चों के खेलने का प्लास्टिक का टब था जिसमें एक प्यारा बच्चा लेट रहा था। ऊपर एक फुव्वारा लगा था जिसमें रबर की गेंद दबाने से दूध की फुहार छूटती थी। उसने दूध की फुहार छोड़ी और मुझसे कहा, "दूधो नहाओ" और अपनी भाभी से बोला, "पूतों फलो।" श्रीमती जी यह छींटा पड़ते ही रंग से शराबोर हो उठीं।

अब हेमन्त की बारी थी। वह उठकर बोला, "अब तक की प्रगति का नतीजा कोई न देखकर मुझे बड़े भारी दिल से अपने परम मित्र को यह उपहार देना पड़ता है।" उसने जेब से एक प्रश्नसूचक चिन्ह निकालकर मेरी ओर बढ़ाया। "हमें भाभी जी के सब्र की प्रशंसा करनी पड़ती है। और कोई होतीं तो क्या करतीं, यह सोचकर ही मुझे धुड़धुड़ी चढ़ी आती है। लेकिन हमें पूर्ण आशा है कि अगले साल वह हमारे मित्र को यह भेंट करने जा रही हैं," और कोट की दूसरी जेब से उसने स्यामी जुड़वाँ बच्चे निकाले।

सब खिलखिलाकर हँस पड़े। बिलकुल हमारी अपनी परम्परा थी। मैं भी हँसना चाहता था, परन्तु श्रीमती जी की ओर दृष्टि करते ही मुझे मानना पड़ गया कि हेमन्त में तमीज़ नहीं है।

हेमन्त का हाथ बढ़ा रह गया। श्रीमती जी ने खिलौना स्वीकार नहीं किया। यह एक तरह से उसका अपमान था। रंग में भंग होने वाला था। पर वाह रे मेरे दोस्त! इस बीहड़ कठिनाई में भी राह बना ली! मुस्कराकर हेमन्त खिलौना मेज पर रखता हुआ बोला, "अच्छा, हमारे से न लीजिये। जब भगवान् देगा तब तो लेना ही पड़ेगा।"

पाँच मिनट के अन्दर दूसरा बाँध भी टूट गया। हँसी कलकल करती निकल भागी।

खैर, राम राम करके चाय के प्याले बने। देवेश अपना प्याला उठाकर बोला, "मैं भाभी जी की सेहत के लिये पीता हूँ।"

हेमन्त बोला, "मैं तो भाभी जी के लिये पीता हूँ जिनके लिये हमें यह दिन

देखना नसीब हुआ और इस खूसट को पैसे खर्च करने पड़े।"

मैं बोला, "तो फिर इसके लिये तो इनके मूँछोंवाले पिता जी को धन्यवाद दो।"

वे बिगड़ गईं। टेढ़ी निगाह करके बोलीं, "दोस्तों के साथ बैठकर तो इनकी जबान पर लगाम नहीं रहती। बात-बात पर पिता जी तक पहुँच जाते हैं। यह कहाँ की बात है!"

हेमन्त हँसा, "भाभी जी, आप तो नाहक बिगड़ गयीं। बेचारा उनकी मूँछों की तारीफ ही तो कर रहा है।"

वे बोलीं, "आपको तो मूँछें बुरी लगेंगी ही, क्योंकि मेरठ में सब मुछमुण्ड..."

देवेश ने वाक्य पूरा किया, "गुण्डे रहते हैं।"

मैंने सफाई पेश की, "तुम्हारा यह दोषारोपण वृक्षारोपण की तरह निराधार है। हमें देखो, हमें तो उनकी मूँछें इतनी प्यारी लगती हैं कि हर समय उन्हें मूँछोंवाले पिता जी कहकर याद करते हैं।"

वे शायद बड़ी प्रसन्न हुईं, "और क्या, उनकी मूँछों का बड़ा रोब है।"

देवेश ने हमें रोब के गड्ढे में से निकालना चाहा। "डर न दोस्त, मैं भी तुझे पैंठ से एक आने वाली मूँछ खरीदकर ला दूँगा। तू भी उन्हें लगाकर रोब डालना।"

और हेमन्त ने कल्याण कर दिया—"बस, वे मूँछें लगाकर अपने मूछोंवाले पिता जी के पास चले जाना। फिर अपनी मूँछें उतारकर हाथ में लेकर कहना—'पिता जी, अब काफी रोब पड़ चुका, आप भी अपनी उतार डालिये,' या—'पिता जी, अब काफी है, हम दोनों एक-दूसरे को पहचान गये हैं।"

ऊँट की कमर को तिनका तोड़ देता है, पर यहाँ तो मूँछों का उतारना ही कयामत बरपा गया। दावत में वह हँसी का कुहरा फैला कि मुझे अपनी पत्नी का मुख देखना ही दूभर हो गया। उनकी शकल ही मेरा सहारा थी। मैं क्या करता, हँसी के सागर में डूबने-उतराने लगा।

पार्टी पूरे समय चली। उसमें फिर दौर-दौरे आये, पर मुझे कुछ नहीं सुनाई दिया। मैं वह जलता तवा...नहीं जलते तवे पर तो पानी की बूँद गिरकर छन्न करती है...तपता पत्थर हो गया जिस पर पड़कर आवाजें कुछ बुलबुले उड़ाकर विलीन होती रहीं।

हर ठहाके के साथ पार्टी फीकी पर फीकी पड़ती जा रही थी, किन्तु मैं क्या करता, घर आये मेहमानों को किस तरह बीच में विदा करता। उस पार्टी में मैं ग्रामोफोन का पार्ट अदा कर रहा था—हँसने पर हँस पड़ता, रोने पर रो उठता और शान्ति में गम्भीर था।

मुझे नहीं पता कि पार्टी किस समय निबटी। मैं सबको विदा कर पलँग पर आ लेटा। घर का आवश्यक काम निबटा थोड़ी देर में श्रीमती जी भी आकर लेट गयीं। हम दोनों के मुख एक-दूसरे की ओर थे। लहमें में साँस भरकर वह बोलीं, "क्यों जी, सो गये क्या?"

मैंने दिल थामकर कहा, "सोने दो जी, बड़े जोर से नींद आ रही है।"

वे बोलती रहीं, "हाँ, मेरे से बात करने में तो इन्हें नींद आती है। अभी कोई दोस्त आ गया होता तो रात के बारह बजा देते।"

मेरा दिल बोला, "तुम्हारे साथ तो मेरी पूरी रातें जगकर काली हो चुकी हैं।" पर होठों पर बुद्धि ने ताला लगा दिया।

मैं पिछले साल के इस दिन को सोचने लगा—हे भगवन्, क्या हर साल मेरा यह दिन ऐसे ही बीतेगा ! मैंने अपने कान पकड़कर क्षमा माँगी।

वे फिर बोलने लगी थीं। बचपन में अवश्य इनकी माँ ने इन्हें बोलना सिखाने के लिए कौवे की जबान खिलाई होगी। "देखा, मेरा कहा न मानने का यह फल होता है। आज जैसा शुभ दिन और···" मेरा हाथ कान की ओर उठता देख वे यह समझीं कि मैं उनके बोलने से तंग आकर अपने कान बन्द कर रहा हूँ। बस, कहर टूटा। वे तिनकीं, झिनकीं और झट से करवट बदल डाली।

उस रात मैंने उन्हें किस तरह मनाया यह एक पारिवारिक भेद है।

मेहमान

अशोक

●

श्री अशोक, बी० ए० का जन्म सन् १९२२ में मध्य-प्रदेश के बिलासपुर जिले की जाँजगीर नामक तहसील में हुआ था। आपका पूरा नाम सुन्दरलाल वर्मा है किन्तु हिन्दी साहित्य संसार में केवल अशोक के नाम से जाने जाते हैं। १९३७ से लिख रहे हैं। पहले 'लाल' के नाम से लिखते थे, इसके बाद 'अशोक' एवं 'दर्द' के नाम से लिखने लगे। अब तक आपकी दो दर्जन से अधिक साहित्यिक एवं बालोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं तथा कई प्रकाशन की बाट जोह रही हैं। आपने 'इन्द्र-धनुष', 'चेतना', 'खिलौना', 'बालसेवा', 'मंगला', 'आराधना', 'आरती', 'सावन-भादों', 'किलकारी' मासिक एवं साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन-सम्पादन किया और 'इसी का नाम दुनिया है' फिल्म के संवाद लिखे।

आपकी पत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी वर्मा 'चन्द्रिका' भी प्रसिद्ध कवयित्री एवं लेखिका हैं।

अरविन्द-कुटीर, नागपुर, मध्यप्रदेश

"वर्मा एडीटर साहब का दौलतखाना यही है न ?"

इन दिनों मैं मेहमानों को देखकर वैसे ही भड़क उठता हूँ जैसे लाल कपड़ा देख कर साँड़ भड़क उठता है। आप पूछेंगे—"भाई! मेहमानों से आपको ऐसी चिढ़ क्यों है?" तो मैं कहूँगा—"बात आइने की तरह साफ है। मँहगाई का जमाना है। घर में व्यवहार की जानेवाली प्रत्येक चीज का भाव आसमान पर चढ़ गया है। शहर के मकान-मालिकों ने अपने मकानों को कामधेनु-गाय समझ लिया है। छोटे-छोटे दो कमरे, जिनमें मुश्किल से एक-एक खाट बिछ सकें; खुला हुआ एक बराण्डा, जिसमें ठण्ड के दिनों में सोनेवाला व्यक्ति ठण्डी हवा के चलने से पीपल के पत्ते की तरह काँप उठे; एक छोटा-सा सण्डास जिसमें बैठने से मनुष्य को कसरत-सी मालूम पड़े; दो साल के बच्चे की तरह रुक-रुककर पेशाब-सा करनेवाला नल; और इन सबका किराया ३५ रुपए माहवार!"

अब आप ही बताएँ कि ऐसे तंग दायरे में यदि किसी के यहाँ मेहमान आ जाए तो वह चिढ़ेगा नहीं तो क्या ढोल बजाकर प्रसन्नता प्रकट करेगा!

अपनी बदकिस्मती से मैं भी शहर के एक ऐसे मोहल्ले में रहता हूँ जिसे लोग सभ्य आदमियों का मोहल्ला कहते हैं। आप जानते ही हैं कि सभ्य बनने के लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ता है? हाँ, तो मैं जिस मकान में किराए से रहता हूँ, उसमें तीन कमरे हैं। पीछे एक छोटा-सा कमरा है जो रसोई-घर के काम में लाया जाता है। उस कमरे की छत इतनी नीची है कि दिन में कम-से-कम दो बार तो सिर से उसकी टक्कर हो ही जाती है। एक छोटा-सा सण्डास है जो अब और तब का मेहमान हो रहा है और उसी से लगा हुआ एक और छोटा-सा कमरा है जो 'बाथरूम' कहलाता है। इस पूरे मकान का किराया है ३५)। ३५) किराया, आज का किराया नहीं है। पहले इस मकान में जो किराएदार थे वे सिर्फ़ १५) देते थे। मैं पहले-पहल २०) किराए से इस मकान में आया पर धीरे-धीरे मकान-मालिक की कृपा से २०) से ३५) दे रहा हूँ। सण्डास की मरम्मत के लिए मकान-मालिक से जब तब शिकायत किया ही करता हूँ, पर वे महाशय हैं कि सोंठ बने बैठे हैं। हाँ, किराया वसूल करने के लिए प्रत्येक माह की पहली तारीख को ही छाती पर सवार हो जाते हैं।

मेरे परिवार में सिर्फ ढाई प्राणी हैं। मैं स्वयं, मेरी श्रीमती जी और ढाई साल का मेरा नन्हा मुन्ना। श्रीमती जी जरा गुस्सैल स्वभाव की हैं। गुस्सा गोया नाक पर रहता है। पहले-पहल जब वे इस मकान में आईं तो घबरा कर बोलीं—"यह मकान है या कोई चिड़ियाखाना? यहाँ तो दम घुटा जा रहा है। भगवान् जाने यहाँ इन्सान कैसे रहते थे?" और अब हम इन्सानों को इसी मकान में रहते हुए पूरे दो वर्ष हो रहे

हैं। भगवान् का लाख-लाख शुक्र है कि श्रीमती जी अब अपने आपको इन्सान समझने लगी हैं। वे अब इस बात को अच्छी तरह समझ गई हैं कि शहर में मकान ढूँढ लेना गोया भगवान् को ढूँढ लेना है।

अब जनाब! आपसे क्या छिपाऊँ? मैं यहाँ के एक दैनिक अखबार का 'एडीटर' हूँ। तनख्वाह पूरे डेढ़ सौ रुपये मिलती है। आप कहेंगे कि ढाई प्राणियों के लिए तो डेढ़ सौ रुपए बहुत हैं। पर माफ करेंगे, आपको मेरे आय-व्यय का चिट्ठा ही नहीं मालूम। आपकी जानकारी के लिए मैं अपनी मासिक आय-व्यय का ब्योरा लिख देता हूँ :

३५) मकान का किराया; ३०) राशन खर्च; १०) मुन्ना के दूध का खर्च; १०) हमारे चाय-नाश्ते का खर्च; ७) महरिन का वेतन; ५) धोबी का वेतन; १) हज्जाम खाते; १०) श्रीमती जी की श्रृंगार सम्बन्धी सामग्री का खर्च; ७) सिनेमा-खर्च; १५) घी-तेल का खर्च; २०) फुटकर खर्च; कुल खर्च १५०)।

अब आप समझ ही गये होंगे कि 'एकाउण्ट क्लियर और बैलेन्स निल' वाला हिसाब है मेरे यहाँ। इस हिसाब में मैं उन रुपयों का जिक्र नहीं कर रहा हूँ जो मुझे कहानियाँ, लेख और कविताएँ लिखकर मिल जाते हैं।

किस्सा-कोताह यह है कि मेरे परिवार की यह छोटी-सी गाड़ी इस प्रकार चल रही है। इस बीच में यदि कोई मेहमान हमारी बदकिस्मती से आ टपकता है तो बस समझ लीजिए कि बना-बनाया खेल ही बिगड़ जाता है। आय-व्यय के बजट में जमीन आसमान का अन्तर हो जाता है। मेहमानों की खातिरनवाजी करते-करते नाक में दम हो जाता है और मेहमान हैं कि अंगद के समान पैर जमा देते हैं। अब आप ही फैसला करें कि मैं इन मेहमानों से चिढ़ूँ नहीं तो क्या उनकी आरती उतारूँ?

दिवाली बीत गई थी। रविवार का दिन था। प्रेस बन्द था। उस दिन आसमान पर काले-काले बादल छाए हुए थे। एक तो यों ही ठंड के दिन, दूसरे इन काले-काले बादलों ने असमय में ही रोना शुरू कर दिया था। बस फिर क्या था? ठण्ड थी कि हम थे। सवेरे का समय था और टिक-टिक करती हुई अलार्म घड़ी ने नौ बजा दिए थे। हम श्रीमती के घुटनों से घुटने मिलाए हुए, चूल्हे के पास बैठे हुए गरम हो रहे थे कि इतने में घर के सामने ताँगे के रुकने की आवाज सुनाई दी। हमने सोचा कि शायद मोहल्ले में किसी के यहाँ कोई आया होगा, पर हमें क्या पता था कि यह मुसीबत हमारे यहाँ ही फट पड़ी है। बाहर से आवाज आई—"एडीटर साहब हैं क्या? हम बाहर आकर क्या देखते हैं कि अच्छे-खासे मोटे-ताजे फुटबाल बने हुए एक महाशय हमें पूछ रहे हैं। हमें देखा तो लगे पूछने—"वर्मा एडीटर साहब का दौलतखाना यही है न?" हमारे 'हाँ' कहने पर वे लपके हुए ताँगे के पास गये और हमने गौर से देखा कि श्रीमान् केवल अकेले ही नहीं हैं, बल्कि श्रीमती जी तो हैं ही साथ में पूरे आधे दर्जन 'चिल्ल-पों' भी हैं। अब हम सकते की हालत में, जहाँ जैसे खड़े थे, वहाँ वैसे ही खड़े रह गए। हमारी समझ में ही न आ रहा था कि इस छोटी-मोटी फौज के

आक्रमण करने का कारण क्या है और इस फौज के 'कमाण्डर-इन-चीफ' साहब हमारे अपने कौन हैं जो हमसे इतना प्रेम दिखा रहे हैं ?

पाव-दर्जन पेटियों और बिस्तरों के बंडलों को इत्मीनान के साथ कमरे में रखते हुए उन्होंने पूछा—"तो क्या एडीटर साहब घर में ही तशरीफ रख रहे हैं ?" मैंने फटी-फटी आँखों से उनकी ओर देखते हुए पूछा—"कहिए ! क्या आज्ञा है ?" लपककर जोश से हाथ मिलाने के लिए अपना एक हाथ आगे बढ़ाते हुए बोले—"अख्खाह ! तो आप ही हैं जनाब एडीटर साहब ! भई खूब मिले, मैं तो समझता था कि आप कहीं बाहर चले गए होंगे ।" मैंने हाथ मिलाने के लिए न तो अपना हाथ ही आगे बढ़ाया और न कोई प्रसन्नता ही प्रकट की । मेरी ओर से निराश होकर वे अपनी श्रीमती जी की ओर मुखातिब होकर बोले—"खड़ी क्यों हो ? अन्दर चली जाओ ?" और तब वह छोटी-सी फौज 'क्विक-मार्च' करती हुई अन्दर चली गई ।

आप पूछेंगे आनेवाले ये सज्जन, हाँ उन्हें सज्जन (?) ही कहना उचित होगा, मेरे अपने कौन थे ? तो लीजिए, सुन लीजिए ! भारी-भरकम शरीरवाले ये सज्जन मेरी मौसी के भाई के मामा के फूफा के लड़के थे । यद्यपि वे अपने आपको मेरा नजदीकी रिश्तेदार बता रहे थे, पर मैंने तो ख्वाब में भी उन्हें नहीं देखा था । मैंने उनके एकाएक बिना सूचना दिए ही आने का कारण पूछा तो लम्बी-लम्बी साँसें ले-लेकर कहने लगे—"क्या करूँ भाई ! पिछले तीन-चार महीनों से स्वास्थ्य ही ठीक नहीं रहता है । सोचा हवा-पानी बदलने से शायद तबियत ठीक हो जाए, सो यहाँ चला आया ! शीघ्रता में मुझे खेद है कि मैं आपको सूचित भी न कर सका । प्रेस में पूछने से आपके मोहल्ले और मकान का पता लगा, वर्ना न जाने अब तक कहाँ-कहाँ भटकते फिरते ?"

सुन लिया आपने ? मेरे अपने ये रिश्तेदार महाशय अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए ही यहाँ तशरीफ लाए थे । सो भी अकेले नहीं दल-बल के साथ, गोया स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्हें यही एक शहर मिला ! उधर जब वह छोटी-सी फौज धड़धड़ाती हुई बिना किसी 'अल्टीमेटम' के सीधे वहाँ पहुँची जहाँ श्रीमती जी 'कप' में दूध लिए मुन्ना को पिलाने की तैयारी कर रही थीं तो छोटी-मोटी फौज को देखते ही श्रीमती जी इस प्रकार चौंक पड़ीं मानो उनके ऊपर से कोई साँप निकल गया हो । 'कप' फर्श पर गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो गया और सारा दूध फर्श पर बिखर गया । फर्श पर फैले हुए दूध पर 'बानर-सेना' टूट पड़ी । जब मैंने श्रीमती जी को बताया कि ये हमारे रिश्तेदार हैं और यू० पी० से इतनी दूर यहाँ स्वास्थ्य सुधारने के लिए आये हैं तो उन्होंने मेरी ओर आग्नेय नेत्रों से देखा मानो मुझे भस्म कर डालेंगी । आँखों ही आँखों से उन्होंने मुझसे पूछा—"यह मुसीबत कहाँ से आ गई ?" मैं क्या जवाब देता ? अपना-सा मुँह लेकर बाहर चला आया ।

मैंने अपने अजीज रिश्तेदार से पूछा—"चाय तो आप लेते ही होंगे ?" उन्होंने बुरी तरह नाक-भौं सिकोड़ते हुए कहा—"चाय ! दिल और दिमाग को झुल्सा देनेवाली चाय ! जी नहीं, मैं चाय नहीं पीता । चाय स्वास्थ्य के लिए जहर है । जाने क्यों आप

लोग चाय पीना पसन्द करते हैं ? खैर, आप ज्यादा तकल्लुफ न करें। यही करीब आध सेर गाय का दूध ही ला दें। काम चल जाएगा। वैसे स्वास्थ्य ठीक न होने से मैंने दूध पीना भी कम कर दिया है। हाँ, बच्चों के लिए आप चाय का प्रबन्ध करा दें।" मैं माथा ठोंकता हुआ एक लोटा लेकर हलवाई की दूकान पर गया और एक सेर दूध ले आया। आध सेर दूध तो वे डकार गये और आध सेर दूध से उनकी फौज के लिए चाय बनी। कुछ देर के बाद मैंने उनसे भोजन के सम्बन्ध में पूछा।

"आपका स्वास्थ्य तो ठीक ही नहीं है, अतः खाने के लिए आप जो कहें, उसका प्रबन्ध कर दिया जाये ?" फुटबाल के समान बाहर निकली हुई तोंद पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—"भोजन के लिए आप परेशान न हों। चावल तो मुझसे खाया ही नहीं जाता है। यही करीब दो सेर पूरियाँ, आलू की तरकारी, दस-बीस कचौड़ियाँ, मूली और कच्चे टमाटर, नीबू का अचार, लौकी का रायता, प्याज के थोड़े से भजिए और मलाई का दही ! बस इतने से काम चल जायेगा। अब पहले जैसा मैं खाता कहाँ हूँ ? पहले आप मेरा भोजन देखते तो दंग रह जाते ?" मैंने मन-ही-मन में कहा—"दंग तो अभी भी हो रहा हूँ। आदमी है कि पूरा राक्षस ! कम्बख्त खाता तो है करीब दस सेर, और कहता है स्वास्थ्य ठीक नहीं है।" मैं मन-ही-मन में बुरी-बुरी गालियाँ देता हुआ थैला लेकर बाजार चला गया।

दोपहर का भोजन हो जाने के बाद सन्ध्या के पाँच बजे आपने मुझसे कहा— "देखिए ! इस समय जलपान के लिए आप थोड़े से रसगुल्ले ही मँगा दें। दूध की इस समय कोई खास जरूरत नहीं है।" "जी ! रसगुल्ले तो इधर आस-पास के हलवाइयों के यहाँ नहीं मिलेंगे," मैंने चकमा देते हुए कहा। परन्तु वह भी एक काँईयाँ थे, बोले—"कोई बात नहीं। रसगुल्ले न सही, जो भी मीठा मिले वही करीब सेर भर लेते आइये।" मैंने एक बार वक्र-दृष्टि से उन्हें देखा और मिठाई लेने चला गया।

जलपान करने के बाद मैंने उनसे बाहर खुली हवा में पैदल चलकर घूमने की सलाह दी। इस पर वे बुरी तरह मुँह बनाते हुए बोले—"शहर की गन्दी धूल का स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। यही कारण है कि मैं बाहर घूमना पसन्द नहीं करता !" मैंने मन में कहा—"बाहर घूमने से स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है और घर में रहकर दूसरों की कमाई पर हाथ साफ करते हुए कुछ नहीं होता है।" जी में तो आया कि कम्बख्त को घसीटकर फौज सहित बाहर कर दूँ। पर मोहल्लेवालों का ध्यान आते ही खून का घूँट पीकर रह गया, क्योंकि मैं सभ्य मोहल्ले में रहता था न ? इस प्रकार एक सप्ताह बीत गया।

एक दिन संध्या समय जैसे ही प्रेस से लौटा तो क्या देखता हूँ कि बैठक-खाने में मेरे रिश्तेदार महाशय का बड़ा लड़का एक मासिक-पत्र की फाइल में से रंगीन चित्र फाड़कर अलग निकाल रहा है। परिश्रम से तैयार किये गये मासिक-पत्र की फाइल की दुर्दशा देखकर मेरी आँखों में खून उतर आया। जी में तो आया कि उसकी कौड़ी जैसी आँखें नोच लूँ, पर मन मारकर रह गया। अन्दर गया तो श्रीमती जी ने आड़े हाथों

लिया। एकदम बरस पड़ीं—"आखिर इन मुफ्तखोरों को कब तक बिठाये-बिठाये खिलाओगे ?" "इसके अतिरिक्त मैं कर ही क्या सकता हूँ ? तुम जानती हो कि मैं एक सभ्य मोहल्ले में रहता हूँ, और सभ्य होने के नाते मैं ऐसी कोई बेजा हरकत नहीं कर सकता जो मेरी सभ्यता में कलंक का टीका लगाये। बस, कान में तेल डाले बैठी रहो। आखिर ये सब तुम्हारे रिश्तेदार जो हैं," मैंने मुस्कराते हुए कहा। "चूल्हे-भाड़ में जाएँ ऐसे रिश्तेदार ! तुम्हें कुछ बजट की भी खबर है। बजट में अब केवल दो रुपये सैंतालीस नए पैसे शेष हैं और अभी इस महीने के दस दिन ही ले-देकर बीते हैं। अजीब मुसीबत में जान फँस गई है," श्रीमती जी रुँआसी-सी होकर बोलीं।

"क्या करूँ, सभ्य मोहल्ले में रहता हूँ, वर्ना इन्हें ऐसा मजा चखाता कि बच्चू को छठी का दूध याद आ जाता। मान न मान मैं तेरा मेहमान ! कम्बख्त खाते भी सेर-सेर हैं। क्या छोटे, क्या बड़े, सभी के पेट 'पोस्ट-ऑफिस' के 'लेटर बॉक्स' की तरह जैसे अन्दर ही अन्दर फैलते चले गये हैं।"

"एक काम करो।" कुछ सोचकर श्रीमती जी ने कहा।

"क्या ?" मैंने उत्कण्ठित होकर पूछा।

"आपके सहकारी शैलेन्द्र बाबू इस समय यहीं हैं न ?"

"हाँ हैं यहीं पर, उनसे क्या होगा ?"

"वही तो बता रही हूँ। वे मुझे बहन मानते भी हैं। आप उन्हें सारी राम-कहानी सुना दें और कह दें कि वे एक बिस्तरा-पेटी लेकर कल सवेरे सात बजे ताँगे में बैठकर यहाँ आ जायें। मेरी माता जी की सख्त बीमारी का सन्देशा लेकर आयें और यह भी कह दें कि वे हम सबको साथ ले चलने के लिए आये हैं। आप अपने रिश्तेदार महाशय से कह देंगे कि सास साहिबा सख्त बीमार हैं, जैसा कि साले साहब कह रहे हैं, अतः ऐसी दशा में मुझे सपरिवार ९॥ बजे रात की ट्रेन से जाना आवश्यक है। मुझे खेद है कि मैं अधिक दिनों तक आपका स्वागत न कर सका। बस, इतना सुनते ही वे अपने कच्चे-बच्चे लेकर यहाँ से चलते-फिरते नजर आयेंगे। उनकी ट्रेन सात बजे शाम को जाती है, अतः वे हमसे पहले ही रवाना हो जायेंगे। इधर हम अपनी झूठी तैयारी शुरू रखेंगे। क्यों, कैसी रहेगी यह युक्ति ?" श्रीमती जी ने मेरी आँखों में आँखें डालते हुए कहा।

"लाख बरस जियो मेरी रानी ! इस समय तुमने लाख रुपये की बात कही है। सच, मेरी अक्ल तो घास चरने चली गई थी। सम्पादकी तो वास्तव में तुम्हें ही करनी चाहिये। मैं भला..."

"खुशामद की बातें करोगे तो कहे देती हूँ, ठीक न होगा। अभी-अभी जाकर शैलेन्द्र बाबू को खबर दे दो," श्रीमती जी ने बीच में ही बात काटते हुए कहा। मैं तुरन्त भागा-भागा शैलेन्द्र बाबू के घर पहुँचा। मेरे मुँह से सारी बातें सुनते ही वे खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले—"वाह, जीजा जी ! बहुत दिनों में इस बार आप चँगुल में फँसे हैं। बहुत बचा करते थे। कहिये, अब मिठाई कब खिलायेंगे ?"

"यहाँ प्राणों पर आ पड़ी है और तुम्हें मिठाई की पड़ रही है ! भई ! मजाक को इस वक्त ताक पर रखो और जैसा मैं कहता हूँ, वैसा करने के लिए तैयार हो या नहीं यह बताओ ?" मैंने खीझकर पूछा ।

"जीजा जी ! आपके लिए न सही पर जीजी के लिए तो मुझे किराये का टट्टू बनना ही पड़ेगा । अच्छा कल पक्का रहा । मैं भी कल ऐसा रंग लाऊँगा कि रिश्तेदार महाशय यदि सिर पर पैर रखकर न भाग खड़े हों तो मेरा नाम बदल देना । पर हाँ, प्रेस में जाने के सम्बन्ध में आपने क्या तय किया ?"

"तुम उसके लिए परेशान न हो । मैंने यहाँ आते समय सतीश बाबू से सब कुछ कह दिया है । वह कल का काम सँभाल लेंगे ।"

"तब ठीक है ?"

तय किये हुए प्रोग्राम के मुताबिक दूसरे दिन सवेरे सात बजे ही शैलेन्द्र बाबू मेरे यहाँ आ धमके । उनकी पोशाक और सूरत ऐसी हो रही थी, मानो महीनों से उन्होंने स्नान ही न किया हो । बिलकुल माशा-अल्लाह सूरत थी । घबराई हुई मुद्रा में थे । मुझे देखते ही ताँगे से उतरकर लिपट गये और 'जीजा जी' कहकर बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगे । मैं शैलेन्द्र बाबू के अभिनय की मन में प्रशंसा कर रहा था । ताँगेवाला यह दृश्य देखकर अवाक्, विस्मित और दंग था । खैर, शैलेन्द्र बाबू को अन्दर भेजकर ताँगेवाले से पेटी-बिस्तरा लेकर उसे किराया देकर विदा किया । अन्दर श्रीमती जी ने जैसे ही अपनी माँ की बीमारी का झूठा समाचार सुना कि लगीं चीख-चीखकर रोने और चिल्लाने । रिश्तेदार महाशय के लड़के-बच्चे भी श्रीमती जी को रोती हुई देखकर बुक्का-फाड़कर रोने लगे । रिश्तेदार महाशय की श्रीमती जी भी 'अरी मोरी दैय्या' कहती हुई रोने लगीं । फिर तो रोने-चीखने और चिल्लाने से ऐसा शोरो-गुल हुआ कि कान के पर्दे फटने लगे । श्रीमती जी सुबक-सुबककर रो रही थीं । कम्बख्त शैलेन्द्र भी सिसकियाँ भरता हुआ रो रहा था । पास-पड़ोसवाले इस आकस्मिक रुदन से अपने-अपने घर से सिर निकाले हुए आश्चर्य और उत्सुकता प्रकट कर रहे थे ।

रिश्तेदार महाशय को सारा हाल मालूम हो चुका था और वे भी रूमाल निकालकर व्यर्थ ही अपनी आँखें मल रहे थे । खैर, किसी तरह उन सबका रोना-धोना बन्द हुआ तो शैलेन्द्र बाबू ने रात की ट्रेन के साथ में चलने की बात कही जिसे मैंने बिना किसी उज्र के मान ली । वैसे किसी और मौके पर यदि सगे साले साहब भी आकर श्रीमती जी को साथ ले जाने को कहते जो सम्भव था कि मैं इनकार कर देता । पर यहाँ तो बात ही दूसरी थी । हमारे जाने की बात सुनकर रिश्तेदार महाशय तो ऐसे चौंके मानो वे सातवें आसमान से गिर गये हों । घबराकर बोले—"अब हम लोग क्या करेंगे ?"

"आपकी ट्रेन भी तो सात बजे जाती है । आप भी अपनी तैयारी कर लें । इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ।" मैंने बनावटी दुःख प्रकट करते हुए कहा ।

"अफ़सोस ! मैं अधिक दिनों तक आपके यहाँ न रह सका, इसका मुझे सख्त

अफ़सोस है। खैर, कभी मौका आया तो जरूर इस बार की कसर पूरी कर लूँगा। आपका क्या ख्याल है ?" मैंने मन में तो कहा—"बच्चू ! इस बार तुम यहाँ से चले भर जाओ। फिर मैं देखूँगा कि तुम मेरे यहाँ कैसे आते हो ?" पर प्रत्यक्ष में प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोला—"वाह ! यह भी कोई कहने की बात है! यह तो आपका ही घर है, जब चाहें, चले आइए। मुझे दुःख है कि मैं अधिक दिनों तक आपके सत्संग का लाभ न उठा सका।" मन में सोचने लगा—"कम्बख्त ! थोड़े न बहुत पूरे डेढ़ सौ रुपये चाट गया और कहता है कि अभी मन ही नहीं भरा है।" खैर जनाब ! दो ताँगों में लदकर जब मेरे रिश्तेदार महाशय और उनकी छोटी-सी फौज का जनाजा निकला तब मेरी जान में जान आई।

जब वे आँखों से ओझल हो गये तो मैंने दौड़कर शैलेन्द्र बाबू को गले से लगा लिया। उन्होंने अपने आपको छुड़ाते हुए कहा—"इस तरह खुशामद से काम नहीं चलेगा जनाब ! आँखें मलते-मलते लाल हो गई हैं और सूज गई हैं। मिठाई खिलानी पड़ेगी।"

"मंजूर है हमें ! आज की फतह की खुशी में मिठाई क्या यदि तुम आसमान के तारे भी माँगो तो उन्हें भी ला दूँ भाई मेरे ! यह तो कहो कि जान बची लाखों पाये।" जो दो रुपये सैंतालीस नए पैसे शेष थे, उनकी मिठाई आई और हम तीनों ने उस पर हाथ साफ किये।

अब पास में एक नया पैसा भी नहीं है। कल के लिए ईश्वर ही मालिक है।

अब मैंने मकान भी बदल दिया है जिसका पता प्रेसवालों को भी नहीं है, यहाँ तक कि शैलेन्द्र बाबू को भी यह नहीं मालूम कि मैं किस मोहल्ले में रहता हूँ। यह सब मैंने इसलिए किया है कि यदि वह भारी तोंदवाला यहाँ आये तो लाख सिर मारने पर भी उसे मेरा मकान न मिल सके।

जब श्रीमती जी से जुआ खेला

आनन्दप्रकाश जैन

●

श्री आनन्दप्रकाश जैन का जन्म सन् १९२७ में उत्तर-प्रदेश के जिला मुजफ्फरनगर के कस्बा शाहपुर में हुआ था। बचपन से ही कथा-साहित्य में रुचि रही। स्वयं भी कुछ कविताएँ और कहानियाँ सन् १९४१–४२ में लिखीं जो सन् १९४२ के आन्दोलन में डटकर भाग लेने के कारण जब्त कर ली गईं और साथ ही दो वर्ष का कठोर कारावास-दण्ड मिला। कारावास का समय दर्शन और इतिहास के अध्ययन में बीता।

आपकी प्रथम कहानी 'पिटते कुत्ते' सन् १९४७ में 'माया' में छपी थी। आपने 'कल्पना' मासिक का भी प्रकाशन किया था। ऐतिहासिक कथा-क्षेत्र में आपका स्थान चोटी के लेखकों में माना जाता है। आपकी लिखने की गति अत्यन्त तीव्र है।

रचनाएँ

'कठपुतली के धागे', 'तीसरा नेत्र', 'आग और फूस', 'लाल पसे', 'अतीत के कम्पन', 'काल के पंख', 'आटे के सिपाही', 'मुर्गे', 'कानून से युद्ध', 'चार आँखें' आदि-आदि।

७८, रायजादगान, मेरठ

श्रीमती जी ने उदारता से पहले हमें ही पासा फेंकने की छूट दी

समझे साहब ! आप क्या उचक-उचककर मेरी फजीहत की कहानी पढ़ रहे हैं ! मुझे तो यह इसलिए लिखनी पड़ रही है कि मैं लेखक हूँ और लेखक बेचारा इतना गरीब जीव होता है कि जब उसे लिखने को कागज नहीं मिलता, तो वह अपने चेहरे पर लिखने लगता है।

हुआ यह, जनाब, कि उस दिन दीवाली थी छोटी। अगर आप अपनी श्रीमती जी के फरमांबदार हज़्बैंड हैं, तो आपको मालूम होगा दीवाली का रंग ! इधर आपका घर पुत रहा है, उधर आप की पाकिट का गर्दा झाड़ा जा रहा है। मजाल है कि एक नया पैसा भी आपकी बगल से सटा रह जाए ! और अगर साल भर की कमाई को आपने दीवाली पर ठिकाने नहीं लगाया, तो आपके हौसले पर तोबा है !

खैर, लगभग तीसरे पहर चार-पाँच मित्रों ने बाहर से आवाज लगाई : "अरे भई, हो कि नहीं ?"

हम थे, हमने कहा, "हैं।"

"जरा नीचे तो आओ।"

"आते हैं।"

"कहाँ जाते हो जी ?" श्रीमती जी ने टोका।

"नीचे कोई प्रकाशक महोदय बुला रहे हैं," हमने उत्तर में कहा।

"क्यों ? मारेंगे ?"

"पागल हुई हो ! प्रकाशक लोग हमें क्यों मारने लगे !"

"जाने दिन भर किस-किस के बारे में लिखते रहते हो," उन्होंने आशंका प्रगट करते हुए कहा।

"लिखते तो रहते हैं, मगर गरीब प्रकाशकों के बारे में क्या लिख सकते हैं— उनकी तो सरकार ही अच्छी-खासी खबर ले रही है, किताबें छापो और घर में रखो; बाहर भेजो तो छः आने रजिस्टरी, चाहे छः आने की किताब भी न हो ! सादी डाक से भेजो, तो पहले डाक वाले पढ़ेंगे और बाद में अगर जरूरत समझी, तो आपको भेज देंगे।"

"तो फिर मकान-मालिक अपने आदमी लेकर आया होगा," उन्होंने दूसरी दुखती रग पर हाथ रखा।

"क्या बात कहती हो ! हमारा मकान-मालिक हम से फौजदारी करेगा। कहाँ हमारी भारत भर में इतनी ख्याति हो रही है, और कहाँ हमारे साथ फौजदारी !"

"तो फिर क्यों जाते हो नीचे ?" श्रीमती जी ने आँखें टिमकाईं।

"तो तुम्हारे ख्याल में हम जब नीचे जाते हैं, तो पिटने के लिए जाते हैं ? भई, हमारे बारे में तुम्हारा यह विचार कोई प्रशंसनीय विचार नहीं है, कहे देते हैं।"

"तो कुछ मरभुक्खे आए होंगे, चाय पिएँगे, जैसे यह उनकी खाला जी का घर हो !"

अब हमारी पलकें झपकाने की बारी थी; बोले, "हमारे मित्रों के बारे में तुम्हारे ये विचार ! जरा समझो, ख्याल करो, तुम हमारी सहचरी हो, जन्म भर की साथिन (मुसीबत) हो, ऐसी बात जब कहती हो, तो हमारे कलेजे पर छुरी चल जाती है।"

इतने में फिर नीचे से आवाज आई, "अरे भई, नीचे आने में भी भाभी जी से सलाह ले रहे हो क्या ?"

हमने कहा, "देखो, तुम्हारे देवरगण क्या कह रहे हैं ! अब मैं जाता हूँ, रोकना मत।"

श्रीमती जी चुप रहीं। रजामन्दी समझकर हम धड़ाधड़ जीना उतर गए। नीचे पहुँचते ही अपने मित्रों से गले मिले। तैय्यब जी बोले, "अमाँ लानत है ! आज भी घर में छिपे बैठे हो ! जवाँमर्द हो, बाहर निकल कर आओ, तो कुछ हौसला मालूम हो।"

"श् श् श् !" हमने होठों पर उँगली रखकर इशारा किया। उनकी पलकें ऊपर उठीं और साड़ी का रंग देखकर वह कुछ ठिठके, फिर बोले, "भाईजान, आज तो हम आपको चाटपकौड़ी खिलाएँगे, चलिए।"

"चलेगा, चलेगा," दूसरे मित्र ने चिल्लाकर कहा।

"क्या चलेगा ?" हमने धीरे से पूछा।

उन्होंने एक हथेली पर दूसरी हथेली कायदे से मारकर पत्ते का संकेत किया।

हमारा दिल बल्लियों उछल गया। हम जानते थे कि ये सब सिखतड़ हैं और अपने राम का हाथ फ्लैश में वह चलता है कि लोगों को 'कार्ड शार्पर' (पत्तों को चतुराई से लगाकर खेलने वाला) होने का अनुमान होने लगता है। हमने कहा, "देखो, तुम लोग चलो, मैं आया तैय्यब जी की बैठक पर। अभी साथ चलूँगा तो शक हो जाएगा, समझे ?"

उन्होंने समझ जाने का संकेत किया। सब लोग भले आदमियों की तरह नमस्ते और आदाब अर्ज करके चले गए। हम रोनी-सी सूरत बनाए ऊपर आए। श्रीमती जी ने पूछा, "आज तो बड़े असील से बनकर चले गए, क्या बात है ?"

हमने कहा, "कुछ न पूछो, वह तैय्यब जी हैं न, तैय्यब जी, उनके झबरैले कुत्ते का देहान्त हो गया है।" और कोई बहाना ही न सूझा।

"कुत्ते का देहान्त हो गया ?"

"हाँ, अभी-अभी मय्यत उठने वाली है। जाना ही पड़ेगा।"

"क्या कुत्ते की अर्थी उठेगी ?"

"हाँ, एकाध चादरा हमें भी डालना ही पड़ेगा।"

"कुत्ता उनका मरे और चादरा उस पर हम डालें ?"

"कैसी बात कहती हो ? तुम्हें मालूम नहीं, उनके लिए कुत्ता बेटे से भी ज्यादा था। वह तो उस पर दुशाला डालेंगे।"

"तुम झूठ बोलते हो !" श्रीमती जी ने एकदम अणुबम छोड़ा।

"कैसे ?" हमने बिगड़कर कहा।

"मैके में सारी उमर मुसलमानों के पड़ोस में बिताई है मैंने," श्रीमती जी दहाड़ती हुई बोलीं—"और तुम मुझे चराने चले हो ! इन लोगों में अमीर मरे या गरीब, मुरदों के ऊपर सिवा लट्ठे के कफन के और कुछ नहीं पड़ता। ये लोग मुरदों में गरीबी-अमीरी का भेद नहीं करते और आप कहते हैं कि तैय्यब जी दुशाला डालेंगे और सारी दुनिया चादरें ओढ़ाएगी ! बस, रहने भी दो, तुम्हारी इन लनतरानियों ने ही तो जी फूँक रखा है !"

यह लीजिए, हम लेखक हैं और दुनिया को घड़-घड़कर सुनाते हैं, मगर चौहान का तीर कहाँ आकर चूका ! बोले, "अरे, तो यह हमारा ख्याल ही तो था। हो सकता है तैय्यब जी दुशाला न डालें और हमें चादरा भी न डालना पड़े।"

"सुनो जी," उन्होंने निर्णयात्मक स्वर में कहा—"तुम तैय्यब जी के कुत्ते की अर्थी उठवाने नहीं जाओगे।"

"भला क्यों ?" हमने पूछा।

"इसलिए कि तैय्यब जी का कुत्ता नहीं मरा है।"

"कुत्ता नहीं मरा है ! यह ख्याल तुम्हें कैसे आया ?"

"ऐसे, कि तैय्यब जी के यहाँ कोई कुत्ता ही नहीं है। कल ही उनकी बीबी नेकबक्त यहाँ आई थी और अपने दुखड़े रो गई है कि खाविन्द साहब रात-दिन जुआ खेलते हैं, और यह कि घर में कोई कुत्ता भी तो नहीं, जो उनकी सूँघ लाकर दे दे।"

आपने कभी कुश्ती लड़ी है ? अगर नहीं, तो आपको क्या पता कि चारों खाने चित कैसे हुआ जाता है ? हमें दिन में ही तारे दिखाई देने लगे। बोले, "तो तुम्हारा क्या ख्याल है कि ये लोग हमें क्यों बुलाने आए थे ?"

"जुआ खेलने के लिए।"

"लेकिन तुम्हें तो अच्छी तरह मालूम ही है कि जब से तुम्हारे साथ ब्याह हुआ है, तब से हमने जुआ तो जुआ, फुटबाल तक खेलना छोड़ दिया है।"

"बड़े शरीफजादे बनते हैं !" श्रीमती जी ने होंठ बिचकाए—"तुम्हारे प्रकाशक लोग तुम्हें खेलने देते हों, तब न !"

"क्यों ? वे क्या कोई डंडा लेकर आते हैं ?"

"डण्डा लेकर कोई तुमसे लिखवाने आएगा ऐसे महारथी नहीं बने हो।" श्रीमती ने हाथरूपी मूसल हिलाते हुए कहा—"तुम्हें ही अखबारों में नाम छपवाने की पड़ी रहती है।"

आप समझ ही सकते हैं कि लेखक के लिए इससे बड़ी इंसल्ट और क्या हो

सकती है ? आँसू ! आँसू !! मैं हूँ कि आँसुओं को पुकार रहा हूँ और आँसू हैं कि प्रसाद जी के साथ-साथ चले गए। फिर भी झूठमूठ ही आँखों को कुरते के पल्ले से पोंछते हुए कहा, "भला, यह तुम क्यों हमारी हतक कर रही हो ? क्या हम अखबारों में नाम छपवाने के लिए लिखते हैं ? दुनिया कहती है कि अखबार वाले हमारा नाम छापकर अपने अखबारों की बिक्री बढ़ाते हैं, और तुम···तुम···कहती हो कि हमें नाम छपवाने की पड़ी रहती है ! बस, अब तुम हमारे सामने से जाओ, नहीं तो···नहीं तो हम रो·पड़ेंगे।"

"अहा ! क्या मासूम बनकर दिखा रहे हैं !" श्रीमती जी ने हाथ नचाकर कहा—"मैं चली जाऊँ ! ताकि तुम जीने से नीचे खिसक लो ! कान खोलकर सुन लो, अगर आज और कल, यानी छोटी दीवाली को, और बड़ी दीवाली को, घर से बाहर सिवा खिलौने और खील वगैरा खरीदने के और किसी काम से निकले, तो···तो···!"

"तो क्या होगा ?" हमने उत्सुकता के साथ पूछा।

अहा ! बस यही पूछना तो गजब था ! ज़ोर से फूट-फूटकर रोती हुई श्रीमती जी वहीं बैठ गईं। मुँह पल्ले के भीतर छिपा लिया और मोटी आवाज़ और भरे हुए स्वर में कहने लगीं, "तो क्या करूँगी यही सुनोगे ? घर में आग लगा दूँगी, दीवाली का दिवाला कर दूँगी, मुहल्ले भर में ढोल पीटूँगी कि तुम्हारे जैसा पति किसी को न मिले, और मैके चली जाऊँगी ! ओं-ओं-ओं-ओं-ओं !"

आप समझे हमने कहाँ गलती की ? हम फिर कहते हैं कि अगर आप फ़रमाबरदार हज़्बैण्ड होते, तो जरूर समझ जाते। असल में हमने गलती यह की कि हम यह भूल गए कि स्त्रियाँ पुरुषों से जल्दी रो सकती हैं, यानी आप जब रोने का इरादा ही इरादा कर रहे हों तब तक उनकी आँखों से आँसुओं के सागर बहने लगेंगे जिनमें आप डूब जाएँगे और मुहल्ले का पहलवान-से-पहलवान आदमी भी आपकी सहायता करने के लिए नहीं आ सकेगा। ऊपर से हमने उनकी शक्ति को चुनौती दी इससे बढ़कर हिमाकत और क्या हो सकती थी ?

खैर, हमने उनको पुचकारा, चुमकारा, उनकी बलाएँ अपने सिर लीं, घर से बाहर इस जीवन में जाने का ख्याल तरक कर दिया, इस बात के लिए उनके सामने उनके सिर पर हाथ रखकर कसम खाई—और वे-वे तरकीबें कीं, जो हमें विश्वास है, सब पति लोगों को नहीं आतीं। तब कहीं जाकर देवी मनीं।

खाने के वक्त हमने अपने हाथ से उनके मुँह में निवाले देने शुरू किए। मन-ही-मन सोच रहे थे कि किस तरह तैय्यब जी और अन्य दोस्त हमें जोरू का गुलाम समझ रहे होंगे। अपनी हालत को हम ही जानते थे। साँप और छछूँदर की-सी गति थी। आखिर जब श्रीमती जी का मूड कुछ सुधरा, तो हमने साहस करके कहा, "जितनी मुहब्बत तुम्हें हमसे है उतनी अगर दुनिया की सब पत्नियों को अपने-अपने पतियों से होती, तो सच कहता हूँ लोग प्रातःस्मरणीय पंचकन्याओं के नाम भूल जाते।"

"रहने दो बस," वह तमककर बोलीं—"अभी तो झगड़ा करके चुके हो। अब

फिर महाभारत की ठानी है क्या ?"

इसे कहते हैं ऊँट, जो किसी करवट नहीं बैठता। हमने कहा, "अच्छा जाने दो, हम तुम्हारी कोई तारीफ़ नहीं करेंगे। जो कुछ होगा अपने मन में रखेंगे। मगर यह एक तरफ की गाड़ी नहीं चलेगी। तुम्हें भी हमारी दिक़्तों का ख्याल रखना पड़ेगा।"

"आप को क्या-क्या दिक़्तें हैं जी ?" उन्होंने निवाला चबाते हुए पूछा।

"यही कि बेचारे तैय्यब जी कई दोस्तों के साथ हमारा इन्तज़ार कर रहे होंगे। आज का दिन कोई रोज़-रोज़ तो आता नहीं। अगर तुम हमें पाँच रुपए उधार ही दे दो, तो हम उन सब लोगों को सन्तुष्ट करके आ सकते हैं। मौका लगा तो पाँच के दस-बीस जितने बनेंगे, बना लाएँगे, और तुम्हारी कसम खाकर कहते हैं कि सब तुम्हारे हाथों में सौंप देंगे।"

"अच्छा जी !" वह हम पर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके बोलीं, "और अगर हार आए तो ?"

"तो समझ लेना कि तुमने अपने प्राणों से प्यारे पति पर पाँच रुपए कुरबान कर दिए हैं।"

"जुआ खेलना बुरा होता है," उन्होंने नसीहत दी।

"मानते हैं," हमने कहा—"मगर दोस्तों में बैठकर खेलना उतना बुरा नहीं होता। हारजीत के लिए खेलना बुरा होता है, लेकिन मन-बहलावे के लिए खेलना नहीं।"

"घर में तुम्हारा मन-बहलाव नहीं होता ?"

"क्या बातें करती हो ! अरे, घर जैसा मन-बहलाव तो और कहीं होता ही नहीं, मगर कभी-कभी थोड़ी सी चेंज को भी जी चाहता ही है। जरा इस बारीकी को समझो तो सही।"

"तुम्हें जुआ ही तो खेलना है ?" वह इत्मीनान से दाल सपोड़ते हुए बोलीं।

"यदि तुम इसे ऐसे कहना चाहती हो, तो ऐसे ही कह लो," हमने बाजी अपनी ओर आते हुए देखकर विनम्र स्वर में कहा।

"तो मेरे साथ खेलो," वह झट से बोलीं।

आपने कभी धोबी-पाट नामक दाँव का नाम सुना है। वह यही होता है। इतनी देर की मानमनौव्वल और कूटनीतिक बातचीत का नतीजा यह निकला था। हमारी भौंह चढ़ गई, मगर हमने अपनी मुद्रा को ज्यों-त्यों करके अपने वश में किया और बोले, "तुम्हारे साथ खेलूँ ? मगर तुम और हम क्या दो हैं ?"

"जहाँ दो की भावना हो वहाँ नहीं खेलना चाहिए। तुम्हीं तो कह रहे थे कि मित्रों में खेलना चाहिए, दुश्मनों में नहीं। मुझ से बढ़कर तुम्हारी मित्र और कौन हो सकती है ?"

"यह तो सही है," हमने बगलें झाँकते हुए कहा, "लेकिन सोचो तो, इसमें क्या मजा आएगा कि तुमने हमारा एक रुपया जीत लिया या हमने तुम्हारी अठन्नी

जीत ली ?"

"हार-जीत की भावना से खेलना पाप है, तुम्हीं तो कह रहे थे," वह बोलीं—"फिर भी अगर तुम्हें हार-जीत की लगी है, तो मैं तैयार हूँ। देखो, घर में जब कई बार पैसे नहीं रहे, तो तुमने मेरे इकट्ठे किए हुए पैसे निकलवाने की कोशिश की या नहीं ?"

"हाँ, मगर तुमने कभी निकाल कर नहीं दिए ?"

"ठीक है, मैं मानती हूँ," श्रीमती जी ने कहा—"इसका मतलब यह है कि जिन पैसों को तुम अपनी मरज़ी के मुताबिक नहीं निकाल सकते, वे तुम्हारे नहीं हैं।"

"मैं भला तुम्हारी बुराई कर सकता हूँ !"

"ओह ! मैं पूछती हूँ वे तुम्हारे हैं या नहीं ?"

"नहीं," हमने घबराकर सीधा उत्तर दिया।

"तो बस, खेलो मेरे साथ। तुम जो जीतोगे, वह तुम्हारा और मैं जो जीतूँगी वह मेरा।"

यह एक ही रही ! हमारा मनीआर्डर जो आए वह तो हज़म कर लें यह महोदया और जो हम इनसे जुए में जीतें वह हमारा ! वाह, वाह ! हमने डरते-डरते कहा—"लेकिन तुम हमें खेलने के लिए क्या दोगी !"

"पाँच रुपए," उन्होंने छालियों पर सरौंता चलाते हुए कहा।

हमने सोचा कि जब दस-बीस रुपए गाँठ में से निकल जाएँगे, तो यह सारी अकड़फूँ निकल जाएगी। हम ठाट से सिनेमा देखेंगे, दोस्तों की दावत करेंगे और यह कुढ़ा करेंगी। अरे, औरतों को हराना क्या ! पाँच मिनट का सारा काम ही है। हमने कहा, "बहुत अच्छा, निकालो ताश की गड्डी।"

"ताश तो मुझसे नहीं आता खेलना," उन्होंने छालियों को एक ओर रखकर पानदान खोला।

"एँ ! ताश नहीं आता ! तो फिर खेलें क्या अपना सिर !"

"क्यों ? जुआ ही तो खेलना है, चाहे पैसा उछाल कर खेल लो।"

अब हम थे कि टुकुर-टुकुर ताक रहे थे और वह थीं कि निरपेक्ष भाव से पान बना रही थीं। हमने कहा, "चौपड़ आती है ?"

"उहुँक् !" उन्होंने गरदन हिलाई।

"तो फिर शतरंज आती है ?"

"वह हाथी-घोड़ों का खेल तुम्हें ही मुबारक हो," वह पान की गिलौरी में मसाला डालते हुए बोलीं।

"तो पैसा उछालना कोई खेल नहीं होता," मैंने कहा—"यह भी कोई मन-बहलाव है !"

उन्होंने कुछ सोचा; फिर बोलीं, "तुमने एक बार साँप-सीढ़ी का खेल लाकर रखा था न।"

"हाँ, तो फिर ? तुम्हारा मतलब है उससे खेलें ?"

उन्होंने पान की गिलौरी मुँह में दबाई और गाल फुलाकर बोलीं, "टो बश, उशी शे खेलें···हाँ !"

बहुत खूब ! कहाँ साँप-सीढ़ी और कहाँ जुआ ? साँप-सीढ़ी का खेल भी कोई खेल होता है ! पासा फेंका, जितने नंबर उस पर आए उतने नंबर बिसात पर आगे बढ़ गए, वहाँ सीढ़ी दिखाई दी, तो सीढ़ी पर चढ़कर एकदम १०० के निकट पहुँच गए और साँप का मुँह आ गया, तो गदाक् से नीचे···! और अगर पिट गए यानी दूसरे की गोट आ गई आप की गोट पर, तो बिसात से पत्ता गोल ! खेल तो मनोरंजक है, लेकिन इसे जुए का माध्यम बनाया जा सकता है यह केवल हमारी श्रीमती जी की सूझ है।

प्रस्ताव रखने के बाद श्रीमती जी ने जीने का ताला लगा दिया और ताली अपनी जेब में रख ली। अब हम बिलकुल लाचार हो गए थे। हमने कहा, "अच्छी बात है, आज तुम्हारा भी नामा झाड़ना ही है। पर देखो, एक बार अगर मैं जीत गया, तो कहीं फिर रो-रोकर सब-कुछ वापस न रखवा लेना।"

"नहीं, रोऊँगी नहीं," श्रीमती जी ने कहा।

"और रौंटी भी मत करना···मैं औरतों से इसीलिए नहीं खेलता।"

"वाह ! रौंटी मैं क्यों करने लगी ? इसीलिए तो मैं ताश नहीं खेलती। जितने ताश के खिलाड़ी होते हैं सब रौंटी से जीतते हैं।"

"अच्छी बात है, तो निकालो साँप-सीढ़ी और पाँच रुपए।"

पाँच रुपए की खरीज मेरे हाथ में रखकर उन्होंने दरी बिछाई और उस पर हम दोनों आमने-सामने जम गए।

जो साँप-सीढ़ी का खेल जानते हैं उन्हें मालूम है कि जब तक पहले-पहल ६ का पासा नहीं पड़ता, तब तक तो गोट ही नहीं चलती। श्रीमती जी ने उदारता से पहले हमें ही पासा फेंकने की छूट दी। हमारा आया नकद ३।

श्रीमती जी ने आरम्भ में ही ६ दिखाया। बस, जनाब, उनकी गोट जो उसके बाद चढ़नी आरम्भ हुई है, खटाखट सीढ़ियाँ चढ़ती चली गई। पाँच-छः दाँव में ही वह पहुँच गई ८० के खाने पर और हम अभी स्टार्ट का ही इंतजार कर रहे थे।

सब से पहला दाँव रखा गया था एक रुपये का। यह एक रुपया हमारे पाँच रुपयों में से जाता दिखाई दे रहा था। मगर अभी कुछ आशा थी क्योंकि श्रीमती जी के आगे रास्ते में चार साँप पड़ते थे : एक ८३ पर, एक ८९ पर, एक ९३ पर और एक ९८ पर !

मगर मालूम होता है कि विधाता भी रसिया है। तीन-चार दाँवों में ही वह तो पहुँची ९९ पर और हम थे कि अभी छक्के का इंतजार ही कर रहे थे। दूसरे दाँव में ही श्रीमती जी का १ आया और वह पहुँच गई १०० पर। इसके साथ ही साथ उन्होंने अपना हाथ फैला दिया—"लाइए रुपया।"

रुपए की खरीज गिन दी। अब तो हमें भी ताव आया। हम जानते थे कि रुपया नाम की कोई चीज एक बार श्रीमती जी की मुट्ठी के भीतर गई, फिर ब्रह्मा जी

की भी मजाल नहीं थी कि निकलवा लें।

हमने पासे को दूर तक लुढ़काया। आया १। उन्होंने जरा-सा फेंका, आया ६...!

अब आपको कहाँ तक सुनाएँ। मतलब यह कि तीन-चार बाजी में ही हमारा पाँच रुपए का नोट गधे के सिर से सींग की तरह गायब हो गया। जी हाँ, बिलकुल गायब हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस बीच श्रीमती जी पान की तीन गिलौरियाँ मुँह में दबा चुकी थीं और चौथी की तैयारी कर रही थीं।

अब हम हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ गए। वह बोलीं, "बड़े जीतने वाले बनते थे! 'दस-बीस बना लाया, तो सब तुम्हारे हाथ पर रख दूँगा!' भाग्य तो धेले का लिए फिरते हो और बातें इतनी बनाते हो!"

"अच्छा जी, देख लिया तुम्हारा खेल, अब तो बख्शो," हमने कहा—"अब हम नहीं खेलते।"

"क्यों खेलो ना," श्रीमती जी जोर देती हुई बोलीं।

"खेलें कहाँ से? अब पैसा ही नहीं रहा।" हमने कहा, "हाँ तुम थोड़े से उधार दे दो, तो काम बन जाए।"

"मुँह धो रखो," उन्होंने अँगूठा दिखाते हुए कहा—"हाँ एक बात हो सकती है।"

"वह क्या?" हमने उत्सुकता से पूछा।

"महाराज युधिष्ठिर ने द्रोपदी को दाँव पर लगाया था।"

"यह तो सही है। क्या तुम मुझे भी इसका अधिकार देती हो?"

"अहा-हा!" उन्होंने हाथ नचाकर हमारी अक्ल पर तरस खाया। फिर कहने लगीं, "मैं अपनी तरफ से दाँव पर पाँच के पाँच रुपए लगाती हूँ, हो जाओ तैयार।"

"और मैं?" मैंने प्रश्न किया।

"अपनी सिगरेट!"

"क्या मतलब?"

"मतलब यह है कि आप सिगरेट बहुत पीते हैं और मुझे यह पसन्द नहीं। अगर कोई मुझे यह छूट दे कि पाँच रुपए खर्च करके आपकी सिगरेट छूट सकती है, तो मैं फौरन तैयार हो जाऊँ। इसका मतलब है कि आपकी सिगरेट छूटने की कीमत पाँच रुपए हुई। बस, मैं पाँच रुपए दाँव पर लगाती हूँ और आप अपनी सिगरेट दाँव पर लगाइए। अगर मैं जीत गई, तो आपको अगली दीवाली तक अपनी सिगरेट छोड़नी पड़ेगी और अगर आप जीत गए, तो आपको पाँच रुपए फिर वापस मिल जायँगे।"

अहा! क्या सूझ आयी थी श्रीमती जी को! इसे कहते हैं मौलिकता! हम उछल ही तो पड़े। सोचा कि साँप सीढ़ी में कोई जादू तो है नहीं। यह एक ही बार पाँच रुपए हाथ में आए, तो फिर से श्रीमती जी का नातका बन्द किया जा सकता है

लिहाजा हम फ़ौरन तैयार हो गए। सिगरेट का जो बक्स अभी खाली होने का इन्तजार देख रहा था, वह लाकर हमने सामने रख दिया और श्रीमती जी ने वह सारी खरीज, जो हम से जीती थी उसकी बराबर में रख दी। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वह स्वयं कुछ लेकर नहीं बैठी थीं।

हमने पहला ही दाँव मारा छक्का! हम उछल पड़े। हमारी गोट बड़े नाजो-अन्दाज़ से आगे बढ़ी। फिर तो ६ पर ६, ४-५, वह बड़े-बड़े नम्बर आने शुरू हुए कि हम पहुँचे ४३ पर और वहाँ जो सीढ़ी देखी, तो एकदम ७७ पर। ख्याल कीजिए, श्रीमती जी अभी तक स्टार्ट भी नहीं हुई थीं!

मगर जनाब, क्या मजाल कि बन्दी के चेहरे पर शिकन आ जाए। गिलौरी को जोर से गाल में दबाया और इत्मीनान से जो पासा फेंका, तो ६ हाजिर हो गया। अब उनकी गोट भी हमारी गोट का पीछा करने लगी। हमारी बदकिस्मती देखिए कि इसके बाद कोई सीढ़ी ही नजर नहीं आ रही थी और वे ही चार साँप, जिनका जिक्र हम पीछे कर आए हैं, हमारी ग़रीब गोट को निगलने के लिए तैयार बैठे थे।

डरते-डरते हमने पासा फेंका और नजर आया ६। श्रीमती जी ने कहा, "ठहरिए, गोट चलिए।"

हम खुशी-खुशी गोट को ले चले और ७७ से गिनते-गिनते पहुँचे...८३ पर। हमने झट अपनी गोट फिर से ७७ पर लाकर रखी और बोले, "वाह! ६ के बाद चलने का दाँव तो अभी चला ही नहीं।"

श्रीमती जी ने कहा, "देखिए, मैं रौंटमानी पसन्द नहीं करती। गोट ले आइए ८३ पर जहाँ साँप का मुँह है, और चुपचाप उसकी पूँछ पर आकर बैठ जाइए।"

आह! उस कम्बख्त की पूँछ कहाँ थी—२२ पर और श्रीमती जी की गोट पहुँच चुकी थी अब तक २१ की सीढ़ी चढ़कर ८२ पर! हमने आपत्ति की: "मगर यह तो ज्यादती है। मैं खुद रौंटमानी पसन्द नहीं करता। पहले पूरा दाँव तो चल लेने दो।"

"यह चकमा अपने दोस्तों को दिखलाइए। मैं इसमें आनेवाली नहीं। या तो चुपचाप आप अपनी गोट को २२ पर लाकर रख दीजिए, नहीं तो मैं देख लूँगी कैसे पीते हैं आप सिगरेट!"

ओह! कभी हिटलर ने भी इतना डिक्टेट्री हुक्म नहीं चलाया होगा। अब हमारे सामने चारा ही क्या रह गया था? अगर वाकई श्रीमती जी हमारी सिगरेट पर तुल जातीं, तो हमारे लिए उसको पीना मुहाल हो जाता। इसलिए हमने अपनी प्यारी गोट को २२ पर लाकर रख दिया, इसके बाद हम फिर दाँव चले। मगर उससे केवल इतना लाभ हुआ कि २२ से खिसक कर हम २३ पर आ गए।

अब वह अपने दाँव पर लाई ६ और पहुँची ८८ पर, फिर लाई २ (८९ का साँप लाँघकर!) और इस तरह ९० पर पहुँच गईं।

इसी तरह वह साँपों के मुँह से कतराती और हम सीढ़ियों से कतराते दो-चार दाँव ही खेल पाए थे कि वह पहुँची १०० पर। सिगरेट का हमारा नीला बक्स यह

जा, वह जा ! ठोढ़ी पर हाथ रखकर बोलीं, "कहिए ?"

कहें क्या खाक ! प्राण तो वैसे ही खुश्क हो गए थे। हमने कहा, "देखिए, अब साल भर के लिए सिगरेट हम से छूट तो गई ही। मगर आखिरी बार, सिर्फ एक बार तो उसे होठों से लगा लेने दीजिए।"

"नहीं !" श्रीमती जी ने नादिरशाही सिक्का जमाया—"अब आपकी एक नहीं सुनी जाएगी। बताइए क्या रखते हैं दाँव पर ?"

हमने होठों पर जीभ फेरी और एक बार सतृष्ण नेत्रों से सिगरेट की अपनी प्यारी डिबिया की ओर देखा, जो उनके घुटनों के नीचे दबकर पिची जा रही थी। उनकी ललकार सुनकर हमने कहा, "आप ही बताइए अब आप हमारी किस चीज पर नजर रखती हैं ?"

"यह एक ही रही ! आप चाहें तो अपनी सिगरेट वापस ले सकते हैं। मैं ऐसी बुराई सहने वाली नहीं हूँ," उन्होंने कहा।

हमने फौरन हाथ फैला दिया। वह बोली, "हाँ, हाँ, हाथ को अभी अपनी तरफ ही रखिए। मैं अपनी तरफ से आपकी सिगरेट दाँव पर लगा सकती हूँ, मगर यह नहीं हो सकता कि आपको वैसे ही मिल जाए। हाँ, आप चाहें तो आपके पास भी दाँव लगाने की चीज अभी है।"

"वह क्या ?" हमने गरदन उचकाकर पूछा।

"आप हर तीसरे-चौथे दिन घर से सिनेमा देखने के लिए रात को जाते हैं न ?"

"ओह ! तो क्या आप हमारा सिनेमा देखना भी छुड़वा देंगी ?"

"इतने निराश न होइए," उन्होंने फिर पानदान खोलते हुए कहा—"आप यह क्यों समझते हैं कि आप हर बार हारेंगे ? आप जैसे लेखक को इतनी हीनमन्यता नहीं रखनी चाहिए।"

यह लीजिए, हमें मनोविज्ञान भी पढ़ाया जाने लगा ! सिगरेट, सिगरेट—ओह ! इतनी जोर से तलब लग रही थी कि सिगरेट को बजाए पीने के खा जाऊँ ! मजबूरी थी, इसलिए हामी भर दी। उन्होंने अपने घुटनों के नीचे से सिगरेट के बक्स को निकाला और हमने मन-ही-मन णमोमार मंत्र का पाठ किया। हे भगवान् ! हमारी सिगरेट हमें वापस मिल जाए। जो सिगरेट का लुत्फ जानते हैं वे भाई भली प्रकार जानते होंगे कि इस श्वेतवसना, ओष्टप्रिया, टुबैकोधारणी का वियोग श्रीमती जी के वियोग से भी अधिक दुःखदायी होता है। इसलिए हमने उन सारे विज्ञापनों को एक बार स्मरण करते हुए, जो आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में इस ताम्बूलतत्वांगिनी के बारे में निकला करते हैं, एक बार फिर पासा फेंका और—कसम आपकी ६ आए !

फिर तो हमारी गोट ऐसी दुलकी चाल से चली कि न किसी सीढ़ी पर चढ़ी, न किसी साँप के मुँह पर आई, मगर जा रही है हवा खाती हुई १०० की तरफ। श्रीमती जी १९ से सीढ़ी चढ़कर ३८ पर पहुँची, ४३ की सीढ़ी पर चढ़कर ७७ पर पहुँची, मगर फिर जो छक्का आया है, तो मजा ही आ गया। साँप ने जो गटका, तो

२२ पर आ बिराजीं। हम थे कि सत्तर से अस्सी की पट्टी पर कछुए की चाल से बढ़े जा रहे थे और इस पट्टी पर एक भी साँप नहीं था।

इस बीच श्रीमती जी ने दाँत भींचे, गाल फुलाए, मगर आगे जो बढ़ीं, तो ४८ के साँप ने गटका और ९ पर आ बिराजीं! हम तब तक ९१ की पट्टी पर पहुँच चुके थे।

हमने कहा, "देखिए, अगर आपकी इजाजत हो, तो हम इस डिबिया में से एक सिगरेट निकाल लें?"

वह हँसीं। बोलीं, "तो क्या आपको यह विश्वास हो चला है कि आप जीतेंगे?"

हमने कहा, "अब इसमें भी कोई कसर रह गयी है? अरे, नौ खाने ही तो रह गये हैं, अब पहुँचे।"

"रहने दीजिए बस," उन्होंने कहा—"यह साँप-सीढ़ी है। ९८ के साँप ने निगला तो १३ पर आकर पड़ेंगे। चलिए तो सही आगे।"

मन में खटका बैठ गया। ९३ का साँप ३७ पर लाकर पटकता था और ९८ का तो था ही जालिम! मगर हमने जो डरते-डरते पासा फेंका है, तो ९३ के साँप को इस तरह कूद गए, जैसे नाडिया की फिल्म में पंजाबी घोड़ा खाई कूदा करता है।

हमने नीचे निगाह दौड़ाई। श्रीमती जी की टिन्नी-सी गोट अभी २९ पर बिराज रही थी। हम खूब ठठाकर हँसे। बोले, "देखिए, इस बार आपका भाग्य आपका साथ नहीं दे रहा है। भगवान् कसम, अब आप सारी छकड़ी भूल जायँगी और हम अगली बाजी सिगरेट पीते-पीते खेलेंगे। हम भी तो कहें कि आखिर यह कैसे हो सकता है कि हर बार पासा एक ही आदमी के पक्ष में पड़ता रहे।"

श्रीमती जी चुप थीं। औरतों की आदत ही ऐसी होती है कि जीत पर इतना चिल्लाएँगी, जैसे दुनिया की हुकूमत मिल गई हो! हार जायँगी तो, इस तरह गुमसुम हो जायँगी, जैसे ग्रामोफोन की सूई टूट गई हो। हमने भी दबा कर पासे पर हाथ मारा और पहुँच गये १०० पर।

बस फिर क्या था! हमने झपट कर सिगरेट के बक्स को इस तरह उठाया, जैसे वह छूटकर भागा जा रहा हो। इत्मीनान से एक सिगरेट निकाल कर होठों से लगाई और अस्पष्ट स्वर में बोले, "मेहरबानी करके जरा डियाशलाई डे डीजिए।"

श्रीमती जी खिलाड़ियों की तरह मुस्कराईं और उन्होंने तुरंत उठकर हमें दिया-सलाई लाकर दी। हमने मुँह को सिगरेट सहित आगे बढ़ा दिया और उन्होंने अपने आप दियासलाई जलाकर हमारी सिगरेट सुलगवाई। हमने सिगरेट मुँह में दबाकर एक कश मारा और ढेर-सा धुँआ छत की ओर छोड़ा। नथुनों से, यहाँ तक कि कानों तक से धुँआ निकलने लगा! एक बार ठाट से उनकी ओर देखकर हमने कहा, "अब कहिए?"

वह बिना कुछ उत्तर दिए उठीं और भीतर जाकर उन्होंने अपना बक्स खोला। उसमें से वह कुछ निकाल कर लाईं और हमारे सामने लाकर मुट्ठी खोल दी।

हमने देखा, दो दस-दस के और एक पाँच का नोट उसमें से निकल पड़ा ।

गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा, "आपने समझा होगा, कि आप के दोस्त ही पक्के जुआरी हैं । ये पच्चीस रुपए आपके सामने पड़े हैं । अगर आप जीत गए, तो आप इन्हें जिस तरह चाहे खर्च कर सकते हैं । चाहें तो सिनेमा देख सकते हैं, चाट खा सकते हैं, यहाँ तक कि शराब भी पी सकते हैं—लेकिन अगर आप हार गए···!"

हम सिगरेट पीना भूल गए । आँखें फाड़कर उन नोटों को देखते हुए बोले, "हाँ अगर हार गए, तो ?"

"तो जनाब," वह बोलीं, "आपको साल भर के लिए सिगरेट छोड़ देनी पड़ेगी और साथ ही साथ सिनेमा भी । बोलिए, हैं तैयार ?"

आह ! क्या अड़ लगाई थी उन्होंने ! साल भर के लिए सिगरेट और सिनेमा खैराबाद ! नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता । हमने पहले ही बहुत भारी बेवकूफी की थी कि अपनी प्यारी सिगरेट को इस तरह दाँव पर लगा दिया था, जैसे वह श्रीमती जी हों । हमने कहा, "हमें आपका यह दाँव एक से लेकर लाख तक मंजूर नहीं है ।"

उन्होंने उस गड्डी में से एक पाँच का नोट उठा लिया और बोलीं, "अच्छा, जाने दीजिए । ये बीस रुपये हैं । आपको रोज एक सिगरेट मिला करेगी और आप इसी तरह से मुझसे सुलगवा कर पी सकते हैं, जैसे आज पी है । आप सिनेमा भी देखने जा सकते हैं, लेकिन मुझे साथ लेकर । इस शर्त पर ये बीस रुपये हैं । अब बोलिए ।"

अहा ! अब सचमुच बात सोचने लायक हो गई थी । किसी को किसी की प्रेयसी दिन में यानी चौबीस घण्टों में एक बार भी मिल जाया करे, इससे अधिक और चाहिये भी क्या ? फिर, सिनेमा देखने में भी कोई खास रुकावट नहीं थी । श्रीमती जी को साथ ले जाने का झंझट था, सो निभने वाला था । हमने फिर भी खबरदारी के तौर पर कहा—"यह तो मंजूर है, लेकिन एक शर्त के साथ ।"

"कहिए ?"

"यह कि अगर सिगरेट किसी ने अपनी तरफ से पेश की तो हमसे इनकार नहीं हो सकेगा ।"

"चलिए, मंजूर है ।"

"और यह कि हम हमेशा आपको साथ सिनेमा ले चलना चाहेंगे, लेकिन अगर उस दिन आपकी मरजी नहीं होगी, तो हमें छूट होगी कि हम अकेले जा सकें ।"

"यह भी मंजूर है । और कुछ ?"

"कुछ नहीं । अब आइए मैदान में, आपके बीस रुपये गए ।"

"यह तो अभी मालूम हो जायगा," कहकर श्रीमती जी पहले ही दाँव में १ दिखाने लगीं ।

हमने मुसकराकर पासा अपने हाथ में लिया और हमारे २ आये । श्रीमती जी

ने संतोष से तुरन्त ६ पर हाथ मारा और उनकी हरी गोट रास्ते पर चढ़ गई। वह कितनी ही बार सीढ़ी चढ़ी, कितनी ही बार साँप पर फिसली। मगर हमारी गोट तो लाल झंडी ही दिखाती रही।

राम-राम करके लाल गोट बिसात पर आई और गजगामिनी की तरह खरामा-खरामा आगे बढ़ने लगी। उधर श्रीमती जी की गोट थी कि अरबी घोड़ी को मात कर रही थी। यह तो कहिए साँप हमारा कुछ साथ दे रहे थे, नहीं तो वह कभी की ठिकाने पर जा चुकी होती।

खेलते-खेलते घण्टा भर हो गया। बीस रुपये हमारे हाथ में आकर इस तरह निकल जाते, जैसे उन्हें हम से कोई बैर हो। एक बार जब हम ९९ पर थे और वह ९७ पर तो उन्होंने पासा फेंका''और हमारा कलेजा मुँह को आ गया''क्योंकि हमारी गोट का पत्ता बिसात पर से कट गया था और श्रीमतीजी ९९ पर आ बिराजी थीं!

भाइयो, और कोई होता तो मैदान छोड़कर भाग खड़ा होता। हमारी हिम्मत को दाद दीजिये कि हम उस समय तक डटे रहे जब तक कि उनका १ आया और उन्होंने अपनी विजय घोषित की। रुपये उठाकर वह फिर बक्स में रख आईं और हमारे ऊपर जो प्रतिबंध बैठे-बिठाये लगने थे वे लग गये।

आज तक उस दिन के जुए की सजा भुगत रहे हैं। जब सिनेमा जाते हैं, तो देवी जी आगे-आगे होती हैं, सिगरेट का राशन रोज एक की संख्या में केवल एक बार मिलता है और ऊपर से दीवाली आ रही है। इस बार श्रीमती जी की घोषणा है कि अगर मैंने उनके साथ जुआ खेलने की हिम्मत की तो लिखना छुड़वा देंगी।

फिर प्रार्थना करता हूँ कि यह पुस्तक श्रीमती जी को न दिखाइए। मेरी नहीं, अपनी—नहीं तो सच कहता हूँ छकड़ी भूल जाइएगा।

सही वटे का चक्कर

केशवचन्द्र वर्मा

●

श्री केशवचन्द्र वर्मा का जन्म सन् १९२८ में हुआ था। एम० ए० तक आपने शिक्षा प्राप्त की। आजकल आकाशवाणी के प्रयाग केन्द्र में कार्य कर रहे हैं। हिन्दी के हास्य-व्यंग्य लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। प्रायः हिन्दी की सभी उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। आपने कुछ दिन 'तुंगश्रृंग' नामक हास्य-व्यंग्य मासिक का भी सम्पादन किया था।

रचनाएँ

'मोहब्बत, मनोविज्ञान और मूँछ-दाढ़ी', 'काठ का उल्लू और कबूतर', 'कलाकार और चूल्हा', 'रस का सिरका', 'लोमड़ी का माँस' आदि।

५०-ए, टैगोर टाउन, इलाहाबाद

बच्चे ने दूसरे सवाल पर उँगली रखी

मेरे घर के ठीक सामने है कार्तिकचन्द्र चटर्जी का मकान। चटर्जी महाशय शायद यहीं के एकाउण्टेण्ट जनरल के दफ्तर में काम करते हैं। मैं आज तीन साल से इस मकान में रह रहा हूँ लेकिन मेरा और चटर्जी बाबू का कभी परिचय नहीं हो पाया। दरवाजे पर लगे उनके साइनबोर्ड से मैं उनका नाम भर जान पाया हूँ और एकाउण्टेण्ट जनरल के दफ्तर की बात तो अन्दाजन कह रहा हूँ। सुबह चाय पीकर जब मैं बाहर झाँकता हूँ तो उन्हें साइकिल के डण्डे से चिपका कर छाता बाँधते हुए पाता हूँ। उसके बाद वह अपने पाजामे के दोनों पायचों पर गोल क्लिप लगाते हैं, फिर साइकिल को चौराहे की ओर उन्मुख कर चल देते हैं। शाम को सात बजे के आस-पास वह लौटते हैं। आठ बजे से अपने तीनों लड़कों और दोनों लड़कियों को बाहर के बरामदे में एक चारपाई पर बिठाकर हिसाब, अँग्रेजी और जुगराफिया पढ़ाते हैं—मेरे कानों में यही तीनों चीजें उलट-पुलटकर अपनी भनक दे जाया करती हैं।

यूँ तो शायद जिन्दगी भर मैं कभी बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी की खोज खबर न लेता, मगर एक दिन जब मैं दोस्तों की हा-हा-ही-ही की महफिल छोड़कर नौ बजे रात को घर पहुँचा तो पत्नी महोदया का पारा चढ़ा दीखा। मेरी दोस्त-बाजी से उन्हें विशेष प्रेम नहीं है और उसके लिए वक्त-बेवक्त जली-कटी सुन लेना और सुनकर निकाल देना मेरे लिए अब बाएँ कान का खेल हो गया है। आज श्रीमती जी ने मेरे एक बच्चे के इम्तहानी नतीजे को घोषित करते हुए बताया कि वह हिसाब में फेल हो गया है और अगर सालाना इम्तहान में भी फेल हो गया तो उसका एक साल बरबाद हो जायगा। बच्चों का—उसमें भी छोटे बच्चों का—फेल हो जाना, मैं कोई बड़ा अहम मसला नहीं समझता। मगर जब मेरी श्रीमती ने यह बताया कि सामने के बंगाली बाबू अपने लड़कों को चूँकि रोज पढ़ाते हैं इसलिए वे पास हो गये, और मैं अपने बच्चों को कभी नहीं पढ़ाता इसलिए वे फेल हो गये, तब मजबूरन बंगाली बाबू उर्फ कार्तिकचन्द्र चटर्जी की नोटिस लेनी पड़ी। मेरी पत्नी ने इस बहाने मुझे बताया कि मेरे दोस्त किस तरह से मुझे बिगाड़ रहे हैं और मैं परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारी भूलता जा रहा हूँ। गरज कि उन्होंने इतना समझाया, इतना समझाया कि मुझे बाबा तुलसीदास और उनकी पत्नी की याद आने लगी। ज्ञानलोक की उड़न तश्तरी ज्योति-मण्डल की भाँति मेरे ऊपर मँडराने लगी। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं भी अपने लड़कों को खुद पढ़ाऊँगा और बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी को यह दिखा दूँगा कि वह ही नहीं चाहूँ तो मैं भी अपने बच्चों को पढ़ा सकता हूँ।

दूसरे दिन शाम को मैं ऑफिस से सीधे घर आया। बच्चों को तैयार रहने के लिए कह गया था। आते ही मैंने भी अपने बरामदे में एक खाट डलवाई। अपने दोनों बच्चों को उस पर बिठाया। सामने एक कुर्सी डालकर खुद बैठा। लड़कों से कहा—"निकालो अपना चक्रवर्ती अर्थमेटिक।"

बच्चे ने अर्थमेटिक की किताब बस्ते से निकाल कर मुझे दे दी। फिर एक स्थान पर एक सवाल दिखाता हुआ बोला—

"पापा जी, जरा यह सवाल बतलाइए।"

सवाल मैं पढ़ गया। सवालवाला किसी हौज का वर्णन कर रहा था। निहायत रद्दी हौज था—न उस में कमल फूले थे, न उसके पास किसी कुंज-निकुंज का या किसी फव्वारे आदि का जिक्र था! हौज की बस लम्बाई-चौड़ाई दर्ज थी। यह भी कि उसमें इतने घन फुट पानी भरा जाता है। सवालवाले ने बताया था कि उस हौज में तीन पाइप भी लगे हुए हैं। एक पाइप इतनी देर में इतने घन फुट पानी भरता है और दो पाइप इतनी देर में इतने घन फुट पानी खाली कर देते हैं। सवालवाला यह जानना चाहता था कि आखिर वह हौज कितनी देर में भरेगा।

मैंने सवाल फिर से पढ़ा। मेरा दिमाग अलग भाग रहा था। सवालवाला कहीं मिलता तो पूछता कि 'अरे भलेमानस! जब पाइप लगाना न लगाना तेरे ही हाथ में था तो भला तुझे ऐसा भी क्या आनन्द मिला कि एक पाइप को भरने के लिए लगा दिया और दो पाइप उसे खाली करने के लिए जड़ दिये! यह तो राष्ट्रीय सम्पत्ति का क्षय है। भला कितनी मेहनत से जल-कल विभाग पानी देता है कि हौज भरिए और आप हैं कि दो पाइप लगाकर उसे खाली भी करते जा रहे हैं। आखिर इतने बड़े हौज का सही बटा सब तैयार करके फिर उसमें से दो पाइप भी जोड़कर आपको सिवाय मासूम बच्चों की हैरानी के और क्या मिला!

बच्चों से मैंने कहा—

"इस सवाल को जाने दो, और कोई पूछो।"

बच्चे ने दूसरे सवाल पर उँगली रखी।

यह सवाल क्या था पूरी कहानी थी। पढ़ना शुरू किया। किसी किले के बारे में सवालवाला कह रहा था कि उसमें इतने सिपाही हैं जिनकी रसद इतने दिनों के लिए है। उसमें इतने सिपाही इतने दिनों में मर-खप जाते हैं। तब तक बाहर से इतने सिपाही और इतनी कुमुक आ जाती है। तो बताओ कि किले में कितने दिन तक खाना चलेगा और सिपाही लड़ते रहेंगे।

सवाल तो वाजिब था मगर सवालवाले ने शायद 'डीन बीन फू' का किस्सा अखबारों में पढ़ा नहीं! जो मिडलची विभाग और घोटूँ मिजाज इस सवाल को पलक झपते हल करके पचासों बार दिखा चुके होंगे उन्हें अगर उस जनरल के पास भेज भी दिया जाता तो भी वे शायद ही उसे 'डीन बीन फू' पर सफेद झण्डा लहराते और किला फू होने से बचा पाते। मैं सोच रहा था कि फिर ऐसे सवाल का फायदा ही

क्या ? अगर मैं अपना दिमाग खरोंचकर किसी तरह इन बच्चों के दिमाग में यह केला-मार्का सवाल घुसेड़ भी पाया तो भी ये हद से हद किलों की फोटो देखकर ही सन्तोष कर लेंगे ।

निगाह आगे बढ़ी ।

अगला सवाल मैं खुद पढ़ गया । किसी इमारत के बनने में सवालवाले ने देखा कि इतने आदमी, इतनी औरतें और इतने बच्चे काम करते हैं । वे एक दिन में इतना काम करते हैं । सवालवाले ने अपनी सहज प्राप्त प्रतिभा से यह भी पता लगाया था कि इतने बच्चे, इतनी औरतें, इतने मर्द के बराबर हैं । दो सही तीन बटा चार औरतें छः सही सात बटा आठ बच्चों के बराबर हैं यह भी सवालवाले की प्रतिभा से पता लगा था । सवालवाले ने फिर पूछा था कि यदि बाद में इतने आदमी और बच्चे ही रह जायँ तो इमारत कितने दिन में तैयार होगी ।

सवाल पढ़ते ही मैं फिर स्वप्न-लोक में खो गया । देख रहा था कि सवाल बनाने वाला खड़ा है—उसके सामने कुछ कारीगर बैठे हुए हैं । इधर कुछ थे जिन्होंने ताजमहल बनाया था; बीच में कुछ थे जिन्होंने चीन की महान् दीवार बनाई थी; उधर कुछ थे जिन्होंने पिरामिड बनाये थे । सवालवाले के हाथ में एक बेंत है । वह अपना बेंत लपलपा कर पूछ रहा है कि जब तुम यही नहीं जानते कि चार सही तीन बटा आठ औरतें कितने सही कितने बटे कितने बच्चों के काम के बराबर हैं तो फिर तुमने किस तरह ताजमहल, चीन की दीवार और पिरामिड बनाया ? कैसे तुमने उसे इतने दिनों में तैयार किया ? कारीगर डर के मारे काँप रहे थे । सवालवाला हाथ खुलवा कर बेंत जड़ने ही वाला था कि मेरे बच्चे ने मुझे हाथ से ठेलकर कहा—

"आप तो पापा जी सो रहे हैं । कहाँ तो आप सवाल पढ़ने बैठे थे ।"

"नहीं, नहीं, भाई मैं तो सोच रहा था । इसे मैं तुम्हें ऐसे बता दूँगा कि तुम अब कभी भूल ही नहीं सकते," मैं चौंककर बोला ।

तब दूसरे लड़के ने सवाल दिखाया—

"पापा जी यह सवाल बता दीजिये । स्कूल में दिया गया है । कल मास्टर साहब देखेंगे ।"

मैंने कहा, "पढ़ो क्या सवाल है ?"

लड़के ने पढ़ना शुरू किया—

"एक बाप ने अपनी जायदाद का बँटवारा अपने मरने से पहले इस तरह किया कि अपने कुल धन का एक बटा आठ बड़े बेटे को दिया । बचे हुए धन का चार बटा ग्यारह उसने मँझले बेटे को दिया । उसके भी बचे हुए धन का दो बटा तेरह दान कर दिया । अब छोटे बेटे के लिए पाँच हजार गिन्नियाँ बचीं । बताओ बाप के पास कितना धन था ।"

मैंने लड़के से कहा—"फिर पढ़ो ।"

उसने फिर वही सब दुहरा दिया।

अब की मुझे हँसी आ गई। वह बोला—"पापा जी आप तो हँसते हैं?"

"बेटा यह सवाल ही ऐसा है कि हँसी आ जाती है। बेटे तुम्हें तो आजकल के जमाने में रहना है इसलिए यह अच्छी तरह जान लो कि आजकल कोई बाप अपने जीते जी अव्वल तो इस तरह बैठकर अपनी जायदाद का बटवारा करके गलती नहीं करता और अगर बाटे भी तो कोई बाप भला ऐसे धन बाटेगा कि वह अपने बड़े बेटे से कहे कि बेटा मान लो कि धन एक है। उस धन का एक बटा आठ तो तू ले जा और देखो मेरे मँझले बेटे। बचे हुए धन का चार बटा ग्यारह तुम ले जाओ, फिर किसी दान वाली संस्था को बुलाकर कहेगा कि भाई! बचे हुए धन का दो बटा तेरह तुम ले जाओ और अन्त में छोटे लड़के को पाँच हजार गिन्नियाँ गिन दे? बात यह है बेटा कि जिसे वह बाप रुपया देगा वह तो पूरा-का-पूरा ही देगा न। यह सब सवालवाले ने नकली बातें बनाई हैं। किसी बाप को न तो इतना सही बटा करने की फुरसत है और न वह कभी भूल से यह करेगा। कम-से-कम मैं तो करूँगा नहीं! और बेटे अगर किसी बाप ने अपने लड़कों में यह रकम इस तरह बाँटी भी तो वह कभी तुम्हें नहीं बुलाएगा कि तुम दाल-भात में मूसरचन्द की तरह उनके बेटों को उस धन का एक बटा आठ समझाने के लिए जाओ। इसी लिए मुझे हँसी आ गई।"

बच्चे ने फिर कहा—"तो कल मास्टर साहब से क्या कहेंगे?"

"कह देना कि पापा जी कह रहे थे कि सवाल बनानेवाला मूर्ख है।"

बच्चे ने खुश होकर कहा—"अच्छी बात है।"

दूसरे बच्चे ने अपना सवाल फिर पूछना चाहा। मैंने कहा—"अब बहुत देर हो गई है। चलो सो जाओ, कल बताऊँगा।"

दोनों बच्चों ने बस्ता समेटकर रख दिया और बत्ती गुलकर वे अपनी चारपाई पर पड़ रहे।

मैं भी सोने के लिए छज्जे पर बिछी अपनी चारपाई पर आ गिरा। श्रीमती जी ने पानी का गिलास सिरहाने रखते हुए प्रसन्न मुद्रा में पूछा—"पढ़ाया? मेरे लड़के पढ़ने में जरूर तेज होंगे। उन्हें कोई मास्टर ही नहीं मिलता था, तो वे बेचारे क्या करते?"

मैंने 'हूँ' करके करवट बदली। सामने बरामदे में बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी अब भी अपने पाँचों बच्चों को बैठाये हिसाब पढ़ा रहे थे। उनका स्वर साफ सुनाई दे रहा था—"अबे तीन बोटा चार औरत कीश माफिक छौ बोटा आठ लड़का के बराबर हुआ?"

और मैं सोच रहा था कि अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए या तो मैं नई अर्थमेटिक की किताब लिखूँ या फिर उनके लिए एक दिन बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी से प्रार्थना करनी पड़ेगी।

ब्रह्म-वाक्य

कृष्णशंकर चराटे

●

श्री कृष्णशंकर चराटे का जन्म सन् १९३३ में होशंगाबाद जिले के हरदा नामक गाँव में हुआ था। बचपन से ही पढ़ने का शौक रहा। १९५३ से लिख रहे हैं। अब तक डेढ़-सौ के लगभग रचनाएँ लिखी हैं जो हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। थोड़े ही समय में हास्य-व्यंग्य लेखकों में अपना अच्छा स्थान बना लिया है। आजकल ग्वालियर में केन्द्रीय शासन की सेवा में हैं।

चिटनिस की गोठ, किल्लेदार का बाड़ा,
लश्कर, ग्वालियर
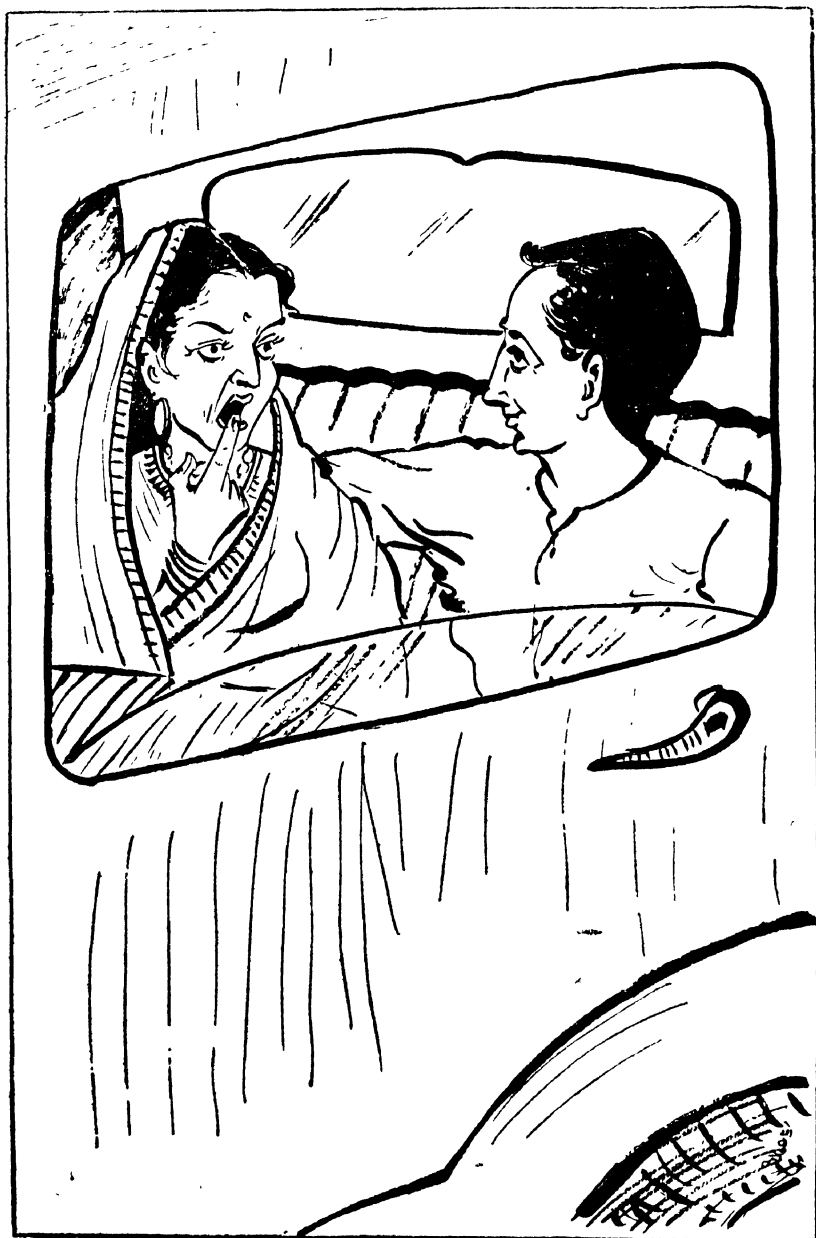
"यानी आप बी. ए. भी नहीं हैं··"

मकान के नाम पर सिर्फ दो कमरे। एक में चूड़ियाँ बज रही थीं, कपबशी खनक रही थी, बच्चों के रोने और चुप किये जाने का सम्मिलित स्वर उठ रहा था। यह नहीं कहा जा सकता था कि बच्चों के रोने की आवाज अधिक थी, अथवा चुप करवाने वाली औरतों की। रोने और चुप किये जाने की आवाज की प्रतिस्पर्धा से अलग दूसरे कमरे में ४-५ व्यक्ति बैठे थे। पहले चाय आई। फिर सिगरेटें फुँकती रहीं, पान चबाये जाते रहे। जब इनका क्रम कुछ धीमा हुआ, अन्दर के कमरे का स्टोव मन्दा हो गया और बातचीत ने जोर पकड़ा। बातों की ताश खेली जाने लगी। सवालों के पत्ते फेंके जाने शुरू हुए। नहले पर दहला लगाया जा रहा था।

"हाँ, साहब, लड़के का क्या नाम है?"

"मधुकर।" उत्तर मिला।

"कितना पढ़ा है?"

"इस साल एम. ए. कर लिया है। लॉ करने का विचार है। वैसे फिलहाल इण्डस्ट्रीज़ में डिस्ट्रिक्ट आफिसर है।"

"क्या तनख्वाह मिलती है?"

"कुल मिलाकर ३५० रुपए।"

"एम. ए. किस डिवीजन में किया है?" एक मैट्रिक-फेल का सवाल था।

"फर्स्ट डिवीजन में," कहकर दूसरे साहब पहले गम्भीर हो गये, फिर अचानक कहने लगे—

"अरे साहब, लड़का क्या है, हीरा है, हीरा! हमारी जाति भर में ऐसा लड़का मिलना असम्भव है। मेरी तो सारी उमर साहब शादियाँ करवाते और तुड़वाते बीत गई। ५० से ऊपर शादियाँ जमवाई हैं मैंने। पूछ लीजिए जाकर, कभी भी, किसी को भी यदि बाद में पछताना पड़ा हो, या किसी ने बाद में कोई शिकायत की हो। मैं तो साहब उसी लड़के के बारे में जबान फँसाता हूँ, जो मेरा देखा-परखा हो। इस लड़के को तो मैं बचपन से जानता हूँ। मेरे सामने नंगा खेला है यह। मैंने गोद में पाला है इसको। मेरे सामने कुर्सी पर नहीं बैठता, सिगरेट नहीं पीता। ज्यादा बात नहीं करता। मैं कह दूँ दिन है तो रात को भी दिन बतला देगा। अरे साहब, ऐसे लड़के मिलते कहाँ हैं। आज के कालेज के लड़के कितने बेशरम हो गये हैं। माँ-बाप की जरा शरम नहीं करते। कल ही की बात है, एक लड़के ने अपनी माँ को चाँटा मार दिया। मेरा लड़का होता तो मैं खून पी जाता। देशपाण्डे मास्टर हैं न? उनका बड़ा लड़का रामचन्द्रराव। अरे साहब, निरा नालायक है। कल उसकी शादी की बातचीत चल

रही थी। कहीं ससुर 'बिचारे' ने गलती से पूछ लिया कि आप लड़की के गले में क्या डालेंगे। कहने लगा, मैं लड़की के गले में हाथ डालूँगा। अरे साहब, ऐसे लुच्चों की कहीं शादी होती है। लौट गये लड़की वाले। ऐसे लड़कों ने महाराष्ट्रीयन जाति भर को बदनाम कर रखा है। पर, अपने मधुकर को लो। साहब, हाथ की पाँचों अँगुलियाँ बराबर नहीं होतीं। लड़का क्या है, गऊ है गऊ! एम. ए. कर लिया है और वह भी फर्स्ट डिवीजन में। मैं उसका दूर के रिश्ते में मामा लगता हूँ, किन्तु वह हर समय मुझे 'काका' कहता है। कहने लगा—जो 'काका' कहें, वह ब्रह्म-वाक्य। साहब, आपकी लड़की को कोई दुःख हो जाय तो मुझे पकड़ना। मैं रत्नागिरि का पक्का कोंकणस्थ ब्राह्मण हूँ। जबान से जो निकल जाय, समझना ब्रह्म-वाक्य। तुम्हारी लड़की है न, समझना तुम्हारी नहीं है, मेरी है। अरे साहब, मेरी तो लड़की नहीं है, वरना क्या इतना अच्छा लड़का मैं छोड़ देता। यह चार साल का था तभी मैंने कह दिया था कि यह लड़का माँ-बाप का नाम रोशन करेगा। मैंने तो कह दिया था कि यदि मेरी लड़की हुई तो मैं इसे ही दूँगा, पर भगवान् की मर्जी। लड़का ही हुआ।" इतना कहकर माणिकराव कुलकर्णी अचानक रुक गया। सम्भवतः उसकी तारीफ का खजाना यहीं खतम था। अब लड़के के बारे में कोई खास सवाल पूछे जाने शेष भी नहीं रहे थे, इसलिए, लड़की के बारे में सवालों की झड़ी लगी—

"हाँ साहब, लड़की का क्या नाम है?"

"जन्म-पत्रिका में तो साहब उसका नाम 'निर्मला' निकला था, किन्तु मेरी पाँचवीं औरत के पीहर का नाम निर्मला था, इसलिए स्कूल में उसका नाम 'प्रमिला' लिखवाया गया। किन्तु उसकी माँ उसे 'नीलू' कहती है और मैं उसे 'पबी' कहता हूँ। घर में और सब उसे 'अक्का' कहते हैं।

"कितना पढ़ी है?"

"मैट्रिक कर लिया है।"

"उम्र क्या है?"

"१६ साल।"

"बुनना-सीना जानती है?"

"क्या बात करते हैं आप," सदाशिवराव अभ्यंकर जो वधूपक्ष का मुखिया था, बिस्तरे से १ फीट उछल पड़ा—"लड़की की झूठी तारीफ तो मैं करना ही नहीं चाहता। फालतू बातें बनाने से क्या फायदा! शादी होगी तब अपने आप पता लगेगा। पर, अब प्रसंग निकला है तो बतलाता हूँ कि गये साल 'किर्लोस्कर कढ़ाई प्रतियोगिता' में उसे पहला इनाम मिला था। सारे इलाके में कोई दूसरी लड़की इतना अच्छा बुन ले तो मैं हाथ कटा लूँ।" फिर मेरी तरफ मुड़कर चिल्लाया—"चराटे साहब, आप खामोश क्यों हैं? बोलते क्यों नहीं आप? मराठी के अखबारों की आप से अच्छी जानकरी क्या हम गधों को होगी। आप लिखने-पढ़ने के शौकीन, 'महाराष्ट्र विस्तार' और 'किर्लोस्कर' तो आप मँगाते ही हैं न? जून १९५५ के अंक में अपनी प्रमिला का

फोटो छपा था, आपने देखा नहीं क्या ?" और मेरे जवाब की राह देखे बगैर वर पक्ष-वालों पर जैसे एक बम का गोला फेंकते हुए चिल्लाया—"अरे साहब, मेरा गैबरडीन का सूट जरा धोबी ने जला दिया था। ऐसी रफू की अपनी प्रमिला ने कि मेरी बीवी सिनाख्त नहीं कर सकी कि यह सूट कभी जल भी गया था। कोई साला दर्जी ४-५ रुपये ऐंठ लेता।" अभ्यंकर चुप हो गया और कुलकर्णी की तरफ देखने लगा मानो अभ्यंकर की बात का जवाब अब कुलकर्णी ही दे सकता हो।

"यह तो ठीक है," कुलकर्णी बोला—"पर लड़की को थोड़ा-बहुत गाना-वाना आता है ?"

"क्या यार कुलकर्णी साहब !" अभ्यंकर चिल्लाया—"तुम भी १०० साल पुरानी बात करते हो। सन् १८५७ में ऐसी बातें पूछी जाती होंगी। यह १९५७ है १९५७। हमारे महाराष्ट्रीयन फालतू बातें करेंगे। गा सकती है या नहीं ? घर में सिर्फ दो कमरे होंगे दो।" अँगुली से दो बतलाते हुए बोला—"सच मानो, वह तो ऐसा गाती है, ऐसा गाती है कि कोयल भी गाना बन्द कर दे। पर, शादी के बाद तुम्हारा मधुकर उसे गाने की आजादी देगा ? अरे, शादी के बाद हम लड़कियों को जोर से बोलने नहीं देते और अब पूछते हैं कि वह गा सकती है या नहीं ? उसने साहब गाने की चार क्लासें पढ़ी हैं। 'सरस्वती संगीत मंडल' में चार साल उसने शिक्षण लिया है। शादी के पहले हम पूछते हैं कि इस लड़की को स्वेटर बुनना आता है कि नहीं, पर ऊन खरीदने के लिए तुम्हारी जेब में पैसे हैं ? किसी ने पूछ लिया तो ? कहेंगे, लड़की मशीन चलाना जानती है कि नहीं। पर, तुम्हारे घर में है मशीन ? चलायेगी क्या, तुम्हारे बाप का सिर। पूछेंगे कि लड़की लड्डू बना सकती है कि नहीं, पेड़े बना सकती है कि नहीं, पकवान बना सकती है कि नहीं। अरे साहब, वह तो सब बना सकती है, पर तुम्हारा लड़का लड्डू, पेड़े बनवाने की चीजें खरीदने के लिए पैसे कमा सकता है कि नहीं कोई पूछे तो ? यह सब आपके बारे में नहीं कह रहा। एक साहब हैं। लड़का क्लर्क है। सिर्फ ६० रुपये महीने मिलते हैं। कहने लगे, लड़की जरा साँवली है, उसके बदन पर बनारसी शालू सुन्दर नहीं दिखेगा। साहब, बुरा कहो या भला। मैं पीछे से बात नहीं कहता। बुरा लगे तो १ कप चाय ज्यादा पी सकते हैं। मैंने पूछा, तुम्हें ६० रुपये महीने मिलते हैं, १५० रुपये का बनारसी शालू तुम्हारे बाप ने भी खरीदा है ? किराये के कपड़ों पर शादी लगायेंगे, उधार माँग कर लड़की को गहने पहनायेंगे और बात बनारसी शालू और चपलाहार की करेंगे। घर में ३ पीढ़ी से श्रीखंड नहीं बना है। भुट्टे की भाजी और बाजरे की रोटी खाते हैं और पूछते हैं, लड़की को जलेबी बनाना आता है कि नहीं। मैं तो कहता हूँ वह ५६ पकवान बना सकती है, पर है तुम्हारी हैसियत माल बनवाने की।" और मेरी तरफ मुड़कर चिल्लाया—"चराटे साहब ! तुम्हें कसम है मेरे सिर की जो तुमने आज मुँह नहीं खोला। मैं कहता हूँ क्या फायदा ऐसी नॉलिज से जो दूसरों के काम नहीं आये। मैं कहता हूँ तुम कहानियाँ लिखते हो। परन्तु, कहानियाँ लिखना एक बात है, शादियाँ

जमवाना दूसरी बात है। तुम ५० कहानियाँ लिखोगे तो ४०० व्यक्ति तुम्हें पहचान नहीं पायेंगे, किन्तु मैंने ५० शादियाँ जमवाई हैं। एक-एक दम्पति ने भगवान् की मेहरबानी से कम-से-कम ८-८ बच्चे पैदा किये हैं। याने ४०० बच्चे मेरे प्रयत्न का परिणाम हैं। ५० परिवार के ४-४ परिचितों से मेरा नाता है। समझो, हर परिवार में ५ आदमी हैं, तो १००० आदमी मुझे जानते हैं। १-१ घर खाना खाऊँ तो २ महीने मुझे घर चूल्हा जलाने की जरूरत नहीं पड़े और तुमने ५० कहानियाँ लिखीं तो तुम्हें कोई ५ रुपये उधार नहीं देगा—मिसाल के तौर पर कहता हूँ। तुम्हें जरूरत नहीं है, यह बात बिलकुल अलग है। तुम्हीं बताओ मैं ठीक कहता हूँ कि गलत ?" इसके पूर्व कि मैं कोई उत्तर दूँ वह कुलकर्णी की ओर इस तरह देखने लगा मानो तौल रहा हो कि उस पर असर पड़ रहा है या नहीं। उसके पश्चात् अधिक सवालात नहीं पूछे गये। शादी की बात तय हो गई।

शादी के दूसरे दिन वर-वधू को शहर के बाहर मंदिर में दर्शन के लिए जाना था। एक किराये की टैक्सी की गई और दोनों को रवाना कर दिया गया। साथ में कोई नहीं था। पहले कुछ देर चुप्पी रही, फिर लड़के का मौन मुखर हो गया। बातों की ताश फेंटी गई और उसने सवाल का पत्ता फेंका—

"प्रमिला ! तुमने मैट्रिक किस डिवीजन में किया है ?"

"आपसे किसने कहा कि मैं मैट्रिक हूँ।"

मधुकर किराये की टैक्सी में उछल पड़ा—

"यानी तुम मैट्रिक नहीं हो ?"

"ना, किसने कहा था तुमसे ?"

"अभ्यंकर ने, उस साले अभ्यंकर ने।"

"तुम नाराज हो गये ?" लड़की ने डरकर पूछा—"क्या अब तुम मेरी उपेक्षा करोगे ? एक एम० ए० की गृहस्थी, एक मिडिल-पास लड़की नहीं चला सकती क्या ? हमारे हेडमास्टर तो इंग्लैण्ड-रिटर्न थे। उनकी पत्नी तो सिर्फ दर्जा चार थी। पर, वे कितने सुखी रहते थे।"

"ठीक है, वह तो सवाल ही नहीं है। पर, तुम्हें किसने बतलाया है कि मैं एम० ए० हूँ।"

"अइया, यानी तुम एम० ए० नहीं हो।" लड़की ने हर्ष और संतोष की मिश्रित भावना से कहा।

"तुमसे किसने कहा ?"

"उस मुए कुलकर्णी ने।"

"अरे वह तो पक्के सिरे का झूठा है।"

"है तो वह आपकी ही तरफ का न ? पर, आप क्या बी०ए० ही हैं ?" लड़की ने मुसकराकर कहा।

"नहीं, मैं बी० ए० में बैठ नहीं पाया। मैं सिर्फ इण्टर हूँ।"

अब उछलने की लड़की की बारी थी, "यानी आप बी० ए० भी नहीं हैं। यह कैसे हो सकता है ? एक डिस्ट्रिक्ट आफिसर सिर्फ इण्टर कैसे हो सकता है ?"

लड़के ने सिर ठोंक लिया, "तो क्या कुलकर्णी ने कहा कि मैं डिस्ट्रिक्ट आफिसर हूँ।"

"नहीं तो क्या अभ्यंकर कहता।"

"हरामी है साला। मैं तो इसी साल सुप्रिण्टेण्डेण्ट बना हूँ। गये साल तो मैं सिर्फ हेडक्लर्क था।"

लड़की उछल पड़ी—"आप गलत कहते हैं ? सुप्रिण्टेण्डेण्ट को क्या ३५० रुपए तनख्वाह मिलती है।"

अब लड़के के उछलने की बारी थी—"तो क्या मुझे ३५० रुपये तनख्वाह मिलती है ? यह कुलकर्णी ने बतलाया है।"

"नहीं तो क्या मैंने बतलाया है ?" लड़की पहली बार हँसी।

"अरे गलत कहता है वह। मुझे तो सिर्फ २०० रुपये मिलते हैं।"

"बहुत काफी हैं इतने तो। परन्तु, तुम्हें मिडिल-पास लड़की से शिकायत तो नहीं है।"

"बिलकुल नहीं जी। तुमने तो ४ साल संगीत भी पढ़ा है ? यह मैट्रिक से क्या कम है ?"

"इश्श···भलतच काहीं तरीं। किसने यह वाहियात बात कही।"

"यानी तुमने संगीत भी नहीं पढ़ा।"

"नहीं, बिलकुल नहीं।"

"और 'किर्लोस्कर कढ़ाई प्रतियोगिता' में तुम्हें पहला इनाम नहीं मिला ?"

"कहाँ की प्रतियोगिता ? कैसा पहला इनाम ?"

"अभ्यंकर ने तो कहा था कि जून '५५ के 'किर्लोस्कर' में तुम्हारा फोटो छपा था ?"

"पक्का ४२० है वह। उसकी बातों में न आना।"

"तो तुम्हें कढ़ाई-वढ़ाई नहीं आती ?"

"आती है, पर मामूली।"

"खैर चलेगा, पर, तुम गरम कपड़ों पर बड़ा सुन्दर रफू करती हो। तुमने अभ्यंकर का सूट इतना सुन्दर रफू किया था कि वह फटी जगह पहचानी ही नहीं जाती थी ?"

"अभ्यंकर के बाप ने भी कभी गरम सूट पहना है ?"

"तो क्या यह भी गप्प है ?"

"नहीं तो क्या ब्रह्म-वाक्य है।"

इतने में मंदिर आ गया और वे मंदिर में घुस गये।

जब लौटे तो उन्होंने टैक्सी को रवाना कर दिया और एक मामूली ताँगे में सवार होकर घर चले आये।

प्रशन्सा के चक्कर में

गोपालप्रसाद व्यास

●

श्री गोपालप्रसाद व्यास का जन्म सन् १९१६ में पारासौली, मथुरा में हुआ था। व्यापक जीवन-संघर्ष, देशाटन, साहित्यिक ग्रन्थों के पठन-पाठन, विद्वानों और कलाकारों के निरन्तर सम्पर्क ने आपको जीवन में एक ओर कम्पोजीटर से सम्पादक और दूसरी ओर हिन्दी का एक विशिष्ट मौलिक साहित्यकार बना दिया। हिन्दी के शिष्ट व्यंग्य-विनोद लिखनेवालों में आपका विशिष्ट स्थान है। आपकी रचनाओं का अनुवाद अनेक प्रान्तीय भाषाओं में भी हो चुका है।

आजकल आप 'दैनिक हिन्दुस्तान' के साहित्य-सम्पादक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

रचनाएँ

'कुछ सच : कुछ झूठ', 'मैंने कहा', 'अजी सुनो', 'कदम-कदम बढ़ाए जा', 'चले आ रहे हैं' आदि।

८१५, भागीरथ पैलेस, चाँदनी चौक, दिल्ली

मेज की दराज खोली, तो सन्न रह गया !

मुझे बहुत-सी चीजें प्रिय हैं। कहें तो कुछ के नाम बताऊँ? गुलाब का इत्र, जुही की माला, रेशम का कुर्ता, खोए की बर्फी, दही की गुझियाँ, असली घी की जलेबी और मगही पान मिल जाएँ तो समझ लीजिए—'उहाँ छाँड़ि इहि बैठे वैकुण्ठा।'

ब्राह्मण हूँ, पर निरा पेटू नहीं। मुझे अपनी पुस्तकें भी कम प्रिय नहीं। लेकिन पुस्तकों से प्यार है, इसके यह अर्थ भी नहीं कि मैं संसारी नहीं। बीवी-बच्चे, घर-बार सभी तो मुझे प्यारे हैं।

फिर भी एक वस्तु ऐसी बच ही जाती है, जिसकी इन सब चीजों से कोई तुलना नहीं। वह कोई बहुत बड़ी वस्तु नहीं। एक छोटी-सी बात है। यही अपनी मामूली-सी प्रशंसा। बस, यही एक चीज ऐसी है जिसे सुनने के लिए मैं क्या नहीं कर सकता, क्या नहीं सह सकता?

खाना न दीजिए, कपड़ा न दीजिए, रुपया-रोज़गार न दीजिए, लेकिन कृपा करके दिल खोलकर, झूठी ही सही, मेरी प्रशंसा किए जाइए, मैं आपकी जूतियों का गुलाम हूँ। उस हालत में मुझ जैसा बेदाम का नौकर, बे-उजर चाकर, आप कहीं खोजे भी न पाइएगा। चालीस के ऊपर आयु होती आई। सैकड़ों ही दोस्त बने। लेकिन टिके वही, जो मेरी प्रशंसा करते रहे। जिसने खरी कही, मैंने उससे अपनी राह गही। क्या बताऊँ, जानता सब हूँ, मगर इस मामले में मानता किसी की नहीं। खरी बात कह सबसे सकता हूँ। लेकिन खरी सुनकर मुझे प्रसन्नता हर्गिज नहीं होती। असर मुझ पर मीठी बात का ही होता है। इसे लाचारी कहिए, कमजोरी कहिए, चाहें तो बुराई भी कह लीजिए। बात यह मुझमें है। मैं इससे इन्कार नहीं करता।

हिन्दुस्तान में सोने का बड़ा मोल है। लड़ाई समाप्त हुए एक जमाना हो गया, मगर इसके भाव गिरते ही नहीं। कहते हैं 'प्लाटिनम' का मूल्य सोने से भी बड़ा है। रत्न-जवाहरातों के क्या कहने! लेकिन मेरी दृष्टि में इन सबका मूल्य प्रशंसा के दो मीठे शब्दों के मुकाबले तीन कौड़ी का भी नहीं।

इसीलिए मैं प्रशंसक के मूल्य को अच्छी तरह जानता हूँ। क्यों न जानूँ? सरकारें भी तो प्रशंसकों के बल पर चलती हैं। सरकार क्या, भगवान् को भी अगर प्रशंसकों का टोटा पड़ जाए तो उसकी भी बधिया बैठ जाए। तरह-तरह के लालच देकर, वह अपने गीत उनसे गवाया करता है। कवियों के साथ भी यही बात है। कवि लोग अन्न-जल पर थोड़े ही जीते हैं? ये तो प्रशंसा के पादक हैं। मिलती रहेगी तो खिलते रहेंगे, नहीं तो कुम्हलाते क्या देर लगती है। इसीलिए उस दिन रेल में जब मुझे मेरी रचनाओं के एक प्रशंसक अनायास ही मिल गए तो खुशी

का ठिकाना न रहा।

हम लोग उस दिन गाजियाबाद से दिल्ली लौट रहे थे। गाड़ी में जो साहित्य-चर्चा चली तो बात-बात में एक महोदय मेरा नाम जान गए। वह स्वयं मेरे पास खिसक आए। कहने लगे : "धन्य भाग ! वर्षों से आपका नाम पढ़ते-सुनते थे। बड़ी तमन्ना थी आपके दर्शनों की। क्या कमाल का लिखते हैं आप ? आपकी रचनाओं को तो हमने अखबारों से काट-काटकर एक रजिस्टर में चिपका रखा है। आपकी पुस्तकों के सभी संस्करण हमारे पास हैं। मेरी पत्नी तो आपकी रचनाओं के पीछे समझिए, जैसे पागल है। और-तो-और, मेरी छोटी मुन्नी को भी आपकी कई कविताएँ कण्ठस्थ हैं।"

शब्द क्या थे, मानो बूँद-बूँद से अमृत झर रहा था। यात्रा की सारी थकान, डिब्बे की ठेल-पेल और साहित्य-चर्चा से उत्पन्न उमस जैसे सब-कुछ शीतल, तरल और क्या कहूँ रसमय हो चला। मेरी मन की बन्द कली जैसे खट करके खिल उठी।

बगल में बैठे अपने मित्रों की ओर मैंने जरा तनकर देखा और महसूस किया कि उन पर ही नहीं, इन अनजान मित्र की बातों का असर सारे डिब्बे पर बड़ा अनुकूल पड़ा है। कुछ ही सैकिण्ड में मैं उस डिब्बे का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बन गया।

अपनी प्रशंसा सुनकर क्योंकि सज्जन पुरुष संकोच करने लगते हैं, मैंने भी वही किया। मैं विनयी हो आया। कहने लगा : "जी, मैं क्या हूँ ? यों ही कुछ लिख-विख लेता हूँ। आप जैसे गुणीजनों को कुछ पसन्द आजाय, मेरे लिए यही बहुत बड़ी बात है।"

"विनय बहुत बड़ी बात है। विनय बड़ों को ही शोभा देती है।" अनजान मित्र कहने लगे—"ज्ञानी ही सहनशील होते हैं। शिष्टता ओछों के बाँटे नहीं आती। ओछे बर्तन में तो पानी छलकता है। मैं हिन्दुस्तान के अनेक साहित्यकारों और कलाविदों से मिला हूँ। मुँह देखी नहीं कहता, राम-राम उनमें यह बात कहाँ ? आपको तो देखकर ही ऐसा लगता है जैसे अपने परिवार के ही आदमी हैं।" कहते-कहते उन्होंने सिगरेट का पैकिट मेरी ओर बढ़ाया।

मैंने और भी विनम्र होकर हाथ जोड़ लिए तो वह कहने लगे—"अरे आप सिगरेट भी नहीं पीते ? तब और क्या पीते होंगे ? लेकिन इतनी मादक, इतना सरस, चीजें आप लिखते कैसे हैं ? सच कहता हूँ कि मैं तो जब आपकी रचनाएँ पढ़ने लगता हूँ तो सुध-बुध खो बैठता हूँ। अहा ! अभी परसों के साप्ताहिक में आपकी वह भ्रमर और कली वाली रचना पढ़ी थी ! क्या कहने हैं ? दिल बाग-बाग हो गया !

बातों का यह सिलसिला अभी और लम्बा चलता, मगर गाड़ी शाहदरा स्टेशन पार कर यमुना के पुल पर आ गई थी। दिल्ली जंक्शन आने ही वाला था।

बातों-बातों में ज्ञात हुआ कि मेरे मेहरबान दोस्त कलकत्ते में अपना कोई बड़ा व्यापार चलाते हैं। दो दिन के लिए किसी काम से राजधानी आए हैं। वह जिस होटल में ठहरने वाले थे उन्होंने उसका पता भी बताया और आग्रह किया कि मैं उनके

यहाँ कम-से-कम एक बार चाय पीकर तो उन्हें अवश्य ही कृतार्थ करूँ।

दिल्ली में बसे १२ वर्ष से ऊपर हो गए। लेकिन अभी भी दिल्ली मुझसे कुछ दूर ही बनी हुई है। पुरखे कह गए हैं कि दिल्ली में आदमी को जरा सोच-समझकर चलना चाहिए। यहाँ लोगों से व्यवहार करते समय उन्हें बीस बार परखना चाहिए। इसीलिए कोई लाख कहे, मैं किसी को अपना घर नहीं दिखाता। मित्र लोग मेरी इस आदत से भली-भाँति परिचित हैं, लेकिन कुछ अपनी आदत, कुछ पत्नी के अद्वैत स्वभाव और कुछ अल्प बचत योजना का असर कि मित्रों के उलाहने और अमित्रों के ताने कभी मुझ पर असर नहीं करते।

लेकिन इस बार की बात दूसरी थी, क्योंकि श्रीमती जी मैके पधारी हुई थीं और अभी महीने की सिर्फ तीसरी ही तारीख थी। आपसे क्या छिपाऊँ, सबसे बड़ी बात यह कि उन गुणग्राहक मित्र की बातों से अभी मेरी पूरी तसल्ली भी नहीं हुई थी। परिणाम यह कि एक कदम गलत उठ गया। वैसे ऐसे मामलों में मैं उचित-अनुचित का जरा कम ही खयाल रखता हूँ। लेकिन उस बार न जाने क्या हुआ कि उनके मुख से अपनी शराफत का गुणगान सुनकर मुझे यह उचित नहीं लगा कि अपने शहर में आए हुए एक दुर्लभ पारखी को अपने घर न बुलाकर खुद उनके किराए के होटल में चलकर चाय पीने की धृष्टता की जाय।

अगर मैं जल्दी में न होता, या मुझे एक बार भी अपनी बात पर फिर से विचार करने का अवसर मिल जाता तो मैं कदापि वैसा नहीं करता। लेकिन गाड़ी स्टेशन पर ठहर गई थी और लोगों के चढ़ने-उतरने की रेल-पेल फिर से शुरू हो गई थी। इस हड़बड़ी में मैं फँस गया। और क्या बताऊँ, जो अब तक कभी न किया था, वह कर ही डाला यानी मैंने उन महाशय को अपने घर का पता बता दिया। बड़े तपाक से मैंने कहा : "भला, यह भी कोई बात हुई ? आप हमारे शहर में आएँ, और उल्टे हम आपके मेहमान बनें। लाख दिल्ली अब पुरानी नहीं रही, लेकिन ऐसा भी क्या हुआ ? आपको मेरा घर पवित्र करना ही पड़ेगा।"

थोड़े शिष्टाचार के बाद उन्होंने मेरा निमंत्रण स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन मैंने उनके स्वागत की तैयारी की। पत्नी थी नहीं। नौकर घर में हम लोग खुद ही होते हैं। इसलिए, उस दिन मैं सुबह तड़के ही उठ बैठा। सारा घर साफ करके आइने की माफिक चमका दिया। चीजों को करीनों में जमाया। बाजार से कुछ नमकीन, कुछ मीठा, कुछ फल लाकर रख छोड़े। कुछ पुड़िया पानों की भी पहले से ही ले छोड़ीं। पास के होटल वाले से कह आया कि ठीक चार बजे किसी को भेजकर चाय के लिए पुछवा ले।

मित्र घड़ी के टाइम पर टैक्सी से उतरे। टैक्सी का बिल चुकाने लगा तो उन्होंने हाथ पकड़ लिया। घर में घुसते ही उन्होंने बच्चों के बारे में पूछा। यह बताने पर कि वे सब तो अपने ननिहाल गए हैं, एक सद्गृहस्थ की भाँति उन्हें बड़ी निराशा हुई।

सूने घर में हम लोग मेजों पर पैर फैलाकर जम गए। हमें डर भी किसका था ?

न घर में पत्नी का, न बाहर सरकार का। हमने दालमोंठ से लेकर अणुबम तक पर विशेषज्ञों की भाँति चर्चा की। छात्रों की अनुशासनहीनता से लेकर स्वेज-समस्या तक हमारी तीखी नजर दौड़ गई। हमने दुनिया के सभी बुद्धिमानों को उस समय लगभग बुद्धू ही सिद्ध कर दिया।

हमारी बातचीत प्रायः साहित्य के आस-पास घूमती रही। शायद ही संसार का कोई कवि, लेखक या उपन्यासकार ऐसा बचा हो, जिसके गुण-दोषों का हमने उस दिन पर्दाफाश न कर डाला हो।

मेरे मित्र की जानकारी अद्भुत थी। वह हर साहित्यिक की पुस्तकों के बारे में नहीं, उनकी आदतों, पसंदों और कपड़ों के बारे में भी पक्का पता रखते थे। किसकी किससे बनती है, किसकी किससे चलती है, किसने किसका कहाँ क्या चुराया है, कौन कहाँ क्या तिकड़म कर रहा है, इस सबका उन्हें सही-सही पता था। बीच-बीच में रामायण के सम्पुट-पाठ की तरह वह प्रसंग और अवसर निकालकर मेरी रचनाओं की, मेरे स्वभाव और मीठे व्यवहार की भी लगे-हाथों तारीफ करते चलते थे।

मिठाई की मिठास उस दिन कैसी थी क्या बताऊँ ? जब-जब वह महाशय मेरा गुणगान करते थे तब-तब मेरा नमकीन चीजों की सार्थकता पर विश्वास जमता जाता। फल सफल हो रहे थे। चाय आ रही थी और न जाने कहाँ समाई जा रही थी ? मुझे लगा कि ये ७ घण्टे जैसे ७ मिनटों में ही समाप्त हो गए। समय की क्रूरता का मैंने उस दिन सही-सही अनुमान किया। उस दिन मैंने जाना कि प्रियकथन श्रवण के लिए किस प्रकार दो कान ही काफी नहीं हैं।

काफी दूर तक मैं उन्हें छोड़ने गया। लौटा तो लगा कि मेरा मन भी कहीं बाहर ही छूट गया है। रात को बड़ी देर तक नींद नहीं आई। तुलसीदास की यह चौपाई उस दिन मुझे कई बार याद आई—

अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिनु हरि कृपा मिलहिं नहीं सन्ता॥

पड़ा-पड़ा मैं यही सोचता रहा कि इसी प्रकार कोई सहृदय समालोचक मिल जाय तो मुझे व्यास, कालिदास, मिल्टन, शेक्सपीयर बनते अब देर नहीं लगती। सोते-सोते मुझे यह विश्वास भी हो गया कि लोग लाख ईर्ष्या करें मेरी कला को, साधना को समझने वाले अब पैदा होने लगे हैं। मेरे महान् बनने में अब देर नहीं।

दूसरे दिन काफी देर गए मेरी आँख खुली। रात की प्रशंसा का खुमार अभी पूरा-पूरा नहीं उतरा था। मैंने आइने में गौर से झाँककर बाल जरा सीधे किए। कमीज डालकर चाय पीने बाहर निकला तो याद आया, जेब खाली है। सोचा कुछ पैसे लेता चलूँ। कल की चाय का बिल भी चुकाना है।

लेकिन मेज की दराज खोली, तो सन्न रह गया ! वह अस्त-व्यस्त पड़ी थी। मनीबैग गायब था। दौड़कर दरवाजे पर गया तो देखा ताला-कुंजी सब अन्दर से ठीक

तरह बन्द थे। जीना-खिड़की सब सही-सलामत थे। रात को तो सोने के बाद कोई आया नहीं। तब बटुआ क्या हुआ ?

मेरी आँखों के सामने से प्रशंसा का परदा खर्र से खिसक गया ! एक-एक करके मुझे कल शाम की सारी घटनाएँ याद आने लगीं। प्रशंसा मुझे काफी महँगी पड़ी थी। मेरे मेहरबान मित्र महीने-भर का पूरा वेतन अपनी प्रशंसाओं के पारिश्रमिक में वसूल कर ले गए थे।

भला ऐसे चतुर कहीं होटलों का पक्का पता बता देते हैं।

चाय के जूठे बर्तन, चारों तरफ फैले सिगरेटों के टुकड़े, फलों के छिलके, जूठी तश्तरियाँ मानो सब विद्रूप से मुँह बिचकाकर मुझसे पूछ रहे थे—"कहिए महाशय, महाकवि बनने में अब कितनी देर है ?"

ड्राई वाशिंग लीग

गोविन्दवल्लभ पंत

●

श्री गोविंदवल्लभ पंत का जन्म सन् १८९९ में रानीखेत, जिला अल्मोड़ा में हुआ था। सन् १९२० में असहयोग आन्दोलन में सेण्ट्रल हिन्दू कालिज, काशी से पढ़ना-लिखना छोड़कर मेरठ की 'व्याकुल भारत नाटक कम्पनी' में नाटककार नियुक्त हो गए। कम्पनी के टूट जाने पर पहाड़ चले गए और ताड़ीखेत के गांधी-आश्रम में कुछ वर्षों तक संयुक्त रहे। इसके बाद कई वर्ष तक लेखनी के ही श्रम को जीवन और जीविका का लक्ष्य बनाया। बीच-बीच में सिनेमा और नाटक कम्पनियों में भी रहे। बनारस, लखनऊ और बम्बई की प्रेसों में भी कुछ समय तक पत्रकार की हैसियत से कार्य किया। आजकल संगीत नाटक अकादमी से सम्बद्ध हैं। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आपका अग्रगण्य स्थान है।

रचनाएँ

'नूरजहाँ', 'जल-समाधि', 'पर्णा', 'सुजाता', 'विषकन्या', 'मदारी', 'चक्रकांत', 'मुक्ति के बंधन', 'वरमाला', 'राज-मुकुट', 'अमिताभ', 'प्रगति की राह' आदि-आदि।

५०५–आकाशवाणी भवन, पार्लियामेण्ट स्ट्रीट,
नई दिल्ली
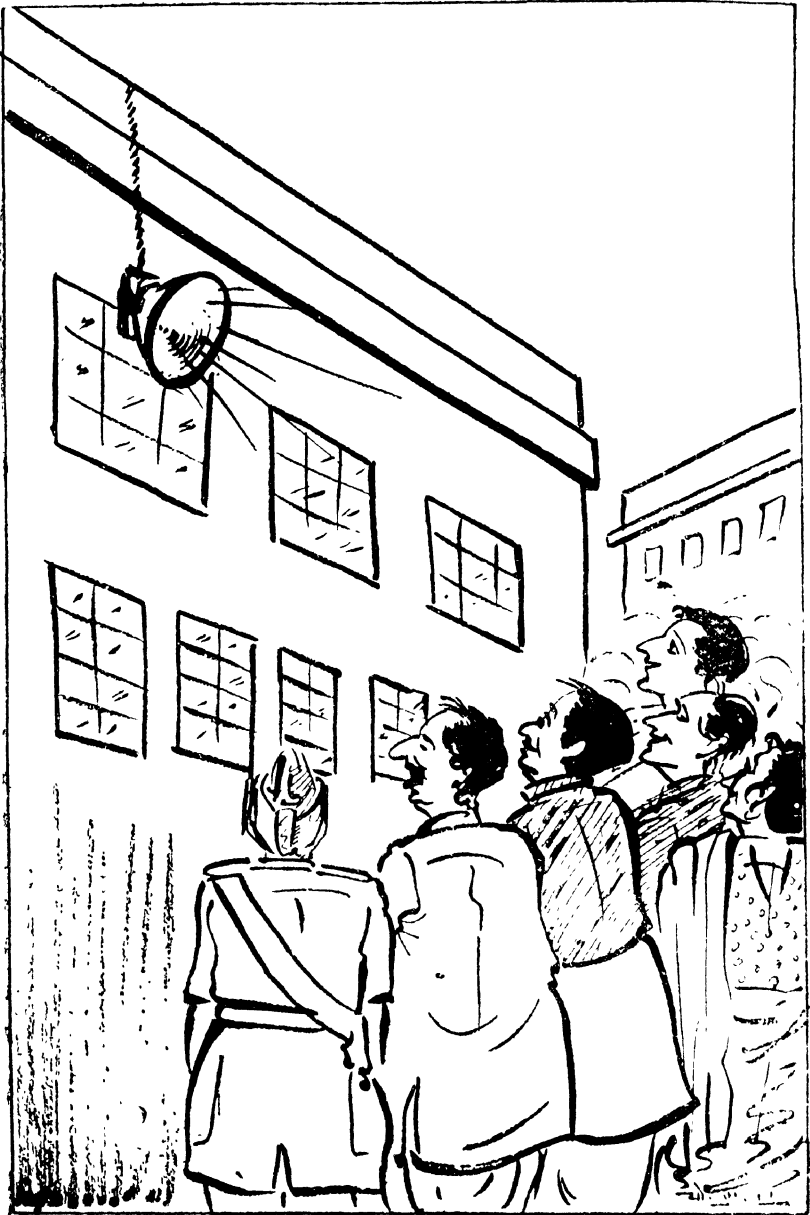
लाउड-स्पीकर ने नीचे सड़क से गुजरती भीड़ को खींच लिया

हमारे समाज की उज्ज्वलता के अधिष्ठाता, सोडे की सहायता से तेल और पानी-जैसे अमित्रों का मेल मिलाकर, हमारी सारी मलिनता को दूर बहा देनेवाले ये हमारे परिष्कारक ! क्या लोक में हमारी प्रतिष्ठा बना देने के लिए, हम उनके ऋणी नहीं हैं ? फिर धोबी—ऐसा घृणित संबोधन उन्हें देना, क्या यह एक सामाजिक अत्याचार नहीं है ?

ननकू कपड़े धोता है, उसके बाप-दादा धोबी नाम से चिढ़ते नहीं थे। मालूम नहीं कैसे ? समय की इसे प्रगति कहें या दुर्गति—एक जटिलता उसके मस्तिष्क में उत्पन्न हो गई है। गंदे-से-गंदे कपड़े में सज्जी-साबुन रगड़ने में ननकू को इतनी घृणा नहीं है, जितनी धोबी नाम से पुकारे जाने में।

एक दिन फिर लड़ पड़ा वह महेश से। ननकू की इस सनक से परिचित तो था वह, पर अन्यमनस्क होने के कारण भूल गया। "धोबी आया है, कपड़े लिखकर दे दो,"—निकला ही था उनके मुख से कि ननकू की त्यौरियाँ चढ़ गईं।

कंधे पर की गठरी उसने भूमि पर पटक दी। दोनों काले-काले हाथों में चमकते हुए चाँदी के कड़े ऊपर को समेटते हुए कहने लगा—"देखिए बाबू जी, सोच-समझकर मुँह से बात निकालिए।"

महेश को भी क्रोध आ गया। ननकू के प्रति किसी अपमान का भाव नहीं था, बोला—"तेरे बाप को मैंने देखा है। सभी उसे धोबी कहकर पुकारते थे और उस नाम से मैंने कभी उसे चिढ़ते नहीं देखा।"

"माफ करिए बाबूजी, धोबी इज्जत का नाम नहीं है।"

"पेशे के हिसाब से नाम पड़े हैं। पंडिताई से पंडित और धुलाई से धोबी। मैं बिजली का काम करने से बिजलीवाला। क्यों झूठ-मूठ अपने लिए एक चिढ़ पैदा करते हो ? जितना चिढ़ोगे, दुनिया उतनी हाथ धोकर तुम्हारे पीछे पड़ जायगी चिढ़ाने के लिए।"

"नहीं जी, बहुत गंदा नाम है यह धोबी !"—ननकू फिर अपने क्रोध में उबाल देने की चेष्टा करते हुए बोला।

"कौन कहता है ?"

"सभी कहते हैं। हमारे मुहल्ले में इजाक मुर्गीवाला रहता है। वह जब कभी शराब की भट्ठी से नशे में लड़खड़ाता हुआ अपने घर लौटता है तो सब लोग उससे कहते हैं—'इजाक धोबी है।' इजाक चिढ़कर उन्हें पत्थर मारता है। अगर यह नाम अच्छा होता तो क्यों मारता वह ?"

"इजाक से धोबी कब कहते हैं लोग ? जब वह नशे में बहकता हुआ, विचारों में उलझा और डगों में लड़खड़ाता हुआ घर को लौटता है। तुम्हारी पदवी क्यों उसके लिए छाँटी गई ? तुम्हारी पीने की जो गंदी आदत है इसीलिए न ? तुम सारे नगर का मैल धोते हो, सबको स्वच्छ और उजला बनाते हो, ननकू अगर तुम अपनी इस गंदी आदत को साफ और उजला कर सकते तो क्या बात थी !"

ननकू का क्रोध अब हवा हो गया था। वह विनम्रता से बोला—"माई-बाप, दिन-भर की थकान मिटाने का और दूसरा उपाय ही क्या है ? पीते हैं लेकिन छिपाकर नहीं पीते; और पीते हैं तो कायदे से। पीकर कभी काम पर नहीं जाते।"

"क्या कायदे से पीते हो ? जब पीते हो तभी शाम को सारे मुहल्ले में गाली-गलौज और मार-पीट से आकाश सिर पर उठा लेते हो। ननकू, अगर तुम पीना छोड़ दो तो तुम्हारे घर साक्षात् लक्ष्मी के निवास बन जायँ।"

"हाँ बाबूजी, कहने-सुनने में बड़ी मीठी आपकी बात लग रही है।"—भीतर से कपड़े लिखकर आ गए थे, ननकू ने हँसते हुए उनकी गिनती की।

"यह जिला ड्राइ होने जा रहा है।"

ननकू इस ड्राइ को नहीं समझा। ड्राई वाशिंग कम्पनी बहुत दिनों से उसके दिमाग में जड़ें फैला रही थी। वह बोला—"हाँ, ड्राई वाशिंग कम्पनी खोलने का विचार है तो सही मेरा। जब खूब लम्बा-चौड़ा साइन-बोर्ड लगाकर कुर्सी में बैठ जाऊँगा, तब देखूँगा कौन मुझे धोबी कहता है ?"

"जब तक कपड़े धोओगे तब तक धोबी कहलाए ही जाओगे। ड्राई वाशिंग कम्पनी हुई तो धोबी न सही ड्राईवाशर कहलाओगे। पुकार बदल जायगी, माने तो एक ही हैं।"

"शराब पीना छोड़ दूँ तो क्या कहेंगे आप मुझसे ?"

"मैं ? मैं पण्डित कहना शुरू कर दूँगा।"

"पण्डित ?" ननकू ठहाका मारकर हँसा—"बड़े-बड़े पण्डित नहीं पीते क्या ?"

"नाम में कुछ नहीं रक्खा है ननकू। कुछ काम करो।"—महेश उसकी ओर से उदासीन हो अखबार पढ़ने में लग गया। ननकू ने दोनों गठरियाँ कन्धे पर रख लीं और चला गया।

कनकापुर में कुछ नहीं तो चार दर्जन ड्राई वाशिंग फैक्टरियाँ हैं। इसका कारण यह न समझा जाय कि वह रेगिस्तानी शहर है, वहाँ पानी की कमी है। ताज-महल के घनत्व का तो उसका वाटर वर्क्स है। बिजली भी पानी से ही प्रसूत है। शहर के जीवन में वेग है—रेल, ट्राम, बस, मोटर—फुर्र ! फुर्र ! इधर से उधर ! प्रतीक्षा के लिए कोई तैयार ही नहीं, किसी को फुरसत ही नहीं, जीवन उच्चतम खिचाव में ! एकदम हाइ टेंशन !

इधर विचार सूझा, उधर तुरन्त ही कर्म में उसका अनुवाद चाहती है कनका-

पुर की जनता। सिनेमा के टिकटघर, रेल के माहवारी पास की खिड़की, डाकघर या पब्लिक के मुत्रीखाने के क्यू में वे घण्टे-भर खड़े रह जाएँगे, लेकिन धुलाई में कपड़े ज्यादे दिन पड़े रहने नहीं देंगे। ड्राई-वाशरों की चल पड़ी कि कनकापुर की आबादी में एक सूट के जेंटलमैनों की आबादी ही अधिक है।

वहाँ ड्राई-वाशिंग फैक्टरियों का बीज, ननकू बरेठा कहता है, मैं लाया हूँ, लेकिन श्रीगोपाल जी 'ठनठन' कहते हैं—मैं! वह इसके सबूत में अपना वह बिजिनेस कार्ड पेश करते हैं, जो उन्होंने श्री ठनठन ड्राई-वाशिंग फैक्टरी के जन्मोत्सव पर छपाकर बाँटा था। कार्ड में जो आपकी रचना छापी गई थी, वह इस प्रकार है—

"आग नहीं पानी नहीं,
केवल कोरा काम।
सस्ते मेरे दाम हैं,
'ठनठन' है उपनाम॥"

ड्राई-वाशिंग फैक्टरी खोलने से पहले 'ठनठन' जी केवल कविता ही करते थे। बंबई की फिल्म-कम्पनियों के दरबार में वह अपनी काव्य-प्रतिभा को भुनाने गए थे। सुना था उन्होंने, एक-एक गीत के हजारों रुपए वहाँ मिल जाते हैं और फिर सारा हिन्दुस्तान, स्त्री-पुरुष, नगर और गाँव उन गीतों को गा-गाकर एक ही रात में लेखक को उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रसिद्ध कर देता है। धन और कीर्त्ति के इस डबल आकर्षण के सामने ठनठन जी ने उस मार्ग के काँटे, ठोकर और खाइयों को देखा ही नहीं। जब बम्बई पहुँचे तो यथार्थता के साथ उनकी मुठभेड़ हो गई!

सिनेमा की सुन्दरियों के सुकोमल अधरों पर उनकी रचनाओं के बोल नृत्य करेंगे, इस सपने के टूटते हुए कोई देर न लगी। तीन-चार अंकों का चैक उनकी जेब में पड़ेगा, यह विश्वास भी आकाश-कुसुम हो गया। होटलवाले ने उनका झोला, कम्बल और कविता का बस्ता उठाकर फुटपाथ पर रख दिया।

क्या करते ठनठन जी? कविता के बस्ते को नोटों के भार में बदल लेने की आशा थी। रद्दी के भाव में भी कोई उन्हें खरीदने को नहीं मिलेगा, यह सोचकर उन्होंने बुद्धिजीवी से श्रमजीवी हो जाने में पड़त समझी। निकट ही एक वाशिंग फैक्टरी का मालिक एक ग्राहक से नौकरों की कठिनाई पर बातचीत कर रहा था। ठनठन जी को दरवाजा मिला। उन्होंने मालिक के पास जाकर नमस्ते भिड़ाई और बोले—"काम मिलेगा कुछ?"

"यहाँ तो धोबी का काम है। इस्तरी चलाना जानते हो?"

"चलाते-चलाते जान लूँगा,"—ठनठन जी ने अपने बगल के खिसकते हुए बस्ते को जरा ऊपर जमाया।

"इस बस्ते में क्या है?"

"मेरे लिखे हुए गीत।"

"कवि भी हो?"

"क्या बताऊँ वैसा कहते हुए लज्जा आती है।" ठनठन जी फैक्टरी के भीतर घुस गए। एक कोने में अपना सामान जमा इस्तरी उठा ली—"यह इस्तरी तो ठंडी है !"

"कोयलों से गरम करो इसे। लेकिन पहले माँज लो, कवि जी !" फैक्टरी का मालिक बोला—"क्या बताया जाय बखत की बात है। आप शायद कहीं मौज से बैठकर तुक मिलाते। यहाँ वाशिंग फैक्टरी में कपड़ों की बाँह से बाँह मिलानी पड़ी।"

"अजी, सब तुक ही है जो मिल जाय। मैं बर्त्तन मलने और कविता करने दोनों कामों को एक ही-सा समझता हूँ। यह युग मजदूर का युग है।" ठनठन जी इस्तरी पर पॉलिश करने लगे।

"यही ढूँढ रहा था, आप पढ़े-लिखे भी हैं। काम भी करेंगे और खाली समय में आप मेरे बिल भी बना देंगे। तनख्वाह क्या लेंगे ?"—फैक्टरी के मालिक ने पूछा।

"काम देखकर जो भी आप दे देंगे।"

ठनठन जी को रहने का ठिकाना करना था। साल-भर रहे वह वहाँ। उसके बाद ड्राई-वाशिंग में निपुण हो कनकापुर लौट आए और अपनी स्वतंत्र वाशिंग फैक्टरी चालू कर दी।

नगर की चार दर्जन वाशिंग फैक्टरियों ने एका किया। ननकू-जैसे पुश्तैनी धोबियों से लेकर श्रीगोपाल ठनठन-जैसे ड्राई-वाशर तक उस सभा में एकत्र हुए। सभापति एक स्वर से ठनठन जी बनाए गए।

ननकू ने जन्मसिद्ध अधिकारी होने से मुख्य प्रस्ताव किया—"भाइयो, इस संगठन के युग में हमारा एक हो जाना जरूरी है। हमारे आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए और बाहरी गुटों से भिड़ने के लिए भी। एकपेशा होने से हम सब भाई-भाई हैं। पुराने बखत में धोबियों की पंचायत होती थी। तमाम बिरादरी के झगड़े उसमें तय किये जाते थे। चूँकि धोबियों की भट्टी की जगह फैक्टरियाँ खुल गई हैं, इसलिए पंचायतों की जगह हमारा एक क्लब कायम होना चाहिए ताकि उसमें हम धुलाई के रेट भी एक कर लें और धुलाई के मसालों के नियंत्रण पर भी अपनी आवाज ऊँची कर सकें और इतवार की छुट्टी का भी उपयोग हो सके।"

ड्राई-वाशिंग लीग के जन्म का यही इतिहास है। प्रत्येक रविवार की रात एक बंद कमरे में उनकी मीटिंग होती है। कुछ प्रतिशत उन्होंने अपनी धुलाई में से लीग का व्यय निकालने के लिए काट दिया है। महीने के अंत में सबके बिल-बुकों में से हिसाब लगाकर वह रकम लीग के सेक्रेटरी के पास जमा हो जाती है। लीग की सदस्यता की यही फीस है। इसी धन से मकान का किराया दिया जाता है। कुछ हलका रिफ्रेशमेंट भी उसी में से निकाला जाता है। सिगरेट आदि प्रत्येक सदस्य को अपनी-अपनी जेब से पीनी पड़ती है।

लीग की बैठक में बिरादरी के बाहर का कोई व्यक्ति, सदस्य या दर्शक किसी रूप में प्रविष्ट नहीं हो सकता था। खुली हुई चीज लोगों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं

रखती। परदा आकर्षण को बढ़ा देता है। लोगों में लीग की कार्रवाई जानने की प्रबल उत्कंठा पैदा हो गई थी।

महेश बिजली कम्पनी में नौकर था। एक दिन लीग के कमरे में कुछ बिजली की फिटिंग ठीक करने गया था वह। इतवार का दिन था। रात को मीटिंग होनेवाली थी। महेश के दिमाग में वह लहर कब की उठ चुकी थी। उस दिन उसने लीग की छिपी कार्रवाई का सारा भंडाफोड़ पब्लिक पर कर देने का पक्का निश्चय किया। दिन में जब वह फिटिंग करने गया था, तभी उसने वहाँ माइक भी छिपाकर लगा दिया कि उसकी सहायता से वह कमरे में गुप्त मीटिंग करनेवालों की आवाज जनता में फैला सके। उसने तार का जोड़ बाहर निकाल दिया।

रात को ठीक समय में ड्राई-वाशिंग लीग की कार्रवाई शुरू हुई। प्रवेश-द्वार पर ताला लगा, काँच की खिड़कियाँ बन्द कर उन पर पड़े गहरे रंग के परदे खींच लिए गए। ऊपर छत में छिपे हुए महेश ने अपने तारों पर बिजली दौड़ाने को बटन दबाया। छत के कोने में जमाए गए लाउडस्पीकर के भोंपू पर आवाज उदित हुई—"घर्र्र्र्र्!" नीचे सड़क पर से गुजरती हुई भीड़ को खींच लिया उस ध्वनि ने। लाउडस्पीकर बोलने लगा। कुछ लोग समझे, रेडियो के किसी विशेषज्ञ का लिखा हुआ कोई विशेष प्रोग्राम प्रसारित हो रहा है। किसी ने समझा कोई वादी, विवादी या संवादी पब्लिक में वोट-संग्रह के लिए अपने वादों का सुरीला राग सुना रहा है। किसी ने अनुमान लगाया किसी स्टंट पिक्चर का विज्ञापन है। किसी ने कहा—"साबुन, बिस्कुट या किसी चाय-कम्पनी के एजण्ट प्रचार कर रहे हैं।"

इस तरह आवाजें निकलनी शुरू हुईं लाउडस्पीकर में से—

पहली आवाज—"नीले ब्लेजर की भीतरी जेब—डार्लिंग, अच्छा ऐसी सफेद झूठ! कल अशोक, अकबर और विक्टोरिया सिनेमा-हॉलों में रात के शो में टॉर्च जला-जलाकर तुम्हें ढूँढा। न स्टेंड में तुम्हारी साइकिल, न क्लोक-रूम में तुम्हारा ओवरकोट मिला, न रेस्ट्राँ में तुम्हारी परछाई और न किसी दर्जे में तुम्हारी साक्षात मूर्त्ति! ऐसा चरका देने को क्या सिर्फ मैं ही रह गई थी? देखूँ अब मिलने पर तुम कौन-सा बहाना बनाते हो। तुम्हारी—क।"

दूसरी आवाज—"धोती की जेब···"

सबने उस आवाज का प्रतिवाद किया—"धोती में जेब कहाँ होती है?"

दूसरी आवाज—"क्षमा! क्षमा! पेटीकोट की जेब—प्रिय रानी, मेरे तोते को पहली मुलाकातवाला गीत पूरा-पूरा याद था। तीन दिन से वह उसे बिलकुल भूल गया है और उसकी जगह गाने लगा है—प्रेटी पौली प्रेटी डियर, ऑल दी वेज आर फ्रॉम कैशमियर! तोते को एक गीत भूलकर इतनी जल्दी दूसरा गाना याद नहीं हो सकता। शायद तुम्हारे तोते से बदल गया। अगर ऐसी बात हो तो फौरन् खबर देना। तुमने जान-बूझकर ही ऐसा किया होगा क्योंकि तुम्हें वह गीत बहुत पसन्द था। तुम्हारा—चन्दर"

तीसरी आवाज—"लाल बुशशर्ट की जेब—प्रिय संकरान्त, तुम देखने-सुनने, पढ़ने-लिखने में बहुत चतुर हो इसमें कोई सन्देह नहीं। पर तुम्हारी संगत ठीक नहीं है। उन लोफरों का साथ छोड़ दो। :मैं उनके नाम लिखकर उनकी दुश्मनी न लूँगी। और वह लाल बुशशर्ट पहनकर तुम हमारी कोठी के नील काँटे की बाड़ के भीतर न झाँका करो। तुम्हारी सहपाठिनी—रोमा।"

चौथी आवाज—"जापानी गैबर्डीन के पैंट की हिप-पॉकेट्—डायरी का पन्ना, नए साल की प्रतिज्ञा : (१) तू बीड़ी मुँह में लेकर शौच को न जाएगा, न जूता पैर में देकर सोने के कमरे में; (२) तू जब तक रीगल स्टोर्स का बिल न चुका देगा, तब तक उस गली से न गुजरेगा; (३) तू झूठ बोलकर भी सत्य की रक्षा करेगा और सच बोलकर भी झूठ की मदद न करेगा; (४) तू लिपस्टिक रंगी महिलाओं से 'जय हिंद' और रोली की बेंदी-वालियों से 'वंदे मातरम्' कहेगा; (५) तू अपने से बड़ी तनखा-वालों में कम्यूनिस्ट, बराबरों में समाजवादी और छोटी तनखावालों में कट्टर साम्राज्य-वादी रहेगा।"

पाँचवीं आवाज—"खद्दर के कुरते की दाहिनी बगल की जेब—प्रिय शर्मा, तुम देश की खातिर जेल भी गए, लाठी और डंडे भी सहे, तुम्हारे घर और भैंस का भी नीलाम हुआ। इतना सब कुछ बलिदान किया तुमने, लेकिन भारत के नए सिक्कों में तुम्हें उसके कुछ दाम न मिले। इसे मैं केवल तुम्हारी ही नालायकी समझती हूँ। तुमने अपने नाम के आगे पी० एस० लिखकर मुझे धोखा दिया था कि तुम प्राविंशल सर्विस में हो। क्या खूब! आज तुमने इसका खुलासा किया—पोलिटिकल सफरर! मुबारिक हो तुम्हें यह मेरा आखिरी पत्र! तुम्हारी—कोई नहीं।"

छठी आवाज—"ब्लाउज की जेब—प्रिय हैरेश, कल तुम मेरे यहाँ चाय पीने आए थे। लेकिन न-जाने किस समय लौट गए। मुझसे कुछ कह भी नहीं गए। हमारे बाथरूम की नाली में नकली दाँतों का एक जबड़ा जमादारिन को मिला है। इस पत्र के साथ तुम्हारे पास भेजती हूँ, यह तुम्हारा ही होगा और जरा मेरी इनगेजमेंट रिंग वापस कर देना, किसी को नमूना दिखाने को चाहिए। तुम्हारी—फ्लोरा।"

सातवीं आवाज—"लेडीज कोट की जेब—प्रिय कुमारी, आज ही मैं यहाँ आया हूँ। एक हफ्ते से अधिक न रहूँगा। ब्लैक मार्केटिंग में पुलिस मेरे पीछे पड़ी है। ग्रीन होटल के दस नंबर के कमरे में नकली दाढ़ी और मूँछ पहनकर रहता हूँ मैं। तुमसे भेंट करना जरूरी है। इस पत्र को पढ़ते ही फाड़ न दोगी तो फिर राम ही मालिक है। तुम्हारा सप्रेम—हमेशानंद।"

सड़क पर अभी तक जनता आनन्द ले रही थी। वह समझ रही थी, रेडियो सुननेवालों के पत्र पढ़े जा रहे हैं। हमेशानन्द की चिट्ठी सुनते ही भीड़ में से एक पुलिस का अफ़सर पिस्तौल हाथ में लिए बाहर निकला। वह लाउडस्पीकर के पास खड़े महेश से बोला—"कहाँ से आई यह आवाज?"

"ड्राई-वाशिंग क्लब की बैठक से।"

"क्या माने ?"

पुलिस अफ़सर ने क्लब खुलवाया। वहाँ जाकर पूछा—"इस ब्लैक मार्केटर हमेशानन्द की चिट्ठी किसने पढ़ी ?"

एक सदस्य ने घबराकर उत्तर दिया—"हुजूर मैंने !"

"पुलिस को बहकाने का तो मतलब नहीं ? कहाँ है वह चिट्ठी ?"—सदस्य के हाथ से उसे लेकर पुलिस अफ़सर ने पूछा—"कहाँ से लाए यह पत्र ?"

श्रीगोपाल ठनठन आगे बढ़े, बोले—"हुजूर, इतवार को कुछ मनोरंजन करते हैं। हम सब धोबी हैं। बिना पानी के मैल छुड़ाते हैं। हमारी फैक्टरियों में जो कपड़े धुलने को आते हैं, धोने से पहले हम उनकी जेबें टटोलते हैं। लापरवाह लोगों की जेब में जो पत्र मिल जाते हैं, उन्हें हम यहाँ पढ़कर दो घड़ी मन बहला लेते हैं।"

अफ़सर ने चिट्ठी की तारीख देखी, उसी दिन की थी। वह ग्रीन होटल की ओर भागता हुआ बोला—"लेकिन, आज तुम्हारे इस मनोरंजन ने हमें जनता के शत्रु नंबर एक का सूत दे दिया। अगर वह पकड़ में आ गया तो तुम्हें इनाम मिलेगा।"

महेश बोला—"कारण तो मैं हूँ।"

"फिर देखूँगा, अभी फुरसत नहीं।"—अफ़सर भागा।

सब मेंबर हैरान हो रहे थे, पुलिस अफ़सर ने कैसे सुन लिया ? महेश ने मूँछों पर ताव देकर कहा—"इनाम मुझे मिलेगा। आलू-मटर-गोभी, हम सा'ब तुम धोबी ! क्यों ननकू बरेठा ?"

दूसरे दिन दैनिक पत्रों में काले मोटे अक्षरों में पहले पेज पर छपा :

"हमेशानंद गिरफ्तार !"

दामाद साहब

चंद्रमोहन 'मधुर'

●

श्री चंद्रमोहन 'मधुर' का जन्म सन् १९३६ में देहरादून में हुआ था। १९५७ में आपने आगरा विश्वविद्यालय से एम० कॉम० की परीक्षा उत्तीर्ण की। लेखन की ओर रुचि आपकी बहुत पुरानी है। आपकी रचनाएँ हिन्दी की सभी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं।

आजकल उद्योग-विभाग, पंजाब सरकार द्वारा एक्सटेंशन ऑफिसर (इण्डस्ट्रीज) के पद पर नियुक्त हैं।

रचनाएँ

'अनजाने रास्ते', 'चट्टान', 'रात और चाँद', आदि।

१२१, राजपुर रोड, जाखन, देहरादून

सामने के कैबिन में दामाद साहब को देखकर मैं चौंककर खड़ा हो गया

लाला हरिहरनाथ मेरे परिचितों में से हैं। व्यापार के सिलसिले में जब कभी मुझे हल्द्वानी जाना पड़ता है, तो मैं उन्हीं के यहाँ ठहरता हूँ। हल्द्वानी शहर ज्यादा बड़ा नहीं है। कुमाऊँ की मण्डी होने की वजह से व्यापारिक स्थिति वहाँ की अच्छी है। लाला हरिहरनाथ वहाँ आलू की आढ़त करते हैं। इस बार मैं हल्द्वानी गया तो हमेशा की तरह उन्हीं के यहाँ ही ठहरा। उन्होंने मुझे बताया कि दूसरे दिन उनके दामाद साहब उनकी लड़की को लेने के लिए आ रहे हैं। मेरे पहुँचने के दिन सुबह ही उन्हें तार मिला।

लाला हरिहरनाथ के यहाँ मैंने उस दिन एक विशेष हलचल देखी। कालीन धूप में डलवाए गए, मेज-कुरसियाँ बाहर निकलवाकर अच्छी तरह झाड़ी-पोंछी गईं और बैठक में पुताई की गई। लालाजी से मैंने पूछा, "हरिहरजी, पुताई तो दीवाली में आपने करवाई ही होगी। दो-ढाई महीने बाद फिर क्यों करवा रहे हैं?"

लाला हरिहरनाथ ने पहले मजदूर को डाँटते हुए कहा, "अबे, ये कूँची के निशान क्यों पड़े हैं? निशान एक न पड़ने पाए।" फिर मेरी ओर देखकर बोले, "दामाद साहब आ रहे हैं। यह सब तो करना ही पड़ता है।"

काफी रात तक कमरे की झाड़-पोंछ और सजावट होती रही। पुराने मेजपोशों की जगह कढ़े हुए और नये मेजपोश निकाले गये, टूटी कुर्सियाँ बाहर एक ओर निकाल कर रखवा दी गईं! लाला हरिहरनाथ ने अपने लल्ला को भेजकर पड़ोस के पंसारी के यहाँ से दो पीतल के गुलदस्ते भी मँगवाकर मेज पर सजवा दिए।

रात को खाना खाने के बाद मैं नीचे कमरे में लेटा सोने की कोशिश करता रहा, लेकिन व्यर्थ। ऊपर हो रही धरपटक, लकड़ी की सीढ़ियों पर धम-धम चढ़ने की आवाज और जरा-जरा-सी देर में ललाइन का भारी स्वर मुझे परेशान करते रहे।

सुबह साढ़े दस बजे गाड़ी हल्द्वानी आती थी, लेकिन नौ बजे ही नौकर भाऊ स्टेशन भेज दिया गया। मुझे लालकुँआ जाना था, इसलिए मैं तो दामाद साहब का स्वागत करने स्टेशन न जा सका। लाला हरिहरनाथ के ही जाने की बात थी। लालकुँआ जाने को जिस समय तैयार हुआ दामाद साहब के स्वागतार्थ सारा प्रबन्ध हो चुका था। दो नाइन अपनी-अपनी ड्यूटी पर तैनात थीं। एक तो बाहर दरवाजे के पास पानी से भरा लोटा लेकर खड़ी थी और दूसरी बैठक के पास रखी कुरसी के पास दामाद साहब के पैर धोने के लिए पानी से भरी बाल्टी और लोटा-परात लिए बैठी थी। यह तैयारियाँ देखकर दामाद साहब के सौभाग्य पर एक बार मुसकराये बिना मैं रह न सका।

अपने वादे के अनुसार साढ़े ग्यारह बजे के लगभग मैं लालकुँआ से लौट आया। लाला हरिहरनाथ बड़े व्यस्त दिखाई दिये। दुकान पर मुनीम था। खुद ऊपर जा-जाकर ललाइन को कुछ-न-कुछ समझा रहे थे। मुझे देखते ही लपककर पास आकर बोले, "दामाद साहब बैठक में हैं, चलिये।"

मैं बैठक में आ गया।

दामाद साहब मेरी आयु के थे। शायद कुछ संकोची स्वभाव के थे। लट्ठे का सफेद पाजामा, पापलेन की कमीज, ट्वीड का कोट और बढ़िया जूते पहने हुए थे। मेरी बातों का खुलकर उत्तर नहीं दे पा रहे थे। सिर उनका झुका ही रहता था। यह सब शायद इसलिए कि वह इस समय अपनी सुसराल में थे।

उस दिन भोजन में विशेष देर हो रही थी। डेढ़-दो के लगभग लाला हरिहरनाथ ने स्वयं आकर बड़ी विनम्रता से दरवाजे के पास खड़े होकर, दोनों हाथ बाँध दामाद साहब से कहा, "चलिये, भोजन तैयार है।" फिर मेरी ओर देखकर बोले, "उठिये, देर क्यों की जाय!"

मैं उठा, दामाद साहब भी उठे। आगे-आगे लाला हरिहरनाथ, उनके पीछे मैं और मेरे पीछे दामाद साहब चलने लगे। ऊपर रसोई के साथ ही बाहर फर्श पर दोहरी दरी बिछी हुई थी। चमकते हुए कलईदार लोटे और गिलासों में पानी रखा था। मुझे और दामाद साहब को दरी पर बैठाकर लाला हरिहरनाथ सामने पीढ़ी पर बैठ गए। उनकी छोटी लड़की चन्दा और भाऊ खाना परोस रहे थे। एक-एक करके प्लेटें आनी शुरू हुईं। मैं कई बार सोचता कि यह अन्तिम प्लेट होगी, लेकिन मेरा विचार गलत निकलता। अन्त में थाल आये—दाल, चावल और रोटियों से भरे। जब थाल तीनों के सामने रखे जा चुके तो हरिहरनाथ अत्यन्त विनम्रता से दबे स्वर में बोले, "कच्चा खाना अच्छा रहता है।" फिर कुछ रुककर उन्होंने कहा—"लक्ष्मीनारायण कीजिए।"

मेरा ध्यान फर्श पर रखी हुई प्लेटों और चमकदार कटोरियों पर था। सामने रखी कोई-कोई प्लेट तो इतनी दूर थी कि झुककर ही उसे उठाया जा सकता था। मैं प्लेटों को गिन रहा था। आलू टमाटर की प्लेट एक, गोभी मटर की दो, तोरी की तीन, लौकी की चार, रायते की पाँच, मीठे रायते की छः, हरी-हरी साग जैसी किसी विशेष सब्जी की सात, छोटी कटोरियों में प्याज का सिरका आठ, चटनी नौ, मीठी चटनी दस, अनारदाने या गुलकन्द जैसी चटनी-सी ग्यारह, अचार बारह, दही तेरह, दाल, चावल और रोटियों से भरा थाल चौदह। घी सब्जियों के ऊपर आ रहा था, दाल में पड़ा घी ऊपर निथर रहा था, रोटियाँ और चावल भी घी से तर-बतर थे। कुछ प्लेटों में ऐसे व्यंजन भी थे जिन्हें मैं पहचान न सका।

मैं सोच रहा था दिल्ली और पंजाब की भयंकर बाढ़ ने वहाँ के गरीब लोगों से एक समय का पूरा भोजन भी छीन लिया। केले के डण्ठल खाकर जीते लोगों को अपनी आँखों से मैं इस बार देख आया हूँ। दिल्ली-शाहदरे की एक उजड़ी बस्ती के

बाहर चारपाई खड़ी करके ऊपर चादरें डालकर रहते लोगों के भोजन को मैंने देखा है—अधपकी दाल पर तैरता पानी और मोटे अनाज की सूखी रोटियाँ। और मनों आलुओं को सड़ते भी लाला हरिहरनाथ के गोदाम में मैंने देखा है—उसी में सड़ रही है मानवता की आत्मा भी।

दामाद साहब ने संकोच से कहा, "इतना सब नहीं खाया जायेगा, कुछ चावल और रोटी निकाल लें।"

लाला हरिहरनाथ बोले, "जरा-सा ही तो है—उसमें से भी निकालने को कहते हैं!"

"नहीं, बेकार जाएगा—कम करवा दें।"

"नहीं जी, ज्यादा नहीं है।"

लेकिन दामाद साहब न माने। आखिर लालाजी ने दरवाजे के पास खड़ी चन्दा से कहा, "थोड़े से चावल निकाल ले।"

चंदा ने चम्मच से मुश्किल से छटाँक भर चावल निकाले।

दामाद साहब बोले, "और निकाल लो, रोटी भी।"

"अजी, बस हो गया," हरिहरनाथ बोले।

"यह रोटी भी निकाल लो। इतना खाया नहीं जायगा। बेकार ही खराब जाएगा," दामाद साहब बोले।

खैर, किसी प्रकार भोजन आरम्भ हुआ। मुझे जोर से भूख लग रही थी। मेरी तरह शायद लाला हरिहरनाथ का भी हाल था। दामाद को खाते देख वह भी खाने पर टूट पड़े। प्लेटें दूर-दूर तक फैली थीं। मैं असमंजस में पड़ा था कि क्या खाया जाय, क्या नहीं। पहली रोटी समाप्त हुई ही थी कि लाला हरिहरनाथ की आवाज सुनाई दी :

"अरे!"

मैंने उनकी ओर देखा, फिर दामाद साहब की ओर। बात समझ में आ गई। दामाद साहब हाथ खींचे बैठे थे।

"खाइये न," हरिहरनाथ बोले।

"जी बस," बड़े मधुर कंठ से दामाद साहब ने कहा।

"आपने तो कुछ खाया ही नहीं। क्या भोजन में कुछ खराबी है?"

"जी नहीं, जितनी इच्छा थी, खा चुका।" और दामाद साहब ने पूरा गिलास पानी चढ़ा लिया।

हरिहरनाथ ने अनुरोध किया, "यह तो चिड़िया का चुगना-सा हुआ। आपने कुछ नहीं खाया। कुछ तो और खाइये।"

मजबूरन दामाद साहब को हाथ नीचा करना पड़ा। उन्हें खाते देख मैं फिर खाने में जुट पड़ा।

दूसरी रोटी समाप्त कर तीसरी की ओर हाथ बढ़ाया ही था कि हरिहरनाथ की

आवाज फिर सुनाई दी : "खाइए न।"

"जी बस, बहुत खा चुका," दामाद साहब बोले।

"अजी कुछ तो···थोड़ा सा।"

"जी बस," दामाद साहब विनीत स्वर में बोले।

भीतर से आवाज आई—"पूरा खिलाना। समधिन यह न कहें कि दामाद बाबू को हमने भूखा भेजा।" आवाज किसी अन्य स्त्री की थी।

ललाइन की आवाज भी सुनाई दी : "कुछ भी तो नहीं खाया।"

लाला हरिहरनाथ भी हाथ खींचे बैठे थे, कौर दाल में सना भात के ऊपर पड़ा था। उन्होंने मेरी ओर देखा और मजबूरन मुझे ही कहना पड़ा, "खाइये, साहब! आपने तो अभी कुछ खाया नहीं। तकल्लुफ की क्या बात है!"

दामाद साहब ने मेरी ओर देखकर कहा, "जी बस, मेरी तो इतनी ही खूराक है।"

अब कोई क्या कहे! हरिहरनाथ हाथ खींचे बैठे थे। वह कैसे खाते जब दामाद साहब ही नहीं खा रहे हों। और जब तीन में से दो भले आदमी न खा रहे हों, तब मैं कैसे खाता रहता? गुस्सा तो दामाद साहब पर बहुत आया, किन्तु मजबूरी थी। सामने प्लेटों में सब्जियाँ, रायते और घी में डूबे फुलके रखे थे। लेकिन खाते कैसे! इतने लम्बे-चौड़े युवक दामाद साहब की तो खूराक ही इतनी थी।

फल यह हुआ कि उनके साथ मुझे भी भूखा उठ जाना पड़ा।

इस अधूरे खाने के बाद पान आदि चबाकर दामाद साहब नीचे बैठक में पलंग पर लेट गये। कुछ देर उनके पास बैठकर मैं ऊपर आकर लेट गया। मैंने भूख को भुलाने का प्रयत्न किया, लेकिन भूख अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रही थी। खाली पेट में हलके-फुलके पतले दो फुलके और भी उछल-कूद मचा रहे थे। मैं नीचे उतर आया। बाहर लाला हरिहरनाथ खड़े थे। मुझे देखते ही पूछा, "किधर चले?"

"जरा कैलाश बाबू से मिल आऊँ," मैंने शान्तिपूर्वक झूठ बोल दिया। और कहता भी क्या!

जल्दी-जल्दी पैर लपकाता मैं बाजार के किसी अच्छे से होटल की खोज में चला। बरेली रोड से होकर सब्जी बाजार और फिर नए बाजार तक कोई ऐसा अच्छा होटल न दिखाई दिया। बरेली रोड और सब्जी बाजार के नुक्कड़ पर एक होटल दिखाई दिया, लेकिन वहाँ इस भय से नहीं गया कि कहीं लाला हरिहरनाथ का कोई परिचित या नौकर आदि न देख ले। इसलिए आगे बढ़ता गया और शीघ्र ही रेलवे बाजार तक जा पहुँचा। यहाँ कई होटल थे, लेकिन इतना अच्छा तो कोई दिखाई नहीं दिया जहाँ मुझ जैसा सफाई-पसंद व्यक्ति खाना खा सकता हो। फिर भी बड़ा चमकदार-सा साइनबोर्ड देखकर एक होटल में घुस गया। इस समय तो किसी प्रकार भूख शान्त करनी ही थी। एक मेज के सामने बैठ मैं बैरा के आने की प्रतीक्षा करने लगा। कोने में बने सब कैबिन भरे थे और उन पर मोटे-मोटे पर्दे लटक रहे थे।

खाना सामने आते ही मैं उस पर टूट पड़ा। अच्छी तरह पेट भरकर खाने के बाद मैंने हाथ खींच लिया। उसी समय मेरे ठीक सामने के केबिन का पर्दा एक ओर हटा और एक भारी डकार कानों में पड़ी। मैंने उस ओर देखा और चौंककर खड़ा हो गया। लाला हरिहरनाथ के दामाद साहब एक हाथ से केबिन का सहारा लिए खड़े मुझे फटी-फटी आँखों से देख रहे थे। उनकी मेज पर चावल-दाल से सना थाल खाली पड़ा हुआ था।

सिलबिल की दाढ़ी

चिरंजीत

●

आकाशवाणी, दिल्ली के 'नया नगर' और 'सिलबिल परिवार' धारावाहिक रूपकों के ख्याति-प्राप्त हँसोड़ लेखक श्री चिरंजीत को अधिकांश साहित्य-प्रेमी 'चिलमन' के कवि और मासिक 'मनोरंजन', 'साप्ताहिक वीर अर्जुन' और साप्ताहिक जनसत्ता' के भूतपूर्व सम्पादक के रूप में ही जानते हैं। प्रायः कहा जाता है कि रेडियो श्रोताओं के प्रिय पात्र 'मास्टर सिलबिल' और 'नन्हेराम' के स्रष्टा कोई और चिरंजीत हैं। परन्तु सचाई यह है कि यह दोरंगा रूप एक ही चिरंजीत का है। आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले 'महाकवि पैरोडी-दास' के हास्य गीतों के लेखक भी यही चिरंजीत हैं। आजकल आप आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र पर नाटक-विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे हैं।

रचनाएँ

'दादी माँ जागी', 'रंगारंग', 'चिलमन', 'मधु की रातें और जिन्दगी' आदि।

आकाशवाणी, नई दिल्ली
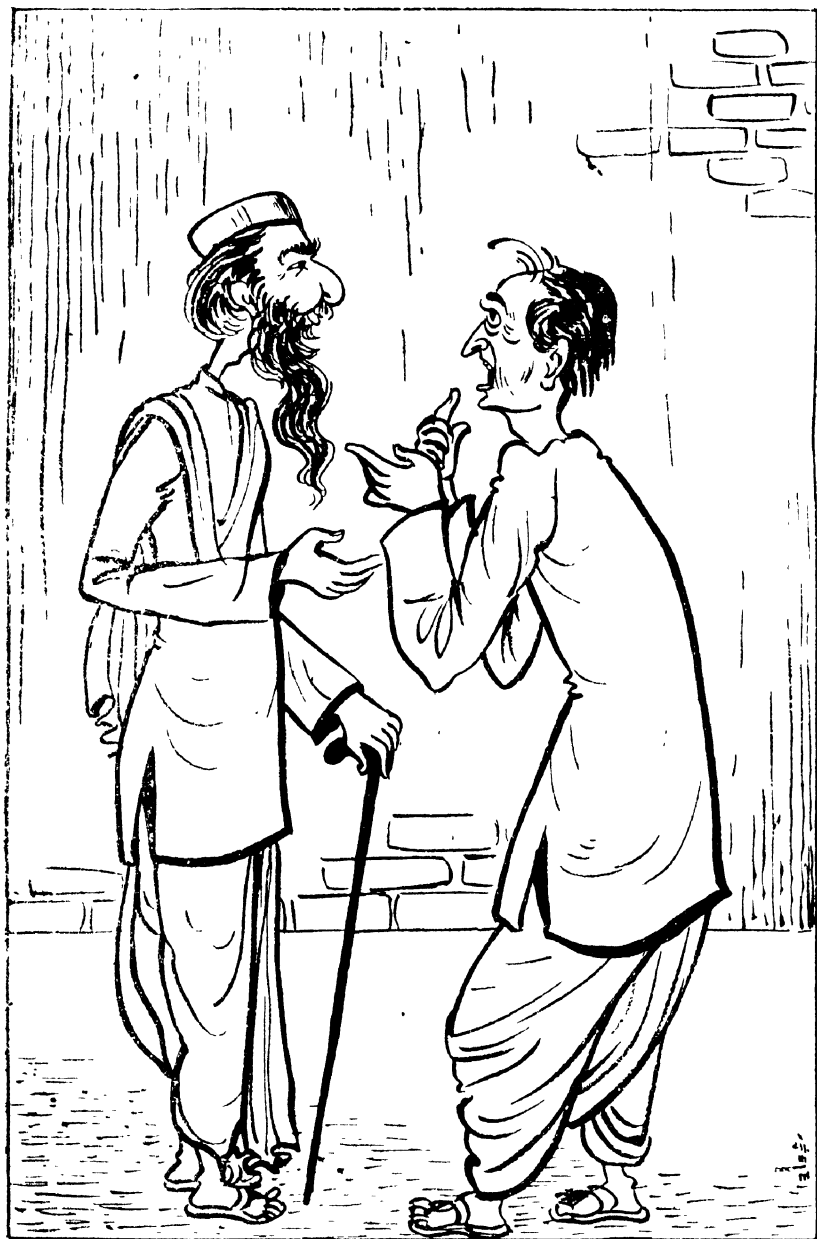
सिलबिल ने ठहाका मारा—'अब पहचाना तुमने !'

मास्टर सिलबिल की दाढ़ी, आश्चर्य है कि बहुत पुरानी न होते हुए भी, ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर चुकी है। पता नहीं कितनी दन्तकथायें और किंवदन्तियाँ इसके साथ जुड़ी हुई हैं। परन्तु मास्टर सिलबिल ने अचानक ही दाढ़ी क्यों बढ़ाई, इसका सही कारण, दन्तकथाओं और किंवदन्तियों के जंगल में काफी छानबीन करने पर भी इतिहासवेत्ता मालूम नहीं कर सके। तो लीजिये, आज हम विश्व-विज्ञान-कोष में एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि करने के उद्देश्य से मास्टर सिलबिल द्वारा दाढ़ी बढ़ाने का सही कारण बताये देते हैं—उनके अभिन्न मित्र अशोक बाबू की प्रामाणिक साक्षी के साथ। अशोक बाबू की प्रामाणिक साक्षी के साथ इसलिये कि एक दिन सिलबिल जी के मुखारविन्द ने दाढ़ी के जंगल से स्वयं प्रकट होकर सबसे पहले उन्हीं के सामने सत्य का उद्घाटन किया था।

बात यों हुई कि अशोक बाबू निजी कामकाज के सिलसिले में चार-पाँच महीने घर से बाहर रहे। जब लौटे, तो एक दिन अचानक एक दढ़ियल से उनका साक्षातकार हुआ। दढ़ियल ने बड़े तपाक से इस प्रकार प्रेमालाप शुरू किया :

"नमस्कार अशोक बाबू।"

"नमस्कार। क्षमा कीजिये, मैंने आपको पहचाना नहीं।"

"पहचाना नहीं! अपने लँगोटिया यार को पहचाना नहीं।"

"हाँ, बिलकुल नहीं पहचाना, क्योंकि मेरा कोई भी यार-दोस्त या सगा-सम्बन्धी दढ़ियल नहीं।"

"अच्छा, अच्छा, मैं समझ गया। तुम मुझे इस लम्बी दाढ़ी के कारण ही नहीं पहचान सके। जरा गौर से मेरे चेहरे की ओर देखो।"

"बिना कहे ही मैं आपको गौर से देख रहा हूँ।"

"अरे भाई क्या गजब कर रहे हो! अपने बरसों के दोस्त श्रीविलास को नहीं पहचान पा रहे।"

अशोक बाबू ने चौंककर दढ़ियल को साश्चर्य सिर से पाँव तक देखा, ठहाका मारा और कहा—"अरे, तो क्या तुम सिलबिल हो? मास्टर सिलबिल!"

सिलबिल जी ने भी ठहाका मारा, "अब पहचाना तुमने।"

अशोक ने पूछा, "लेकिन यार, यह तुमने क्या भेष बनाया है? दशहरे की छुट्टियों में किसी रामलीला मण्डली में तो नहीं भरती हो गये थे?"

"वाह, मैं क्यों किसी मण्डली में भरती होता।"

"तब बताओ तुम्हें यह क्या सूझी? कहीं तिब्बत आदि की यात्रा से तो नहीं

लौटे ? हाँ, हाँ, छिपाओ नहीं। इस दाढ़ी के पीछे जरूर ही कोई गोलमाल है।"

सिलबिल जी हँसे। खैर, दाढ़ी के कारण उनकी हँसी तो दिखाई नहीं दी, हाँ, ही-ही जरूर सुनाई दी। बोले—"तुम रहे आखिर बंगाली के बंगाली ! दिन-रात रसगुल्ले खाते रहने से तुम्हें हर जगह ही गोलमाल नजर आता है। दाढ़ी रखने की इच्छा हुई और मैंने रख ली।"

अशोक बाबू सिलबिल की आदत से परिचित थे। उन्हें सिलबिल की बात पर विश्वास नहीं हुआ। सचाई तक पहुँचने के लिये उन्होंने जिरह शुरू की :

"लेकिन कोई कारण भी तो हो।"

"कारण !"

"हाँ, हाँ, कारण। क्या दमे की शिकायत हो गयी थी ?"

"दमे की शिकायत ?"

"हाँ, कुछ डाक्टर-हकीमों का कहना है कि दाढ़ी रखने से दमे का रोग दूर हो जाता है।"

"खूब ! अन्धे को भी अँधेरे में दूर की सूझी। अरे लाल बुझक्कड़ के ताऊ ! सीधी-सी बात भो तुम्हारी समझ में नहीं आ रही। दाढ़ी मैंने इसलिये रखी है कि इससे आदमी विद्वान, बुजुर्ग और महात्मा नजर आता है।"

सिलबिल जी के इस उत्तर से भी अशोक बाबू की तसल्ली नहीं हुई। उन्होंने जिरह जारी रखी—"सो तो ठीक है, लेकिन यह बात तो महाकवि रवीन्द्रनाथ टाकुर, बर्नार्ड शा, टाल्स्टाय जैसे लोगों पर लागू होती है। तुम तो इस दाढ़ी से पूरे कार्टून नजर आ रहे हो।"

"कार्टून ?"

"जी हाँ, कार्टून, उस वज्र मूर्ख का कार्टून जिसने···"

"जिसने क्या किया था ?"

"रात को वह वज्र मूर्ख दिये की रोशनी में पुस्तक पढ़ने बैठा। पुस्तक में लिखा था कि जिसकी दाढ़ी बहुत लम्बी होती है, वह मूर्ख होता है। उसने अपनी दाढ़ी पर नजर डाली। दाढ़ी वाकई बहुत लम्बी थी। फौरन उसने तय किया कि दाढ़ी की लम्बाई कम करनी चाहिये। आस-पास कैंची कहीं मिली नहीं। उसने दाढ़ी का अग्र भाग दिये की लौ पर रख दिया और वह सारी ही जल गयी।"

"तो अशोक, तुम मुझे वैसा ही वज्र मूर्ख समझते हो ?"

"न समझने का कोई कारण ही नहीं। यह ठीक है कि दाढ़ी विद्वता, बुद्धिमत्ता, महानता और बुजुर्गी की निशानी है, लेकिन जब सिर में भुस भरा हो तो यह निशानो क्या करेगी ?"

"खैर, दोस्त अगर मैं तुम्हें दाढ़ी रखने का इतिहास बताऊँ तो तुम्हें यह राय बदलनी होगी।"

"तो फिर सुनाओ"—कहते हुए अशोक बाबू को न जाने क्या सूझी कि झट

आगे बढ़कर हाथ से सिलबिल की दाढ़ी नापनी शुरू की और बोले—"दो इंच कम दो फुट, और घनी भी है।"

सिलबिल को यह हरकत बुरी लगी। हाथ झटककर उन्होंने अपनी दाढ़ी छुड़ाई। अशोक बाबू हँस पड़े, बोले—"तुम अपनी बात कहो।"

सिलबिल जी ने गम्भीर होकर कहना शुरू किया—"तुम लाला खैरातीशाह को तो जानते हो न ?"

अशोक बाबू बोले—"हाँ, खूब अच्छी तरह जानता हूँ। लोगों को कर्ज दे-दे कर ब्याज से ही वह लखपति बन गया है। मौत से बचना आसान है, लेकिन कर्ज लेकर कोई खैरातीशाह से नहीं बच सकता।"

सिलबिल ने कहा—"साल भर से कुछ ऊपर हुआ मुन्नू के यज्ञोपवीत संस्कार के लिये मैंने उससे दो सौ रुपये कर्ज लिये थे। तुम तो जानते ही हो कि सौ रुपल्ली तनखा से घर की गुजर ही मुश्किल से होती है, कर्ज कहाँ से चुकाता ? जायदाद कोई थी नहीं कि लालाजी उससे वसूल कर सकते। रकम डूबती देखकर लालाजी घबराये और लगे मुझे परेशान करने। कभी स्कूल में चले आ रहे हैं, कभी घर में, तो कभी बाजार में पकड़कर खड़े हो गये। इससे मैं भी परेशान हुआ और मैंने लालाजी को गच्चा देना शुरू किया। जहाँ वह पहुँचे, मैं गायब। कोई साल भर यही लुकाछिपी चलती रही। एक दिन छुट्टी थी। पता चला कि लालाजी घर ही पर छापा मारनेवाले हैं। लालाजी ने ड्योढ़ी में कदम रखा ही था कि मैं घर की दीवार फाँदकर पिछवाड़े वाली गली में कूद गया। वहाँ से भागा तो सीधा नाई की दुकान में ही पहुँचकर दम लिया।

"उस समय नाई की दुकान पर और कोई नहीं था। मैं हाँफता हुआ धम से कुर्सी पर बैठ गया। कुछ देर दम लेने के बाद मैंने नाई से दाढ़ी बनाने को कहा। अभी नाई ने साबुन लगाना शुरू ही किया था कि बाहर दरवाजे पर कुछ आहट हुई। मैंने चौंककर परदा हटाया तो देखता क्या हूँ, साक्षात लाला खैरातीशाह खड़े हैं।"

"और तुम साबुन से पुता मुँह लेकर सिर पर पाँव रखकर भागे, यही न ?" अशोक बाबू ने हँसते हुए कहानी का अन्त करना चाहा।

मास्टर सिलबिल बोले—"नहीं भागने का कोई रास्ता ही नहीं था।"

"तो फिर क्या किया ?" अशोक ने उत्सुकता से पूछा।

सिलबिल ने अपनी लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहना शुरू किया—"किया कुछ नहीं। उस दिन लाला के साथ जो बातचीत हुई, उसे ज्यों का त्यों तुम्हें सुनाये देता हूँ :

"मैंने कुर्सी से उठते हुए कहा—'लालाजी'....'

"लालाजी ने रास्ता रोककर कहा—'सिलबिल, अब तुम बचकर कहीं भाग नहीं सकते। बाहर मेरे लठैत कारिंदे खड़े हैं। डेढ़ साल से तुम मुझे गच्चा दे रहे हो। लाओ, निकालो मेरे दो सौ रुपया। [illegible] किया।'

"लेकिन लालाजी, यह कोई रुपये माँगने की जगह है।'

"स्कूल में तुम हाथ नहीं आते, घर में गच्चा दे जाते हो, बाजार में तुम निकलते नहीं, आज बड़ी मुश्किल से पकड़ में आये हो।'

"वाह लाला जी, आप तो ऐसे कह रहे हैं जैसे मैं कोई भागा हुआ दस-नम्बरिया हूँ। मैं दाढ़ी बनवाकर घर पहुँच रहा हूँ, वहीं बात होगी।'

"अब मैं तुम्हारे झांसे में नहीं आऊँगा। पैसे अभी निकालो, वरना···' लालाजी ने धमकी दी।

"वरना क्या ?'

"मेरे दोनों लठैत बाहर खड़े हैं। अभी पकड़कर थाने ले चलेंगे।'

"ओहो, आपको पैसे चाहिएँ, जान तो नहीं चाहिए।'

"तो निकालो पैसे, अभी ! इसी वक्त !'

"लालाजी, आप भी कमाल कर रहे हैं ! मुझे दाढ़ी तो बनवा लेने दीजिए।'

"अच्छा-अच्छा, जब तक तुम दाढ़ी न बनवा लोगे मैं रुपये नहीं माँगूगा।'

लाला के मुँह से यह शब्द निकले और मैंने झट नाई का हाथ पकड़कर कहा—"नाई भैया, सुना तुमने ?"

"क्या ?" नाई ने चौंककर पूछा।

"लालाजी ने अभी कहा है कि जब तक मैं दाढ़ी न बनवा लूँ, यह मुझसे रुपये नहीं माँगेगे। क्यों लालाजी, आपने यही कहा है न ?" मैंने कुर्सी से उठते हुए कहा।

"हाँ-हाँ, यही कहा है। जब दाढ़ी बनवा लोगे तभी रुपये माँगूगा"—लाला ने दरवाजे को रोकते हुए कहा।

"नाईराम, सुना तुमने ! लालाजी की बात के तुम गवाह हो।"

"और भाई अशोक, नाई ने ज्योंही हामी भरी, मैंने झट तौलिये से मुँह का साबुन पोंछा और नाई और लालाजी को अवाक् छोड़कर बिना दाढ़ी बनवाये, घर का रास्ता लिया। उस दिन से लेकर आज तक मैंने दाढ़ी नहीं बनवाई। लाला बात हार चुका है। जब तक मैं दाढ़ी न बनवा लूँ वह मुझसे अपने रुपये नहीं माँग सकता। बस, यही है इस दो इञ्च कम दो फुट लम्बी दाढ़ी का इतिहास।"

दाढ़ी रखे जाने का यह अद्भुत इतिहास सुनकर अशोक बाबू के मुँह से बेसाख्ता निकला—"सिलबिल जी, मान गया तुम्हें मैं। तुम तो एकदम जीनियस हो !"

देवर की मिठाई

चिरंजीलाल पाराशर

●

श्री चिरंजीलाल पाराशर का जन्म जिला बिजनौर के रतनगढ़ ग्राम में हुआ था। साहित्यिक जीवन दिल्ली के साप्ताहिक पत्र 'वीर-अर्जुन' के 'गांडीव के तीर' कॉलम से प्रारम्भ हुआ। प्रथम प्रकाशित कहानी कायदे-आज़म जिन्ना की मृत्यु पर 'कायदे-आज़म की स्वर्ग-यात्रा' थी। अब तक सौ के लगभग कहानियाँ लिख चुके हैं जो हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। आजकल दैनिक 'नव-भारत टाइम्स' में हिन्दी-रीडर के रूप में कार्य कर रहे हैं।

रचनाएँ

'महिला शासन', 'देवर-भाभी', आदि।

१११, डासना गेट, गाजियाबाद

दिल्ली तक नजीर ने जी-जान से भाभी की पेट-पूजा की

पर्दा भी कैसी अद्‌भुत प्रथा है ! ऐसा लगता है कि इस उपयोगी प्रथा का आविष्कार किसी भले आदमी ने किसी दिन फुर्सत में किया होगा।

पर्दे के अन्दर चाहे पाप कीजिए अथवा पुण्य, सिवा अल्ला मियाँ के कोई दूसरा देखने वाला नहीं और अल्ला मियाँ चूँकि किसी से किसी की बात कहने जाते नहीं, इसलिए अल्ला मियाँ की इस शराफत का अनुचित लाभ उठाकर लोग पर्दों के अन्दर मनमानी कारस्तानी करते रहते हैं। ऐसा बहुत कम होता है, जब पर्देवालों का भंडा-फोड़ होता हो और वे उलटे फँसते हों।

बशीर भाई जब दूसरी बार अपनी बीवी बानू को मायके से लिवाकर ला रहे थे तब उनके ममेरे भाई नजीर ने भी उनसे स्टेशन पर मिलने को लिखा था। स्टेशन पर नजीर को देखकर बशीर मियाँ बड़े खुश हुए।

उन्होंने आवश्यक वस्तु की तरह बानू को नजीर के हवाले किया और स्वयं सामान लेकर तेजी से चले और एक डिब्बे में घुस गए।

गाड़ी में भीड़ बहुत अधिक थी। किसी तरह बशीर ने सामान ऊपर की सीट पर रखा, नजीर मियाँ भी बानू को लेकर डिब्बे की ओर लपके। बानू डिब्बे के दरवाजे से लिपटी जा रही थी। इसलिए नजीर मियाँ को कुछ देर बाहर ही रुकना पड़ा।

डिब्बे के अन्दर बैठे यात्रियों ने दोनों बुर्केवालियों को नारी-सम्मान का ध्यान करते हुए सरका-सरकाकर स्थान दे दिया। बशीर मियाँ नीचे जगह न होने के कारण उचककर ऊपर की सीट पर बैठ गए। कुछ देर बाद नजीर भाई भी इधर-उधर से निकलकर आए और दोनों महिलाओं के सामने खड़े हो गए।

नजीर खुश-किस्मत थे या सामने वाली कतार के यात्री शरीफ थे, यह तो राम जाने, लेकिन जगह उन्होंने नजीर को भी दे दी।

नजीर के बाद एक बड़े मियाँ भी डिब्बे में चढ़े। यह पीछे वाली बुर्केवाली के साथ थे। जगह न मिलने से वह खड़े होकर दीन-दृष्टि से बैठे हुए यात्रियों को देखने लगे।

इन पर रहम सामने की ऊपरवाली सीट पर बैठे बशीर को आया, बोले—"चचा, इधर निकल आओ, उधर से होकर ऊपर आ जाओ—बड़े मजे में रहोगे मेरे पास।"

बड़े मियाँ बशीर को दुआएँ देते हुए आगे बढ़े और—"खुदा तुझे सलामत रखे बेटा—बचना जरा बच्चे, पैर हटाना जरा मियाँ" कहते-कहते बशीर के पास सीट पर चढ़ गए।

अब स्थिति यह हो गई कि बशीर भाई और बड़े मियाँ तो ऊपर की सीट पर जा लेटे और नजीर को बुर्केवालियों के सामने जगह मिल गई; लेकिन इस गड़बड़झाले में नजीर यह भूल गए कि अपनी असली भाभी कौन है ?

कई बार उन्होंने दिमाग पर जोर दिया। कई बार दोनों की ओर जी भरकर देखा लेकिन भाभी का मसला हल न हुआ। यह फैसला वह कर ही न पाए कि अपनी भाभी इधर वाली है या उधर वाली है। शादी में वह आए नहीं थे और कभी देखने का मौका नहीं मिला था। दूसरे दोनों के बुर्के एक-से थे। सारा लिबास और हुलिया बुर्के के अन्दर बन्द था। अगर जिस्म का कोई भाग बाहर था तो हाथों के गोरे-गोरे पंजे थे या सैंडिलों से युक्त पैर। इन दोनों ही चीजों से भाभी की पहचान होनी कठिन थी। तब पता लगता तो कैसे लगता, और पता लगाना था जरूरी, क्योंकि अपनी भाभी की सेवा का उन्हें यही तो अवसर मिला था, यही तो मौका था, जब वह अपनी लाई सौगातें भाभी के सुपुर्द करते।

अतः बहुत सोच-समझकर नजीर ने यह तय किया कि अगले स्टेशन पर भाभी से चाय-पानी के लिए पूछा जाए, जो अपनी भाभी होगी वह हाँ-हूँ कर देगी, अगर हाँ-हूँ भी न करेगी तो कम-से-कम गर्दन ही हिला देगी।

अगला स्टेशन आया, डिब्बा काफी खाली हो गया। अपना मुँह दोनों की ही ओर किए हुए आहिस्ता से नजीर ने पूछा—"भाभीजान, चाय पिएँगी क्या ?" लेकिन जवाब तो जवाब, वहाँ तो दोनों में से किसी ने जुम्बिश तक न की।

नजीर मियाँ बड़े चकराए। अब कैसे पता लगाया जाए। न किसी ने जवाब से हाँ-हूँ ही की और न ही गर्दन हिलाई, पता लगे तो कैसे लगे।

कुछ देर तक सोचने के बाद नजीर को दूसरी युक्ति सूझी, उन्होंने चाय और बिस्कुट मँगवाए। चाय और बिस्कुटों की प्लेट अपने हाथ में लेकर नजीर ने दोनों की ओर इस तरह बढ़ाई ताकि असली भाभी ले ले। साथ ही नजीर बोले—"भाभीजान, नाश्ते का टाइम है, नाश्ता कीजिए।"

दो-चार मिनट तो फिर भी खामोशी ही रही लेकिन कई बार दरख्वास्त करने पर नजीर का नाश्ता मंजूर हुआ। दोनों बुर्केवालियों में से एक का हाथ आगे बढ़ा उसने दोनों बर्तन ले लिए और कुछ देर बाद साफ करके सीट के नीचे रख दिए।

नजीर मियाँ को अब तसल्ली हो गई। उन्हें असली भाभी का पता चल गया। वह समझ गए कि उधर वाली अपनी भाभी है।

चाय के बाद नजीर ने भाभी को पान पेश किए। उनके पान भी उसी तरह मंजूर कर लिए गए जिस तरह की गई थी चाय।

गाड़ी के इस स्टेशन से छूटने पर नजीर भाभी की ओर मुँह करके बोले—"देखिए, जब मुझे भाई जान की शादी का पता चला था, तभी मैंने यह अँगूठी आपको सौगात देने के लिए खरीदी थी। बदकिस्मती से तब न आ सका, आज खुशकिस्मती से मुझे आपको अपनी भेंट देने का मौका मिला है, लिहाजा तसलीम की जाए,

इल्तजा है।"

भाभी पहले तो कुछ हिल-डुलकर ही रह गईं, उसके बाद उनका हाथ आगे बढ़ा—अँगूठी स्वीकार कर ली गई।

अँगूठी की भेंट के बाद, नजीर ने गले की एक और चीज भेंट की और उसके बाद भेंट किया जनाने सूट का रेशमी कपड़ा।

दूसरा स्टेशन आया। नजीर को भाभी की भूख के ख्याल ने सताया। वह प्लेटफार्म पर उतरे और सेब-संतरे-मौसम्मियाँ खरीद लाए। फलों के थैलों को देते हुए नजीर मियाँ बोले—"लीजिए भाभीजान, खाने का वक्त है। यहाँ की मिठाइयाँ और पूरियाँ तो अच्छी नहीं होतीं, अलबत्ता फल ठीक होते हैं। वैसे, यह थोड़ी-सी मिठाई भी ले आया हूँ। धीरे से भाभी का हाथ उठा, उसने थैला नजीर के हाथ से लिया और बुर्के में गायब हो गया। जब गाड़ी चली, तब मुँह फेरकर भाभी ने उनका सफाया शुरू कर दिया। अगले स्टेशन पर नजीर मियाँ को भाभी की प्यास का ख्याल आया तो शर्बत बनवाकर लाए। भाभी ने उससे भी परहेज नहीं किया।

अभिप्राय यह है कि दिल्ली तक नजीर ने जी-जान से भाभी की पेट-पूजा और भेंट-पूजा की। दिल्ली आने पर नजीर उतरे, बशीर उतरे और उतरीं दोनों बुर्केवालियाँ। सबसे बाद में बड़े मियाँ उतरे।

बड़े मियाँ अपनी सवारी को लेकर दूसरे प्लेटफार्म पर चल दिए। उन्हें आगरे जाना था। ये तीनों अपने घर की तरफ चल दिए।

घर आकर बशीर ने बीवी से कहा—"आज तो नजीर ने तुम्हारी खातिरदारी में कमाल ही कर दिया। यह ला, वह ला, यह दे, वह दे।"

"मेरी खातिर कैसी?" आश्चर्य से बानू बोली।

बशीर बोले—"रहने दो, काहे को बनती हो! हम क्या देख नहीं रहे थे, जब नजीर मिठाई के थैले-पर-थैले ला रहे थे। नहीं ला रहे थे, कह दो?"

"ला रहे थे, मगर मेरे लिए तो नहीं ला रहे थे। जिसके लिए ला रहे थे, ला रहे थे।"

"अच्छी बात है। अभी पुछवाए देता हूँ नजीर से!" बशीर बोले।

"हाँ-हाँ, एक बार नहीं हजार बार। कसम ले लो, अगर उन्होंने मुझे एक गिलास पानी भी दिया हो तो?"

"तो बुलाऊँ?" बशीर ने पूछा।

"हाँ-हाँ, अभी बुला लो," बानू ने जवाब दिया।

बशीर ने आवाज दी—"मियाँ नजीर भाई, जरा यहाँ तो तशरीफ लाइए।"

नजीर आए। नजीर को देखकर बशीर मियाँ बोले—"तुम बड़े खुश्क आदमी हो। रास्ते भर तुमने अपनी भाभी से पानी तक के लिए नहीं पूछा। पैसे नहीं थे तो हमसे माँग लेते या इन्हीं से माँग लेते। अल्ला कसम नजीर यह तो तुम्हारी बड़ी ज्यादती है।"

नजीर ने पहले तो अपने ऊपर लगाई गई चार्ज-शीट चुपचाप सुनी। उसके बाद बोले—"भाभीजान से पूछिए, पहले स्टेशन पर मैंने इन्हें चाय पिलाई, बिस्कुट खिलाए। दूसरे स्टेशन पर फल और मिठाई खिलाई और तीसरे स्टेशन पर रुहअफजा का शर्बत पिलाया।"

"इनसे कहिए कि, अभी तो अंगूठी, गले की चीज और सूट का रेशमी कपड़ा, रुक क्यों गए, बाकी है, कह दें कि वे चीजें भी हमें दी गई थीं," बानू ने पीठ फेरे-फेरे कहा।

"अरे आपको नहीं तो और किसको देता मैं?"

"पूछिए क्या सच कहते हैं, क्या यह सब कुछ इन्होंने मुझे दिया था।"

"हाँ-हाँ, चाहे काबे की तरफ को हाथ उठवा लें," नजीर बेताबी से बोले। बशीर दोनों की बातें सुनकर हैरान थे।

"लेकिन वे चीजें तो इनकी अपनी भाभी ले रही थी। उसने मुझे तो कुछ भी नहीं दिया। मैं तो सोच रही थी कि वह शायद मुझसे भी कुछ खाने-पीने को पूछे लेकिन उसने तो मुझे एक घूँट शर्बत तक के लिए नहीं पूछा।" बानू ने बशीर की ओर देखते हुए कहा।

"तो क्या मेरी सब चीजें वही ले गई?" नजीर का मुँह उतर गया।

"जी हाँ, ले ही जाती, आप दे ही इस ढंग से रहे थे।" अब की बानू ने नजीर पर अपनी निगाह डालकर जवाब दिया।

बानू की बात सुनकर बशीर ने कहा—"बानू, क्या तुम्हारा दिमाग खराब हो गया था। तुम्हें यह ख्याल नहीं आया कि जब नजीर हमारे साथ था, तब उसकी दूसरी भाभी कहाँ से आ टपकी।"

"मुझे क्या पता था, मैंने तो समझा कि रास्ते में इन्हें कोई अपनी भाभी मिल गई है, इसलिए उसकी खातिरदारी कर रहे हैं। दूसरे वह अगर अनजान थी तो पराए माल पर कैसे हाथ साफ करती रही? ताज्जुब है।"

खैर, जो होना था वह तो हो ही गया, लेकिन नजीर मियाँ का चार-पाँच दिन का दिल्ली का प्रोग्राम बेमजा हो गया। चीजें तो गईं ही, साथ में हर समय बानू की शरारत-चुटकियों से वह झेंपता ही रहा। जब कभी कोई चीज लाता, बानू यही कहकर मजाक उड़ाती—"अपनी उसी भाभी को दो, वही तुम्हारी असली भाभी है।"

नजीर को दिल्ली से मेरठ आए पूरे दो वर्ष गुजर गए। इस बीच में उनकी शादी भी हो गई, लेकिन बशीर और बानू उनकी शादी में न जा सके।

एक बार बशीर ने नजीर को लिखा कि वह फलां दिन उसके घर पहुँच रहे हैं। नजीर उसी दिन ससुराल से सलमा को विदा कराने चले गए। वक्त की बात उधर से नजीर सलमा को विदा कराकर ला रहे थे और इधर से बशीर बानू को किसी रिश्तेदार से मिलाकर ला रहे थे।

हापुड़ आने पर नजीर सलमा को जनाने डिब्बे में चढ़ाकर खुद मर्दाने डिब्बे

में जा बैठे। गाड़ी चली। सलमा बानू के पास ही बैठी थी। दोनों के बुर्के उठ गए और बातें होने लगीं। बातों का सिलसिला इधर-उधर से, चलते-चलते देवरों पर आ गया। सलमा बोली—"बहन बानू, अगर अल्ला मियाँ किसी को लड़की बनाए और उस लड़की को किसी की बीवी भी बनाए तो अपनी रहमत से इतना सलूक तो कम-से-कम और उसके साथ कर दे कि जिस घर में उसे बीवी बनाकर भेजे उस घर में दो-चार लड़के उसके देवर बनाकर उसके स्वागत के लिए और भेज दे। हर औरत के लिए आजकल देवर उतना ही आवश्यक है, जितना पाउडर का डिब्बा, पाउडर का डिब्बा तो खैर, फिर महँगा भी आता है, लेकिन देवर तो बिलकुल बे-दाम का गुलाम होता है। बस, कभी-कभी गरीब की तरफ देखकर टेढ़ी चितवन से मुसकरा दो। फिर उससे चाहे जूतियाँ उठवा लो। कोई एतराज नहीं, कोई इन्कार नहीं। न उसे बिगड़ने की आदत होती है, न रूठने की जरूरत महसूस करता है।"

देवर के चरित्र का विस्तृत चित्रण करते हुए सलमा ने आगे कहा—"इतने पर भी यदि खुदा न करे कभी उसका दिमाग खराब भी हो जाए, वह रूठ भी जाए तो पति की तरह, पति के इस छोटे भाई के हाथ-पैर जोड़ने की तो कतई जरूरत नहीं पड़ती। अगर कहीं पड़ा हो तो थोड़ा गुदगुदा दो, बैठा है तो जरा-सा मुँह बना दो। बस, इतने से ही उसको तसल्ली हो जाती है, देवर देवता खुश हो जाते हैं और अपनी पुरानी नौकरी पर ईमानदार नौकर की तरह दस्तबस्ता हाजिर हो जाते हैं। बाजार से चाट मँगाओ, खाओ। लाने वाला लाए, खानेवाला खाए और मजा यह है कि दीवारों तक को पता न चले। सच कहती हूँ जिन औरतों के पास देवर-रूपी खिदमतगार नहीं होता, वे गरीब एक-एक पैसे की चाट के लिए तरसा करती हैं।"

"तेरे कितने देवर हैं ?" बानू बोली।

"एक भी नहीं।" सलमा ने जवाब दिया।

"तब तुझे देवरों की दुनिया का पता कैसे चला ?" बानू ने फिर पूछा। सलमा ने हँसकर जवाब दिया—"रिश्तेदारियों में ही बहुत से देवर-भाभी देखने को मिलते हैं, लेकिन देवर की खातिरदारी का पता तो बस यों ही एक दिन चल गया और बड़े मजेदार ढंग से चला।"

"पूरी बात बताओ," बानू ने जिद की।

सलमा ने कहा—"बात यह है कि तकरीबन दो साल हुए मैं मुरादाबाद से मामूजान के साथ आगरा जा रही थी। इत्तफाक से उसी गाड़ी में एक दुल्हन साहबा अपने देवर के साथ सफर कर रही थीं। बुर्के में लिपटी, हया-शर्म की गठरी बनी। गाड़ी में उस वक्त बड़ी भीड़ थी। वह दुल्हन साहबा मेरे आगे-आगे चढ़ीं और मैं पीछे-पीछे चढ़ी। देवर साहब उनके पीछे थे। मेरे मामूजान ऊपर की सीट पर जा बैठे। उनके देवर साहब जो अक्ल से जरा बेवक़ूफ थे, हमारे सामने बैठे।

"बस बहन, जब हम दोनों बुर्केवाली बैठ गईं तब देवर मियाँ चकरा गए। क्योंकि हम दोनों का बुर्का एक-सा था लिहाजा उन्हें यही पता नहीं रहा कि उनकी

भाभी है कौन-सी और मुझे ही अपनी भाभी समझने लगे। अपनी भाभी समझकर दूसरे स्टेशन से ही उन्होंने जो खातिरदारी शुरू की है तो तबीयत खुश हो गई। मेरा दिल यही कहता था—या अल्ला देवर हो तो ऐसा हो।"

नजीर वाली घटना बानू की आँखों के सामने घूम गई और वह उत्सुकता से बोली—"अरे देवर की खातिरदारी क्या? भाभी बनकर तुम्हें चाट-पकौड़ी खाने को मिल गई होगी।"

सलमा बोली—"अरे नहीं बहन, भाभी बनाई कि एक तो मिली अँगूठी, एक मिली गले की चीज और एक मिला सूट का कपड़ा।"

सलमा को टोककर बानू बोली—"हैरत है, एक पराए मर्द से तुमने इतनी भेंटें ले लीं?"

सलमा ने कहा—"हर्ज क्या था इसमें! उनकी भाभी तो थी बेवक़ूफ़, चुपचाप बुत की तरह बैठी थी। गरीब ने उसके इस काम में जरा भी रुकावट नहीं डाली। सिर्फ टुकर-टुकर देखती रही। मैंने सोचा—चलो थोड़ी देर के लिए मैं ही भाभी बन लूँ।"

"और हाँ, ये भेंटें देने के बाद उन्होंने तुम्हें मिठाई और फल भी तो खिलाए थे? और रुह-अफजा का शर्बत भी पिलाया था?" बानू ने कहा।

सलमा ने कुछ याद-सा किया, बोली—"हाँ-हाँ, मगर तुम्हें क्या पता? तुम क्या नजूमी हो?"

बानू ने कहा—"नजूमी नहीं, वह माल तो मेरे देवर का ही खा रही थीं तुम।"

"तुम्हारे देवर का?" सलमा ने आश्चर्य से पूछा।

"बिलकुल मेरे देवर का?"

अब सलमा सिटपिटाई, क्योंकि वह दो सोने की चीजों का लेना भी स्वीकार कर चुकी थी, अतः बोली नहीं। सलमा का मुँह उतर गया था।

"मैं तुम्हें हर वह स्टेशन बता सकती हूँ, जहाँ उन्होंने तुम्हें खिलाया-पिलाया और यह भी कि क्या-क्या? इससे ज्यादा और कोई सबूत चाहती हो?"

सलमा अब निरुत्तर थी, धीरे से बोली—"तो वह तुम्हारे देवर थे?"

"जी हाँ, वह मेरे ही देवर थे," बानू ने जवाब दिया।

"तब मैं वे चीजें लौटा दूँगी—मगर जो खा चुकी उसका क्या करूँ?"

"खैर, जो खा लिया सो खा लिया, लेकिन देवरों का माल खाना चाहिए नहीं—खासकर दूसरे के देवरों का।" बानू ने सलमा को उपदेश दिया। सलमा ने कान पकड़कर तोबा की कि वह अब भविष्य में किसी के देवर की कोई चीज नहीं खाएगी और खास कर बानू के देवर की तो कभी भी नहीं। फिर उसने जेवर का बक्स खोलकर अँगूठी और गले की चीज बानू को दे दी।

मेरठ आने पर पहले नजीर मियाँ जनाने डिब्बे पर आए। सलमा को उतारा और घर चल दिए। कुछ देर बाद बशीर आए और वह बानू को लेकर नजीर के घर चल दिए।

थोड़े आगे-पीछे दोनों घर पहुँचे। अपना सामान जल्दी से पटक-पटकाकर नजीर मियाँ बाहर आए और बड़े अदब के साथ बानू को लेकर घर के अन्दर चले। अन्दर जाकर उन्होंने सलमा से कहा—"यह तुम्हारी जिठानी हैं।"

दोनों ने एक दूसरे को देखा और अचम्भे में रह गईं। सलमा धीरे से बोली—"ओह, आप तो देवर वाली हैं!"

प्रति उत्तर में बानू ने कहा—

"जी, और तुम मिठाई खाने वाली हो।"

दोनों के इस पारस्परिक अभिनन्दन से नजीर बोले, "क्या मामला है?"

"पहले मिठाई खिलाओ तो बताऊँ," बानू ने कहा।

नजीर घर में लौटकर गए और एक तश्तरी लेकर उसमें मिठाई भर लाए। मिठाई की तश्तरी बानू के सामने रखकर नजीर ने कहा—"अब तो बता दो।"

नजीर की बात का जवाब न देकर बानू ने सलमा से कहा—"लो खाओ।"

"तुम्हारे देवर की मिठाई मैं नहीं खाती," सलमा ने जवाब दिया।

बानू ने हँसकर कहा—"हमारे देवर की मिठाई खाने की तो तुम्हारी पुरानी आदत है।"

सलमा को झेंपता देखकर बानू ने कहा—

"नजीर मियाँ, तुम्हारी गाड़ी की मिठाई हलाल हो गई। आज पकड़ी गई है, यह।"

"मैं समझा नहीं," नजीर ने कहा।

"अरे मियाँ, यह वही हैं तुम्हारी गाड़ी की मिठाई खानेवाली। तुमने इतने दिन तक इन्हें नहीं पहचाना और मैंने रास्ते में ही पहचान लिया। लो, अब तो इन्हें तुम ही मिठाई खिलाओ। तुम्हारे हाथ से मिठाई खाने का इन्हें चस्का लग गया है।"

"कह तो दिया तुम्हारे देवर की मिठाई अब नहीं खाएँगे," इतना कहकर सलमा हँसती हुई अन्दर भाग गई।

बिजली चमकने का रहस्य

जगदीशनारायण माथुर

●

श्री जगदीशनारायण माथुर का जन्म सन् १९३३ में हुआ था। सन् १९५५ में अलीगढ़ विश्वविद्यालय से भौतिक-शास्त्र में एम० एस-सी० कर देहरादून के डी० ए० वी०-कालिज में प्राध्यापक हो गये। अभी कुछ वर्ष से ही लिखना शुरू किया है। किन्तु इधर आप बड़ी तेजी से लिख रहे हैं। हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

आजकल आप तीन वर्ष के लिए रिएक्टर फिज़िक्स में रिसर्च करने के लिये जर्मनी गए हुए हैं।
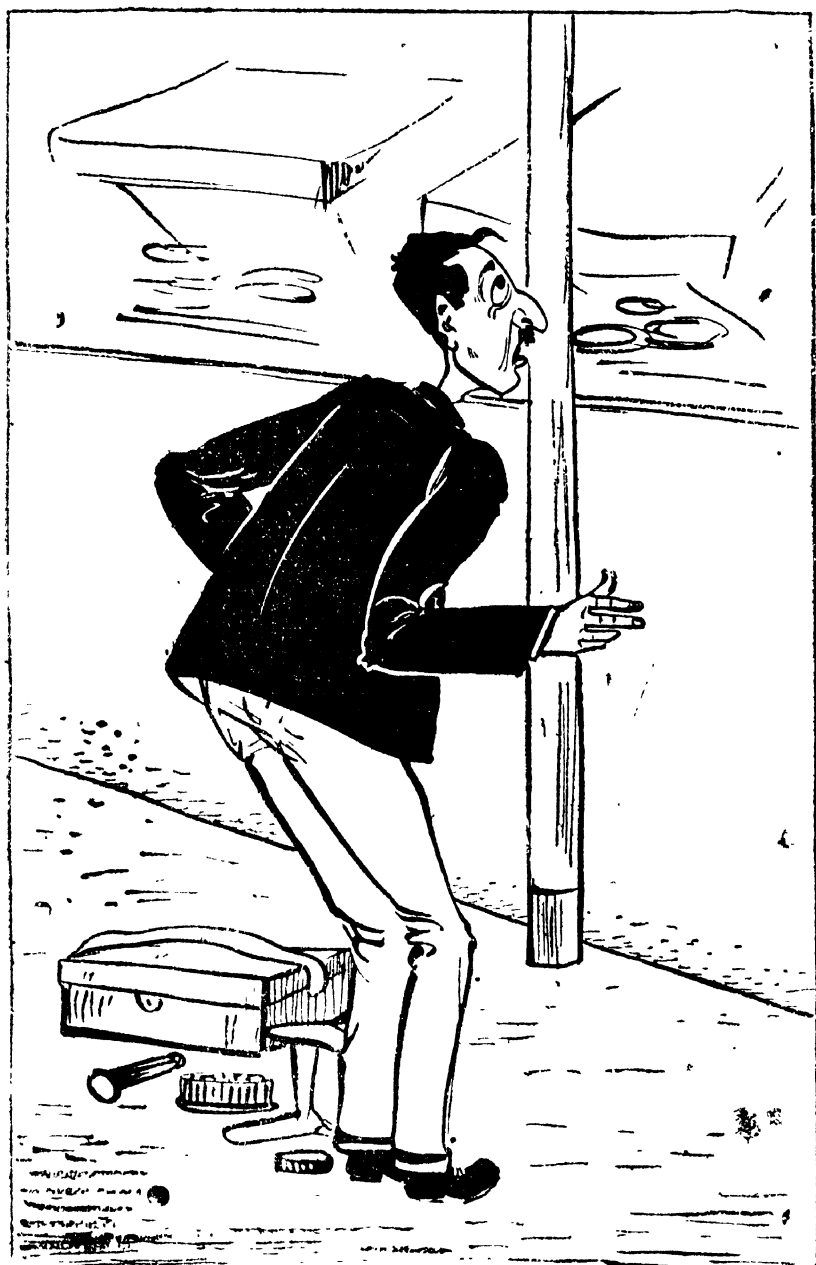
इन्तजार करते-करते इन्तजार की हद हो गई

परवेज ने पूछा, "आप लोग जानते हैं दार्शनिक की उत्पत्ति कैसे हुई ?"
सबने गरदन हिला दी।

"दार्शनिक बनाने से पहले भगवान् ने भैंस बनाई थी, ऐसा कहीं पढ़ा है।"

नहकत ने कहा, "हाँ, हाँ, परवेज आपा, मैंने भी यह कहीं पढ़ा था।"

जिस पर यह व्यंग्य था यानी मुझ पर, मैं सोफे पर यों सिकुड़कर बैठ गया जैसे हमला करने से पहले चीता बैठता है। यह मेरा अपना ही विचार है कि मैं ऐसा बैठा था। यह तो मेरी समझ में आ ही गया था कि अब के मुकाबला बराबर वाले से पड़ा है। यद्यपि बाद में मेरी यह धारणा बदल गई थी।

सलीम बोला, "बात यह है परवेज बहन, कि यह लड़कियों में बैठने के आदी नहीं हैं।"

"अच्छा तो इन्हें मनुष्यों की बस्ती में आये अभी थोड़ा ही समय हुआ है।"

"तुम लोगों के बीच तो अच्छा-खासा आदमी भी"

"क्या दार्शनिक अच्छा-खासा खैर जाने दीजिए," नहकत ने प्याले में चाय उड़ेलते हुए कहा।

सलीम ने मेरा साथ दिया। बोला, "उसी पुस्तक में यह भी लिखा है कि दार्शनिक बनाने से पहले भगवान् ने भैंस बनाई थी। पर भैंस की बुद्धि बनाने के बाद स्त्रियों की बुद्धि बनाई थी।"

मैंने कहा, "हाँ, हाँ, सलीम भाई, मैंने भी यह कहीं पढ़ा था।"

"शुक्र है खुदा का दार्शनिक महोदय बोले तो !" यह परवेज थी।

बात यह थी कि कालिज की बीस दिन की छुट्टियाँ थीं। मौसम में जाड़े की तरफ बढ़ने पर भी गरमी थी। घर से बार-बार इन छुट्टियों पर घर आने के लिए पत्र आ रहे थे। कारण क्या था, यह मैं जानता था और इसी कारण घर और न जाना चाहता था। एक दिन मैंने तंग आकर सलीम से कहा, "सलीम भाई, क्यों न कहीं बाहर चला जाय ?"

"विचार तो बुरा नहीं।"

और तभी एक नाजुक से मित्र का पत्र आया। लिखा था, "क्या गुलमर्ग की ये ऊँचाईयाँ तुम्हें आकर्षित नहीं करतीं या शुतुर्मुर्ग की तरह आस-पास की चीजों को देखना नहीं चाहते। कभी इन पहाड़ियों के पीछे खोता हुआ सूरज भी देखो। कालिज की छुट्टियाँ हैं ही और सरकार ने भी भाड़ा हल्का कर दिया है।"

दावत के दिन यदि बराबर वालों का गुम-मुर्ग गुलमर्ग नहीं उड़कर मौलवी

के घर भी आ जाय तो कदाचित् उसे भी एतराज न होगा।

मैंने ताना दिया, "सलीम मियाँ, कहाँ तो घर से तार आने पर ही पत्र लिखते थे, कहाँ बेबात लिख डाला। मैंने तो उसे सब प्रोग्राम लिख ही दिया था।"

सलीम बोला, "आवश्यकता बड़ी वस्तु है।"

मैंने कहा, "खाक आवश्यकता थी!"

हमारे काश्मीर जाने की तैयारियाँ जोरों पर थीं। एक दिन सलीम बोला, "तुम तो ऐसे तैयारियाँ कर रहे हो जैसे विलायत जा रहे हो।" विलायत सलीम का अपना प्रयोग था, जो वह किसी विशेष स्थान के लिए प्रयोग करता है।

मैंने कहा, "असम्भव तो नहीं?"

ज्यों-ज्यों काश्मीर जाने के दिन पास आते जाते सलीम की डाक बढ़ती जाती। आखिर उसे अपनी प्रेमिकाओं से विदा भी तो लेनी थी। वरना सलीम मियाँ और सप्ताह में चार पत्र।

एक दिन मैंने ताने के स्वर में कहा, "सलीम मियाँ, अगर इतनी जल्दी-जल्दी पत्र लिखते रहे तो तुम्हारी प्रेमिका पोस्टमैन से विवाह कर लेगी।"

सलीम मुसकराया, "इस हिसाब से तो तुम्हारा विवाह अब तक किसी सम्पादिका से हो जाना चाहिए था। फिर मैं यह सब तुम्हारे लिए ही तो कर रहा हूँ। कारण, नहीं तो तुम शिक्षा किससे लेते।"

अन्त में पूरे चाँद ने काली चादर में से मुँह निकाला मानो धुएँ से काले देग में से मुर्ग सिर निकालकर खानेवालों को गिन रहा हो। हम लोग प्रसन्न हुए क्योंकि यही हमारे जाने का दिन भी तय था। जल्दी में मैंने बक्स का सामान बिस्तर में और बिस्तर का सामान बक्स में भर दिया। जब सलीम ने ध्यान दिलाया तब गाड़ी छूटने में समय कम था।

न बिल्ली ने सड़क काटी, न रीती बाल्टी मिली, न काना मिला, परन्तु फिर भी स्टेशन पहुँचते ही एक तार मिला। सलीम के पिता का था। लिखा था—तार पाते ही चले आओ।

तार पाते ही सलीम घबरा गया और बच्चों जैसी बातें करने लगा। अब हाल यह था कि जितना-जितना मैं ढाढ़स बँधाता उतना-उतना ही वह घबराता था, बोला, "मेरे कारण तुम्हारा भी सारा प्रोग्राम बिगड़ा। कहाँ वह गुलमर्ग की ठण्डी चोटियाँ, कहाँ वह दिल्ली का रेगिस्तानी मौसम!"

यह बात उसने कुछ ऐसे ढंग से कही जैसे मुझे मूर्ख बना रहा हो। पर जब मैंने उसकी ओर देखा तो पाया कि वह सचमुच दुखी था।

हम दोनों को तो जाना न था इस कारण यह आवश्यक हुआ कि हम लोग, बिस्तर और कपड़े अलग कर लें क्योंकि सब एक साथ बँधे थे।

पर कहते हैं न मुसीबत कभी अकेले नहीं चलती। इसी कारण दिल्लीवाली रेल ने भी चलना आरम्भ कर दिया।

सलीम बोला, "अब सोचने का समय नहीं। तुम भी मेरे साथ चले चलो, तो कितना अच्छा रहे और अब कोई दूसरा उपाय भी तो नहीं।"

सचमुच सोचने का समय न था, क्योंकि गाड़ी काफी खिसक चली थी। हम दोनों दौड़कर सामनेवाले ही डिब्बे में सवार हो गये।

जब थोड़ी देर बाद आराम की साँस लेने योग्य हुए तो पाया कि ऐसी त्रुटि कर बैठे हैं, जिसका सुधार अगले स्टेशन आने तक नहीं हो सकता। जब तक अगला स्टेशन आ नहीं गया हमें उन्हें यही समझाते बीती कि हमसे अनजाने में ही यह भूल हो गई है। जानकर तो हम ऐसा कभी कर ही नहीं सकते थे और हम लोग तो देहरा-दून के निहायत शरीफ आदमियों में गिने जाते हैं।

अगले स्टेशन पर जब हमने डिब्बा बदला तो मैंने कहा, "सायत देखकर नहीं निकले।"

सलीम बोला, "मेरे विषय में तो ठीक है परन्तु तुम्हारे विषय में तो ठीक इसका उल्टा है।"

जैसे-जैसे दिल्ली समीप आती गई सलीम की चिन्ता बढ़ती गई। वह रास्ते भर तो प्रसन्न रहा पर दिल्ली के पास बहुत बेचैन हो उठा। दिल्ली पर ट्रेन से उतरते ही सामान मुझ पर छोड़कर तुरन्त घर को फोन करने चला गया और स्टेशन पर ही मोटर मँगा ली।

और इस प्रकार हम आसमान से टपके और खजूर में अटके जा रहे थे। सोचा था गुलमुर्ग और अटक गये रेगिस्तानी दिल्ली में।

मन में एक चित्र था, कि दरवाजे पर ही डाक्टर स्टैथेस्कोप डाले घूमता मिलेगा। जैसे कुत्ता गले में पट्टा डाले बाहर घूमा करता है और हमें देखकर तुरन्त हमारी तरफ लपकेगा। दो-तीन नर्सें अन्दर-बाहर आ-जा रही होंगी।

पर कहीं कुछ न था।

इन सबके स्थान पर पोर्टिको में राहू-केतू-सी परवेज और नहकत मिलीं—सलीम की बहनें, जिनकी आँखों की चमक बता रही थी कि दुनिया की सारी शैता-नियों की पूर्व परछाईं यहाँ रहती है, जिनकी प्रत्येक बात में दूसरे को मूर्ख बनाने की इतनी गहरी झलक थी कि एक बार को तो मैं काँप गया। इनमें से एक की बगल में एक कैमरा लटक रहा था।

सलीम ने परिचय कराया, "ये मेरी बहनें परवेज और नहकत हैं। बस, आफत की परकालियाँ समझो। और यह परवेज का कैमरा है न, इसे एटम बम से कम न समझना।"

मुझे कैमरे की तरफ देखते पाकर परवेज बोली, "आप परेशान न होइएगा। हम इस एटम बम का शान्ति-स्थापना में ही प्रयोग करते हैं।"

सलीम बोला, "यह दोनों अब्बा के अखबार में नामानिगार हैं।"

मैंने चौंककर कहा, "यानी प्रेस करसपौण्डैण्ट?"

परवेज ने शरारत से कहा, "यानी पत्र संवाददाता ।"

अब तक मैं केवल मूर्ख बनाने को ही कला समझता था परन्तु अब मूर्ख बनना भी एक कला है, इसी में अधिक विश्वास करता हूँ ।

नहकत बोली, "सलीम भाई, आप लोग इस समय तो अन्दर चलिए । इनका प्रेस इण्टरव्यू फिर किसी दिन होगा । और इन पर चार कॉलम से कम का शब्दचित्र नहीं लिखूँगी ।"

इतने में सलीम के पिता खान साहब निकल आए, बोले, "आज के 'परवाने' के एडीटोरियल···अरे सलीम, तुम लोग आ गए । मुझे किसी ने खबर ही नहीं दी ।"

नहकत बोली, "अभी तो मैं कहकर आई थी । पर आप जवाहरलाल की स्पीच की अच्छाइयाँ गिनाने लगे ।"

सब बड़े जोर से हँस पड़े] और मैं अब तक यह न जान पाया कि सलीम को तार देकर क्यों बुलाया गया था ।

सलीम ने मन से ही बात पकड़ ली, बोला, "हम लोग काश्मीर जा रहे थे कि तार पहुँचा ।"

खान साहब बोले, "यह सब तुम्हारी इन प्रेस-करसपौण्डैण्टस की शरारत है । यह लोग चाहती थीं कि तुम छुट्टियों में काश्मीर न जाकर घर आओ । इन लोगों ने मेरे बिना जाने ही तार दे दिया । सलीम, तुमने ही इन्हें इतना सिर चढ़ाया है ।"

नहकत ने तार भेजने से साफ़ इन्कार करके सारा दोष उल्टे सलीम पर ही लौटा दिया ।

सलीम सीधा, इनसे कैसे पार पाता, कुछ क्रोध से मेरी ओर संकेत करके, परवेज और नहकत से बोला, "इनका सब प्रोग्राम फेल हो गया ।"

मैं चूँकि इतनी देर से शान्त था, इस कारण मुझे अब कुछ बोलना आवश्यक हो गया, नहीं तो ये सब लोग मुझे अच्छा-खासा बुद्धू समझते । मैंने कुछ कहने से पहले होठों पर जीभ फेरी और ऐसे क्रिटिकल मौके पर मुझे बातचीत किन शब्दों से आरम्भ करनी चाहिए यह सोच ही रहा था कि मुझे सुनाई पड़ा, "दार्शनिक यानी फिलासफर !" यह शब्द नहकत के थे जो उसने बड़े अन्दाज से परवेज के कान में इतने धीरे से कहे थे कि मैं ही नहीं, सब सुन सके ।

जो शब्द बड़ी कठिनता से इतनी देर में जुटा पाया था वे यह उपाधि सुनते ही फुर हो गए और मैं बड़े प्रयत्नों के बाद एक मूर्खतापूर्ण मुसकराहट भर मुँह पर ला सका ।

खान साहब कुछ मुसकराते हुए,'परवाने' के सम्पादकीय की कुछ गहन समस्याएँ सुलझाते हुए और मेरी पीठ थपथपाते हुए चले गये ।

अब दो संवाददाता, एक जासूसी कहानी लेखक और मैं बच गए ।

अब हर तरफ से हास्य वाणों का केन्द्र मैं हो गया । कैसे पीछा छुड़ाऊँ यही सोच रहा था कि नहकत ने मुझ पर रहम खाया, बातों को घुमाया और पूछा, "सबसे

पहले क्या चाहते हैं, चाय या कॉफी···?"

मैंने कहा, "सिर्फ तनहाई।"

परवेज की आँखें चमक उठीं। नौकर को आवाज देकर बोली, "साहब को किनारेवाले कमरे में ले जाओ।"

मन में सोचा था कुछ समय लेटने के बाद इन सबसे बदला लेने योग्य हो जाऊँगा। वह नौकर मुझे नालियाँ फँदाता, क्यारियाँ कुदाता, गुलाब के काँटों से बचाता न जाने पीछे को कहाँ लिए जा रहा था। मैं पंचशील के अन्दर ही बदला लेने के तरह-तरह के ढंग सोच रहा था कि बैरे के उस अजीब प्रश्न से चौंक पड़ा, "साहब, गर्म पानी की तो आवश्यकता नहीं पड़ेगी।" मैं चकराया, पूछा, "कहाँ लिए जा रहे हो?" उत्तर सुनकर झुँझलाया और लौटकर सबके कहकहों में मुझे भी साथ देना पड़ा।

मन में सोचा गुलाब की बेल यदि बबूल पर चढ़ा दी जाय तो काँटों का क्या कहना! सम्पादक की लड़कियाँ और फिर संवाददाता!

सुबह की चाय पर सब जमा थे। खान साहब बोले, "नींद तो अच्छी तरह से आई?"

मैंने कहा, "जी हाँ खूब," पर असलियत यह थी कि दो बिल्ले मेरे कमरे में रात भर लड़ा किए, यानी रूस अमेरिका बने रहे, फिर चैन की नींद कहाँ!

खान साहब ने चाय मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहा, "लो भाई, चाय पीओ। आज के सम्पादकीय में मुझे···चाय ठीक बनी है न?"

मैंने कहा, "जी हाँ, बहुत अच्छी।" जब कि असलियत यह थी कि खान साहब सम्पादकीय की झोंक में जब चीनी मिलाने चले तो नहकत ने उनकी दृष्टि बचाकर एक चम्मच नमक डाल दिया और खान साहब ने चीनी समझ अच्छी तरह मिलाकर मेरी ओर बढ़ाते हुए बोले, "बड़े दाने की चीनी जरा कठिनता से मिलती है।"

फिर कुछ समय तक अपने पिछले सम्पादकीय पर भाषण देकर बोले, "बेटा, यहाँ जी तो लग रहा है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, खूब", जब कि असलियत यह थी कि मैं चोर दरवाजे की तलाश में था जिससे रात को भाग सकूँ।

फिर उस दिन खान साहब शाम का सम्पादकीय लिखने के चक्कर में जल्दी ही उठ गए।

सलीम ने पूछा, "जब नींद इतनी अच्छी आई तो सपने भी देखे होंगे?"

मैंने भुनकर कहा, "खाक देखे होंगे!"

नहकत बोली, "जब बिल्लों की लड़ाई देखने का शौक हो तो सपने कौन देखता है।"

अब मेरी समझ में आया कि वे बिल्ले अपने आप नहीं चले आए थे। उसमें भी इन्हीं दोनों का हाथ था। जलकर मैंने एक भुनी गोश्त की बोटी उठा ली और

कहा, "जी मैं खूब सोया।"

सलीम मानो तैयार ही बैठा था। उसने फिर अपना पहला सवाल दोहराया, "तब तो तुमने सपने अवश्य देखे होंगे?"

नहकत ने कहा, "मुँह ढककर सोए होंगे। तभी सपने नहीं देखे।"

बचपन में और अभी कल तक मेरी एक इच्छा यह भी थी कि जासूस बनूँ। और जीवन में प्रथम बार मैंने जाना कि जासूस का जीवन भी कितना कष्टदायक है। क्योंकि आजकल मेरा भी जीवन कुछ-कुछ उसी प्रकार का बीत रहा है। एक में डर बना रहता है गोली का शिकार हो जाने का और दूसरे में एक चुटकुला हो जाने का। एक से बाद में प्रशंसा होती है, एक से बाद में कहकहे उठते हैं। तो जैसा जीवन मैं आजकल बिता रहा हूँ वह कठिन हुआ न?

यही देखिए सोने से पहले मैं बिस्तर उलटकर देखता हूँ कि कहीं बिस्तर निराधार ही तो नहीं टिका और मेरे बैठते ही आधार ढूँढते-ढूँढते धरा पर तो न आ रहेगा। कुर्सी पर बैठने से पहले देखता हूँ कि चारों टाँगें उससे सम्बन्धित भी हैं कि नहीं। और जैसे जासूस को हर वस्तु में जहर का भय बना रहता है उसी प्रकार मुझे नमकीन वस्तु में मीठे का और मीठी वस्तु में नमक का भय रहता है। सोते समय खाट के नीचे से बिलावों को निकालना; खिड़की, दरवाजे की चटकनी ठीक से बन्द करना आदि-आदि। परन्तु फिर भी कभी-कभी आधी रात को अलमारी की छत पर रखा ग्रामोफोन डरावनी-डरावनी आवाज़ें निकालने लगता है, कभी रोशनदान से पानी की धार गिरने लगती है।

शाम को परवेज अपने कैमरे को मेज पर पटकते हुए बोली, "भई, आज तो थक गए। आज चार कॉलम न्यूज लिखकर आई हूँ। क्यों न आज कहीं बाहर चाय पी जाए।"

मैंने कहा, "यह थकान का अच्छा इलाज है। थक गए तो घर पर चाय पीनी चाहिए कि बाहर?"

नहकत बोली, "जरा अपने पड़ोसियों का तो नाम बताइए?"

मैंने कहा, "चलिए मैं बाहर चाय पीने के लिए तैयार हूँ।"

ऐन मौके पर सलीम कन्नी कटा गया। सलीम, वैसे तो सदा परवेज-नहकत को डाँटा करता था। परन्तु अन्दर-ही-अन्दर उनसे डरता भी था। रिंग मास्टर को देखा है—हर समय हण्टर भी फटकारा करता है पर मन-ही-मन शेर से घबराता भी है।

और इन दो-दो संवाददाताओं के साथ अकेले मुझे ही जाना पड़ा। कहते हैं न मुसीबत कभी अकेले नहीं चलती।

काउंटर पर कैमरा टिकाते हुए परवेज ने एक लम्बा-सा आर्डर दिया जिसमें मेरे लिए कद्दू का हलवा था और अपने लिए शामी कबाब, मेरे लिए एक गिलास ठंडा पानी और अपने लिए क्रीम कॉफी।

हर चुस्की के साथ एक चुटकुला छूटता जिसका नायक मैं होता। अंत में मैंने

तंग आकर कहा, "जीवन स्वयं में एक चुटकुला है।"

परवेज बोली, "और दार्शनिक दूसरा।"

मैं कहने वाला था संवाददाता तीसरा, कि अचानक सलीम आ गया।

बोला, "गुलशन-आरा में आग लगी हुई है और संवाददाता लोग यहाँ चैन की यानी कॉफी की चुस्कियाँ ले रहे हैं !"

सलीम आँधी की तरह आया था और उसके पीछे परवेज और नहकत बिजली-पानी की तरह चली गईं और मैं उस राही की तरह अचम्भित रह गया जिसके पास से ये सब वस्तुएँ गुजरी हों।

फेफड़ों से एक आराम की साँस निकली—अब चैन से दो सिगरेट पीए जा सकते हैं।

जब अंतिम प्लेट आई तब मैंने जेब से बटुआ निकालकर जिप को एक किनारे खींचकर छोड़ दिया, सिगरेट का एक कश खींचा, फिर ऐश-ट्रे में राख झाड़कर गिलास के सहारे से बुझा दिया। अब जो नोट निकालने के लिए हाथ अन्दर डाला तो मोटे-मोटे बैरे और हाथों से पिटती तंदूरी का ध्यान आने लगा। बटुए में एक भी नोट न था, उनके स्थान पर कुछ सिनेमा के विज्ञापन और आलिफ बे पे की एक किताब मुड़ी हुई रखी थी। समझ गया कि यह सब पूर्वनिश्चित षड़यन्त्र था पर अब पार कैसे पाया जाय !

परन्तु मैं भी कुछ कम चालाक मनुष्य नहीं हूँ। कम से कम यहाँ आने से पहले तो मैं ऐसा ही समझता था, अपने को इस कला के बड़े कलाकारों में भी गिनता था। कहा, "बिल अभी यहीं रखो, डिनर भी हम यहीं खायेंगे। हम जरा एक मित्र से मिलकर अभी लौटते हैं। कोट टंगा है, उसे देखते रहना।" क्योंकि कुछ छोड़ना भी आवश्यक था।

रास्ते में सोच रहा था—चलो आज इज्जत बच गई। रुपये लेकर जब लौटा तो देखा कोट अपनी जगह से गायब है। सोचा, उठाकर रख दिया होगा।

काउंटर पर जाकर जब मैंने बिल और कोट के विषय में पूछा तो मालूम हुआ दोनों ही अपनी पहुँच से बाहर जा चुके हैं।

"वे जो 'परवाने' की संवाददाताएँ आपके साथ थीं वे अभी बिल पे करके, कोट ले गई हैं क्योंकि आपका विचार आज उनके घर खाने का था।"

खौलता-उबलता घर पहुँचा, कुछ गुस्से से पूछा, "क्या आप लोग मेरा कोट लाई हैं ?"

परवेज बोली, "गजब हो गया ! क्या वह आपका कोट था ?"

मेरा क्रोध चिन्ता बन गया—क्या अभी तक इस शरारत का ड्रापसीन नहीं आया ? मैंने पूछा, "क्या गजब हो गया ?"

"हम तो उस कोट को लौस्ट प्रोपरटी आफिस में जमा कर आए, यह देखिए रसीद भी।"

मैंने सलीम से पूछा, "क्या शैतान की एक आत्मा दो शरीरों में रह सकती है ?"

सलीम बोला, "घर जाकर तुमको दो के स्थान पर तीन का अंक प्रयोग में लाना पड़ेगा।"

नहकत कुछ कहने जा ही रही थी कि सलीम ने उसको रोककर मुझसे कहा, "जल्दी से जाकर कोट ले आओ, नहीं तो देर से जाने पर डैमेज देना पड़ेगा।"

दफ्तर में जाकर मुझे कोट के सारे अते-पते देने पड़े।

मैंने कहा, "आसमानी रंग।"

"समुन्दरिय कहिए क्योंकि गहरा नीला है।"

"जिराफ-सी धारियाँ, रेगिस्तानी गोट।"

"ऊँटिया कहिए तो बेहतर होगा।"

मैंने कहा, "आप कवि तो नहीं ?"

बोले, "जी नहीं, मैं शायर हूँ।"

मैंने कहा, "जिस प्रकार दर्जी कपड़ा काटता है, नाई बाल काटता है उसी प्रकार आप बात काटते हैं।"

बोले, "केवल यही नहीं, इस नौकरी के लगने से पहले मैं जेब भी काटा करता था। क्या बेतुकी बात कह गया।" और फिर वह अन्त तक न बोला।

हर तरह से समझाने के बाद कोट लाया गया तो मैंने देखा कि वह लेडीज कोट था। 'हर-बात-काट' जी के सहयोगी बोले, "मालूम पड़ता है आपकी श्रीमतीजी काफी भुलक्कड़ हैं, जो कोट को होटल में भूल आईं। वह तो भला हो उन प्रेस संवाद-दाताओं का जो आपको वापिस मिल गया।"

कहीं पर सच्चे मित्र की परिभाषा पढ़ी थी कि वह केवल मुसीबत में सहायता ही नहीं करता बल्कि पहले मुसीबत लाता है और तब सहायता करता है।

पर सच यह था कि कोट लेडीज होते हुए भी मेरे कोट से बड़ी समानता रखता था।

समझते देर न लगी कि कोट किसका है। क्योंकि मूर्ख बनाने में मैं भी किसी से कम नहीं—कम-से-कम मैं तो यही समझता हूँ—हूँ से था अधिक ठीक होगा—तुरन्त कोट ले लिया। सोचा बड़ा तंग करने के बाद जिन्न घड़े में बन्द हुआ है।

घर पहुँचकर कोट मैंने ऐसे छिपा दिया कि मैं स्वयं भूल जाऊँ कि कहाँ छिपाया है। मैं उसे छिपाने के बाद भूल जाने का प्रयत्न कर ही रहा था कि सलीम की अम्मी का बुलावा आया। पहुँचा तो बोली, "बेटा, तुझे ये लड़कियाँ बहुत तंग करती हैं। तुझे कोट लाने में अधिक परेशानी तो नहीं उठानी पड़ी ?"

मैं इस रहस्य को समझने का प्रयत्न कर ही रहा था कि अम्मी ने सब साफ कर दिया, "मैं कब कोट ड्राईक्लीन कराती हूँ। पर ये दोनों न मानीं। अब दुकान से वापिस लाने के लिए तुझे तंग किया।"

मैं फिर बाजी हार गया। परवेज और नहकत वहाँ कोट अपना न देकर अम्मी

का दे आई थीं।

मैंने झेंपकर चाबी को इत्रदान में से, इत्रदान को पानदान में से, पानदान को गुलदान में से और गुलदान को नाबदान में से निकालकर, सूटकेस खोलकर कोट निकालकर नहकत के हवाले किया जो वहीं खड़ी मेरी ये सब हरकतें देख रही थी।

नहकत कोट लेकर चल दी, अम्मी बोली, "अरी दिखाती तो जा, कोट साफ भी धुला कि नहीं?"

और नहकत ने मुसकराकर कोट खोलकर दिखा दिया।

अम्मी चौंकी, "यह तो परवेज का कोट है!"

और फिर मैं चौंका।

सलीम बोला, "बस एक जगह भूल हो गई थी। यह समझो कि इस भूल से बच निकलने का कोई रास्ता न था। तुम्हारे कोट से मिलता-जुलता कोट सिर्फ परवेज के पास था और लेडीज कोट देखकर तुम क्या सोचोगे और इन्हें मूर्ख बनाने का क्या प्लान बनाओगे वह भी इन लोगों ने सोच लिया, आखिर साईक्लोजी में एम० ए० किया है।"

परवेज ने वहीं सोफे के नीचे से अम्मी का कोट निकालकर देते हुए कहा, "अम्मी, तुम मना कर रही थी इसीलिए नहीं भेजा था, अब भेजे देती हूँ।" यह कहकर उसने कोट मेरी तरफ बढ़ा दिया।

नहकत बोली, "शाम को जब घूमने जाएँ तभी दे दीजिएगा।"

इन संवाददाताओं की खोपड़ी से तो बड़े-बड़े राजनीतिक तक पार नहीं पा पाते। जहाँ इन्होंने बातों को तनिक चढ़ाया, तनिक उतारा, तनिक इधर-उधर घुमाया बड़े-बड़े गुप्त भेद उगल बैठते हैं।

अब पार पाने की एक ही राह रह गई थी। इधर यह कमबख्त छुट्टियाँ समाप्त होने में न आ रही थीं। अभी तो आधी से भी अधिक बची थीं। पर अब चाहे जमीन बिछाकर आसमान ही क्यों न ओढ़ना पड़े, क्योंकि ऐसी दशा में बिना सामान लिए चुपचाप खिसकना पड़ता, पर अब यहाँ रहना नहीं हो सकता। अगले दिन मैंने यह बात चिलमन की ओट यानी कुछ छिपे ढंग से कह भी दी।

सोचा था इससे या तो इनकी शैतानियाँ कम हो जायँगी या मुझे ही छुट्टी मिल जायगी।

शाम को चाय पर जब मैं यह सोच रहा था कि अब यह लोग माफी माँगने वाली हैं और यह चुप्पी उसी की भूमिका भर है कि परवेज ने उँगली चटखाते हुए कहा, "भाई, आज तो उँगलियाँ दुख गईं। चार कॉलम का एक शब्दचित्र लिखा है। केवल एक कैमरा-चित्र की कमी रह गई है। शीर्षक जानते हो क्या रक्खा है, फिलासफर।" अब मेरे कानों का खड़ा होना स्वाभाविक था। अधिक खोदने पर मालूम पड़ा कि मेरी ही इन सब मूर्खताओं पर एक लेख लिखा गया है—'फिलासफर।'

अब सुलह होनी आवश्यक थी, नहीं तो ऐसी जगहँसाई होती कि क्या बताऊँ। क्योंकि इस लेख में इन्होंने नाम तक न बदला था और अगले ही दिन के अखबार में वह छपने वाला था।

सुलह की शर्तों के अनुसार बिस्तर खोल दिए गए और चुपचाप भाग खड़े होने का विचार भी दिल से निकाल देना पड़ा और जीवन में प्रथम बार मुझे छुट्टियों की लम्बाई को कोसना पड़ा।

शाम को खान साहब ने गवर्नर साहब के साथ खाने का न्योता दिया। ऐसे बड़ों के साथ खाने का पहला अवसर था। सोचा कहीं कसर न रह जाय।

जूते कुछ मैले थे इस कारण मैंने परवेज से पालिश के विषय में पूछा।

एक झटके से कैमरे को पीठ पर डालते हुए परवेज बोली, "जूते की तो नहीं पर नेल पालिश है अगर उससे काम चल जाए?"

नहकत से पूछा, बोली, "क्रीम है।"

मैंने कहा, "काम चल जायेगा।"

"कौन-सी चाहिए—कोल्ड या वैनिशिंग?"

अब सलीम से पूछने की हिम्मत न थी, इस कारण बाजार की तरफ चल दिया।

बटुआ देखकर ही चंदे की झोली फैलती है। राहगीर देखकर ही आम टपकता है और गुड़ देखकर ही मक्खियाँ भिनभिनाती हैं।

मेरे गर्दिया जूते देखकर तुरन्त एक पालिश करने वाला प्रकट हो गया।

जब बटुआ सामने आया तो एक बार फिर मुझे अपने ऊपर क्रोध आया। इस कारण नहीं कि बटुआ खाली था बल्कि इस कारण क्योंकि वह केवल नोटों से भरा था।

एक दस का नोट देकर मैंने कहा, "जाओ तुड़ा लाओ!"

पर इन्तज़ार करते-करते इन्तजार की हद हो गई। वह गया तो ऐसा गया जैसे नोट पर से बादशाह का सिर। इधर दावत का समय करीब आता जा रहा था। मैं घर जा सकता था परन्तु वह केवल मेरे दस रुपए ही नहीं ले गया बल्कि रखवाली के लिए अपना सामान भी छोड़ गया। कभी एक पैर पर अधिक बोझ डालकर खड़ा हो जाता कभी दूसरे पर, पर फिर भी वह नहीं आया। अब यदि मैं तुरन्त चल नहीं पड़ता तो कदाचित् दावत में प्लेटें साफ करने के समय पहुँच पाऊँगा। रुपए तो गए ही। उसका सामान छोड़ा जा सकता है पर अगर लौटते में मिल गया या कभी बाजार में पहचान गया तब फिर उसका यह सामान कहाँ से जुटाऊँगा।

राह एक ही रह गई थी। मैंने वह सामान उठा लिया और घर की तरफ चल दिया। अँधेरा था। कुछ बादल थे। सोचा था चुपचाप सामान मोटर गैरेज में रखकर दावत में शामिल हो जाऊँगा।

मैं अँधेरे में चला जा रहा था कि बड़े जोर का प्रकाश चमका। बादल घने

थे इस कारण कदाचित् बिजली चमकी थी।

पर खूबी यह देखिए, भगवान् जब साथ देता है तो छप्पर में भी हाथ लगवा देता है। मुझे इस सामान को लेकर घर तक भी न जाना पड़ा वह कुछ ही दूर पर मिल गया। पैसे लौटाते हुए उसने अपना सामान वापिस ले लिया। मन में सोचा—चलो सब काम कितनी सफाई से हो गया। दो कानों की तो बात दूर किसी के एक कान भी खबर नहीं हुई।

मैं उसे देखते ही प्रसन्न हो गया था और जल्दी छुटकारा पाने के लिए उससे देरी का कारण नहीं जानना चाहता था।

पर वह कहे जा रहा था, "नोट के पैसे एक बीबीजी से माँगे थे। पर वह अपने जूते पालिश करवाने को लिवा ले गई और फिर एक जूते के बाद दूसरा जूता आता रहा। न जाने उस कोठी में कितने जोड़ी जूते हैं! एक बार मैंने सामान खोने का भी भय दिखाया। पर जब दुगने पैसे मिलने वाले हों तो साहब खो जाता तो ही भला होता।"

दावत काफी सफल रही। काफी लोग मिले और मुझे घूर-घूरकर देखते रहे। यानी उस दावत का आकर्षण केन्द्र गवर्नर न होकर एक प्रकार से मैं था। हर एक ने मुझसे मिलने की उत्सुकता दिखाई।

अगले दिन मैं चाय पर बहुत प्रसन्न था कि चलो दावत भी अच्छी खाने को मिली और भेद भी न खुला। परन्तु इन संवाददाताओं से मन के भाव छिपाना बड़ा कठिन है।

नहकत बोली, "आज दार्शनिक साहब बड़े प्रसन्न नजर आ रहे हैं?"

परवेज ने कहा, "कल इनका फोटो जो खिंचा है?"

मैंने चौंककर पूछा, "कौन-सा फोटो?"

और सलीम ने एक फोटो मेरे सामने रख दिया।

यह फोटो उस समय का था जब मैं उस पालिश वाले का सामान लेकर लौट रहा था। अब उस बिजली-सी चमकने में क्या रहस्य था और क्यों एक बीबीजी ने पचासों जूतों पर पालिश करवाई, सब साफ था।

फोटो देखते हुए नहकत ने कहा, "फिलासफर साहब जँच रहे हैं!"

मैं सोच रहा था संवाददाता बनाने से पहले कदाचित् भगवान् ने शैतान बनाया था।

परवेज कह रही थी, "दार्शनिक बनाने से पहले भगवान् ने भैंस बनाई थी।"

और खान साहब कह रहे थे, "इन छापेखानों के बनने से पहले आदमी हाथ से लिखकर अखबार निकाला करता था। पर तब 'परवाने' जैसे एक लाख फैलाव के पत्र न होते थे।"

सलीम केवल मुसकरा रहा था। सुनते हैं जब भगवान् दुनिया बना रहा था तो शैतान भी हँस रहा था।

अब मैं चिन्तित था और किसी प्रकार यह जानना चाहता था कि आखिर वह इन फोटों का करेंगी क्या ?

सलीम बोला, "वही जो संवाददाताओं का काम होता है, यानी अखबार में छपवाना।"

अब मेरे पैरों के नीचे से जमीन ही नहीं सिर पर से आसमान भी निकल गया। इस रेगिस्तानी दिल्ली ने मुझे कहीं का न रखा। कल के अखबार में जब यह फोटो छपेगी तो मैं कहीं मुँह दिखाने योग्य भी न रहूँगा।

नहकत बोली, "चार कॉलम का लेख तो तैयार था ही, कमी थी दार्शनिक साहब के एक फोटो की, वह भी अब दूर हो गई।"

फिर कुछ रुककर बोली, "सुलह भी हो सकती है पर कुछ शर्तों पर।"

मैंने कहा, "मैं अनकण्डीश्नल सैरेण्डर : निर्बन्ध आत्मसमर्पण : करने को तैयार हूँ।"

सलीम बोला, "मध्यस्थ मुझे बना लो, बड़ी मामूली शर्तों पर सुलह करा दूँगा।"

सलीम के मध्यस्थ बनने पर दोनों तरफ वाले सहमत हो गए। कुछ समय तक तीनों की वार्ता चलती रही। अंत में सलीम मेरे पास आया और बोला, "बहुत मामूली शर्तों पर सुलह करा दी है। अभी तो नहीं बाद में दुआ दोगे।"

मैं शर्त सुनने के लिए उतावला था। न जाने अभी कितना मूर्ख बनना शेष था।

सलीम बोला, "शर्त यह है कि अगर कोई आपसे परवेज, नहकत के विषय में पूछे तो आप इन दोनों की तारीफों के पुल बाँध देंगे। सलीके में सलीम से भी बढ़कर बताएँगे। थोड़े में हर प्रकार से केवल तारीफ करेंगे।"

मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया।

"और सुनो, अगर तुमने ऐसा नहीं किया तो लेख और फोटो तो तैयार है ही। रोटरी का चक्कर भी चल ही रहा है और जानते हो 'परवाने' के एक लाख ग्राहक हैं।"

मैंने कहा, "स्वीकार।" मन में सोचा बहुत सस्ते छूटे।

सलीम ने पूछा, "कल कौन-सा दिन है ?"

मैंने तुरन्त उत्तर दिया, "जुमेरात।"

नहकत बोली, "हम दिन पूछ रहे हैं, आप रात बता रहे हैं।"

अब छुट्टी समाप्त हो गई थीं और जुम्मे को ही मुझे जाना था। सलीम ने छुट्टी बढ़वा ली थीं।

मैंने कहा, "नौ बज रहे हैं, अब अगर तुरन्त चल न दिया तो गाड़ी मिलना कठिन है।"

परवेज ने घड़ी देखते हुए कहा, "अभी तो पौने नौ बजे हैं। आपकी घड़ी

लगता है जरा तेज मिजाज है। तभी तो इसकी सुइयाँ इतनी तेज चलती हैं।"

नहकत बोली, "मेरी घड़ी में तो अभी साढ़े आठ ही बजे हैं।"

मैंने सोचा अब मौका नहीं चूकना चाहिए। यही तो मौका मिला है, कहा, "इस संसार में दो स्त्रियाँ, दो संवाददाता और दो घड़ियाँ कभी एक दूसरे से सहमत नहीं होतीं और जब तीनों साथ हों तब तो कहने क्या !"

नहकत बोली, "आप जा रहे हैं इस कारण माफ किया, नहीं तो इसका भी जवाब देती।"

मैं कुछ इस ढंग से मुसकराया जैसे चलते समय सबको हरा दिया हो। फिर मैं काफी समय को चुप हो गया। शब्दों का अभाव सदा से ही मुझे अखरता आया है और फिर बहुत से लोगों के बीच में तो मैं वैसे भी बहुत नहीं बोल पाता।

नहकत बोली, "कुछ बोलते क्यों नहीं ? मालूम पड़ता है इस संसार में दार्शनिक, प्रोफेसर और घड़ी, जितनी देर की चाबी होती है उतनी ही देर चलती है !"

सलीम चिल्लाया, "बहुत सुन्दर, उसी वजन की बात कह दी, और प्रयोग भी बुरा नहीं।"

चलते-चलते मैं परवेज और नहकत से किसी शैतानी की आशा कर रहा था। परन्तु इस समय दोनों की आँखों में आँसू थे।

चलते समय सलीम ने मुझे आदाब बजाते हुए कहा, "मैं जासूसी कहानियाँ लिखता हूँ।"

मन में सोचा क्या बेतुकी बात कही है। मैं भी जानता हूँ कि वह जासूसी कहानी लेखक है। पर यह आत्म-प्रशंसा का कौन-सा अवसर था। निष्कर्ष निकाला—सब भाई-बहन एक से हैं।

एक बात तो बताना भूल ही गया। चलते समय नहकत ने एक टॉफी का डिब्बा, परवेज ने एक स्वेटर, सलीम ने मूर्खतापूर्ण मुसकराहट, अम्मी ने दुआ और खान साहब ने अपने नये लिखे सम्पादकीय पर एक लम्बा भाषण दिया।

और अंत में रेल ने सीटी दी।

घर आकर तीन चीजों पर निगाह पड़ी।

पहला तार का वह भरा हुआ फार्म था जो सलीम के पास आया था। और कुछ गलत लिखे जाने के कारण सलीम ने दूसरा फार्म भरा होगा। दूसरा वह पत्र था जो मैंने अपने गुलमर्गवाले मित्र को अपने आने के विषय में लिखा था। तीसरा पत्र घर से आया था कदाचित् पिताजी का था।

तो तार यहीं से चला था सलीम के घर से नहीं आया था।

पत्र डी० एल० ओ० से लौटकर आया था क्योंकि किसी ने गुलमर्ग को काटकर देहरादून किया था और अंत में पत्र भटकते-भटकते घर लौट आया था। लिपि से मैं पहचान गया कि गुलमर्ग काटकर देहरादून किसने किया है।

घर का पत्र खोला तो लिखा था, "तुम्हारे विवाह की बातचीत खान साहब की बड़ी लड़की से चल रही थी। मैं केवल चाहता था कि तुम एक बार लड़की को देख भर लो। पर तुम किसी भी तरह से घर आने पर राजी न हुए। आज खान साहब का पत्र आया है कि तुम दिल्ली गये थे और उन सबको अच्छी तरह से देख लिया है। कहाँ तो घर तक न आ रहे थे, कहाँ सीधे जाकर देख आए। पर खैर अच्छा ही किया क्योंकि देखना तो तुम्हें ही था। अब तुम्हारा पत्र पाते ही मैं उन्हें हाँ लिख दूँगा।"

उस शर्त की गहराई अब जान पाया। तो इस कारण नहकत मुझे अधिक मूर्ख बनाती थी और परवेज झेंपी-झेंपी-सी रहती थी...।

बुराई लिखता हूँ तो लेख छप जायगा। हाँ लिखता हूँ तो भी... ।

अभी कोई निश्चय नहीं कर पाया हूँ फिर भी सोचता हूँ जग-हँसाई से घर-हँसाई अच्छी होती है।

मेरे मस्तिष्क में सलीम के वे शब्द बराबर चक्कर लगा रहे हैं—"मैं जासूसी कहानियाँ लिखता हूँ।"
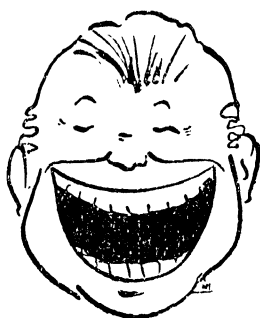
हम भंगी हैं

जहूरबख्श

●

श्री जहूरबख्श का जन्म सन् १८९९ में सागर में हुआ था। सन् १९१३ में हिन्दी के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और अध्यापक हो गये। कहानियाँ सन् १९२४ से लिख रहे हैं और हिन्दी के पुराने और माने हुए साहित्यिकों में से हैं। अब तक डेढ़-सौ से ऊपर पुस्तकें और हजारों लेख-कहानियाँ लिख चुके हैं। आपकी हास्य कहानियों का संग्रह 'हम पिरशीडण्ट हैं' मध्यप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हुआ है। बाल-साहित्य की ओर प्रारम्भ से ही रुचि रही है। चित्रकला और अक्षरकला पर विशेष ध्यान दिया है। देवनागरी अक्षरों का ४० वर्ष तक वैज्ञानिक अध्ययन किया है। आजकल स्वतन्त्र पत्रकार और लेखक हैं। हास्य-साहित्य क्षेत्र में आपका विशिष्ट स्थान है।

रचनाएँ

'हम पिरशीडण्ट हैं', 'स्फुलिंग', 'शबनम', 'समाज की चिनगारियाँ' आदि।

मछरियाही, सागर
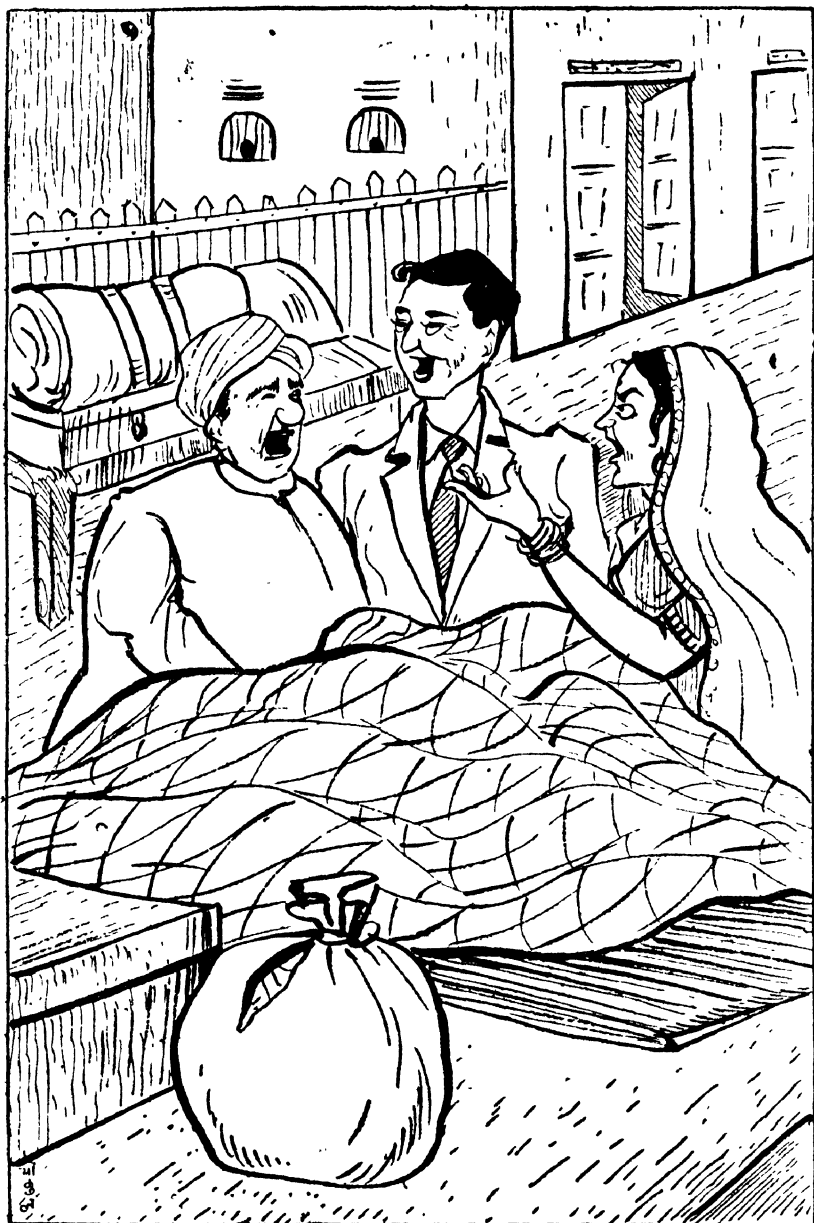
"आप नहीं मानतीं तो सुनिये—हम भंगी हैं।"

धीरे-धीरे रात के दस बज गए। हमारी गाड़ी इटारसी जंकशन पर पहुँची। कुली हमें एक बहुत लंबे प्लेटफार्म पर ले गया, फिर पेटी और बिस्तर एक बेंच पर रखते-रखते बोला, "बस, बाबूजी, नागपुर जानेवाली पसींजर इसी प्लेटफारम पर खड़ी होगी—ठीक दो बजे। तब तक आप पैर फैलाकर सोएँ। मैं ठीक बखत पर आ जाऊँगा।" यह कहकर कुली तो नौ-दो-ग्यारह हुआ और खड़े रह गए अकेले हम।

दिसंबर का महीना था। नर्मदा की उस घाटी में ठंडी हवा इस तरह लहरा रही थी कि गर्म कपड़ों के नीचे, खाल और मांस के भीतर हड्डियाँ भी थरथरा उठती थीं। हमने अपने चारों तरफ देखा और मन-ही-मन कहा—गाड़ी आने में अभी चार घंटे की देर है। इतना लंबा समय कैसे कटेगा ? यहाँ न आदमी है, न आदमजात; अगर कोई कत्ल कर जाय, तो भी किसी को कानोंकान खबर न हो। बैठने या पैर फैलाकर सोने से तो यही बेहतर है कि इस छोर से उस छोर तक चक्कर काटा जाय, और नहीं तो जिस्म में गर्मी ही पैदा होगी।

हमने घूमना शुरू किया। करीब आध घंटे बाद हमारी नजर एक देवता और एक देवी पर पड़ी। वे धीरे-धीरे उसी बेंच की तरफ बढ़े चले आ रहे थे। देवता के सर पर नारंगी पगड़ी थी। वह बाएँ बाजू में बिस्तर दबाए और दाएँ हाथ में एक थैली लटकाए थे। देवीजी घाघरा पहने, बगबगी चादर ओढ़े और सर पर पेटी रखे थीं। हमने फौरन समझ लिया, ये दोनों इसी पैसेंजर ट्रेन से सफर करनेवाले हैं। इसीलिए खुश होकर बस, हम जहाँ-के-तहाँ खड़े हो रहे और उनको ताकने लगे। जरा देर बाद वे दोनों बेंच के पास आ पहुँचे। मगर देवता एकबारगी भड़क उठे। उन्होंने हमारा असबाब इस तरह जमीन पर फेंक दिया, जैसे उसका कोई वारिस ही न हो। अब तो हम जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाकर उनके सामने पहुँचे। तब तक देवता मय अपनी देवी और गठरी-मुठरी के बेंच पर कब्जा जमा चुके थे।

हमने उनसे कहा, "भगवन्, यह क्या किया—हमारा असबाब इस तरह क्यों फेंक दिया ?"

उन्होंने जरा आँखें फाड़कर हमें देखा, फिर जवाब दिया, "तो बुरा क्या किया ? हमें क्या मालूम था कि यह अशबाब किसी आदमी का है।"

हमने सब्र से काम लेना ठीक समझा। कहा, "तो हम आदमी नहीं, जानवर हैं ? क्यों साहब, क्या जानवर भी ऐसा असबाब लेकर बाहर निकलते हैं ?"

वह बगलें झाँकते-झाँकते बोले, "आप नाराज न हों, हम शच कहते हैं, अगर मालूम होता, कि यह शामान आपका है, तो हम इशे हरगिज यहाँ शे न हटाते।"

हमने जरा मुस्कराकर कहा, "माना कि आप शच कहते हैं, मगर इतना तो शोच शकते थे कि यह शामान हमारा न शही, होगा तो किशी आदमी का ही।"

झेंप ने उनकी आँखें झुका दीं। लड़खड़ाती हुई जबान से बोले, "अब तो शा'ब, गलती हो गई। माफ कीजिए। हम अभी शामान बेंच पर रखे देते हैं और खुद नीचे बैठ जाते हैं।"

हमने बहुत कहा, 'रहने दीजिए; आप शौक से बेंच पर बैठिए।' मगर वह न माने, उन्होंने हमारा सामान बेंच पर रख दिया और अपना सामान नीचे उतार लिया। फिर फर्श पर बिस्तर बिछाया और उस पर बैठते-बैठते देवीजी से कहा, 'यहीं आ जाओ। बेंच बाबू शाहब के लिए खाली कर दो।' हम भी टहलते-टहलते थक चुके थे; इसलिए सिकुड़कर बेंच के एक कोने पर बैठ गए।

देवताजी सचमुच मजे के साथी निकले। देखते-ही-देखते हमारे-उनके बीच बातों का लेन-देन शुरू हो गया—"आप कहाँ के रहनेवाले हैं? क्यों शा'ब, सुना है कि शागर बड़ा अच्छा शहर है? कभी मौका मिला तो हम भी देखेंगे···आप इधर कहाँ जाएँगे? ऐं, नागपुर? नागपुर तो हम भी जा रहे हैं, वाह! यह तो बड़ा अच्छा साथ मिला।···भला आप शागर में कौन-शा काम करते हैं? अच्छा, यह कहिए, आप लड़के पढ़ाते हैं! फिर उधर क्यों शिमटे बैठे हैं? इधर आइए, आराम शे बैठिए," —यह कहते-कहते उन्होंने हमें अपने बिस्तर पर खींच लिया—और मेरे हाथ में एक पत्रिका देखकर सवाल किया, "क्यों शा'ब, यह क्या है?"

जब मैंने जवाब दिया कि कहानियों की पत्रिका, तो आप गंभीर मुख बनाकर बोले, "अरे शा'ब, इन कहानियों की किताबों ने ही तो हिन्दुस्तान का शत्यानाश कर दिया। और शा'ब इन शंपादकों की करतूत देखते हैं आप? यह न धर्म का ख्याल रखते हैं, न शास्त्र का—एकदम कहानियाँ छापते रहते हैं। मालूम नहीं इनकी अक्ल कहाँ चली गई है।"

"घास चरने! अगर यह बात न होती तो वे यों कहानियाँ छापते और कागज काले करते?"

"जरूर यही बात है। बेशक शंपादक लोगों की अक्ल घाश चरने चली गई है। मगर शमझ में नहीं आता कि कहानियाँ छापने से फायदा क्या है? आपने कभी शोच-विचार किया?"

"हमें तो इतना मालूम है कि कहानियों से बच्चों का दिल-बहलाव होता है।"

"वाह! क्या लाजवाब बात कही है—कहानियों शे बच्चों का दिल-बहलाव होता है। तभी तो हम कहानियों शे दूर भागते हैं। वैशे चाहें, तो दिन-भर में पचाश कहानियाँ लिखें और फेंक दें। मगर बैठे-ठाले बच्चे बनने की गलती क्यों करें? आप ही कहिए।"

"सच है, आप-जैसे बुद्धिमान् आदमी को बच्चा बनने की गलती हर्गिज न

करनी चाहिए।"

"हम तो शा'ब, हमेशा धर्म और शास्त्र की बातों में मन लगाते हैं, जिनशे यह लोक तो शुधरता ही है, परलोक शुधरने की भी उम्मीद रहती है।"

"यह आप बहुत अच्छा करते हैं, जो लोक-परलोक की उम्मीदें बाँधते रहते हैं। अगर पढ़ने-लिखने के बाद इतना भी न किया, तो क्या किया ?···मगर यह तो बताइए कि आप रहनेवाले कहाँ के हैं ? कौन-सा पेशा करते हैं ? बातों से तो पूरे पंडित जान पड़ते हैं।"

"पूरे पंडित तो खैर, हम नहीं हैं; हाँ पढ़े-लिखे खूब हैं और बराबर धर्म-शास्त्रों की छान-बीन करते रहते हैं···आपने मऊरानीपुर का नाम शुना है ? शेंट्रल इंडिया की मशहूर जगह है। बश, हम वहीं के रहने वाले हैं और प्रीचर हैं, प्रीचर। कुछ शमझे आप ?"

"प्रीचर ? प्रीचर का मतलब ?"

"आपकी तो वही मशल है कि शारी रात रामायण शुनते रहे और इतना भी न शमझे कि रावण को राम ने मारा या दशरथ ने। शुनिए हम धर्म का प्रचार करते हैं—लोगों को ऐशा उपदेश देते हैं जिशशे वे इश लोक में शुखी और परलोक में भी आनंद मनाएँ। अब शमझे आप ?"

यह सुनते ही हमारी तबीयत खिल उठी। हमने फौरन इरादा कर लिया कि ये उल्लूबसंत महाराज धर्म के नाम पर अच्छे-भले लोगों को चक्कर में डालते हैं; जब तक साथ रहें, इनको खिलौना बनाकर दिल बहलाना चाहिए। तब तक उन्होंने पेटी खोल-कर दो-तीन हैंड-बिल बाहर निकाले और बड़े ताव से हमारी तरफ बढ़ा दिए।

हमने हैंड-बिल लेते हुए कहा, "धन्य भाग्य ! जो आपके दर्शन हुए ! अब तो महाराज, ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे हम भी इस लोक में सुख पाएँ और परलोक में आनंद के गीत गाएँ।"

उन्होंने फरमाया, "यह हैंड-बिल पढ़िए। इशमें शब-कुछ लिख दिया है—यों शमझिए कि गागर में शागर भर दिया है ! यही हमारे धर्म का निचोड़ है। इश पर शच्चे दिल शे अमल कीजिए। फिर देखिए कि इश लोक शे उश लोक तक किश तरह आनंद का तार बँधा हुआ है और आपका बेड़ा कितनी आशानी शे पार हो जाता है।"

सरसरी नजर डालने से हमें पता चला कि हर एक हैंड-बिल पर नसीहत-आमेज इबारत चमक रही है। इतने में उन्होंने सीना फुलाया, सर उठाया और अपनी गोल-गोल आँखें हमारे चेहरे पर गड़ाकर कहा, "शच बतलाइए, और किश धर्म में ऐसे शुंदर उपदेश पाए जाते हैं ? हम कहते हैं, दुनिया के शब धर्म हमारे धर्म के शामने हेच हैं—बिल्कुल हेच। कुछ शमझे आप ?"

अगर तअस्सुब का चश्मा हटाकर देखा जाय तो साफ मालूम होता है कि महात्माओं ने धर्म के नाम पर जो कुछ कहा है, वह सचमुच मनुष्य को मनुष्य

बनानेवाला है ! फिर भी लोग असलियत से दूर भागते हैं ! अपने धर्म के गीत गाते, दूसरे धर्म को गालियाँ सुनाते और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव की खाई चौड़ी करने के लिए पागल रहते हैं। अगर हम अपना यह खयाल जाहिर करते हैं, तो अभी प्रचारकजी से बेकार ठाँय-ठाँय होती है। इसलिए हमने बड़े इतमीनान से जवाब दिया, "इसमें कोई शक नहीं, आपके धर्म के सामने दुनिया के तमाम धर्म हेच हैं—यह बात हम डंके की चोट कह सकते हैं। अहाहा ! आपने इन कागजों में कितने सुंदर उपदेश लिखे हैं।"

इतना सुनना था कि प्रचारकजी की बाँछें खिल उठीं। खुशी उनके गले से फूट निकली, "वाकई आपकी तबीयत बहुत शाफ है और शमझ बड़ी तेज। हमें उम्मीद नहीं थी कि आप इतनी जल्दी हमारे धर्म की तह तक पहुँच जाएँगे।"

"मगर हम आपके धर्म से फायदा उठाने के लिए क्या करें ?"

"बड़ी मोटी शमझ है आपकी। अरे, करना-धरना क्या है, इन कागजों में जो लिखा है, वही तो अमल में लाना है। रोज पानी छानकर पीजिए, अहिंशा का खयाल रखिए, बिला नागा मंदिरजी में जाइए, देवता का दर्शन कीजिए और शास्त्र शुनिए। शास्त्र शुनते-शुनते धर्म की शभी खूबियाँ आपके जहन में नक्श हो जाएँगी। अगर इतने पर भी आपको इश लोक में शुख और परलोक में आनंद न मिले, तो जो शौक में आवे, हमशे कहिए।"

"परलोक की राम जानें, इस लोक में तो हमारी आफत हो जाएगी। बिरादरी के लोग यह हाल सुनेंगे, तो फौरन हमारा बॉयकॉट कर देंगे। आदमी समाज से दूर रहे और उसका चलाव चल जाय—यह तो बड़ी मुश्किल बात है। ऐसा नहीं हो सकता कि आप हमें अपने धर्म की दीक्षा दें और अपनी बिरादरी में शामिल कर लें ! धर्म बदलने के साथ-साथ इतना सुभीता तो मिलना ही चाहिए कि हम बाल-बच्चों की तरफ से बिलकुल बेफिक्र रह सकें।"

"छिः-छिः ! आप भी कैशी बातें करते हैं। मालूम होता है कि आप में शमझ नाम की कोई चीज नहीं है। शुनिए शा'ब, धर्म और बिरादरी दो अलग-अलग चीजें हैं। आप हमारा धर्म मानें, तो यह जरूरी नहीं है कि हमारी बिरादरी में भी शामिल हो जाएँ ! भला, हम आपको अपनी बिरादरी में क्योंकर मिला शकते हैं ? मगर इतना यकीन रखिए कि आपकी बिरादरी के लोग हर्गिज आपका बॉयकॉट न करेंगे। अजी, हम ऐशी हिकमत बतलाएँ कि वे आपके पीछे-पीछे दुम हिलाते फिरेंगे। आपने हमें शमझा क्या है ?···अच्छा अच्छा बतलाइए, तो आप कौन बिरादर हैं ?"

"आप हमें अपनी बिरादरी में तो मिलाएँगे नहीं, फिर आपको हमारी जाति-पाँति से मतलब ?"

"वाह ! मतलब क्यों नहीं है ! बिरादरी में नहीं मिलाना है, तो क्या हुआ, धर्म में तो मिलाना है। जरा कहिए तो, आप कौन बिरादर हैं ? जातिवालों को गुलाम बनाए रखने का वह तरीका बतलाएँ कि आप शुनते ही फड़क उठें।"

"आप नहीं मानते तो सुनिये—हम भंगी हैं।"

यह सुनते ही प्रचारकजी इस तरह आँखें फाड़-फाड़कर ताकने लगे, मानों उनके गले में साँस अटक रही हो—न भीतर जाती हो, न बाहर आती हो। फिर उन्होंने जरा मुँह बिचकाया, बड़ी तकलीफ से थूक निगला और कहा, "ऐं! तो तुम भंगी हो? बड़े धोखेबाज निकले—दन्-से हमारे बिस्तर पर आ बैठे! उठो यहाँ से, भंगी हो, तो भंगी की नाईं उधर बैठो। कमीने कहीं के···चच्-च्च् हम अपवित्र हो गए, और सो भी ऐसी ठंडी रात में। अगर पहले मालूम हो जाता, तो बात करने की कौन कहे, हम तुम्हारी शक्ल भी न देखते। अब तो दिल में यही आता है कि बंदूक भरें और तुम्हारी छाती पर फटकार दें। मगर अफसोस! हमारे पास बंदूक है ही नहीं।"

हम बेंच पर जा बैठे और बोले, "महाराज, अहिंसा का भी कुछ खयाल रखिये आपने ही पहले हमारा सामान बेंच पर से उठाकर नीचे फेंका, फिर नीचे से उठाकर बेंच पर रखा। आपने ही हमारा हाथ पकड़कर खींचा और हमें अपने बिस्तर पर बिठाया। भला, इसमें हमारा क्या कसूर?"

प्रचारकजी ने बिगड़कर कहा, "छोटा मुँह, बड़ी बात! इसी को कहते हैं चोरी और सीनाजोरी। जब हम तुम्हारा सामान छूने लगे थे, तो तुमने अपनी जाति क्यों न बतला दी? और क्यों जी, जब तुम भंगी हो, तो इतने साफ—इतने लकदक कपड़े क्यों पहनते हो?"

हमने जवाब दिया, "क्यों, साफ कपड़े पहनना पाप है क्या? जब दो पैसे के साबुन में सफाई होती है, तो मैले-कुचैले कपड़े क्यों पहनें?"

प्रचारकजी ने फिर सवाल किया, "ताज्जुब की बात है, तुम भंगी होने पर भी गुरु कैसे बन बैठे?"

हमने बतलाया, "आप इतना भी नहीं जानते? सभी को पढ़ने-लिखने को आजादी हासिल है? हमारी किस्मत ने भी जोर मारा और हम पढ़ने-लिखने के बाद गुरु बन बैठे?"

प्रचारकजी ठंडी साँस लेकर बोले, "हाय-हाय! अंग्रेजी हुकूमत का सत्यानाश हो जाय; इसकी बदौलत तो सभी कुछ भ्रष्ट हो गया—न धर्म बचा, न जाति बची। और सुनो, भंगी पढ़-लिखकर गुरु होने लगे—कुछ ठिकाना है इस पाप का!···अगर हमारी रियासत में होते, तो इस पढ़ाई-लिखाई का भरपूर मजा पाते। काठ में डाल दिए जाते और एक ही जगह सड़-सड़कर मर जाते···क्यों जी, क्या तुम्हारे शहर में मुर्दे-ही-मुर्दे रहते हैं, जो तुम्हें कोई स्कूल से निकाल बाहर नहीं करता?"

हमने जरा मुसकराकर जवाब दिया, "अंग्रेजी हुकूमत है कि दिल्लगी! किसकी मजाल है, जो हमें स्कूल से निकाल बाहर करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी के बच्चे बिना किसी भेद-भाव के हमारे पास पढ़ने आते हैं और हमारी पूजा करते हैं।"

प्रचारकजी ने फिर एक ठंडी साँस खींची और कहा, "इस कलियुग में जो पाप हो, वह थोड़ा! जहाँ भंगी-चमार गुरु होने लगे, वहाँ उन्नति की आशा कहाँ!

अब तो हमारा देश रशातल को जाएगा, रशातल को !" इसके बाद वह देवीजी की तरफ मुँह मोड़ते हुए बोले, "अब तो हम अपवित्र हो गए और ठंड का यह हाल है कि दँतौरी बज रही है। बतलाओ, अब क्या किया जाय ?"

देवीजी कभी हमारी तरफ ताकती थीं कभी प्रचारकजी की तरफ। उफ ! उनकी आँखों में कैसी आग जल रही थी। अगर बस चलता, तो वे तमाम दुनिया को जलाकर खाक में मिला देती। प्रचारकजी की बात सुनते ही उबल उठीं, "विपदा बुलाओ तुम बचवे की रस्ता पूँछो मोसें। हजार बेर कै दई के बिना जान-पैचान के आदमी की चीज-बसत नें छीबो करे; पै मोरी सुनतई नइयाँ। चाहे जो को सामान गप्प सें उठ लेत। अब निकारो कोनउँ रस्ता, बड़े सास्तरी तो बने फिरत।"

प्रचारकजी ने थोड़ी देर गुमसुम रहने के बाद हमसे कहा, "क्या तुम शचमुच भंगी हो ? हमें तो ऐशा नहीं जान पड़ता ?"

"फिर आपको कैसा जान पड़ता है ?"

"हमें तो ऐशा जान पड़ता है कि तुम ब्राह्मण हो—महाराष्ट्री ब्राह्मण !"

"ताड़ा तो खूब, मगर कैसे—यह हमारी समझ में न आया।"

"तो क्या आप शमझते हैं कि हम निरे बुद्धू हैं ? जी नहीं, हमने शास्त्रों की छान-बीन की है। बड़े-बड़े पंडितों की शोहबत की है। फिर आपकी जाति-पाँति को ताड़ लेना हमारे लिए कौन-शी बड़ी बात है ? आपकी शूरत-शक्ल, यह वेष-भूषा, यह बोली-बानी शाफ-शाफ बतला रही है कि आप महाराष्ट्री ब्राह्मण हैं। शच कहिए, हमारा अंदाज शही है या नहीं ?"

"आपने तो कमाल कर दिया ! वाकई आपका अंदाज बावन तोले पाव रत्ती सही है।"

"कहिए, कैशा ताड़ा ? धन्य महाराज ! आपने झांशा तो पूरा दिया था; मगर यहाँ कच्ची गोलियाँ थोड़े ही खेले हैं। अब धरा रह गया न आपका झांशा ? हहहह !"

जब हँसी का जोर कम हुआ तो उन्होंने मूँछों पर ताव दिया और देवीजी को तरफ आँखें उठाते-उठाते फरमाया, "देखी तुमने हमारी विद्या-बुद्धि ? हम शास्त्रों की छान-बीन करते हैं, बाल की खाल उधेड़ते हैं, आदमी की नश-नश पहचानते हैं, रोज शैकड़ों को बुद्धू बनाते हैं; कोई क्या खाकर हमें बुद्धू बनाएगा ? मगर तुमशे क्या कहें, न शोचती हो, न शमझती हो—बश, एकदम बफरने लगती हो। बड़ी बुरी आदत है तुम्हारी। इतना तो खयाल रखा करो कि हम कोदों देकर शास्त्री नहीं बने हैं।" और इसके बाद ही वह हमसे पूछ बैठे, "क्यों शा'ब, हम झूठ कहते हैं ?"

देवीजी बोलीं, "अब लगे अपनी विद्या-बुद्धि की डींग हाँकवे। कोऊ कोदों दैकें सास्तरी बनत, कै तुमई बनते ? भला हम का जानें के जे भंगी आयँ, कै बामन। अबै चेहरा कौन को उतर गओ तो—हमारो कै तुम्हारो ? जहाँ मालूम भई के जे बामन आँय, तहाँ लगे नाहर-से दलाँकबे—हम सास्तरी हैं, जे हैं, वे हैं। भलाँ तुम्हारे पास का सबूत के जे बामनई आयँ ?"

शास्त्रीजी ने जरा ऊँची आवाज में जवाब दिया, "वाह ! शुबूत क्यों नहीं है । यह तो एक अन्धा भी कह देगा कि ये ब्राह्मण हैं । जरा आँखें खोलकर देखो, फिर बतलाओ कि क्या भंगी ऐसी शूरत-शक्ल का होता है ? क्या भंगी ऐशे कपड़-लत्ते पहनता है ? क्या भंगी ऐशी शाफ-शुथरी भाषा बोलता है ।"

देवीजी और भी ऊँची आवाज में बोलीं, "तो का पहलऊँ इन आँखिन पै पट्टी बँधी हती ? पहलऊँ तो ऐसे बिचकै, जैसें बगी लगे सें बुकरिया कूँदत फिरत, और अब देखो तो, फूले नईं समात, जैसे कहूँ से कोनऊँ बड़ी लड़ाई जीत आए हों । पथरा परैं ऐसी विद्या-बुद्धि पै ।"

हमने देखा कि अब महाभारत छिड़ने में देर नहीं है, इसलिए बात बदलने की गरज से कहा, "खैर, यह झगड़ा छोड़िए । आप तो वह रास्ता बतलाइए, जिससे हम आपके धर्म का पालन करें, और बिरादरी के लोग भी हमारे पीछे-पीछे दुम हिलाते फिरें ।"

"राश्ता बहुत मामूली है । थोड़ी कोशिश कीजिए । कुछ ब्राह्मणों को हमारे धर्म के उशूल शमझा दीजिए—मतलब यह कि उनको अपना शाथी बना लीजिए । इश तरह आपकी एक अलग आजाद बिरादरी बन जाएगी । फिर आपके शामने रोटी-बेटी का व्यवहार करने की कोई दिक्कत पेश न होगी । अगर हो, तो हमें उलहना दीजिए । हम आपको अपना पता-ठिकाना लिखाए देते हैं ।"

"क्या हमारी कोशिश से ब्राह्मण अपना धर्म छोड़ देंगे और आपका धर्म कुबूल कर लेंगे ?"

"क्यों न कर लेंगे । बढ़िया चीज किशे पशन्द नहीं आती ? अभी-अभी आप खुद कुबुल कर चुके हैं कि हमारे धर्म के शामने दुनिया के शभी धर्म हेच हैं ।"

"हमारे कुबूल कर लेने से क्या होता है ? इसका यह मतलब थोड़े ही है कि और लोग भी अपने धर्म को आपके धर्म के मुकाबले में हेच समझ लें ।"

"कैशी पोच बात करते हैं आप ! जब आप हमारे धर्म को शर्वश्रेष्ठ समझते हैं, तो आपका फर्ज हो जाता है कि आप उशे और लोगों शे भी कुबूल करवाने के लिए अपनी जान की बाजी लगा दें ।"

"जी नहीं, हमारी जान इतनी फालतू नहीं है । अगर आप हमें अपनी बिरादरी में मिला सकें, तो वैसा कहिए, नहीं तो यह चर्चा छोड़िए ।"

"बश-बश, हम शमझ गए ! आपकी तो वही मशल है कि 'मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि शम' । जब आपमें अक्ल नाम की कोई चीज ही नहीं है, तो आप इश जिंदगी में धर्म का मर्म क्या शमझेंगे ! भला, ऐशे आदमी को अपनी बिरादरी में मिलाने शे हमें क्या फायदा ?···अच्छा, तो आप हैं तो ब्राह्मण ही न ?"

"क्यों, क्या अभी आपको कोई शक है ?"

"अजी, शक-वक कुछ नहीं है हम तो यों ही पूछ रहे हैं ।"

इसके बाद वे चुप हो रहे—मानों किसी सोच-विचार में डूब गए । मगर थोड़ी

देर बाद जैसे सोते-सोते चौंक उठे। सिर कुछ ऊपर उठाकर हमें ताकते-ताकते बोले, "देखिए, शच-शच बतला दीजिए, आप ब्राह्मण हैं न ? अगर भंगी हों, तो अभी वैशा कह दीजिए !"

हमने समझ लिया कि इनके मन में जो संदेह का कीड़ा बैठ गया है, वह अब इनको चैन न लेने देगा। इसलिए सवाल का जवाब सवाल के रूप में ही दिया, "आखिर आपका मतलब क्या है ? आप बार-बार यह बात क्यों पूछते हैं ? क्या आपको शक है कि हम ब्राह्मण नहीं हैं ?"

शास्त्रीजी ने अपनी कमजोरी देवीजी के सिर पर थोपते हुए कहा, "जी नहीं, ऐशी कोई बात नहीं है। हम तो इनकी खातिर पूछते हैं। हमारे यकीन करने, न करने शे क्या होता है। अशल में यकीन तो इनको होना चाहिए। शास्त्र में लिखा है कि स्त्री की बुद्धि भोंथरी छुरी की नाई भयंकर होती है। अगर आपने शास्त्र पढ़े होते, तो हमें यह बात कहने की जरूरत···"

देवीजी उनकी बात काटते हुए बोलीं, "तुम घर में रहो, चाहे बाहर; अपनी पागलपन नईं छोड़त। अगर तकरारई करबे पै तुले हो तो ऊंसी कहो; इते सोई उठा नईं धरी। बात-बात में धर्म और सास्तर की दुहाई देत फिरत—बेसरम कहूँ के। जा तो नई कैत, के इस्तरी की बुद्धि ऐसी पैनी होत, जैसे सूजो की नोंक।"

शास्त्रीजी ने कहा, "अरे नहीं, तुम शमझी नहीं। हम तो धर्म और शास्त्र का प्रचार करते हैं। इसमें तकरार-वकरार की क्या बात ? अच्छा जाओ, अब हम अपनी चर्चा में स्त्रियों का नाम ही न लेंगे। बोलो अब तो प्रशन्न हो न ?···हाँ महाराज, आपने कुली तो किया ही होगा ? वह आपका अशबाब गाड़ी में रख देगा। मगर मौत हमारी है। क्या करें, हमें कुली मिला ही नहीं। अब हमारा अशबाब गाड़ी में कौन रखेगा ?"

हमने जवाब दिया, "सामान रखवा देना कौन बड़ी बात है। मगर हम भंगी हैं।"

शास्त्री मुस्कराकर बोले, "यह मजाक छोड़िए। शच मानिए, जब आपने अपने को भंगी बतलाया, तो हम एकदम अधमरे-शे हो गए। देखिए, आप ब्राह्मण हैं; अगर आपके बिस्तर पर कोई भंगी बैठ जाय, तो भला, आपके होश-हवाश ठिकाने रहेंगे ! जब हमने मन-ही-मन आपकी शूरत-शक्ल, वेश-भूषा और बोली-बानी पर गौर किया, तो हमारी जान-में-जान आई ? जरा शोचिए, हम शास्त्री न होते, विद्वान् न होते, तो आज कितनी मुशीबत में पड़ जाते, शो भी इश ठंडी रात में।"

इस तरह हम दिल खोलकर शास्त्रीजी की विद्या-बुद्धि के साथ खेलते रहे। ठीक दो बजे पैसेंजर ट्रेन आकर प्लेटफॉर्म पर खड़ी हुई। कुली ने झटपट हमारा सामान डिब्बे में रख दिया। हमने भी अपना वादा पूरा किया—यानी कुली बनकर शास्त्रीजी का असबाब डिब्बे में रख दिया। उन्होंने पहले देवीजी के लिए बिस्तर बिछाया और उनसे

कहा, "लो, इशपर आराम शे बैठो, चाहो तो लेट रहो।"

इसके बाद वह अपना बिस्तर बिछाकर लेट गए और पल्ली ओढ़ते-ओढ़ते देवीजी से बोले, "अब तो हम शोते हैं, तुम जरा अशबाब पर नजर रखना। कहीं ऐशा न हो, कि तुम भी आँखें बंद कर लो और कोई लुच्चा-लफंगा हमारी हजामत बना जाय। शमझीं?"

डिब्बे की सभी खिड़कियाँ बंद थीं, फिर भी ठंड रोम-रोम में सिहरन भरती थी। मगर शास्त्रीजी को गर्म पल्ली के अन्दर भी नींद नहीं आ रही थी। वह बार-बार करवट बदलते थे। मुँह कभी ढाँकते और कभी खोलते थे। बेचैनी उनकी आँखों से बाहर निकल पड़ती थी। आखिर वह उठकर बैठ गए और ऊँघती हुई देवीजी पर एक नजर डालते-डालते हमसे बोले, "देखिए, हम आपशे एक बात पूछते हैं। शच-शच बतला दीजिए, आप ब्राह्मण ही हैं या और कोई?"

"जब आप सच-सच पूछते हैं, तो हम भी सच-सच बतलाए देते हैं। देखिए, हम न भंगी हैं, न ब्राह्मण। आप यक़ीन करें, या न करें, हम तो मुसलमान हैं—सोलह आने नहीं, बल्कि सवा सोलह आने।"

"पहले आप भंगी थे, फिर ब्राह्मण हुए और अब मुशलमान बन बैठे। आप न डाढ़ी रखाए हैं, न तुर्की टोपी लगाए हैं, न पाजामा पहने हैं; फिर हम कैशे मान लें कि आप मुशलमान हैं।"

"यह देखिए हमारा सिर, चोटी एकदम नदारद है।"

"चोटी तो अंग्रेजी राज्य में बड़े-बड़े ब्राह्मण-पंडित भी छोड़ चुके हैं।"

"फिर हम आपको कैसे यकीन दिलाएँ?"

"आपने तो हमें बुरे गोरखधंधे में फँशाया! देखिए, हम धर्मात्मा हैं, अहिंशा का पालन करते हैं, एक चींटी को शताना भी पाप शमझते हैं। फिर हमें शताने से आपको क्या मिलेगा? जो शच हो, वही बतला दीजिए—बड़ी मेहरबानी होगी।"

"जो सच है, वह तो हम पहले ही बतला चुके हैं।"

"क्या बतला चुके हैं?"

"यही कि हम भंगी हैं।"

"हाय री किस्मत!" कहकर शास्त्रीजी ने माथा पीट लिया। देवीजी भी अब तक चौकन्नी हो चुकी थीं। शास्त्रीजी को अपनी बद-किस्मती पर रोते देख बे-अख्तियार लगी हमें कोसने, "अरे नीच, तोरो सत्यानाश हो जाय, तोखों मरई ले जाय, तोरी ठठरी मचकत जाय। तैनें जो कौन जनम को बैर भंजाओ? अरे पापी, हमने तोरो ऐसो का बिगारो हतो, जो तैनें हमें जो दुःख दओ? जी में तो ऐसी आउत कै अपनी और तोरी जान एक कर दऊँ! अरे, कुछ तो बोल छाती-बरे?"

इस तरह हमें कोसते-कोसते जब उनके दिल का बुखार कुछ ठंडा हुआ, तो उन्होंने शास्त्रीजी से कहा, "तुम्हारे संगे जो दुःख भोगने परै, सोउ थोरो। का बताएँ,

परदेस को मामलो है। अब घरै चलो, फिर हम हैं, के तुम हो। जो तुमारी विद्या-बुद्धि में आगी नें लगाई, तो हम राजरानी काए के···अब कूटत रहो माथो! का तुमारे सास्तर में सुद्ध होव को कोनऊं उपाव नई लिखो?"

शास्त्रीजी दुःखी होकर बोले, "लिखा क्यों नहीं है। आमला जंकशन आ रहा है। वहीं उतर पड़ेंगे। शवेरा होते ही श्नान कर लेंगे, शब कपड़े-लत्ते धो डालेंगे; बश, शुद्ध हो जाएँगे। बद-किश्मती की बात है, जिश म्लेच्छ का मुँह देखना भी पाप है, वह हमारे बिश्तर पर घंटे-भर बैठा रहा।"

इतना कहने के बाद शास्त्रीजी बिस्तर गोल करने लगे। हमने उनसे अर्ज़ की, "नहीं महाराज, इस तरह साथ न छोड़िए। हम भी इंसान है, आप भी इंसान है; इसान को इंसान से इतनी नफ़रत तो न करनी चाहिए। फिर आमला में बड़ी कड़ी ठंड पड़ती है। खुली हवा में सबेरे तक तो आप लोग अकड़ जाएँगे?"

शास्त्रीजी अकड़कर बोले, "तुम्हें मतलब? अकड़ जाएँगे तो अकड़ जाएँगे; शुद्ध तो हो जाएँगे। ख़बरदार, जो अब हमशे बातचीत की!···मुफ्त में कितना प़रेशान किया। क्या बतलाएँ, अँग्रेज़ी हुकूमत है, इशीलिए खून का घूँट पीकर रह जाना पड़ता है, नहीं तो···"

थोड़ी देर बाद गाड़ी खड़ी हो गई। देवीजी से 'चलो, तैयार हो जाओ' कहते हुए देवताजी अपना सामान सँभालने लगे। मगर हमारी तबीयत न मानी, हम फिर बोल उठे, "कहना मानिए, चले चलिए; लीजिए, हम आपकी खातिर फिर ब्राह्मण बने जाते हैं।" मगर वह जो टान चुके थे, उससे हटनेवाले थोड़े ही थे। हमारी बात का जवाब दिए बग़ैर नीचे उतर पड़े और ज़मीन पर सामान रखकर यहाँ-वहाँ देखने लगे, शायद सोचने लगे—अब क्या करें, कहाँ जाएँ?

कुछ ठहरने के बाद एंजिन ने सीटी दी। अब जाकर उनकी जबान खुली। वह गिड़गिड़ाकर बोले, "दया कर शच बतला दीजिए कि आप कौन बिरादर हैं? कौन जानें, क्यों विश्वाश नहीं होता कि आप भंगी हैं।"

हमने मुसकराकर जवाब दिया, "सच तो हम शुरू में ही बतला चुके हैं, सुनिए, हम तो मुसलमान हैं, आप मानें न मानें।"

शास्त्रीजी असबाब उठाने के लिए झुके। तब तक गाड़ी चल पड़ी। शास्त्रीजी ने पेटी संभालते-सँभालते आवाज लगाई, "गाड़ी रोक लीजिए; न हो, जंजीर ही खींच दीजिए—जल्दी कीजिए, जल्दी!" इतने में गाड़ी की चाल तेज हो गई। बेचारे शास्त्रीजी आँखें फाड़-फाड़कर ताकते रह गए!

दुमकटी हथिनी

जी० पी० श्रीवास्तव

●

हास्य रस की हिन्दी कहानियों के जन्मदाता श्री जी० पी० श्रीवास्तव का जन्म सन् १८९० में हुआ था। आपकी प्रथम कहानी संवत् १९६८ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। अधिकतर आपने शिक्षा-जगत् की समस्याओं पर ही कहानियाँ लिखी हैं। आपका हास्य मुँहफट होता है, कथानक घटना-प्रधान होते हैं, और व्यंग्य कटु होता है। सामान्य पाठक आपकी रचनाएँ पढ़कर हँसी रोक नहीं पाता और बरबस खिलखिलाकर हँस पड़ता है। कहानियों के अतिरिक्त आपने प्रहसन, उपन्यास और आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं।

आपके लेखन-कार्य की प्रतिष्ठा में सन् १९३७ में ब्रिटिश सरकार ने आपको पदक प्रदान किया था और जिले के 'नोटरी पब्लिक' के पद से विभूषित भी किया था।

रचनाएँ

'लम्बी दाढ़ी', 'विलायती उल्लू', 'उलटफेर', 'गंगा-जमुनी', 'मरदानी औरत', 'दुमदार आदमी', 'भक्किन', 'चुटकियाँ' आदि।

गंगा आश्रम, गोंडा

जब मैडम कमरे में आई मैं झट उनके पैरों में गिर पड़ा

आखिर एक दिन प्रेमपत्रों की वह नायाब किताब हाथ लगी कि बस ओ! हो हो! मरी हुई जान में जान आई। नाउम्मेदी में मस्ती का जोश चढ़ा। बासी कढ़ी में उबाल आया और सच तो यों है कि शादी के बलबलों से फिर मुँह में पानी भर आया। यह किताब जो कहीं मुझे पहले मिल जाती तो कसम अपनी झेंप की अब तक 'मिसेज' के लिये मुझे हर्गिज हर्गिज हर्गिज तरसना न पड़ता। जहाँ इसमें से एक खत नकल करके किसी भी प्रेमिका को देता, तहाँ वह क्या उसके फरिश्ते मुझसे शादी करने के लिये नाक रगड़ते। इसके खत क्या थे, जोरू फँसाने के पेटेण्ट नुसखे थे। पहले पैरामें प्रेमिका की खूबसूरती की अन्धाधुन्ध तारीफ, दूसरे में अपने प्रेम की छाती-फाड़ गड़गड़ाहट, तीसरे में शादी के प्रस्ताव की मिनमिनाहट और मजा यह कि हर खत में नये ढङ्ग से। इससे बढ़कर जोरू फँसानेवालों को और लासा ही क्या चाहिये!

यह मानी हुई बात है कि प्रेमिका के सामने जबान का लासा इतना बढ़ जाता है कि उसका दिल फँसाने के बदले यह कम्बख्त अपनी ही जबान तालू में चिपका देता है। ऐसे वक्त मैं क्या, बड़े-बड़े वक्ता लोग भी इस मुसीबत में फँसफँसा कर अपना-सा मुँह लेकर रह जाते हैं और प्रेमिकाएँ उन्हें उल्लू बनाकर चल देती हैं। मगर अब इन बेढब नुसखों के आगे जबान हिलाने की जरूरत ही नहीं, तब उल्लू बनने का डर कैसा?

अफसोस है कि इस किताब का टाइटिल फट गया था, वरना इसके लेखक और प्रकाशक के नाम जानकर उसकी एक कापी खुद मँगा लेता और आप लोगों के लिये भी उसके मिलने का पता जरूर लिख देता। किताब लाइब्रेरी की थी। उसे ज्यादा दिन अपने पास रख भी नहीं सकता था! खैर, उसकी नकल कर लेना तो अपने वश की बात थी। इसलिये लेटर पेपर पर ही इसका एक-एक खत लिख डालने का इरादा किया, ताकि जरूरत पड़ने पर इन्हें लेटर पेपर पर दुबारा नकल करने का झंझट न रहे। इसी ख्याल से मैंने इसका एक खत नकल करके उसके नीचे अपने दस्तखत भी कर दिये। क्योंकि मुमकिन है, बाद में दस्तखत करने से उसकी रोशनाई खत की रोशनाई से न मेल खाती।

अभी मैं अपने नकल किये हुए खत को एक दफा पढ़कर उसके मजे ले ही रहा था कि इतने में एकाएक पापा का एक तार मिला। लिखा था—

'मिस्टर डिकेन्स तीन बजे दोपहर को डाकगाड़ी से पहुँचेंगे—गाबुल।'

वाह! वाह! इसके क्या मानी? मैं क्या जानूँ, मिस्टर डिकेन्स किस चिड़िया का नाम है? उनसे मुझे मतलब? चाहे वह दोपहर को पहुँचे, चाहे सेपहर को, मेरी बला से। इस शहर में आने-जानेवालों के नाम-ग्राम या हुलिया लिखने के लिए मैंने

कोई रजिस्टर तो खोल ही नहीं रखा है। रोज ही सैकड़ों आते हैं और चले जाते हैं। फिर इसमें आखिर कौन-सी दुम लगी हुई है कि पापा इनके पहुँचने का मुझे यह तार दे बैठे? इनकी सभी बातें ऐसी ही ऊटपटांग हुआ करती हैं और तारीफ यह कि कोई काम करूँ तो आफत, न करूँ तो आफत। हाल में ही एक दफा और जब पापा इसी तरह बाहर गये थे, तो मुझसे कह गये थे कि 'खबरदार, कोई जरूरी काम रुकने न पाये।' उनका सबसे ज्यादा जरूरी काम खतो-किताबत ही से सरोकार रखता है। इसलिए उनकी गैरहाजिरी में उनकी डाक की बड़ी फिक्र रखता था और उनके खतों को खोलकर बड़ी मुस्तैदी से काम करता था। यहाँ तक कि उन दिनों पापा से दान माँगनेवालों के दस खत आये थे। कोई नौकरी छूट जाने से दाने-दाने का मुहताज था, किसी के पास गरीबी की वजह से इम्तहान में फीस देने के लिए रुपये न थे, किसी को इलाज कराने के लिए रुपयों की जरूरत थी! गरज यह कि सभी ने पापा को दानी और रहमदिल जानकर उनसे मदद की दरखास्त की थी और मैंने भी पापा का मान रखने के लिए तुरन्त बैंक से निकालकर सभी के पास पचास-पचास रुपये भेज दिये, जिसका इनाम शाबाशी के बदले पापा ने डाँट-फटकार और घुड़कियों से दिया। मैंने तो उनकी इज्जत बनाई और उन्होंने आते ही मेरी इज्जत उतार ली। यह कहाँ की भलमनसाहत थी? इसलिए बन्दा इस दफा बहुत ही फूँक-फूँककर कदम रखता था और डाक के मामलों में तो दूर ही से कानों पर हाथ धरता था। खतों का बण्डल डाकिये से लेकर चुपचाप उनकी मेज पर पटक देता था और कभी भूलकर भी उन पर नजर नहीं डालता था। कहावत मशहूर है कि दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है।

मगर इस तार को क्या करूँ, जो पापा ने खास तौर से मेरे ही नाम भेजा है? जी में आया, फाड़कर फेंक दूँ! कह दूँगा, नहीं मिला! मगर तार लानेवाले ने उनकी रसीद मुझसे ले ली थी और पापा ऐसे आदमी नहीं हैं, कि बिना किसी मामले की जाँच-पड़ताल किये उसकी जान छोड़ दें। फिर सोचा, इसके लिए परेशान होने की जरूरत ही क्या है। इसमें इतना ही लिखा है कि मिस्टर डिकेन्स फलाँ वक्त पहुँचेंगे। ज्यादा से ज्यादा इसका मतलब यही हो सकता है कि इस बात को उनके कारबार के रोजनामचे में लिख दूँ। बस, झगड़ा खतम। इसलिए इस पर अमल ही भला क्या किया जा सकता है?

इस तार कम्बख्त ने मेरी अक्ल ऐसी बौखला दी कि उसको दुरुस्त करने के लिए डेढ़ घण्टे तक कमरे के भीतर टहलना पड़ा! उसके बाद अपना ध्यान बटाने की खातिर अपने मकान के कमरों को सजाने में लग गया। यह भी एक जरूरी काम था क्योंकि कल ही उनमें सफेदी हुई थी और सारा सामान—मेज, कुर्सी, चारपाई, आलमारी, पियानो वगैरह छोड़कर—भण्डारखाने में पड़ा था। नौकर कोई था नहीं। बैरा पापा के साथ गया था। आया को अण्टी अपने साथ अपने भाई के यहाँ ले गयी थीं। मेहतर सुबह ही झाड़ू देकर चला गया। रह गया बावर्ची। वह भी सन्नाटा

देखकर शाम का खाना दिन ही में बनाकर, रात के लिए छुट्टी ले गया था। खैर, इस काम के लिए मैं अकेला ही काफी था। क्योंकि कमरों में फर्श तो मजदूर कल ही बिछा गये थे!

अभी मैंने दीवारों पर तस्वीरें, पलंग पर बिस्तरे और दरवाजों पर ल्द लगाये ही थे कि यकायक ख्याल आया कि पापा जब कभी बाहर जाते हैं, तो अक्सर कोई-न-कोई फसल की चीज किसी के हाथ भेजते हैं। मुमकिन है, इस दफे मिस्टर डिकेन्स को यहाँ आते हुए जानकर कुछ-न-कुछ उनके साथ रख दिया हो। बस, यही बात हो सकती है। वरना इस तार की जरूरत ही क्या थी? खैर इतनी देर के बाद इसका भेद तो खुला।

अब स्टेशन पर जाना जरूरी हो गया क्योंकि तार में डिकेन्स के घर का ठिकाना भी नहीं दिया था, कि वक्त पर स्टेशन न पहुँच सकूँ तो अपनी चीज उनके यहाँ से ले आऊँ। घड़ी में देखा कि तीन बजने में अभी पन्द्रह मिनट बाकी हैं और स्टेशन साढ़े चार मील था। बस हाथ-पैर फूल गये, हालाँकि मोटर पर बड़े मजे में पहुँच सकता था। मगर बाप रे बाप! मोटर के नाम से तो यहाँ कलेजा दहल उठता है, न जाने किस बेवकूफ की सलाह से पापा ने गाड़ी-घोड़ा अलग करके यह पाजी मोटर ली थी। इसे मेरे यहाँ आये कई महीने हो चुके हैं, फिर भी कम्बख्ती की अब तक भड़क दूर नहीं हुई और न इसके मिजाज का ही कोई ठीक पता चला। सामने या दायें-बाँये जानवर, आदमी गाड़ी वगैरह देखते ही उस पर इस जोरों से झपटती है कि उस वक्त लाख रोक-थाम या कतराने की कोशिश कीजिये, सब बेकार। भीड़ और खतरे की जगहों पर तो और बमक उठती है। बिना अपना शैतानी जोश दिखाये किसी तरह भी नहीं मानती। इसी से बन्दा उसके पास नहीं फटकता था। बस, पापा ही इसकी नस पहचानते हैं और उन्हीं से ठीक रहती है। मगर इस वक्त इसको चलाने के लिए पापा को कहाँ से लाता। आखिर तकदीर ठोंककर मैं स्टेशन जाने के लिए तैयार हो गया। जल्दी में मकान बन्द करना भी भूल गया।

रास्ता निहायत सलामती से कट गया, क्योंकि सिर्फ दो बैल-गाड़ियाँ उल्टीं, एक ताँगे का बम टूटा और शायद दो या तीन—ठीक याद नहीं है—कुत्ते भी दब गये हों!

वक्त का हाल छिपा नहीं है। जब तक इस पर नजर रखो, तभी तक ठीक चलता है। जहाँ जरा निगाह झपकी कि चोर की तरह दुम दबाकर भागा। इसी से मुझे राहियों की चिल्ल-पों में इसका ख्याल नहीं रहा और स्टेशन पहुँचते-पहुँचते चार बज गये।

स्टेशन के फाटक पर सड़क के किनारे असबाब का एक अम्बार लगा हुआ था। ट्रंक, सूटकेश, हैंडबक्स, पोटमैंटो, झाबे, अजब बेतरतीबी से एक के ऊपर एक लदे हुए थे। सामने दो लौंडे स्वेटर और हाफ पैंट पहने ढेले से फुटबाल खेल रहे

थे। एक ट्रंक पर एक बुढ़िया सिर पर ऊनी टोपी पहने और बदन को जनाने ओवर कोट से कसे बन्दरिया की तरह बैठी हुई थी। पास ही एक अधेड़ साहब 'निकर-बोकर' डाटे, एक आँख में ऐनक लगाये और मुँह में सिगार दबाये मेरी आती हुई मोटर को बिज्जू की तरह खड़े घूर रहे थे। बड़ी खैरियत हो गई कि सौ कदम पहले ही मैंने मोटर रोक ली और एहतियातन पीछे चलने का 'गियर' भी लगा दिया, ताकि मोटर कुनमुनाये भी तो किसी तरह से आगे न जा सके, नहीं तो सड़क के किनारे असबाब जमाकर इस तरह अकड़ने का सारा मजा उस बेवकूफ को मिल जाता।

आदमी सचमुच ही सख्त बेहूदा और बदतमीज निकला। आते ही कम्बख्त सिर पर सवार हो गया और लगा एक साँस में पूछने—"किसकी मोटर है ? किसकी मोटर है ? किसकी मोटर है ?"

किसी की सही, उसके बाप का क्या ? ऐसे वाहियात सवाल का जवाब देने के बदले मैंने खुद अपने सवाल की झड़ी लगा दी—"मिस्टर डिकेन्स कहाँ हैं ? मिस्टर डिकेन्स कहाँ है ? मिस्टर डिकेन्स…"

अरररररर ! मिस्टर डिकेन्स का नाम सुनते ही उसकी आँखें नीली-पीली हो गईं। खौंखिया कर बोला—"इतनी देर में मोटर क्यों लाया ? तार भिजवाने पर भी उस बेवकूफ ने अब मोटर भेजी ! क्या सचमुच ही मिस्टर गाबुल का लड़का टाम इतना बड़ा गधा है कि उसे वक्त का जरा भी ख्याल नहीं।"

इतने में एक छोकरा कह बैठा—"गधा नहीं, पूरा उल्लू है उल्लू !"

"वह भी मामूली नहीं, बल्कि एकदम विलायती। यह मैं सुन चुका हूँ, बिल्ली !" यह दूसरे लौंडे ने ज़ड़ा। जब तक बुढ़िया भी रेंगती हुई आकर बड़बड़ा उठी—"यह शोफर भी तो बड़ा बेवकूफ है। एक तो देर में आया और मोटर भी रोकी तो इतनी दूर पर।"

गुस्से की बौखलाहट में इत्तिफाक से मेरा हाथ 'स्टयरिंग ह्वील'—मोटर घुमानेवाले चक्कर के बीच में पड़ गया और बिजली का भोंपू जोर से बज उठा, जिससे इन कम्बख्तों की बातें और नहीं सुन सका, नहीं तो मुझे और गुस्सा चढ़ता। गुस्से की बात ही थी, कौन भलामानुस अपनी ऐसी-ऐसी नायाब तारीफें सुनकर खुश हो सकता था। ऐसे वक्त पर यह बताना कि मैं शोफर नहीं, मिस्टर गाबुल का लड़का मिस्टर टाम हूँ अपनी आबरू को और खाक में मिलाना था, क्योंकि ये बेहूदे मिस्टर टाम को यानी मुझे मेरे ही मुँह पर बेवकूफ, गधा, विलायती उल्लू, सब कुछ तो बना ही चुके थे।

"उफ ! उफ ! कान के पर्दे फट गये। अरे, भोंपू की आवाज बन्द कर।" कानों पर हाथ धरकर बुढ़िया चिल्लाई। उसकी देखा-देखी ऐनकबाज भी डौंके—"अबे, खाली भोंपू ही बजायगा, कि मोटर आगे बढ़ायेगा भी ?"

मेरा हाथ भोंपू के बटन पर से हट गया और मैं घबरा कर बोला—"मोटर अब आगे नहीं बढ़ सकती।"

ऐनकबाज—"नहीं बढ़ सकती तो यह असबाब यहाँ तक लायगा कौन ?"

मैं उतर पड़ा और असबाब के पास जाकर पूछा—"कहाँ है जो···" इसके आगे मैं कहने ही वाला था कि "जो पापा ने भेजा है।" मगर पापा का लफ्ज जबान पर आते-आते मैंने झट से अपना मुँह बन्द कर लिया, ताकि भण्डा न फूटे। खैर ! उस ऐनकबाज ने खुद ही सबसे बड़े झाबे को दिखाकर बता दिया कि यह सब क्या है, सुझाई नहीं पड़ता ? मैंने झाबा हिलाकर देखा, उसमें नारंगियाँ भरी हुई थीं।

वाह रे पापा ! इस दफे तो नारंगियाँ पहले से भी ज्यादा भेजीं। मगर ऐसे बेहूदों के साथ भेजीं, बस इतनी ही बेवक़ूफी कर गये। जैसे ही झाबा लाकर अपने पास वाली अगली सीट पर रक्खा, वैसे ही उसने मेरा हाथ पकड़ कर असबाब की तरफ फिर इशारा किया।

मैं—"क्या अभी और है ?"

वह—"वाह बे ! आँख के अन्धे नाम नैनसुख ! चलो उठाओ उसे। यह मोटर इतनी दूर रोकने की सजा है।"

दो कैनवेस के बड़े-बड़े बैग और किताबों से भरा एक चीड़ का बक्स और लादना पड़ा। क्योंकि भारी सामान सब पापा ही का था। बाकी औरों पर तो मिस्टर डिकेन्स का नाम लिखा हुआ था, जिनसे मुझे कोई सरोकार न था। इसलिए मैं अपनी चीजें लेकर चलने की तैयारी में अपनी सीट पर बैठ गया। मगर आदमी निहायत चलता हुआ था। पापा की चीजें लाने के बदले वह अपना सामान भी मेरी ही मोटर पर लदवा कर शहर तक भिजवाना चाहता था और इसके लिए मुझी को कुली भी बनाना चाहता था। उसकी ऐसी-तैसी गोया मोटर नहीं, छकड़ा है। मगर क्या बताऊँ, उस पाजी की धाँधली के आगे मेरा कुछ बस न चला। उसने और उसके दोनों लौंडों ने मिलकर आखिर सब सामान मोटर में भर ही तो दिया। मोटर का टाप खुला हुआ था, इससे उसको और आसानी हो गयी।

मैंने 'सेल्फ स्टार्टर' दबाकर एञ्जिन चला दिया। एञ्जिन के चलते ही मोटर पीछे की ओर भागी। क्योंकि 'गियर'—आगे-पीछे चलाने का हैण्डिल—पहले से ही पीछे की चाल में लगा हुआ था, जिसका मुझे घबराहट में कुछ ख्याल ही नहीं हुआ।

मोटर को अपनी दुम की तरफ से ऐंडी-बेंडी चालों से भागते हुए देखकर एक कोहराम-सा मच गया। ऐनकबाज, जो अपनी टाँग पावदान पर रखे हुए थे, उनकी वह टाँग फैल गयी और वह सड़क पर चित लेट गये। बुढ़िया फुट-बोर्ड पर खड़ी हुई दरवाजा खोलने जा रही थी। वह जमीन पर नाक रगड़ने लगी और दोनों लौंडे, जो दूसरी तरफ से बिना दरवाजा खोले मोटर पर उचक रहे थे, गेंद की तरह बड़ी दूर तक लुढ़कते चले गये। मुझे क्या खबर थी कि यह कम्बख्त मोटर पर असबाब भी लादेंगे और उस पर खुद भी चढ़ने की कोशिश करेंगे। जब उसमें तिल धरने की जगह होती,

तब तो इन लोगों के बैठने का ख्याल किया जा सकता था। उस पर सबसे बुरी बात यह हुई कि बेवकूफों ने पिछले खाने में सब असबाब का ढेर इस बुरी तरह जमा किया था कि मोटर के पिछड़ते ही वह सब खड़बड़ाकर मेरी खोपड़ी पर फट पड़ा। यही बड़ी खैरियत हुई कि बहुत-सी चीज मेरे सिर पर से फिसलकर सड़क पर गिरती गयी, नहीं तो उस दिन असबाब के ढेर के नीचे से जिन्दा निकलना मेरे लिए गैरमुमकिन था। एक तो लोगों की चिल्लाहट से मेरी अकल बौखला गई थी, उस पर खोपड़ी की चोटों से और भी भिन्नाई हुई थी, ऐसे वक्त मैं अपनी खोपड़ी के दर्द का ख्याल करता या मोटर रोकने का ? और रोकता भी तो किसे, जो कम्बख्त अपनी उल्टी चाल से ऐसी जान छोड़कर भाग रही थी, मानो पूरा रास्ता वह इसी तरह तय करनेवाली है।

मोटर साढ़े तीन फर्लाङ्ग पर जाकर रुकी। मेरे रोकने से रुकी या अपने-आप, मुझे हल्ले-गुल्ले में ठीक पता नहीं चला। खैर, उसके खड़े हो जाने से जान-में-जान आई क्योंकि अव्वल तो मेरी पीठ में ईश्वर ने आँखें नहीं दी थीं कि देखता रहता कि वह किधर जा रही है; दूसरे, मोटर की टेढ़ी-मेढ़ी चाल से होश उड़े हुए थे कि कहीं खाई या पेड़ से न भिड़ जाय; और तीसरे, पीछे देखनेवाला शीशा कभी पेड़, कभी आसमान, कभी लम्प का खम्भा दिखला कर और हौलदिल पैदा किये हुए था। किसी तरह पन्द्रह-बीस मिनट की कोशिशों से मोटर का मुँह सीधा किया, तब तक तमाशाई मेरे सिर पर पहुँच गये। न जाने इन कम्बख्तों का मैंने क्या बिगाड़ा था कि अपने साथ ऐनकबाज के सारे कुनबे को और उसके गिरे हुए सामान को भी बटोरते लाये ! इन बेहूदों ने आते ही मारे गालियों के आसमान सिर पर उठा लिया और बुढ़िया तो ऐसी डाइन निकली कि अगर मैं 'स्टियरिंग ह्वील' और झाबे की आड़ में छिपा हुआ नहीं होता तो वह बिल्ली की तरह झपटकर मेरा मुँह जरूर नोंच लेती। इस चुड़ैल को अपने असबाब के गिरने का बड़ा अफसोस था और मेरी खोपड़ी फूटने का जरा भी नहीं।

आखिर तमाशाइयों की मदद से फिर सामान लादा गया और असबाब के ढेर पर ऐनकबाज के खानदान के चारों अदद बैठाये गये, क्योंकि मोटर में और कहीं बैठने की जगह थी ही नहीं। साहब बहादुर मेरी खोपड़ी से भी ऊँचे झाबे पर बैठे। बुढ़िया सबसे पीछे कई ट्रंक और सूटकेसों पर उकड़ूँ बैठी और दोनों बचकाने किसी तरह मोटर की दीवारों पर अटक गये।

'गियर' लगाते वक्त 'क्लच'—एञ्जिन को चाल से जोड़ने की कल—पर मेरा पैर जरा जल्दी उठ गया। मोटर उचक कर मेंढक की तरह उछल पड़ी। "अरे, बाप रे-बाप !" की आवाज सिर पर गूँज उठी। क्योंकि ये लोग असबाबों पर मुझसे दो फीट की ऊँचाई पर थे और झटके में किसी का आसन गड़बड़ा उठा तो किसी के पैर पर कोई भारी चीज खिसक पड़ी। खैरियत इतनी ही थी कि आगे सड़क साफ थी। सिर्फ पटरियों पर इधर-उधर पेड़ अलबत्ता खड़े थे। मगर जहाँ 'मार डाला ! मार

डाला ! लड़ गई, लड़ गई ! हाय हाय ! बाप बाप ! हाँ हाँ ! उधर कहाँ ! उधर कहाँ !" का शोर कदम-कदम पर हो, वहाँ मेरी मोटर अपना मिजाज भला कब तक काबू में रख सकती थी। आखिर भड़ककर दाहिनी पटरी के पेड़ को गिरा देने के लिए झपटी। किसी तरह उधर से मोड़ा तो बाईं ओर के पेड़ों की ओर घूम चली। बड़ी मुश्किल में जान पड़ गयी। इधर बुढ़िया की चिल्लाहट से और नाक में दम हो गया। आखिर चिल्लाकर ऐनकबाज से मैंने कहा—"ईश्वर के लिए अपनी माँ से कह दीजिये कि चुप रहें।"

वह उल्टा मुझी पर उबल पड़ा। घुड़ककर बोला—"बदतमीज कहीं का ! वह मेरी जोरू है कि माँ ?"

"मैं क्या जानूँ ? मगर इतना जानता हूँ कि इतनी बुड्ढी औरत जोरू नहीं कहलाती।"

इतने में पीछे से बुढ़िया बमक उठी—"इस शोफर की दुम को गोली मार दो, गोली ! अरे ! यह हरामजादा···"

"हाय ! हाय !, दब गया ! दब गया ! दब गया !"

उस चुड़ैल की चिल्लाहट से मैं कुछ ऐसा परेशान हुआ कि देख न सका कि दाहिनी पटरी पर एक गँवार एक लम्बा लट्ठ कन्धे पर रखे जा रहा है। मगर मेरी मोटर की निगाह कब चूकनेवाली थी ? आखिर गड़गड़ाकर उससे भिड़ ही तो गयी। इस बेतुके हल्ले-गुल्ले से वह चौंककर पीछे देखने को घूमा। उसके साथ उसका लट्ठा भी घूमा। निशाने पर ऐनकबाज की खोपड़ी पड़ गयी। तड़ाक से आवाज आयी। गँवार तो बाल-बाल बच गया मगर साहब की टोपी और ऐनक लट्ठा उड़ा ले गया।

'बाप ! बाप !' के साथ 'अबे रोक ! अबे रोक !!' की चिल्लाहट से कानों के पर्दे फट गये। मगर सामने पुल था, जिसके फाटक के बीच से ऐसी शैतान मोटर को सही-सलामती से सीधा निकाल ले जाना खेल नहीं था। ऐसे आड़े वक्त इन लोगों के काँय-काँय पर ध्यान देना सख्त बेवकूफी थी। इसलिए बन्दा चुपचाप अपने कान दबाये पुल के बीच का शिस्त लगा रहा था। फिर भी उसके पास पहुँचते-पहुँचते इन अक्ल के दुश्मनों ने वह आफत मचाई कि मेरा निशाना आखिर गड़बड़ा कर ही छोड़ा। मैंने समझ लिया कि अब मोटर नाले में बिना कलाबाजी खाये किसी तरह से भी नहीं बच सकती। बस दुनिया की आखिरी झलक देखकर मैंने अपनी दोनों आँखें किचं-किचाकर बन्द कर लीं।

न जाने पुल कैसे पार हो गया, यह मुझे खुद ही ताज्जुब है। पुल के उस पार सड़क ढालू थी और उसके बाद फिर ऊँची हो गयी थी। मोटर की चाल उस वक्त तीस मील प्रति घण्टे की थी। ढालू जमीन पाकर वह और भी तेज हो गयी यहाँ तक कि मैं उसे धीमी करके चढ़ाई पर चढ़ाने के लिए 'गियर' बदलूँ तब तक वह मारे तेजी के उसी चाल से खुद ही चढ़ाव पर धचाक से कूद पड़ी। बड़े जोरों का झटका लगा और मोटर जमीन से दो फुट ऊँची उछल पड़ी ! बुढ़िया ऐसा गला फाड़कर चिल्लाई कि हवा

तक थर्रा उठी। मगर शुक्र है फिर वह डरावनी आवाज सुनाई नहीं दी; क्योंकि सामने आइने में देखा कि मोटर के उछलते ही वह दो सूटकेसों के साथ पीछे टपक पड़ी।

बुढ़िया क्या गिरी कि उसके मियाँ की नानी मर गयी। हजरत लगे छाती पीट-पीटकर हाय-तोबा मचाने। ऐसी जोरू के लिए मैंने इसी बेवक़ूफ़ को इस तरह रोते देखा। दोनों लौंडों ने भी उसी वक्त "हाय! मामा गिर गयी" का जो अलाप भरा तो तमाशाई न जाने कहाँ से पैदा होकर मोटर के पीछे दौड़ पड़े। ईश्वर जाने झटके में मेरा पैर 'ऐक्सलेटर'—चाल बढ़ाने का बटन—पर जरा जोर से दब गया था या मोटर अपने पीछे भीड़ का शोर सुनते ही खुद ही जान छोड़कर भागी कि जब तक ऐनकबाज के हवास ठिकाने हों और मोटर रोकने के लिए मेरी जान खाएँ, तब तक तो हम लोग हवा से बातें करते हुए मील भर से ऊपर निकल आये।

मैं मोटर रोकता किस तरह? हाथ के ब्रेक—रोकने की कल—पर झाबा और बैग रखे हुए थे और पैर का ब्रेक ठीक काम नहीं देता था। तो भी मैं उसे दबाता जा रहा था। मगर ऐनकबाज कम्बख्त की ठोकरों और गालियों से मैं ऐसा बौखला गया कि पैर बहक कर चाल बढ़ाने के बटन पर पड़ गया और मैंने उसी को ब्रेक समझकर कस के दबा दिया।

अरररर! गजब हो गया। मोटर आँधी की तरह उड़ी और आगे जाते हुए ठेले को उलटकर दन से पटरी पर पेड़ों के नीचे हो रही। ऐनकबाज मुझे नोचने-खसोटने और गालियाँ देने में इतने मस्त थे कि उन्होंने देखा ही नहीं कि सामने एक पेड़ की डाल जरा नीचे लटकती हुई सड़क की ओर फैली हुई है। इसलिए मोटर तो उसके नीचे से साफ निकल गयी, मगर ऐनकबाज उसमें उलझकर रह गये। एक लम्बी 'ऊ-ऊ' की आवाज के साथ उनकी दोनों टाँगे झाबे पर से मैंने एकाएक उठते जरूर देखी थीं। मगर उसके बाद वह कहाँ गये, आसमान या जमीन की तरफ या शाख ही में टँगे रह गये यह मुझे मालूम नहीं हो सका। खैर, इतना जानता हूँ कि अपने साथ वह बहुत-सा फालतू सामान भी ले गये; क्योंकि डाल अपनी ऊँचाई की हद से ज्यादा कोई भी चीज मोटर पर लदा रहना अपना अपमान समझती थी।

मोटर पर की चिल्लाहट एकदम बन्द हो गयी क्योंकि दोनों लौंडे ठेले से टकराते वक्त कुछ ऐसे गिर गये थे कि तब से छिपकली की तरह मोटर की दीवारों पर चिपके ही रहे। फिर मुँह खोलने की हिम्मत नहीं की।

किसी तरह से भी चाल सुस्त न पड़ी। अब जाना कि ब्रेक के धोखे में जो मैंने चाल बढ़ाने का बटन कस के दबा दिया था; वह वहीं अटककर रह गया। शायद उसकी कोई नस बिगड़ गयी थी। इस आफत में चौराहा भी आ गया, जिसका मोड़ बड़ा टेढ़ा था। इतनी तेज चाल में मोटर मोड़ना अपनी जान पर खेलना था। मगर चारा क्या था? आखिर ईश्वर का नाम लेकर मैंने 'स्टियरिंग' घुमा ही दिया। चौराहे का पुलिसमैन लोहे के लैम्प-पोस्ट की बगल में खड़ा हुआ मेरी बेतहाशा चाल पर बिलबिला उठा और दोनों हाथ उठाकर मुझे रुकने के लिए बड़े जोर की घुड़की

बतायी मगर पलक मारते ही वह बजाय हाथ के अपनी टाँगे ऊपर उठाये लैम्प के खम्भे के नीचे कलाबाजी खाने लगा।

खम्भे का सहारा पाकर मोटर उलटने से तो बच गयी, मगर सामने का शीशा चूर-चूर हो गया। चाल में भचक और आवाज में भी गड़गड़ाहट शुरू हो गयी जिससे समझा कि पिनियन के खाली कोई दाँत ही नहीं टूटे हैं, बल्कि पहिये का टायर भी फट गया है। बकरे की माँ कब तक खैर मनाती ? ४-५ फर्लाङ्ग और जाते-जाते टूटे हुए पिनियन के दाँतों ने भीतर-ही-भीतर और भी पुर्जे ले डाले। फिर तो मोटर गड़गड़ाकर ऐसी अड़ी कि वहाँ से फिर उसने टसकने का नाम ही नहीं लिया। मोटर के रुकते ही दोनों लौंडों की जान-में-जान आयी; और दोनों कूद-कूदकर डैडी और मामा करते हुए सरपट भागे।

शुक्र यह कि मकान अब करीब ही था। मगर आस-पास कोई आदमी न था, जिससे सामान उठवाकर ले जाता या मोटर ही ठेलवाता। बड़ी देर तक खड़े रहने के बाद आखिर उधर से एक देहाती निकला। मैंने दो आने पैसे देकर उसे अपना असबाब ले चलने के लिए राजी किया। हमारी सभी चीजें ऐसी भारी थीं कि एक दफे में एक ही अदद ले जाया जा सकता था। इसलिए पहले एक बैग निकलवाकर मकान पर रखवा आया। उसके बाद दूसरा बैग, फिर नारंगियों का झाबा लदवाकर ले चला। नारंगी पहुँच जाने पर मैं मकान पर ही रह गया और उससे कहा कि चीड़ का बक्स भी लेता आए, जिसको मैं उसे दिखा आया था। क्योंकि इतनी ही चीजों को जा-जाकर लाने में बड़ी देर हो चुकी थी और मैं डरता था कि ऐसा न हो कि कहीं ऐनकबाज उधर पहुँच जाय और मुझे देख ले। इसी ख्याल से मैंने मोटर नहीं ठेलवाई, ताकि वह अपना सामान जिस तरह चाहे उठवाकर जहाँ जाना हो, ले जाये और उसे मेरे घर पर न आना पड़े और न उसे मेरा पता ही मिले। बदमाशों से दूर ही रहना अच्छा होता है।

चीड़ का बक्स भी सलामती से पहुँच गया। इन चीजों को कमरों में रखने के लिए एक दफा दफ्तरवाले कमरे में भी जाना पड़ा। घबराहट में मेज पर का 'रैक' उलट गया। हफ्तों की जमा की हुई पापा की डाक फर्श पर गिर पड़ी, एक-एक खत उठाकर मैं फिर 'रैक' पर रखने लगा। उस वक्त देखा कि उनमें एक लिफाफा मेरे नाम का है। इसकी मुझे खबर भी न थी। इन दिनों मुझसे किसी की खतोकिताबत थी ही नहीं। इसीलिए मैंने अपनी डाक की फिक्र करने की कभी जरूरत नहीं समझी और यह खत पापा के खतों में मिलाकर बिना पढ़े ही रख दिया। गौर से पते की लिखावट और मुहर देखी। पता चला, कि पापा का लिखा हुआ और पाँच दिन पहले का आया हुआ है। मैं समझ गया कि पापा ने मुझे क्या लिखा होगा। वही बेसिर पैर की बातें जो हमेशा मुझसे कहा करते हैं यानी तुम ऐसे हो वैसे हो, दुनिया में किसी काम के लायक नहीं हो, वगैरह-वगैरह, ऐसे खत का पढ़ना न पढ़ना बराबर

था। खैर, उसे बाद को पढ़ने के ख्याल से जेब में डालकर दफ्तर से निकल आया और अपने कमरे में जाकर नारंगियों के झाबे पर टूट पड़ा क्योंकि जब से इसे देखा था, तभी से तबीयत इसी में लगी हुई थी।

अभी झाबा खोलकर एक ही नारंगी का छिलका उतारा था कि बाहर बरामदे में आदमियों की बोलचाल सुनाई पड़ी।

"इसी मकान में सामान रखा जा रहा है?"

"हाँ, हुजूर, दुई आने में चार अदद ढोय लाये हैं। अउर इयू लेके पाँच भये।"

"अच्छा-अच्छा, सब सामान उतार लाओ। इनाम इकट्ठा मिल जायगा और आदमियों से कहो कि मोटर ढकेल कर यहीं कर दें। खबरदार, उसे कोई ले जाने न पाये। मैं उस सुअर के बच्चे को बिना फाँसी दिलवाये नहीं मानूँगा···ओ ताँगे-वाले, ताँगा बढ़ाकर बिलकुल सीढ़ियों से मिला दे, ताकि मेम साहब को उतारने में आसानी हो।"

न जाने क्यों मेरे हवास गुम हो गये और मैं जल्दी से अपनी चारपाई के नीचे छिप गया। कम्बख्ती के मारे उसी चारपाई पर कोई औरत भी गोद में लाकर लिटा दी गई। मैंने अक्ल से फौरन भाँप लिया कि यह वही बुढ़िया होगी, जो मेरी मोटर से लुढ़क पड़ी थी। उसको लाते वक्त एक निकर-बोकरवाली टाँग बुरी तरह लँगड़ा रही थी। ईश्वर जाने बुढ़िया के बोझ से या चोट खा जाने से।

सब कमरों में असबाब रखा जाने लगा, गोया मेरा मकान नहीं, उसके बाप का था। लँगड़ी टाँग इधर-उधर भचक-भचककर बड़बड़ा रही थी—"खैर, कमरे तो सभी सजे-सजाये और साफ-सुथरे हैं। मगर नौकरों का कोई इन्तजाम नहीं! और वह हरामजादा शोफर भी अब तक दिखाई नहीं पड़ा।"

चारपाई पर बुढ़िया मिनमिनाई—"अरे! उस शैतान का तो मैं खून पीऊँगी, तब मेरा कलेजा ठण्डा होगा। कम्बख्त ने मुझे जरा भी जीता नहीं छोड़ा और मेरे असबाब को भी चूर-चूर कर डाला।"

झूठ, झूठ, सरासर झूठ! अगर यह चुड़ैल जीती न होती तो बोलती किस तरह!

गोल कमरे में दोनों लौंडे ऊधम मचाये हुए थे। एक ने चिल्लाकर कहा—"डैडी, देखो विली पर्दे से लटक रहा है।"

दूसरा बोला—"नहीं डैडी, मैं झूला झूल रहा हूँ।"

लँगड़ी टाँग वहीं से पिनपिनाई—"खबरदार! शोर न मचाओ।"

हाय! हाय! वहाँ तो पर्दा फटा जा रहा था और इस बेवकूफ को खाली शोर बन्द करने की फिक्र थी। इतने में पर्दा फटने और किसी के जमीन पर धम्म से गिरने की आवाज आई। मैं खून का घूँट पीकर रह गया।

"लो, और झूलो!"

"बेशक, झूलूँगा। अब उस पर्दे से झूलूँगा।"

"तुम्हीं बड़े झूलनेवाले हो! मैं भी झूलूँगा।"

फिर पर्दा फटने और गिरने की आवाज आई।

"अरे ! जोन, यह देख बाजा।"

वयाला के सातों स्वर एक साथ बज उठे। हाय ! अफसोस ! गोल कमरे में तस्वीरें टाँगते वक्त मैंने पापा का वायला भी अपनी जगह पर लटका दिया था और उसी के नीचे 'पियानो' भी था।

"तुम नहीं बजाना जानते। लाओ, मैं बजाकर बता दूँ।"

"नहीं, नहीं, रहने दो। मैं नहीं दूँगा।"

"कैसे नहीं दोगे ?"

"नजदीक आओगे तो इसी से मारूँगा।"

"तुम्हारी ऐसी-तैसी।"

वयाला की तोमड़ी दीवार पर तड़ाक से बोली।

"खूब हुआ। फूट गई। मारने चले थे। ओहो ! अब क्या बजाओगे अपना सिर ?"

"पियानो बजाऊँगा।"

"जाओ जाओ, वयाला बजाओ। पियानो मैं बजाऊँगा।"

"नहीं बजाने दूँगा।"

"यह लो।"

दस पर्दे एक साथ इस तरह बोल उठे, मानो किसी ने उन पर घूँसा मार दिया हो। इसके बाद ऐसा जान पड़ा कि एक दूसरे को ढकेल-ढकेलकर पियानो के पर्दों पर पटक रहा है और खूब घूँसेबाजी हो रही है।

"अब कैसे बजाओगे ? मैं अभी इस पर लेट जाता हूँ। देखता हूँ, कैसे बजाते हो।"

एकाएक सब पर्दे झनझना उठे। हाय ! हाय ! पर्दों पर मानो सचमुच ही कोई उचककर लेट गया।

न जाने इस वक्त लँगड़ी टाँग कहाँ जाकर ऐसी बहरी हो गयी कि पापा की चीजों पर इतना जुल्म होने पर भी वह कहीं से कुछ न मिनकी। बुढ़िया अलबत्ता ऊपर चीं-चीं करती रही कि "बेटा, इतना शोर न करो।" मगर नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता ?

ऐसे बेटों को चूल्हे में झोंक दूँ। कम्बख्तों ने इतनी ही देर में वह आफत मचा दी कि सैकड़ों रुपयों के वारे-न्यारे हो गये। अब तो अपना नुकसान किसी तरह से भी सहते न बन पड़ा। जी में आया कि निकलकर इन पाजियों को इतना मारूँ कि वे भी याद करें। फिर चाहे जो कुछ हो। मगर बाहर निकलने के ख्याल से ही कलेजा काँप उठा। मैं सिमटकर अपनी जगह पर और सिकुड़ गया और ईश्वर से दुआ माँगने लगा कि जल्दी रात हो तो अँधेरे में किसी तरह लुक-छिपकर यहाँ से भागूँ।

इतने में लँगड़ी टाँग कमरे में आकर बोली—"डार्लिंग, नौकरों का अब तक

कहीं पता नहीं है। मगर बावर्चीखाने की आलमारी में खाना बना रखा है। काफी तो नहीं है, खैर इस वक्त किसी तरह काम चल जायगा।"

अरे! इस कम्बख्त ने मेरे खाने पर भी दाँत लगाया? तब क्या रात भर मुझे भूखा ही रहना पड़ेगा?

बुढ़िया—"गाबुल का लड़का कहाँ है? क्या उस बेवकूफ को नहीं मालूम था कि बिना नौकरों के किस तरह काम चलेगा?"

लँगड़ी टाँग—"यही तो मुझे भी गुस्सा मालूम होता है कि उस बेवकूफ ने अब तक कोई खबर नहीं ली। खैर, जाता हूँ अब उसका पता लगाने।"

दिल को कुछ ढाढ़स हुआ कि यहाँ से किसी तरह उसके टलने की तो नौबत आयी इसी बहाने सही। मगर कम्बख्त इस दफे दरवाजे पर पहुँचते ही चौंक पड़ा और बोला—"अरे यह नारंगी का छिलका दरवाजे की आड़ में कैसे आया? क्या बिली ने झाबा खोल डाला!"

नारंगी के छिलके का नाम सुनते ही मेरी नाक धौंकनी-सी चलने लगी। फर्श की कुल गर्द एक ही साँस में एकदम दिमाग में पहुँच गयी; फिर तो हजार रोकने पर भी ठायँ ठायँ ठायँ कई ताबड़-तोड़ निकल पड़ीं।

कम्बख्ती के मारे छिली हुई नारंगी भी मेरे पास से बरामद हो गई। अब इतना ही कहना काफी है कि अगर लँगड़ी टाँग का ढाँचा पहले से ही टूटा-फूटा न होता तो उफ! उस दिन उसके चंगुल से जीता निकल भागना किसी तरह से मुमकिन नहीं था, फिर भी उसने और उसके अचकाने-बचकाने जोरू-जाँता ने अपना हौसला कुछ बाकी नहीं रखा। उस पर भी कम्बख्तों का पेट नहीं भरा और मुझे पुलिस की इन्तजारी में गुसलखाने में बन्द रखना चाहते थे। किस तरह वहाँ से जान लेकर भागा, मुझे खुद ही नहीं मालूम, बल्कि दस बजे रात तक मुझे विश्वास ही नहीं हो सका कि मैं जिन्दा हूँ।

पापा ने अच्छा तार भेजा। यह कम्बख्त तार था या मेरे लिए मौत का नुस्खा? मैं क्या जानता था कि इसका मतलब यह होगा कि तुम अपना घर-बार मिस्टर डिकैन्स के लिए छोड़कर इस जाड़े-पाले की रात में सड़कों पर भूखों मरो। मैं समझता था कि यह कम्बख्त मुझको ढूँढने के लिए यहाँ अटका हुआ है, कुछ देर में चलता हो जायगा। मगर अब तो रंगत से ऐसा जान पड़ा कि शायद वह यहाँ से जाना आज भूल गया।

बला की सर्दी और पहाड़-सी रात, उस पर मारे भूख के किसी तरह चैन ही का नहीं पड़ता था। एक-एक मिनट काटना मुश्किल हो गया। उस वक्त पापा के खत का ख्याल आया। चलो, वक्त काटने का मसाला तो मिला। सड़क की रोशनी में मैं उसे पढ़ने लगा।

पापा ने बहुत-सी बेतुकी बातें लिखने के बाद लिखा था—"इसके साथ जो दूसरा खत भेजता हूँ, वह मैडम फैटी के लिए है, जो परदेशियों के ठहरने के लिए

किराये पर कमरे देती है। इस खत को पाते ही तुम मैडम फैटी को दे देना और तीन सजे-सजाये कमरे, एक ड्राइङ्ग-रूम, एक बावर्चीखाना और एक गुसलखाना मेरे एक मुलाकाती मिस्टर डिकेन्स के लिए, जो वहाँ हवा-पानी बदलने की खातिर जानेवाले हैं; महीने भर के वास्ते सुरक्षित करा देना। कमरों को तुम देख-भाल लेना, ताकि बाद को उन्हें कोई शिकायत न हो। इनके पहुँचने का वक्त मैं बाद को तार देकर बताऊँगा। उसकी खबर तुम मैडम फैटी के पास भेज देना। वह स्टेशन पर इनके लिए सवारी का भी इन्तजाम कर देंगी।"

दोनों लेटर-पेपर मेरे हाथ से गिर पड़े। अब इसके आगे क्या पढ़ता ? अपना सिर ? बस, कलेजा थामकर वहीं बैठ गया और एकदम महीने भर तक के लिए।

मगर पापा ने अपने खत में जिस मैडम फैटी का जिक्र किया है वह है कैसी, आप अनुमान नहीं कर सकते। उनकी हुलिया चाहे कितनी ही बढ़ाकर बतायी जाय, फिर भी वह ठीक नहीं उतरती। क्योंकि वह इतनी मोटी हैं कि उनकी मोटाई कभी कल्पना में समा ही नहीं सकती। अगर आप उनके चारों ओर खाली घूमना चाहें तो सच जानिये कई घंटे लग जायँगे और बहुत मुमकिन है कि आप बीच में हाँफकर बैठ जायँ और उनकी परिक्रमा पूरी न कर सकें। तभी तो वह संसार भर की मोटी स्त्रियों में दस साल से लगातार प्रथम होती आई हैं और नुमाइशों में बराबर तमगे पाती रही हैं। और तारीफ यह कि इस मोटाई पर एक-दो नहीं; बल्कि सात पति सिलसिलेवार बलिदान भी हो चुके हैं। एक बेचारा सोहाग रात ही को इनके करवट के नीचे पिचकर ऐंठ गया। दूसरा कम्बख्ती का मारा चौखट के भीतर इनके साथ पड़ जाने से उसमें ऐसा अंड़स गया कि फिर वह जीते जी उसमें से निकल न सका। तीसरा इनके साथ रेल के कोने में बैठा सफर कर रहा था। एक दफा मैडम ने जरा कसके साँस ली तो पति साहब अपनी जगह पर दबकर ठंडे हो गये। यही गति बाकी चारों की भी हुई।

इनकी उमर कुछ कम नहीं, पूरे साढ़े पचपन बरस की थी, मगर मोटाई के मारे न इनके गालों पर झुर्रियाँ पड़ीं और न कमर ही झुकी। जब जिन्दगी में वह कभी अपने पैर के अँगूठे देख नहीं सकीं हैं तो इनकी कमर के झुकने का ख्याल करना बेकार है। यही हाल इनके गालों का है, जिनकी खाल तीन-तीन इञ्च मोटी होने के कारण कभी सिकुड़ने का नाम नहीं लेती, बल्कि उसने तो अपनी मोटाई से चेहरे भर को इस तरह छिपा रखा है कि दूर से पता नहीं चलता कि उसमें आँख, मुँह और नाक के कहीं सुराख भी हैं या नहीं! मगर हाँ, वह मुण्डी अलबत्ता हो गयी है। इसका हाल मुझे बड़ी मुश्किलों से मालूम हुआ और बड़े अजीब ढंग से।

एक दिन मैं मछली के शिकार से अपने कन्धे पर डगन रख घर आ रहा था। रास्ते में मैडम फैटी अपने फाटक पर ढेर की ढेर खड़ी थीं। मैंने इन्हें सलाम करने के लिये अपना टोप उठाना चाहा, तब जाना कि डगन की कटिया पीछे मेरे कोट में फँस

गई। सलाम करना तो गया भूल और लगा दोनों हाथ से डगन पकड़कर झटका देने। मगर इससे मेरे कोट के पीछे कुछ ऐसा जोर पड़ा कि मैं अपने को सम्भाल न सका और जमीन पर अररर धड़ाम से मुँह के बल गिरा। मैडम ताली बजाकर खिलखिला पड़ीं। मगर अभी बेचारी हँस ही रही थीं कि मेरे गिरने से कटिया मेरे कोट से छूटकर तड़ाक से उनकी खोपड़ी पर जा लगी। मैं हड़बड़ाकर उठा और जल्दी से डगन खींचा तो उनके नकली बालों का गुच्छा कटिया में फँसकर निकल आया। वैसे ही मैं डगन लिये भाग खड़ा हुआ, क्योंकि उस वक्त मैडम की सूरत एकदम ऐसी बिगड़ गयी थी कि कार्टूनिस्ट के फरिश्ते भी उसका नक्शा नहीं उतार सकते हैं। ईश्वर सलामत रखे मेरी चाची को इन्होंने उनके बालों के गुच्छे को ले जाकर उन्हें वापस किया और किसी-न-किसी सूरत से यह मामला रफा-दफा किया। उस दिन से फिर, मैंने ऊपर जाने की हिम्मत नहीं की। मगर यह बात पापा से गुपचुप रखी गयी, नहीं तो पापा मुझे मैडम के पास जाकर डिकैन्स के लिये कमरे ठीक करने के लिये हर्गिज न लिखते।

हाँ, पहले मैं मैडम के यहाँ जरूर जाया करता था; क्योंकि अव्वल तो वह मुझे दुमकटी हथिनी के सिवाय किसी तरफ से भी स्त्री नहीं मालूम होती हैं, जिससे उनके सामने मेरे झेंपनेवाले मिजाज के भड़कने का डर हो। दूसरे, उनकी इस सूरत-शक्ल, डीलडौल बदन और ढाँचे पर भी पतियों का काफ़िला का काफ़िला लगातार इनके चंगुल में फँसते देखकर मुझे विश्वास था कि हो न हो, यह कोई वशीकरण मन्त्र जानती है, जिसको मैं भी जोरू फँसाने के लिए कुछ-न-कुछ इनसे सीख लेना चाहता था। मगर बहुत छानबीन करने पर पता चला कि इनका पहला पति पहले एक जाल के मुकदमे में फँसा हुआ था, जिसमें मैडम सबूत की मुख्य गवाह थीं। उसने झट से इनसे शादी कर ली, ताकि यह उसके खिलाफ गवाही न दें। दूसरा एक मुसाफिर था, जो इनके यहाँ आकर ठहरा था। उस पर इन्होंने चोरी का इल्जाम लगाया। उस बेचारे ने भी उनसे शादी कर लेने में ही अपनी बचत देखी। ऐसे ही हथकंडों से एक-न-एक इनके जाल में बराबर फँसता ही रहा। यह हर वक्त इसकी ताक में भी रहती हैं और इस फन में ऐसी उस्ताद हैं कि जिस पर उन्होंने निगाह डाली; फिर क्या मजाल कि वह जीते जी इनके पंजे से निकल सके? अगर ऐसा न करें तो इनका काम भी न चले क्योंकि इनके यहाँ किराये पर मुसाफिरों को ठहराने के अलावा डबल रोटी और केक बनाने का भी कारबार होता है, जिसकी देखरेख के लिये यह अपनी चर्बी पिघल जाने के डर से तन्दूर के पास खुद बैठ नहीं सकतीं। एक दफा बैठी थीं, मगर नतीजा यह हुआ कि कमरे भर में कीचड़-ही-कीचड़ हो गया। किराये के आदमियों पर न इतना एतबार और न उनमें ऐसी मुस्तैदी। इसलिये कम-से-कम इस काम के लिये इन्हें एक पति रखना जरूरी होता है।

मगर भाड़ में जाएँ वह और उनका काम। यहाँ सड़क पर जाड़े की रात की ठंडी हवा से एक ही घंटे में मिजाज ठण्डा हो गया। न दौड़ और न बैठक लगाने से ही चैन मिलता था। बड़ी मुश्किल में जान पड़ गई। कहाँ से पापा ने मुझे इस मुसीबत

में फँसा दिया कि न मैं घर का रहा और न घाट का। और कहीं पापा और चाची दोनों आधी रात को गाड़ी से आ पड़ें तो मकान डिकेन्स के खानदान से भरा हुआ पाकर उनकी भी यही गति होगी। वे भी सड़क ही पर डण्ड पेलेंगे। उस वक्त सारा गुस्सा मुझी पर उतारा जायेगा और बाद मे यह खबर जब मैडम फैटी के पास पहुँची कि मैंने उनके मेहमान को अपने घर ठहराकर उनके किराये का नुकसान किया है, तो मैं जिन्दा न बचूँगा। इसलिए बेहतर यही मालूम हुआ कि मैं इसी वक्त मैडम फैटी के पास जाकर उनके पैरों पर गिर पड़ूँ और अपनी भूल की माफी माँगता हुआ उन्हें पापा का खत देकर कहूँ कि किसी-न-किसी तरह अपने मेहमान को अपने यहाँ बुलाने की युक्ति करके मेरा उद्धार करें।

जिस वक्त मैं मैडम के घर पहुँचा, ग्यारह बज चुके थे। मगर धन्य ईश्वर की कृपा कि उस वक्त भी वहाँ चहल-पहल थी। सभी जाग रहे थे। गोल कमरे में एक तरफ ग्रामोफोन बज रहा था। दूसरी तरफ कुछ मेहमान लोग ताश खेल रहे थे और बीच में पहाड़ की तरह मैडम फैटी खड़ी थीं। मैं अपनी गरज का बावला था। दनदनाता हुआ मैडम के पास जाकर अलग हट चलने का इशारा किया, क्योंकि वह जरा ऊँचा सुनती हैं।

जब मैडम दूसरे कमरे मे आईं, मैं झट उनके पैरों पर गिर पड़ा और इसके बाद हाथ जोड़े चिल्ला-चिल्लाकर उनसे माफी माँगने लगा—"मैडम, माफ कीजिए। मेरे कसूरों को माफ कीजिए! अगर आप माफ न करेंगी तो फिर मैं दुनिया को मुँह न दिखाऊँगा, अभी जाकर डूब मरूँगा। ईश्वर के लिए मेरे प्राण बचाइये। मेरा उद्धार आप ही के हाथ में है।"

वह तुतलाकर बोलीं, क्योंकि जीभ की मोटाई के मारे साफ उचारण नहीं कर पातीं—"त्या हुआ मित्तल ताम दाबुल ?"

मैंने जल्दी से किसी तरह जेब से पापा का खत निकालकर दिया और कहा—"पहले इसको पढ़ लीजिए, तब आगे कुछ कहूँ।"

वह जेब से एक आतशी शीशा निकालकर उसे अपनी एक आँख से पढ़ने लगीं, क्योंकि उनकी दूसरी आँख शीशे की है और चश्मा इस डर से नहीं लगातीं कि शायद वह बूढ़ी न समझी जाएँ।

खत पढ़ते ही वह चिंघाड़ मार के हँस पड़ीं और इस खुशी में वह इतनी फूलीं कि मैं समझा कि शायद यह अब कमरे में समा न सकेंगी। उनकी यह रंगत देखकर मेरी जान-में-जान आई और मैं भी हँस पड़ा।

अब वह लगीं चहकने—"अले मेले प्याले ताम, तुम इतने दिनों तत तैछे छबल तलते लहे ? जान गई झेंप ते माले तुम छलमाते थे। अब न छलमाओ, मेले प्याले ! मैं भी तुम तो प्याल तलती हूँ। मत घबलाओ, छबेले ही तुमाले छे ब्याह तला लूँगी। आओ, प्याले, तुम तो तलेदे छे लगा लूँ।"

अररररर ! यह क्या गजब हुआ ? यह यकायक पागल हो गयी क्या ! मेरी

हक्की-बक्की बन्द हो गयी। मैं जो कुछ कहने वाला था, सब भूल गया। बस, घबराकर उसका मुँह देखने लगा। इतने में उसने सचमुच मुझे लोमड़ी की तरह उठाकर अपनी गोद में कस लिया और दनादन मेरा मुख चुम्बन करने लगी। मैं और घबरा गया। जितना ही मैं घबराकर अपना मुँह इधर-उधर झटकता था, उतना ही उस दुमकटी हथिनी का जोश बढ़ता जाता था। यहाँ तक कि एक दफा मेरी नाक उसके मुँह के निशाने पर पड़ गयी, तो वह उसी पर हमला कर बैठी। नतीजा यह हुआ कि उसके दोनों जबड़े उसी पर कच्च से बैठ गये। मैं चिल्लाकर पिछड़ा और अब उसके हाथ यकायक ढीले पाकर मैं जान छुड़ाकर भागा। मगर अफसोस! भूल से मैं गोल कमरे में घुस पड़ा। सब लोग मुझे देखते ही चीख उठे—"अरे! यह तुम्हारी नाक पर क्या लगा है!"

अब जो नाक पर हाथ फेरा, तो जाना कि हाय! हाय! मैडम के नकली जबड़े मेरी नाक को दाबे उसके मुँह से निकल आये है और कम्बख्त अब तक वैसे ही मेरी नाक पर लटक रहे हैं। उसके दोनों हिस्से टूटे हुए होने के कारण बुढ़िया ने तार से उन्हें न जाने किस तरह बाँध रखा था कि दोनों उसी में उलझकर इस तरह आपस में गुँथ गये थे कि उस वक्त किसी की हिकमतों पर भी वह न छूटा। वहाँ तो लोगों का हँसी से बुरा हाल था। उसको मेरी नाक से छुड़ाने के लिए किसी की अक्ल क्या खाक काम करती? आखिर मैडम फैटी ने आकर मेरी नाक का उद्धार किया और बोलीं—

"यह मेले दाँत ता तछूल नहीं है। तेला नाम झेंपू है। उछे चुम्बन लेना नहीं आता। इछ जोल छे इछने अपनी नात मेले मुँह में थूछ दी ति मेले दाँत निताल लाया। मगल मैं इतकी मुहब्बत छे तुछ हूँ। यह मेले भावी पति हैं और छब पतियों छे यह बल्हकल नितलेंगे। यह मुझे बिछवाछ है···"

मेरी समझ में खाक-बला कुछ भी नहीं आया। बस, इतना जानता हूँ कि एक दफा मैंने चिल्लाकर कहा—"नहीं, नहीं, हर्गिज नहीं।"

वह बमक उठी—"तैछे नहीं? मत छलमाओ। तुम्हाला प्लेम अब छिपाने छे छिप नहीं छतता। तुम उछे मेले पैल पल दिल तल दिया चुते हो। औल तुम्हारे प्लेम चुम्बन ता छबूत छबने देखा है।"

मेहमान लोग भी ताईद करने लगे—"हाँ, हाँ और इनका आपके पैरों पर का गिड़गिड़ाना भी सुना है! बहुत चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि मेरा उद्धार आपके ही हाथ में है।"

मैडम फैटी—"यहीं तत नहीं। इछता यह प्लेम-पत्र तो देखिये जो इछने हम तो दिया है।"

यह कहकर उस खत को सभों की हँसी के बीच में पढ़कर सुनाने लगी, जिसे मैंने पापा का खत समझकर उसे दिया था।

अब सारा रहस्य समझ में आ गया। हाय! हाय! गजब हो गया! लुट गया!

बरबाद हो गया ! बेमौत मर गया ! क्योंकि वह पापा का खत नहीं था बल्कि भूल से उसे मैं वह खत दे बैठा था, जो किसी प्रेमिका को देने के लिये आज मैंने प्रेम-पत्रोंवाली किताब से नकल किया था और हाय ! अफसोस ! उसे भी कम्बख्ती के मारे मैंने जल्दी में जेब में ही रख लिया था। मैं वहीं सिर पकड़कर बैठ गया।

मेरी किस्मत में तो यह दुमकटी हथिनी लिखी हुई थी वह भी कैसी ? सोलहों कला सम्पन्ना अर्थात् मोटी, बुड्ढी, बहरी, मुण्डी, कानी और बे-दांत की, तब मैं हूर परी या कोई युवती कहाँ से पाता ? वाहरी तकदीर ! सैकड़ों जगहें ठोकरें खाईं और आखिर फँसा तो कहाँ ? और इस बुरी तरह कि इस हथिनी के पंजे से मुझे दुनिया में कोई छुड़ा नहीं सकता था। पापा और अण्टी भी पहुँची कब, जब दूसरे दिन मेरी शादी हो चुकी।

पापा ने झल्लाकर मुझसे कहा—"इससे तो अच्छा यह था कि तू जन्म भर झंपू ही बना रहता—बिन ब्याहा ही रहता।"

मैंने जवाब दिया—"हाँ, तब करवट के नीचे दबकर मुझे मरने का अन्देशा न रहता। इसलिए कृपया आप मुझे विवाहोपहार में एक ताबूत दीजिए, ताकि मेरे मरने के बाद उसके बनवाने का झंझट न रहे। छोटा ही चाहिए, क्योंकि मेरी लाश चिपककर बहुत छोटी हो जायगी।"

मामाजी कार के चक्कर में

दिवाकर

●

श्री दिवाकर का जन्म सन् १९१५ में अल्मोड़ा में हुआ था। वास्तविक नाम देवकीनन्दन पांडे है किन्तु साहित्य जगत् में 'दिवाकर' के नाम से जाने जाते हैं। एम० एस-सी० तक शिक्षा प्राप्त की है। आजकल गवर्नमेण्ट जुबली इण्टर कालिज, लखनऊ में भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक हैं। आपकी कहानियाँ हिन्दी की सभी उच्चकोटि की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित और आकाशवाणी से प्रसारित होती रहती हैं। भ्रमण के शौकीन हैं। अभी-अभी दो वर्ष कनाडा में विज्ञान-शिक्षण का अध्ययन कर लौटे हैं।

मुख्य मंत्री का अतिथिगृह, कालिदास मार्ग, लखनऊ

चाय, मिठाई, नमकीन की ट्रे लिए चन्दो बेटी भी चली आई

मामाजी को कार की इतनी ही उत्कट चाह थी जितनी ढलती उम्र के विधुर को नार की या होनहार नेता को हार की। किन्तु रस का स्वाद ले चुके विधुर या विधान सभा के टिकट की आकांक्षा रखने वाले नवोदित नेता की बात तो समझ में आ सकती है किन्तु मामाजी को लम्बी यात्रा में जाकर टी० ए० बनाने की आवश्यकता नहीं थी, तब यह कार की चाहना क्यों ? उनका तो अधिक समय घर पर ही बीतता था। लेकिन स्पष्ट है कि लखनऊ जैसे नवाबी शहर में भी कोई व्यक्ति चौबीसों घंटे घर पर ही बैठा ध्यानमग्न नहीं रह सकता। मामाजी योगी तो न थे जो एक आसन पर बैठे रहते। वह थे शौकीन तबियत के, कलाकार, पढ़े-लिखे व्यक्ति, उनको बाहर निकलना ही पड़ता। ऐसी दशा में वह जब अपने भाग्यशाली मित्रों को कार पर बैठा देखते तो उनका जी इस प्रकार मचल उठता जिस प्रकार कालिज के नौजवानों का जी सिनेमा की सुन्दरियों के हस्ताक्षरयुक्त फोटो के लिये। मामाजी की तड़पन देखकर उनके मित्रगण भी बार-बार कार की याद दिलाकर अपना कर्तव्य पूरा कर लेते।

नई कार खरीदना मामाजी के लिये नई नवेली दुल्हन लाने की तरह कठिन था, लेकिन चली हुई पुरानी कार के लिये उन्होंने पैसा जोड़ लिया था। न हुई हस्ताक्षरयुक्त तसवीर, फिल्मी पत्रों से काट ली गई तसवीर ही सही। उसी में सन्तोष है। मामाजी को अब गृहस्थी की भी कोई विशेष चिन्ता न रही थी। बेटा कम्पीटीशन में अभी पहली ही बार असफल हुआ था, बेटी ठिकाने लग चुकी थी, पत्नी उस अवस्था में पहुँच चुकी थी जब सेण्डिल, साड़ी, सिनेमा और किस्सा तोता-मैना का स्थान मन्दिर, भागवत और रामायण ले लेते हैं, तब रुपया कार के लिये ही क्यों न बचाया जाय ? कार की तमन्ना क्यों दिल में रह जाय ? कार खरीदने की बात से मामाजी के चेहरे पर सात्विक हर्ष के वही भाव आ जाते थे जो प्राचीन काल में किसी गृहस्थ के चेहरे पर पचास साल पूरे हो जाने पर वन की ओर प्रस्थान करने के विचार से आते थे।

मामाजी आये दिन मामीजी से कहते, "शकुन्तले, जीवन बेकार है, बे कार के। मिल जाय एक छोटी-सो, आ जाय जीवन में तरी।"

शकुन्तला अर्थात् मामीजी भौं चढ़ाकर कहतीं, "फिर कविता करने लगे ! यह पागलपन भी क्या कि बुढ़ापे में भी शकुन्तले, शकुन्तले ! अब तो बच्चे भी सयाने हो गये। छोड़ो यह सब चक्कर।"

मामाजी कहते, "ओफ ! श्याम की माँ, तुम्हारे विचार पुराने ही रह गये। मैं कार की बात करता हूँ और तुम मुँह बनाती हो।"

मामीजी कहतीं, "मैंने कब कहा कार न खरीदो ? मैं तो खुद चाहती हूँ कार ! रोटी सेंकते आटा कम पड़ा कि झट कार पर बैठकर फतेगंज से गेहूँ पिसवा

लाई। मेहमानों का हाथ धुलाते-धुलाते साबुन की बट्टी खतम हुई कि चट हजरतगंज से आ गई। सलो की गाड़ी छूट जाय तो फौरन कार से ससुराल चली जाय। लेकिन मैं तो तुम्हारे पागलपन की बात कर रही हूँ। पास-पड़ोस वालों का तो लिहाज करो।"

मामाजी नाराज होकर कहते, "अच्छी चीज के पीछे सभी पागल होते हैं। तुम माँ-बेटों को तो मेरी कोई बात अच्छी नहीं लगती, कार की बात करूँ वह बुरा, कविता करूँ वह बुरा।"

मामीजी भी तुनककर कहतीं, "कविता भी हो तो ढंग की। दोहा हो, चौपाई हो। किशन कहता है कि लोग नाम रखते हैं, तुम बादी कविता गढ़ते हो।"

किशन अर्थात् मैं घबराकर कहता, "अरे नहीं मामीजी, मुझे प्रयोगवादी कविता अच्छी लगती है।"

मामाजी चिढ़कर कहते, "मैं वाद से दूर रहता हूँ, मैं जीन पाल की परम्परा पर चलता हूँ।"

मामीजी भी चिढ़कर कहतीं, "अब जीन तान बेचनेवाले के चेले बन गये। हाय भगवान्!"

अब मामाजी ठहाका मारकर हँस पड़ते, "बलिहारी तुम्हारे ज्ञान की! अरे पगली जीन पाल का जीन तान से क्या सम्बन्ध? वह तो अमेरिका का प्रसिद्ध कवि है। उसके पास दो कारें हैं।"

फिर मेरे चेहरे पर पहेली न बुझा पाने वाले बच्चे का-सा भाव देखकर कहते, "अरे तुम गद्य लिखते हो, पद्य की बात क्या जानो? जीन पाल सार्त्र का नाम सुना कभी? वह कहता है कि कविता के लिए कार जरूरी है। तुम्हीं सोचो चाँदनी रात में रूमी दरवाजे पर जाकर महाकाव्य लिखने के लिए कार कितनी जरूरी है।"

मामीजी झल्लाकर कहतीं, "यह बेडरूम, बाथरूम पर कविता गढ़ना छोड़ो। पड़ौस में लल्ला बाबू की बहू कहती थीं कि तुम कबूतरियों से भी मेल-मिलाप बढ़ा रहे हो।"

मामाजी भृकुटी चढ़ाकर कहते, "देखो, मुझे आलोचना अधिक पसन्द नहीं।"

मामीजी हाथ नचाकर कहतीं, "कबूतरियों का जिक्र आया, आपने बात टाली और आलू-चने की बात करने लगे। आलू, चना, अमचूर को कई दिन हो गये, आजकल मटर छौंक रही हूँ।"

रोष के बावजूद भी मामाजी के चेहरे पर मुसकान आ जाती। समझाकर कहते, "कवि-सम्मेलनों में जाऊँगा तो कवित्रियों से मेल-मिलाप होगा ही। लेकिन जब तक मैं किसी के पीछे दीवाना नहीं हो जाता, तब तक तुमको क्या फिकर?"

मामीजी आँचल से मुँह ढककर कहतीं, "बुढ़ापे में कार का तो शौक हुआ ही, इसकी ही कसर रह गई है। हाय भगवान्, अब क्या देखना रह गया?"

अब मामाजी नर्मी से कहते, "क्या सचमुच तुमको कार से चिढ़ है? कहो तो न खरीदूँ। जो रुपया इकट्ठा कर रखा है किताब छपवाने में खर्च कर दूँ।"

अब मामीजी घबराकर कहतीं, "किताब छपवाने का नाम न लो। मैं तो चाहती हूँ कार आ जाय तो नरही के छोटे हनुमान को छोड़कर अलीगंज के बड़े हनुमान के दर्शन करने जाऊँ। लेकिन तुम्हारे तो शौक बढ़ रहे हैं। मैं बुढ़िया हो चली। खैर, मैं बेटे के पास चली जाऊँगी। तुम दूसरी ले आना···"

मामाजी प्यार से कहते, "यह क्या कहती हो शकुन्तले? पुरानी स्त्री पुरानी जूती की तरह ही प्यारी होती है। लेकिन मैं करूँ क्या? कार का शौक है तो दौड़-धूप भी करनी पड़ेगी। यह किशन की कहानी नहीं है कि कुर्सी पर बैठे-ही-बैठे पूरी हो जाय।"

मामीजी मुँह बनाकर किचन की ओर चली जातीं और मामाजी बाहर निकल पड़ते, लेकिन कार का बोझ मन में लिये हुए। रास्ते में जो भी मिलता कार की ही बात होती। कविता में भी कार की ही उपमाएँ सूझतीं। प्रेयसी की मादक आँखों में कार की हैड-लाइट दिखाई देती, मन्द-मन्द चाल में भीड़ में फँसी हुई कार का रेंगना दिखाई पड़ता, असफल प्रेम की ठण्डी आह, पंकचरवाले ट्यूब की 'फिस' जान पड़ती, मीठी वाणी में मौडर्न कार का संगीतमय भोंपू सुनाई पड़ता, और यदि प्रेयसी कामशास्त्र की नाप के अनुसार पतली न हो तो गोल-मटोल डनलप टायर याद आने लगता। मामाजी की कविता ही कारमय होने लगी थी।

मामाजी के कार बिना नीरस जीवन की कहानी शीघ्र ही सफल कवि के विकट प्रयोग की तरह शीघ्र ही चारों ओर फैल गई।

हरीश जी कहते, "कार रुकते ही जब चपरासी तपाक से सलाम मारकर दरवाजा खोलता है तो कार पर बैठा व्यक्ति यूँ ही उछल पड़ता है। उतना तो प्रसिद्ध से प्रसिद्ध आलोचक भी अपने गुट के नये लेखक को नहीं उछाल पाता।"

दिनेश जी कहते, "पैदल जाकर बड़े लोगों से मिलना वैसा ही है जैसा दोहा, चौपाई लिखना। कोई नहीं पूछेगा। तांगे पर जाओ तो चपरासी खड़ा होगा जरूर, लेकिन जैसे मास्टर के आने पर आजकल का विद्यार्थी। कार पर जाने से ही सिनेमा अभिनेता का-सा स्वागत सम्भव है।"

गणेश जी कहते, "अभी उस दिन चपरासी ने मेरा कार्ड घंटा भर बाहर रोक दिया। मैं पैदल जो गया था। गोपाल जी मँगनी की कार पर धड़धड़ाते पहुँचे तो कार्ड यूँ अन्दर गया जैसे खरीदा गया वोट बक्स में जाता है।"

लता जी कहतीं, "इस युग में गीत में ही जीत है, लेकिन बिना कार के कैसा गीतकार? कार हो तो हर पूर्णिमा को झील और जंगलों में जाकर गीत लिखे जा सकते हैं। तभी प्रयोगवादी परास्त हो सकते हैं।"

नौजवान भवेश जी मेरे कान में कहते, "मामाजी कार ले आयें तो दो एक सुन्दरियों को मैं और तुम भी घेरे में ले आयें।"

मामाजी पूछते, "यह खुसर-पुसर क्यों?"

मैं हड़बड़ाकर कहता, "कुछ नहीं, कुछ नहीं। कार के प्रगतिशील पहलू पर प्रकाश पड़ रहा है···"

अब मामाजी सचमुच पुरानी कार की खोज में इतना व्यस्त हो गये जितना व्यस्त न बिक सकने वाले उपन्यासों का लेखक कथा-वस्तु की खोज में होता है। ऐसे अवसरों पर सिनेमा में विज्ञापन की तरह मैं भी उनके साथ चिपका रहता था। सच बात तो यह है कि मामाजी पागलों से, कुत्तों से, सुन्दरियों से, विद्यार्थियों से, दूकानदारों से और पुलिस के सिपाहियों से बहुत डरते थे, इसलिये छड़ी के साथ-साथ मुझको भी संग रखते थे। कहते थे—'किशन गद्य लिखता है तो क्या, निरा गधा तो नहीं है। दौड़-धूप, मोल-तोल के लिये न छायावादी चाहिये, न रहस्यवादी; स्वस्थ मर्द चाहिये।'

मैंने कार के चक्कर में मामाजी के साथ पूरा लखनऊ छान डाला। विज्ञापनों के लिये हिन्दी के समाचार-पत्र और हिन्दी के सिनेमा तक देखना मंजूर किया। एक प्रगतिशील पत्रिका का वार्षिक चन्दा इस लोभ में जमा कर दिया कि कहीं ऐसा न हो कि धीरे-धीरे सर्वहारा के गौरवपूर्ण पद पर आसीन होने वाले उजड़े रईसों की कारों की बिक्री के विज्ञापन निकलें और हम चूक जायें। यह बात दूसरी है कि हमें एक ही अंक देखने को मिला, जिसमें विज्ञापन के नाम पर 'महात्मा जी का चमत्कार' तक नहीं था। महीनों भटकने पर भी हमने हार न मानी। हमारे सामने ऊँचे आदर्श थे। मामाजी ने अपनी पहली कविता की सूझ चार महीने के मनन के बाद पाई थी। मैं स्वयं छः महीने से विभिन्न कहानी-संग्रहों के पन्ने उलट रहा था कि कहानी प्रतियोगिता में अपनी पहली कहानी के लिये कोई मौलिक प्लॉट पा जाऊँ। मोती गहरे पानी में डुबकी लगाने पर ही मिलते हैं।

एक एजेंट ने बताया कि एक जगह कार बिकाऊ है। भागे गये तो मालूम हुआ घण्टा भर पहले कार कौड़ियों के मोल बिक चुकी है। तब समझ में आया कि अणु-शक्ति के युग में घण्टा भर क्या, पल भर की देर भी घातक सिद्ध हो सकती है। पंचवर्षीय योजना के इस युग में आराम हराम है, व्यक्ति को स्काउट की तरह सदा सावधान और तत्पर रहना चाहिए। सेकिण्ड भर के लिए प्रेमी की नजर चूकी कि प्रेमिका का रिक्शा सड़क से निकल गया। अब मलते रहो हाथ।

एक जगह बिलकुल हमारी पसन्द की कार बिकने वाली थी, सिर्फ बेचनेवाले की पत्नी के कहने की देर थी कि उसको नई कार चाहिए। दूसरी कार की इच्छा प्रकट करने से पहले, पहले बालक होने की इच्छा पूरी होना जरूरी था। बात बिलकुल जँचने-वाली थी। हम निश्चिन्त-से हो गये कि बालक होगा ही, नई कार खरीदी ही जायगी, पुरानी हमारे हाथ लगेगी ही। कुछ दिनों में इत्तिफाक से किसी ने बताया कि कार बेचनेवाला अभी विवाह के मूड में नहीं आया। तब फिर दौड़धूप शुरू की।

ताँगे पर चलते-चलते जब मामाजी किसी सुन्दर कार को पेवमेंट के किनारे रुकता देखते तो फौरन ताँगा रुकवा देते। उनकी आँखों में उस समय ऐसी चमक आ जाती जैसी मेले में नदी तट पर खड़े नौजवान स्वयं-सेवक की आँखों में बारीक धोती पहने डुबकी लगाकर निकलती हुई गोरी चिट्टी गोल-मटोल युवती को देखकर आती है। मामाजी का मुँह फेल हुई कार के बौनेट की तरह खुला रह जाता। क्षण दो क्षण बाद

वह कहते, "किशन, पूछ तो लो कार बिकाऊ है ?"

मैं ताँगे से उतरकर मोटर में बैठे सूटेड-बूटेड व्यक्ति की ओर बढ़ता औ बातचीत शुरू करता। वह गम्भीरता से सुनता, समझता और तब कहता—

"जरूर बेचूँगा, जरूर...खरीदियेगा ?"

"इरादा तो है। कितना चली है ? दाम ?" मैं पूछता।

"दस दिन पहले पन्द्रह हजार में ली थी। सौ मील चली है। आपकी तबियत आ गई। बेच दूँगा..." वह कहता।

"धन्यवाद ! हो जाय सौदा," मैं उत्साह से कहता।

"आपसे क्या सौदा ? चौदह हजार, नौ सौ निन्नानबे और रजिस्ट्री-वजिस्ट्री का खर्च दे दीजिये...यह क्या ? आप चल दिये ? अजी सुनिये तो पान और बीड़ी के लिए चवन्नी और छोड़ दूँगा..." ताँगा बढ़ाया।

एक विज्ञापन के अनुसार कार बहुत ही सुन्दर, नये मॉडल की, बहुत ही कम चली थी। मामाजी यूँ उछल पड़े जैसे बचपन में पिन लगी कुर्सी में बैठने पर मास्टर साहब उछले थे। ताँगा लेकर भागे। लेकिन कार क्या थी माचिस की डिबिया। मॉडल प्रागैतिहासिक था, शरीर की खाल निकल चुकी थी, गद्दियाँ मुँह बा रही थीं, टायर पुराने वकील की तरह घिस चुके थे। विधवा-विवाह के लिए राजी पुरुष के लिए एक-दो बच्चों की माँ की उम्र की विधवा सह्य हो सकती है, लेकिन बहुत ही चल चुकी वृद्धा को बड़ा से बड़ा आदर्शवादी भी नहीं पचा सकता। मामाजी ठण्डी साँस लेकर बोले, "इससे तो इक्के की सवारी अच्छी।"

तो क्या लखनऊ कार-विहीन हो गया था ? नहीं, यह बात तो न थी, लेकिन कार मामाजी को चाहिए थी किसी कबाड़ी को नहीं। मामाजी की सी रुचि वाला व्यक्ति लखनऊ में शायद ही कोई दूसरा हो। वैसा सभ्य, सुसंस्कृत, कलापारखी सूक्ष्मदर्शी से भी ढूँढ़ना कठिन था। उन्होंने कविता लिखने की मेज स्वयं डिजाइन देकर तीन सौ रुपये में बनवाई थी और अपने पहले कविता-संग्रह को दो हजार खर्च कर आर्ट पेपर पर चित्रों सहित छपवाया था। इस संग्रह की छपाई-सफाई को आलोचकों ने हिन्दी के लिए आदर्श बताया था। ऐसे व्यक्ति के लिए ढंग की कार ढूँढना उतना ही कठिन था जितना लड़कों के बोर्डिंग में अच्छे ड्रामा के लिए हिरोइन ढूँढना।

एक दिन फिर एक विज्ञापन देखा—"केवल पाँच हजार मील चली है। शो-रूम दशा में है। बंगला नम्बर २४, मुहल्ला...में पत्र लिखकर अपने आने की सूचना दे दीजिये...।" मामाजी का चेहरा इस प्रकार खिल उठा जिस प्रकार नये कवि का रेडियो में प्रोग्राम मिल जाने पर।

फौरन कार्ड डाल दिया—कल शाम पाँच बजे आकर देखेंगे। दूसरे दिन तीन बजे से ही तैयारी कर दी। मामीजी को लेक्चर दिया, नये धुले कपड़े निकलवाये, मुझे बुलाकर सिखाया-पढ़ाया और ताँगा कर ठीक पाँच बजे विज्ञापन वाले स्थान

पर पहुँचे ।

चौबीस नम्बर का बंगला काफी बड़ा जान पड़ा । उसके विशाल हाथे में दो फाटक थे । हम ताँगा बाहर ही छोड़कर बाईं ओर के फाटक से अन्दर घुसे और बाईं ओर के बरंडे पर पहुँचे । दरवाजे पर लगी बिजली की घंटी दबाई तो एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति ने दरवाजा खोला ।

मामाजी ने आगे बढ़कर कहा, "नमस्कार, क्षमा कीजिये आपके आराम में खलल डाला । मेरा पत्र तो मिल गया होगा आपको ?"

अधेड़ सज्जन चाबी भरे जापानी गुड्डे की तरह सक्रिय हो गये । तपाक से हाथ मिलाकर बोले, "जी हाँ, जी हाँ, मिलता क्यों नहीं । क्षमा कीजिये पहले कभी साक्षात्कार न हुआ था आपसे इसलिये पहचान न पाया । और मुझे कुछ छः बजे का-सा ध्यान था । खैर, आप आ गये, बड़ी कृपा की । अन्दर पधारिये ।" वह हम दोनों को अपने सजे-सजाये ड्राइंग-रूम में ले चले । मामाजी और मैं बिना कुछ कहे गद्दीदार कुर्सियों पर बैठ गये । इन सज्जन के व्यवहार ने हमारे मुँह में ताला-सा डाल दिया था । इतने कारवालों से मिल चुके थे, ड्राइंग-रूम में बिठाकर कीमती सिगरेट किसी ने पेश न की थी ।

"अजी चन्दो की अम्मा, सुनती हो···" सज्जन ने अन्दर की ओर मुँह कर पुकारा । मामाजी की सिगरेट आधी भी न हो सकी थी कि अन्दर के दरवाजे का पर्दा हटाकर एक अधेड़ अवस्था की महिला आईं, जो शायद घर की मालकिन थीं । 'नमस्ते' का आदान-प्रदान हुआ और चन्दो की अम्मा भी पास की कुर्सी पर बैठ गईं ।

अब मामाजी ने झिझककर कहा, "आप बड़ी खातिर कर रहे हैं । लेकिन मैं जल्दी में हूँ । कष्ट न हो तो दिखला दीजिये ।"

"जरूर, जरूर, इसमें कष्ट की क्या बात है ? यह तो कायदे की बात है । अरी चन्दो, पानी-वानी पिला बेटी ।" सज्जन ने फिर पुकारा । थोड़ी देर बाद चाय, मिठाई, नमकीन की ट्रे लिये नौकर के पीछे चन्दो बेटी भी चली आई । अवस्था सत्रह-अट्ठारह रही होगी । रंग सांवला, नाक कुछ चपटी, होंठ कुछ मोटे, वजन कुछ ज्यादा···जो हो, मैं उस समय मुख्यतः उन सज्जन की सभ्यता और संस्कृति की ही बात सोच रहा था । घर भर को लेकर खातिर कर रहे हैं । हम कार खरीदने क्या गये थे मानो बड़ा भारी एहसान करने गये थे । मामाजी सिनेमा की, मौसम की, फूलों की, कुत्तों की बातें कर रहे थे और मैं सोच रहा था अवश्य कार में कोई खोट होगा, नहीं तो यह सत्कार क्यों ?

थोड़ी देर में चन्दो और उसकी माँ चली गयीं । सिगरेट जलाकर सज्जन बोले, "इसी साल बी० ए० किया है । गाने-बजाने और घर के सब कामों में निपुण है । अब मुझे चिन्ता से मुक्त करना आपके और आपके इन सुपुत्र के हाथ में है । मेरे भाग्य का फैसला कर दीजिये···"

कई क्षण तक तो हम यूँ बैठे रहे जैसे बिजली गिर पड़ी हो । लेकिन मामाजी

कवि हैं तो क्या निरे बुद्धू नहीं हैं। मेरी ओर देखकर मुसकराकर बोले, "क्या कहते हो?"

मेरा खून सूख गया। चन्दो जैसी चुनीदा नार गले पड़ने वाली थी। संभल कर बोला, "अम्माजी से पूछिये।" तब मामाजी ने सज्जन से कहा, "घर पर सलाह कर बताऊँगा।"

छः बजने वाले ही थे। इससे पहले कि लड़की देखने वाले असली लोग आ धमकते, हम बंगले से बाहर निकल आये। बंगले के दूसरे भाग की ओर उड़ती नजर डाली तो पीछे की ओर एक कार खड़ी देखी। तब समझ में आया कार को बिक्री का विज्ञापन करने वाले साहब बंगले के दाहिने वाले हिस्से में रहते हैं, लेकिन फिर हमारी हिम्मत बंगले के उस भाग मे जाकर कार देखने की न हुई। मामाजी दाहिने फाटक पर ललचाई नजर डालते रहे लेकिन मैं बाँह पकड़कर उनको ताँगे की ओर ले चला। मामाजी को तो कार का खफ्त था, लेकिन मुझे चन्दो का भय था।

जब हमने फोटो खिंचवाई

धर्मदेव चक्रवर्ती

●

श्री धर्मदेव चक्रवर्ती का जन्म सन् १९१५ में लाहौर में हुआ था। साहित्य-क्षेत्र में लगभग तीन-चार वर्ष से प्रवेश किया है। वैसे लिखने का चाव बहुत पुराना है। विद्यार्थी-जीवन में आपने दो-तीन हास्य-रस की कहानियाँ लिखी थीं जो लाहौर, दिल्ली और जम्मू के पत्रों में प्रकाशित हुईं। इसके बाद लिखना छोड़ दिया। सन् १९५५ से अब फिर लिखना शुरू किया है। हिन्दी के लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रों में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। आजकल दिल्ली क्लॉथ मिल, दिल्ली से संबद्ध हैं।

रचनाएँ

'जान पर आ बनती है'

१९, मॉडल बस्ती, दिल्ली-५

फोटोग्राफर महाशय माथा पीटकर बोले—'हे भगवान !...'

कहते हैं कि अपनी सूरत सबको सुन्दर लगती है, किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हमें इस स्पष्टवादिता में रत्ती भर झिझक नहीं कि दर्पण में अपनी सूरत देखते ही हमारा मुँह यों बिचकने लगता है जैसे घूरे के जूते पर नजर पड़ गयी हो। लगता है कि विधाता ने हमारी सूरत उस मनहूस वक्त पर गढ़ी थी जब उसके पास सौन्दर्य के सारे माल-मसाले खतम हो चुके थे।

शक्ल-सूरत के लिहाज से हम कैसे हैं—यह जानने के लिए बस यह समझ लीजिए कि जीते-जागते 'चिड़िया के इक्के' हैं! चिड़िया के इक्के की तरह हमारा चेहरा भी चारों ओर से भीतर को धँसा हुआ है। गाल यों पिचके हुए हैं जैसे किसी अच्छी-खासी डबल रोटी को चूहों ने बीचों-बीच से चट कर लिया हो; और आँखें यों धँसी हुई हैं जैसे किसी घिसी-पिटी लारी के बिना शीशे के लैम्प हों। इस डर से कि अपनी भोंडी सूरत देखकर कहीं हमें खुद रोना न आ जाए, हमें अब तक अपना फोटो खिंचवाने की कभी हिम्मत नहीं हुई।

लेकिन 'मस्ताना' मासिक पत्र के सम्पादक महोदय को जिद थी कि उनके पत्र में हमारी चटपटी कहानियों के साथ हमारी फोटो भी छपनी चाहिए। कुछ दिनों तक तो हम अपनी चटपटी कहानियों के साथ अपनी अटपटी फोटो न छपने देने के लिए टालमटोल करते रहे, पर एक दिन जब संपादक महोदय ने 'मस्ताना' के आगामी 'व्यंग्य-विनोद-विशेषांक' के लिए कहानी के साथ अपनी फोटो भी भेजने का आग्रह हमसे किया और विशेष पुरस्कार की राशि मनीआर्डर द्वारा पेशगी भेज दी, तो हमारे सामने फोटो खिंचवाने के अलावा दूसरा चारा न रहा। माया का मोह बड़े-बड़े वज्र हृदयों को भी मोम की तरह पिघला देता है, फिर हमारी तो बिसात ही क्या थी!

अभी 'मस्ताना' का विशेषांक प्रकाशित होने में दो मास शेष थे। हमने सोचा कि क्यों न इस अवधि में व्यायाम द्वारा शरीर को सुडौल बनाया जाए ताकि फोटो में हमारे गाल उभरे हुए नजर आएँ!

और अगले दिन प्रातःकाल हमने भीतर से कमरे की साँकल चढ़ायी और गाल फुला-फुलाकर लगे दण्ड पेलने! अभी पाँच-सात दण्ड ही पेले थे कि कमरे के दरवाजे के बाहर किसी के खाँसने की आवाज आई। सुनते ही हम फुर्ती से महात्मा बुद्ध की-सी ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठ गये। चार-पाँच मिनट तक यों बैठे रहने पर हमें विश्वास हो गया कि कमरे के बाहर से कोई हमें व्यायाम करते देख नहीं रहा है। तब हमने दरवाजे के झरोखों से झाँककर एक बार फिर पूरी तरह से, किसी के वहाँ

न होने की तसल्ली कर ली और दण्ड पेलने शुरू कर दिये।

अब पता चला कि दण्ड-बैठक जैसे व्यायाम करने वाले लोगों का शरीर किसी और मिट्टी का बना होता है। इधर हम गाल फुला-फुलाकर दण्ड पेल रहे थे, उधर हमारा दम फूल रहा था। अभी मुश्किल से पन्द्रह-बीस दण्ड पेल पाये होंगे कि अचानक कमर में भूकम्प का-सा झटका लगा। कमर की एक नस स्थान-भ्रष्ट हो गयी। कमर दोहरी-सी हो गयी। हाथ की एक कलाई मोच आ जाने से लड़खड़ा गयी और मारे दर्द के हमारे मुँह से अनायास ही एक चीख निकल गयी—"उई, मर गया!"

इधर हमारी चीख निकली, उधर कमरे के दरवाजे के बाहर हँसी का फव्वारा छूट पड़ा। श्रीमतीजी ने चोरी-छिपे दरवाजे की सन्धि से हमें पहलवानी करते देख लिया था। दरवाजा थपथपाते हुए बोलीं—"आज तक तो कभी पहलवानी करते देखा नहीं आपको! क्या किसी हकीम ने आप जैसे 'तितली ब्रांड' बाबू को पहलवानी करने का नुस्खा बताया है? आखिर किसलिए?"

हमने दर्द के मारे दोहरी होती हुई कमर को हाथ से थामकर बड़ी कठिनाई से दरवाजा खोला और लड़खड़ाते हुए बोले—"फोटो खिंचवाने का विचार था।"

सुनते ही श्रीमतीजी ने इतने जोर से ठहाका मारा कि हमें कमरे की छत गिरने की आशंका होने लगी। श्रीमतीजी ने हमें आराम के साथ पलंग पर लिटाया और एक हाथ से हमारी टूटी कमर और दूसरे हाथ से मोच खायी हुई कलाई को दबाते हुए पूछा—"आखिर इस ढलती जवानी में फोटो खिचवाने की आपको क्यों सूझी?"

हमने सम्पादक 'मस्ताना' द्वारा भेजे गये मनीआर्डर और विशेषांक के लिए फोटो भेजने के आग्रह की बात कही।

श्रीमतीजी बोलीं—"मगर मैं यह नहीं समझ सकी कि फोटो खिचवाने के लिए डण्ड पेलने की भला क्या आवश्यकता थी?"

हमने अपने पिचके गालों की ओर इशारा करते हुए उत्तर दिया—"इन गढ़ों को पाटने के लिए—ताकि फोटो में हमारे गाल उभरे हुए नजर आएँ!"

श्रीमतीजी ने फिर एक कहकहा लगाया और बोलीं—"सम्पादक जी को शायद आपकी फोटो छापे बगैर खाना हजम नहीं होता होगा! फोटो ही खिंचवानी है तो श्रमसाध्य व्यायाम द्वारा अपने नाजुक शरीर को कष्ट देने की क्या आवश्यकता है? मैं सस्ता उपाय बताये देती हूँ जिससे फोटो में गाल उभरे हुए नजर आएँ। हर्र लगे न फिटकरी और रंग चोखा आ जाए!"

"तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर," हमने प्रसन्नता से पूछा—"तो फिर नुस्खा बताओ।"

श्रीमतीजी बोलीं—"फोटो खिंचवाते समय दोनों गालों के नीचे मिसरी की एक-एक डली रख लीजिएगा।"

"क्या बढ़िया सूझ है! तुम्हें तो इस घर में चूल्हा फूँकने का कार्य करने की अपेक्षा सौन्दर्य-प्रसाधन तैयार करने वाली किसी फैक्टरी की 'रिसर्च लैबोरेटरी' में

अनुसन्धान का कार्य करना चाहिए था।" यह कहते हुए हम जैसे ही श्रीमतीजी को शाबाशी की थपकी देने को उठने लगे कि फिर कमर को एक झटका-सा लगा और मारे दर्द के हम वहीं लुढ़क गये।

सच जानिए—पूरे सात दिन तक हम कलाई की मोच और कमर की ऐंठन की दर्द के मारे तड़पते रहे, फिर हमने कान पकड़े कि चौरासी लाख योनियाँ भुगतने के बाद मिले इस अनमोल मानव शरीर को भविष्य में कभी श्रम-साध्य व्यायाम द्वारा कष्ट देने का महापाप नहीं करेंगे !

इस प्रकार हमने व्यायाम से तो तौबा की लेकिन फोटो के लिए चेहरा सुडौल बनाने का जोश अभी थमा नहीं। अब हमने डाक्टर और वैद्यों से मोटे होने की दवाएँ खानी शुरू कर दीं।

इनकी दवाओं से और लोग भले ही हृष्ट-पुष्ट हुए हों, लेकिन दवाएँ खाते-खाते हमारे नाजुक शरीर की कुछ ऐसी हालत हो गयी कि कभी जुलाब लगे तो चार-चार दिन थमने में नहीं आये और उसके बाद कब्ज हुआ है तो तीन-तीन दिन खुला नहीं ! परिणाम यह हुआ कि हमारे गाल उभरने के बजाय मानो पाताल लोक में धँस गये और पेट फूलकर मटका हो गया। निराश होकर हमने दवाओं से भी तौबा की और श्रीमती जी द्वारा बताया गया रामबाण प्रयोग करने का निश्चय किया, यानी फोटो खिंचवाते समय गालों के नीचे मिसरी की डलियाँ रखने का—ताकि फोटो में गाल उभरे हुए दीखें !

गाल उभरने की समस्या का समाधान हुआ तो एक नयी समस्या यह आ खड़ी हुई कि फोटो में मूँछें किस फैशन की रखी जाएँ ताकि फोटो विशेष आकर्षक और प्रभावशाली हो।

इस नई समस्या का समाधान करने के लिए हमने अपने गहरे मित्र वर्मा जी को बुलाया। उनसे फोटो खिंचवाने की बात कही और फिर अपनी भरवाँ मूँछों के नोकदार सिरे कनपटियों की ओर, ऊपर की ओर, उमेठकर पूछा—"क्यों भाई, गाण्डीव के तीर की-सी तीखी और रोबीली हमारी मूँछें लगती हैं या नहीं ?"

वर्मा जी अपना तन्दूर-सा मुँह फाड़कर बोले—"गाण्डीव का तीर तो मैंने कभी देखा नहीं। अलबत्ता इन नोकदार भरवाँ मूँछों को देखकर चूहे की दुम का सन्देह होता है !"

हमने मूँछों के दोनों सिरे कैंची से काटकर सीधी रेखा में उमेठकर पूछा—"और अब ?"

वर्मा बोले—"अब लगता है जैसे घड़ी में सवा तीन बजे हों।"

इस पर हमने मूँछों के सिरे नीचे की ओर उमेठकर पूछा—"अब ?"

वर्मा बोले—"अब पाँच बजकर पैंतीस मिनट।"

घड़ी की उपमा से अपने चेहरे को बचाने के लिए हमने मूँछों के किनारे कैंची से जरा और छोटे करके पूछा—"अब ?"

अपने बत्तीस दाँतों की प्रदर्शनी करते और हिनहिनाते हुए वर्मा बोले—"अब यों लगता है जैसे तुम्हारी नाक के नीचे कोई चमगादड़ आ बैठा हो।"

"विचित्र जीव हो तुम भी!" हमने झल्लाकर कहा—"तुम्हारे दिमाग में अक्ल भरी है या भूसा? अरे भाई, उपमा ही देनी है तो किसी अच्छी वस्तु से दो। यह क्या कि कभी चूहे की दुम, कभी घड़ी और कभी चमगादड़!"

"लो, मेरी बात का बुरा मानते हो, तो मैं चला," वर्मा बोले—"जब तक फोटो के उपयुक्त सर्वांग सुन्दर तुम्हारा चेहरा न दीखे, मैं कैसे अच्छी उपमा दे सकता हूँ?"

"अरे भाई, तुम तो बुरा मान गये!" हमने वर्मा को बैठाते हुए कहा और फिर कैंची से मूँछों को फोटो के उपयुक्त बनाने के लिए सँवारने लगे। कटते-कटते अब मूँछों का केवल छितरे-छितरे बालों का गुच्छा-सा रह गया। हमने इस पर ताव देते हुए कहा—"अब तो कह दो कि सिंह की-सी रोबीली मूँछें लगती है हमारी!"

वर्मा बोले—"यह मूँछें किसी सिंह के मुख पर होतीं तो सचमुच बड़ी ही रोबदार लगतीं किन्तु तुम्हारे पकौड़ी से सूखे चेहरे पर इन्हें देखकर ऊद-बिलाव का भ्रम होता है!"

यह सुनकर हमने खीझ और आवेश में आकर कैंची से मूँछों का बिलकुल सफाया कर दिया। यह देखते ही वर्मा बोल उठे—"क्या कहने हैं! अब तो फूल-सा चेहरा खिल उठा है तुम्हारा!"

अपने चेहरे की उपमा खिले हुए फूल से दिये जाने पर प्रसन्नता के मारे हमारे हाथ बिना मूँछों के ही ताव देने लगे। हमने कहा—"भई वर्मा, अब काम की बात कही तुमने। किन्तु फूल का नाम तो लिया होता।"

वर्मा रेंक उठे—"काले धतूरे का फूल!"

"हिश्!" हमने मुँह बिचकाते हुए निराशा के स्वर में कहा—"फोटो की बलिवेदी पर हम यहाँ बड़े लाड़-प्यार से पाली हुई अपनी मूँछों से हाथ धो बैठे हैं और तुम्हें मजाक सूझ रहा है। मूँछों के इस महान् बलिदान के बाद भी तुम्हें हमारी आकृति फोटो के अनुकूल नहीं जँचती क्या?"

वर्मा बोले—"मेरी बात मानो तो फोटो सँवारने का काम फोटोग्राफर पर छोड़ दो। कुशल फोटोग्राफर अपने हस्त-कौशल से फोटो में बुड्ढे को भी नवयुवक बनाकर दिखा देते हैं।"

मिस्टर वर्मा के एक परिचित कुशल फोटोग्राफर से हमने अपनी फोटो खिंचवायी और फोटो को विशेष रूप से सँवारने के लिए एडवांस के साथ कुछ विशेष 'नकद नारायण' भी उसकी भेट किये। चार दिन में फोटोग्राफर ने फोटो देने का वचन दिया था लेकिन शैतान की आँत की तरह उसके वादे दिन-पर-दिन लंबे होते गये। इधर सम्पादक 'मस्ताना' के पत्र-पर-पत्र आने लगे कि शीघ्रातिशीघ्र फोटो भेजी जाए और एक दिन आधी रात को सम्पादक महोदय का एक्सप्रेस तार मिला कि "यदि अगले

दिन शाम तक हमारी फोटो न पहुँची तो विशेषांक समय पर प्रकाशित न हो सकेगा और·····"

कानपुर की आखिरी डाकगाड़ी छूटने में कुल पौन घण्टा शेष था। लेट फीस लगाकर उसी गाड़ी द्वारा फोटो भेजी जाती तो अगले दिन शाम को यथासमय सम्पादक को मिल सकती थी। हमने शीघ्र ही एक लिफाफे पर 'लेट फीस' लगाकर 'मस्ताना' का कानपुर का पता लिखा। साथ में फोटो विलम्ब से भेजने के लिए क्षमा-प्रार्थना का पत्र लिखा और लिफाफा जेब में डालकर फोटोग्राफर महाशय के मकान पर जा धमके।

नींद के मामले में फोटोग्राफर महाशय और उनके परिवार के लोग शायद कुंभकर्ण के उत्तराधिकारी थे। लगातार पाँच मिनट तक हमारे गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने के बाद यह महाशय आँखें मलते हुए नीचे उतरे और हमें आधी रात के सन्नाटे में आया देखकर आँखें फाड़कर बोले—"ऐं ! आप हैं ?"

हमने जेब से सम्पादक का तार निकालकर उन्हें दिखाते हुए आवेश के साथ कहा—"यहाँ फोटो मँगाने के लिए तार-पर-तार आ रहे हैं और आप हैं कि चार दिन का वादा करके लंबी ताने पड़े हैं !"

"आज रात तो मैं आपकी फोटो को आखिरी 'फिनिशिंग टच' देकर ही दुकान से आया हूँ। आपको कल सवेरे फोटो अवश्य तैयार मिलेगा।"

"कल नहीं जनाब, मुझे तो आज और अभी चाहिए। अभी डाकगाड़ी छूटने में करीब बीस मिनट हैं। आज फोटो पोस्ट न किया गया तो छपने से रह जाएगा और सम्पादक महोदय की ओर से क्षतिपूर्ति का दावा होने का डर है।"

पौन घंटा पूर्व तार मिला था। दस मिनट फोटोग्राफर के मकान पर पहुँचने में लगे। दस मिनट इनकी खुशामद में लगे, तब जाकर वह हजरत दुकान पर चल कर फोटो देने को राजी हुए। दुकान पर पहुँचे तो एक और मुसीबत पेश आयी। आधी रात का घटाटोप अँधेरा और उस पर दुकान की बिजली फेल निकली। न हमारे पास माचिस थी, न उनके पास। चारों ओर अर्द्ध-रात्रि की निस्तब्धता छायी हुई थी। किससे बत्ती माँगते ?

डाकगाड़ी छूटने में कुछ ही मिनट शेष थे। हमें फोटो के लिए छटपटाते देख फोटोग्राफर महाशय ने अँधेरे मे ही, ऊँघते हुए मेज की दराज में से फोटो की तीन प्रतियाँ निकालकर हमारे हाथ में देते हुए कहा—"आप बहुत जल्दबाजी कर रहे हैं। जल्दबाजी में हमेशा गड़बड़ का अन्देशा रहता है।"

"इसकी आप चिन्ता न करें। हमारा फोटो प्रत्येक दशा में इसी डाकगाड़ी द्वारा पोस्ट हो जाना चाहिए," कहते हुए हमने फोटो की दो प्रतियाँ तो जेब में डालीं और एक प्रति के कोने पर वहीं अँधेरे में लिखा—"सस्नेह; विचित्रनारायण शर्मा'। फिर फोटो को सम्पादक के नाम लिखे लिफाफे में डालकर हम स्टेशन की ओर लपके।

सौभाग्य से स्टेशन पर गाड़ी खड़ी थी। इधर हमने डाक के डिब्बे में अपनी फोटो वाला लिफाफा छोड़ा और उधर गार्ड ने हरी झंडी दिखायी। गाड़ी हमारा फोटो लेकर रवाना हुई और हमें लगा जैसे हमारे सिर से मनों बोझ उतर गया हो।

गाड़ी जाने के बाद जेब से फोटो की बाकी दो प्रतियाँ निकालकर हम स्टेशन की बत्तियों के प्रकाश में अपनी रूप-सुधा का पान करने लगे। सचमुच हमारा फोटो सँवारने में फोटोग्राफर ने अपनी सारी कारीगरी खर्च कर दी थी। फोटो देखते ही अपने अतीत नवयौवन की मधुर स्मृति हमारी आँखों के आगे छा गयी। भरा हुआ चेहरा, उभरे हुए गाल, आँखों में तेज और उन सब पर हल्की मधुर वासन्ती मुसकान का आकर्षक आवरण था। फोटो में अपने आपको एक रूप-यौवनसम्पन्न २०-२२ बरस का युवक प्रतीत होने की हमें इतनी प्रसन्नता हुई कि अनायास हमारे मुँह से निकल गया—"वाह रे मैं!" और हमने अपने रूप पर रीझकर स्वयं अपनी ही फोटो चूम ली!

'मस्ताना' का विशेषांक जिस दिन हमें डाक द्वारा घर पर मिलना था, उस दिन हमने दफ्तर से दो घण्टे पहले चले आने की छुट्टी ले ली और घर की ओर तेजी से कदम बढ़ाये। मार्ग में जिस किसी के पास कोई मासिक पत्र देखा, हमने समझा 'मस्ताना' लिये जा रहा है। जिस किसी को कोई मासिक पत्रिका पढ़ते देखा, यही समझा कि वह हमारा फोटो देखकर लट्टू हुआ जा रहा है। हमें अपने चारों ओर 'मस्ताना' विशेषांक में छपे अपने फोटो-ही-फोटो नजर आने लगे। मार्ग में हम सोचते जा रहे थे कि हमारी श्रीमतीजी विशेषांक में प्रकाशित फोटो को देख-देखकर फूली न समा रही होंगी। सखी-सहेलियाँ उनको बधाई दे रही होंगी और जैसे ही हम घर पहुँचेंगे श्रीमतीजी मधुर मुसकान के मोती बिखेरती हुई हमारा विशेष स्वागत करेंगी।

सचमुच जिस दिन दफ्तर से लौटते ही हम अपनी श्रीमतीजी के चन्द्रमुख पर थिरकती हुई मधुर मुसकान देख लेते हैं, उस दिन हमारी दिन भर की थकावट छू-मन्तर हो जाती है। आज भी हम उनकी यह मधुर मुसकान देख पाने की आशा लिये घर पर पहुँचे थे। किन्तु हमारी आशा के विपरीत हमारे स्वागत के लिए दरवाजे पर श्रीमतीजी के दर्शन न हुए और जैसे ही हमने घर के आँगन में पैर रखा कि श्रीमतीजी का भैरव रूप सामने आ खड़ा हुआ! आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं और छाती यों उठ-बैठ रही थी जैसे धौंकनी चल रही हो। लगता था बारूद से भरी हुई कोई मानव-पुतली हमारी श्रीमतीजी की शक्ल सूरत में सामने आ गयी हो।

दिल धक् से रह गया और हमने सहमते सहमते किंचित् खुशामद के भाव से कहा—"आज आप कुछ परेशान-सी दीखती हैं?"

हमारे शब्दों ने मानो बारूद को जलता पलीता दिखाने का काम किया। श्रीमतीजी फट पड़ीं—"मैं जाऊँ भाड़ में! आपको मेरी परेशानी की क्या चिंता—आप तो अपनी रंगरेलियाँ मनाया कीजिए। चार बच्चों के बाप हो गये हैं—सिर के बाल सफेद होने को आये हैं—सिंघाड़े का-सा मुँह हो गया है, मगर इन्हें सूझी है फोटो

खिंचवाने की···"

हमने बात काटकर मिमियाते हुए पूछा—"तो फोटो खिंचवाना क्या नवयुवकों का ही अधिकार है ?"

"हाँ जी, खिंचवाओ फोटो खुशी से। एक छोड़ दस खिंचवाओ। मैं आपकी होती कौन हूँ रोकने वाली ?"

"मैं आपकी बात नहीं समझा," हमने धड़कते दिल को थामते हुए कहा।

"हाँ जी, क्यों समझने लगे मेरी बात ! जिस कलमुँही निगोड़ी राँड को मुँह लगा रहे हो, अब तो उसी की बातें समझा करेंगे आप !"

"ऐं !" हमने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"यह क्या कह रही हैं आप ?"

"चार-चार बच्चों के बाप होने को आये, मगर शरम छू तक नहीं गई !"

"भई, साफ-साफ क्यों नहीं कहतीं कि ऐसा क्या अपराध बन पड़ा मुझसे ?"

"अपराध ? अपराध आपका नहीं—मेरे फूटे करमों का है !" और इतना कहते ही श्रीमतीजी के क्रोध की भाप पिघलकर आँसुओं के रूप में उमड़ पड़ी।

"मैं भी कभी-कभी सोचती थी कि आप भला रोज रात के दस-दस बजे तक कहाँ गायब रहते थे !" श्रीमतीजी ने क्रोध से कहा।

"भई, पेट का ईंधन जुटाने को दो-एक जगह पढ़ाने जाया करता हूँ; और कहाँ जाऊँगा ?"

"पेट का ईंधन जुटाने नहीं, बल्कि आँखें सेंकने और रँगरेलियाँ मनाने जाते थे !"

"ऐं ! आँखें सेंकने जाते थे हम ?" हमने एक जोर का ठहाका मारा और फिर श्रीमतीजी के गाल पर हलकी-सी प्रेमभरी चपत लगाकर व्यंग्य भरे स्वर में कहा—"लगता है, आज दाल और भाजी में जरूरत से ज्यादा गरममसाला खा बैठी हैं आप ? तभी ऐसी जली-बली बे-सिर-पैर की बातें कर रही हैं !"

"तो उसी कलमुँही निगोड़ी की रस-भरी बातें सुना करो ! मैं आपको रोकती कब हूँ ?"

अब तक तो हम संयम और सहिष्णुता से कार्य ले रहे थे लेकिन जब देखा कि श्रीमतीजी शिष्टता की सीमा का अतिक्रमण कर रही हैं तो किंचित् आवेश के साथ कहा—"देखिए, मैं किसी भी दशा में अपने चरित्र पर आँच न आने दूँगा। मैं साहित्यकार हूँ। लेखनी की दिव्य ज्योति द्वारा जनता-जनार्दन का पथ-प्रदर्शन करता हूँ। दुनिया मेरी इज्जत करती है, लेकिन आप हैं कि बिना किसी प्रमाण के मेरे चरित्र पर संशय कर रही हैं।"

"क्या कहा ? प्रमाण ?" श्रीमतीजी क्रोध से फुफकारती हुई बोलीं—"आपकी 'सच्चरित्रता' का प्रमाण है 'मस्ताना' के विशेषांक में प्रकाशित आपकी कहानी के साथ छपा हुआ फोटो !"

यह कहकर श्रीमतीजी ने बिल्ली की तरह झपटकर बरामदे की आलमारी में से

उसी दिन आया हुआ 'मस्ताना' का विशेषांक निकाला। विशेषांक में हमारी कहानी के शीर्षक वाला पृष्ठ खोला और उसके साथ छपे हुए फोटो की तरफ इशारा करके क्रोध से नथुने फुलाते हुए व्यंग्य से कहा—"यह है आपकी सच्चरित्रता की बोलती हुई तस्वीर!" और फिर आँखों में तिरस्कार का भाव लिये हमें घूरने लगीं।

हमने अपनी कहानी के साथ छपे फोटो पर दृष्टि डाली। फोटो देखते ही दिल धक् से रह गया! सिर चकराने लगा, आँखों के आगे अँधेरा छा गया और फोटो पर आँखें गड़ाए कुछ क्षण के लिए तो हम किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े रह गये!

रंगीन छपी फोटो के एक कोने पर हमारे हस्ताक्षर थे—'सस्नेह;—विचित्र नारायण शर्मा।' लेकिन यह फोटो हमारा न होकर एक सर्वांगीण सुन्दरी युवती का था। गुल-बनफशाँ के से घुँघराले बाल, सद्यःविकसित गुलाब के फूल का-सा चेहरा, ताजा काश्मीरी सेब जैसे गाल, शरबती आँखें और आइसक्रीम के प्यालों जैसे होंठ!

'मस्ताना' के 'हास्यरस-विशेषांक' में एक अद्भुत हास्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से सम्पादक महोदय द्वारा हमारे फोटो की जगह एक युवती की फोटो छापने की असभ्य चेष्टा (!) का विचार कर हमारा खून खौलने लगा। हम क्रोध से दोनों हाथों की मुट्ठियाँ भींचने लगे और कहानी के अन्त में इस फोटो के सम्बन्ध में जब हमने सम्पादकीय टिप्पणी पढ़ी तो माथा पीटकर रह गये। लिखा था—

"हिन्दी साहित्य के उदीयमान हास्य-कहानी लेखक श्री विचित्रनारायण शर्मा का फोटो प्राप्त होने पर यह जानकर हमारे आश्चर्य की सीमा न रही कि शर्माजी पुरुष नहीं—जैसा कि अब तक समझा जाता था, बल्कि एक सम्भ्रान्त कुल की षोड़शी युवती हैं और 'विचित्रनारायण शर्मा' के छद्म-पुरुष नाम से विभिन्न पत्रों में हास्य-रचनाएँ लिखती हैं।

"उच्च कोटि की शिष्ट हास्यमय रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में योगदान के लिए हम 'मस्ताना' के सम्पादक-मंडल और असंख्य पाठक-पाठिकाओं की ओर से कुमारी 'विचित्रनारायण शर्मा' का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं!"

हमारी श्रीमतीजी साक्षात् कोतवाल बनी हमारे सिर पर दनदना रही थीं और हम एक ऐसे अपराधी की तरह, जो रँगे हाथों पकड़ा गया हो, अपने बचाव के लिए बहाने ढूँढ रहे थे। तभी फोटोग्राफर महाशय लपकते हुए आये और घबराये हुए बोले—"शर्मा जी, गजब हो गया! उस रात को अँधेरे में दुकान से फोटो देने की जल्दबाजी के कारण आपको फोटो की जो तीन प्रतियाँ मैंने दी थीं उनमें से एक प्रति एक युवती की फोटो की भी आपके पास आ गयी है। इस गड़बड़ी का पता मुझे अभी चला जब कि उस युवती के घर से नौकर उसकी फोटो लेने आया। कृपया युवती का फोटो लौटा दें और बदले में अपनी फोटो ले लें।"

"धत्तेरे की!" हमने जोर से मेज पर हाथ मारकर फोटोग्राफर महाशय से कहा—"जी चाहता है कि तुम्हें किसी गहरे नाले में गोते खाने को धकेल दूँ! फोटो देने में गड़बड़ी तो हुई तुमसे और उसकी सजा भुगत रहे हैं हम!"

यह कहकर 'मस्ताना' में प्रकाशित युवती का फोटो दिखाते हुए हमने कहा—"यह रहा उस युवती का फोटो !"

"ऐं ! यह क्या गजब कर दिया आपने ? एक तो इस युवती का फोटो छपवा दिया और फिर उस पर अपने हस्ताक्षर कर दिये—'सस्नेह; विचित्रनारायण शर्मा।" फोटोग्राफर महाशय माथा पीटकर आँखें फाड़कर बोले—"तो उस रात मेरी दुकान पर अँधेरे में ही आपने हस्ताक्षर करके जो फोटो सम्पादक को भेजा था वह आपका नहीं, बल्कि इस युवती का ही था ? हे भगवान् ! अब यदि इस युवती को 'मस्ताना' में अपने फोटो के प्रकाशित होने का पता चल गया तो फिर मेरी खैर नहीं !"

"खैर तो मेरी भी नहीं," हमने ठंडी साँस खींचकर कहा—"इधर युवती के फोटो पर हमारा नाम होने से हमारी श्रीमतीजी ने हमें दुश्चरित्र होने का प्रमाण-पत्र दे दिया है; उधर सम्पादक महोदय ने कलम के एक ही वार से हमें पुरुष से स्त्री बना डाला है; और जब युवती को विशेषांक में प्रकाशित अपनी फोटो के विषय में पता लगेगा तो फिर बेचारे सम्पादक महोदय की भी खैर नहीं।"

हम और फोटोग्राफर महाशय तो फोटो की इस गड़बड़ी से पैदा होने वाले सम्भावित खतरे के अनुमान मात्र से ही जीते जी मरे जा रहे थे, लेकिन हमारी श्रीमतीजी, जो कुछ ही क्षण पूर्व रणचण्डी का-सा भयानक रूप धारण किये थीं, अब हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही थीं।

सालेके घर एक दिन

निरंकुश

●

श्री निरंकुश का जन्म सन् १९२६ में बरेली में हुआ था। मैट्रिक से स्नातकोत्तर स्तर तक सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं और छोटी, मझौली, बड़ी कोई-न-कोई पोजीशन भी प्राप्त करते रहे। प्रयाग विश्वविद्यालय के फर्स्ट-क्लास फर्स्ट एम० एस-सी० और आगरा विश्वविद्यालय के फर्स्ट-क्लास एम० ए० हैं। भाषा-विज्ञान के पर्चे में आप विश्वविद्यालय का रिकार्ड भी तोड़ चुके हैं। इंडियन केमिकल सोसायटी और स्विस केमिकल सोसायटी के फैलो चुने जा चुके हैं और रायल ऐशियाटिक सोसायटी की सदस्यता भी प्राप्त कर चुके हैं। अंग्रेजी और हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, फारसी, संस्कृत और पाली में भी अच्छा रब्त-जब्त है।

पत्र-पत्रिकाओं में १९४० से लिख रहे हैं। प्रधान क्षेत्र हास्य-व्यंग्य है। अवसर पड़ने पर आँसू छलका देने वाली चीजें भी तैयार की हैं। लगभग दस वर्षों से गज़ेटेड पद पर राज्य-सेवा कर रहे हैं।

स्मृति-कुंज, ७०५-साहूकारा, बरेली

उन्होंने मुझे लंबे-चौड़े ब्लैक-बोर्ड के सामने खड़ा कर दिया

सालारजंग की यह शिकायत रहती थी कि 'जीजा जी होली-दिवाली पर भी दर्शन नहीं दिया करते। मैं इतना कार्य-संलग्न रहता हूँ कि दिल्ली जाने के लिए अवकाश नहीं निकाल पाता।' इस कारण से समझिये या यूँ कहिये कि मेरी शामत मुझे वहाँ खींचकर ले गई, बहरहाल मैंने ससुरालय की यात्रा का निश्चय कर लिया। रात भर का जगा हुआ, आँधी-पानी का मारा और भुसैले में दबे हुए पाले के लँगड़े आम जैसी सूरत बनाये, सवा नौ बजे के लगभग उनके द्वार पर पहुँचा। बाप ने उनका नाम कुंजबिहारी इसलिए तो शायद रखा नहीं था कि बेटा जान भिड़ों के छत्ते में जाकर बसें, टाँगा ड्योढ़ी से सवा मील की दूरी पर खड़ा हो और रिक्शा गली के भीतर अगर जोरआजमाई के बाद घुस भी जाये तो सोडावाटर बोतल की गोली की भाँति मार्ग में अड़कर खड़ा हो जाये मगर हमारे साढ़ू के साले साहब ने सदन के चुनाव में सचमुच ही अपने नाम की सार्थकता को सिद्ध कर दिखाया।

सामान कुंजीबुहारीलाल के दरवाजे पर पटककर मैंने जरा दम लिया। जेब से रूमाल निकालकर मुख-मण्डल पर बिखरे हुए श्रम-सीकरों को झाड़ा-पोंछा। पता नहीं भार-वहन करने में कितने गैलन पसीना टपक गया था। जब थकावट तनिक कम हुई तो आवाज लगाई—"चतुर्वेदी जी !" कोई उत्तर नहीं आया। तीन बार का प्रयास बिलकुल विफल सिद्ध हुआ। चौथी दफा चिल्लाने पर अन्दर से किसी ने कहा—"कौन है जो सुबह-सुबह कान खाये जा रहा है! फूटे मुँह से बोलता क्यों नहीं! अब चुप क्यों हो गया?"

आवाज में निस्संदेह कामिनीयता थी। सम्भवतः साले साहब की पत्नी बोल रही हैं, मेरा ऐसा अनुमान हुआ। यह मैं जानता ही था कि चतुर्वेदी जी अलमस्त अललटप्पू जीव हैं। मियाँ-बीवी के अतिरिक्त उनके घर में तीसरा कोई रहता नहीं परन्तु मेरे सम्मुख जो समस्या थी वह यह कि जवाब क्या दिया जाए। यदि पूछता हूँ—'चतुर्वेदी जी हैं' तो पहले तो उधर से सवाल होगा —'करोगे क्या, काम बताओ' क्योंकि सम्पादक लोग प्रायः इधर-उधर की ढपोरसंख में व्यस्त रहा करते हैं, उन्हें किसी से भेंट करने के लिए फुर्सत कहाँ! यदि किसी प्रकार इस मुसीबत को टाल भी दिया तो आगे गोलमाल हो सकता है। मान लो चतुर्वेदी जी घर पर उपस्थित नहीं हुए तो भीतर से कोरा जवाब मिल जायगा—"हैं नहीं, फिर किसी वक्त खटखटाना।" ऐसी दशा में सवा दो मन के इस बोझ को सिर पर लादे-लादे कहाँ-कहाँ की सैर करता फिरूँगा और फिर ससुराल के होते हुए होटल में जाकर टिकने का विचार करना उतना ही मूर्खतापूर्ण व्यवहार होगा जितना रिश्वत मिलते हुए उधार लेने की कोशिश

करना। इसलिए कुछ देर सोच-विचारकर मैंने दरवाजे की कुंडी को पुनः कष्ट दिया। भीतर से किसी ने ललकारा—"क्यों आसमान सिर पर उठा रखा है ? क्या मुँह में लल्लो भगवान् ने नहीं दी है जो ठोक-ठोककर किवाड़ों के अंजर-पंजर ढीले कर डाले ? कहाँ से आये हो, किससे काम है ? हो कौन ?..."

स्वतंत्र देश के निवासी को ऐसे अपमानजनक शब्द कब सह्य हो सकते थे। मैंने भी कड़ककर उत्तर दिया—"मैं हूँ तुम्हारा ननदोई जी !" तीर निशाने पर लगा। मैं दरवाजे से चिपका खड़ा रहा। कोई घोटक-गामिनी आँगन पार कर कोठे के भीतर गई। वहाँ किसी से खुसपुस हुई, कुछ छीन-झपट और छटाँक भर हँसी-मजाक भी किया गया। कई मर्तबा कोई ऊपर चढ़ा, नीचे उतरा, अन्दर गया और बाहर आया मगर किसी अक्ल के दुश्मन ने द्वार खोलने का नाम नहीं लिया। मैं लठ की तरह बाहर खड़ा रहा। चारपाइयों के बिछाये जाने, कुर्सी-मेजों की धूल झड़ने, रसोईघर के बर्तनों के खटकने की मनहूस आवाजें सुनता रहा किन्तु किसी नराधम की द्वार की ओर बढ़ती हुई पगध्वनि कानों में नहीं पड़ पाई। सहिष्णुता की भी कोई सीमा होती है। इतनी देर प्रतीक्षा करने के उपरान्त तो बाबा जी बैसाखीराम भी अन्यत्र प्रस्थान कर जाते परन्तु मैं बीमा कम्पनी का एजेण्ट रह चुका था। बिना मुलाकात किये भला किस प्रकार टल सकता था और वह तो किसी गैर का नहीं मेरे साले साहब का मकान था।

पिछले महीने में टमाटर क्या सस्ते हुए मेरे पेट में विटामिनों का गोदाम बन गया। उनसे प्राप्त नवीन स्फूर्ति का प्रयोग कर मैंने 'दरवाजा खोलो' की कसकर आवाज जो लगाई तो वास्तव में चमत्कार हो गया। खटपट-खटपट करते हुए कोई महाशय किवाड़ों की दरारों में से आते हुए प्रकाश में दिखाई पड़े। ११० पाउण्ड के मुझ जैसे सैंडो के एडीशन की एक कड़क से चतुर्वेदी जी की हवेली के पट खुल जाएँ इसे आधुनिक युग का करिश्मा नहीं तो और क्या कहा जायेगा ?

५७ मिनट तक ढीले अटेंशन की अवस्था में तनकर खड़े रहने पर दरवाजा खुला और तब खीसें निपोरते हुए साले साहब के दर्शन हुए।

"आप पधारे हैं परन्तु मुझसे तो सम्पादक-भार्या ने अपनी कनिष्ठा के श्वसुर जामात्र के आगमन की बात कही थी।" चतुर्वेदीजी के मुख से निकला।

"सम्पादक-भार्या कौन ?" मैंने सिर खुजलाते हुए पूछा।

"मेरी परिणीता," उन्होंने उत्तर दिया।

"आपकी परिणीता ! यह किस काम पर रखी गई हैं ?" मैंने जिज्ञासाभरी मुद्रा में पूछा।

"आप समझे नहीं। मेरी धर्मपत्नी शील !" मुसकराते हुए चतुर्वेदी जी ने कहा।

"आपने तो मुझे एकदम चक्कर में डाल दिया था। हाँ, तो उन्होंने आपके पास जाकर मेरे आने की बात नहीं कही ?" मैंने पूछा।

"कदापि नहीं, परन्तु सर्वप्रथम आप गृह-प्रवेश तो कीजिये। आपकी वस्त्र-

पिटाका और सर्वग्रहीता को मैं स्थानांतरित किये देता हूँ। अवकाश में जहाँ अनेकानेक मधुर विषयों पर वादन-प्रतिवादन होगा वहाँ इस प्रसंग को भी वाग्चर्या में सम्मिलित कर लेंगे।" मेरे सूटकेस और होल्डाल को सम्भालते हुए चतुर्वेदी जी ने कहा।

मैं घर में घुसा तो एक ओर को कदाचित् वही जिन्हें चतुर्वेदी जी सम्पादक-भार्या या परिणीता कहकर पुकारा करते हैं, खड़ी थीं। उनसे काफी दूर पर दीवार की ओर मुँह किये और मेरी ओर पीठ किये कोई अन्य महिला बैठी थीं। मुझे देखकर मेरी श्यालक-जाया कुछ परेशानी में पड़ गईं। शायद वह मुझे कोई और समझ बैठी थीं परन्तु तुरन्त ही उन्होंने घूँघट नीचा कर मुझसे नमस्कार किया। मैंने भी हाथ जोड़ लिये। कम-से-कम इन्होंने इतना अदब-कायदा तो निभाया, चतुर्वेदी जी तो सम्पादकी के जोम में सब-कुछ भूल गये। वाकई बात यह है स्त्रियों के दम से विनय और शील की दुकान चल रही है।

"चलिये, ऊपर चलिये," यह कहकर वह मुझे जीने पर ले चलीं। बीस-बाईस सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद एक सींखचेदार कमरा आया। वहीं पर मुझसे आसन जमाने को कहा गया। फिर उन्होंने पूछा—

"बहन जी तो अच्छी तरह हैं?"

"जी हाँ, आप तो मजे में हैं?" मैंने कहा।

"आपकी कृपा है," उन्होंने उत्तर दिया।

"आप तो पहले मोहनगंज मे रहती थीं। यह मकान कब ले लिया?" मैंने प्रश्न किया।

"एक मोहनगज ही क्या, उसके बाद तो सोहन, रोहन प्रभृति दस-बारह गंज बदले जा चुके हैं। वह, चतुर्वेदी जी की ओर संकेत करके, एक मकान में महीने दो महीने से अधिक टिक ही कहाँ पाते हैं!" उन्होंने कहा।

"क्या कर दिया करते हैं?" मैंने पूछा

"अजी क्या बताऊँ, कहीं कमरे की छत के टीन पर बंदर कूदने की आवाज आई तो संपादकीय टिप्पणी में लिख मारा—

शाबाश श्यामसुंदर लाला। तुम हो आफत के परकाला।
कैसा बनवाया घर आला। जीना जिसका चक्करवाला।
बैठक हो या गोबरशाला। टिन को सबकी छत पर डाला।
दिन में कूदे बंदर साला। निशि में बिल्ली दे तिरताला।
जाड़ों में पड़े निठुर पाला। गर्मी में छाले पर छाला।
वर्षा में दौड़े परनाला। पर तुमको क्या अजगर व्याला॥

किसी के प्रति ऐसे अपशब्दों का प्रयोग किया जायेगा तो क्या वह अपने मकान में बसाये रखेगा?" मेरी सलैज बोलीं।

"रोज-बरोज इन्हें ये नई-नई हवेलियाँ मिल कहाँ से जाती हैं। लोगों को तो साल-साल भर चक्कर काटने पर मुँह छिपाने को ठौर नहीं मिलता," मैंने कहा।

"घर की बात मत पूछिये। वह तो आज भी किसी भाव नहीं मिलेगा मगर ऐसे अस्तबल तो बहुत मिल जायेंगे। रिक्शा चल जाने से वाजिशालाएँ जो खाली पड़ी हैं।" उन्होंने उत्तर दिया।

"आपके मकान में बुराई क्या है ? अन्दर से तो अच्छा-खासा दिखाई देता है। हाँ, जरा गली के भीतर को है।" मैं बोला।

"अभी आपको पधारे हुए समय ही कितना बीता है। 'नाई-नाई बाल कितने ? यजमान सब आगे आये जाते हैं।' आप विश्राम कीजिये। मैं नीचे जाकर रसोई का प्रबंध करती हूँ।" यह कहकर वह चली गई।

मैं उस नई काबुक में आराम की अभिलाषा में घुसा था। इसलिये इधर-उधर निगाह दौड़ाकर अपने मतलब की सारी चीजों को ढूँढ लेना चाहता था। एक ओर झाँकने पर म्यूनिस्पिल बोर्ड का कूड़ाघर दिखाई पड़ा, दूसरी ओर आबचक बह रही थी। खिड़कियाँ एकदम गोल थीं। पीछे की ओर एक रोशनदान जरूर बना था मगर उसमें ईंट ठूँस दी गई थी। शायद कबूतर अंडे दे दिया करते हों अथवा बदबू फ़ूटती हो। आने और जाने दोनों का एक ही दरवाजा था। कमरे में एक तख्त पड़ा था जिस पर जहाँगीर के वक्त की दरी बिछी हुई थी। झाड़ू ताजी लगी मालूम होती थी क्योंकि धूल शरणार्थियों की भाँति इधर-उधर टक्करें मारती फिर रही थी। दो कुर्सियाँ अवश्य पड़ी थीं जो मुमकिन है कि चतुर्वेदी जी ने पाकिस्तान जाने वाले किस दाढ़ीबाज से खरीद ली हों। उन पर अगर भला आदमी बैठ जाता तो उसकी आबरू सीट से चिपक कर वहीं रह जाती। मेहमान को और वह भी दामादी रिश्ते के हकदार को घर के सबसे सुन्दर स्थान पर ठहराया जाता है। इसलिए मुझे यह सोचना पड़ रहा था कि हो न हो चतुर्वेदी जो की कोठी में यह कमरा ही इस बात का दावा कर सकता है कि अगर "फ़िर्दौस बरूए ज़मीनस्त। हमींनस्तो हमींनस्तो हमींनस्त।"

मेरे विचारों की टेप को काटने के लिए चतुर्वेदी जी आ धमके। उनके हाथ में मेरी अटैची थी।

"अरे, आपने नाहक तकलीफ की, नौकर ले आता।" मैंने कहा

"वाह महामना ! इसमें कष्टानुभव करने की कौन-सी बात है। आप सदृश निकटस्थ प्रियजनों का भार-वहन करने की शक्ति भी क्या इन भुजमूलों में न होगी। रही परिचर्या अथवम भृत्य-सेवा की बात, सो सम्प्रति मैं स्वयंसेवक बन गया हूँ। सेवा समिति वाला नहीं, पत्रकार मण्डल वाला।" उन्होंने उत्तर दिया "अच्छा बैठिये, पहले वह बात पूरी कर दीजिये। भाभी ने मेरे विषय में आपसे कहा क्या था ?" मैंने चतुर्वेदी जी से पूछा।

"आप तो इस रहस्योद्घाटन के लिए अत्यातुर प्रतीत होते हैं ?" वह बोले।

"जी हाँ," मैंने कहा।

"इससे पूर्व आप मुझे क्षमा प्रदान कर दें तो विशेष कृपा होगी। प्रथम दर्शन पर मैं आपके प्रति शिष्टाचार प्रदर्शन करना तो विस्मरित ही कर गया।" सकुचाते हुए

चतुर्वेदी जी बोले ।

"इसमें क्षमा माँगने की कौन-सी बात है । आपकी जगह भाभी ने ड्यूटी निभा दी । आइये, अब नमस्कार किये लेते हैं," हाथ जोड़कर चतुर्वेदी जी का अभिवादन करते हुए मैंने कहा ।

"नमस्कार करने की ही मेरी इच्छा हो रही थी । अच्छा प्रणाम ।" चतुर्वेदी जी ने कहा ।

"प्रणाम तो मैं कर चुका । क्या एक से अधिक बार करने की आवश्यकता है ?" मैंने पूछा ।

"नहीं, आप्राच्छन्न हो जाना चाहिये ।" उन्होंने कहा ।

"यह क्या चीज होती है ?" मैंने पूछा ।

"जिसे आप कुशल-क्षेम कहते हैं । मेरा आशय था भगनी, भाग्नेय, भाग्नीया, प्रभृति सकुशल हैं न ?" उन्होंने सवाल किया ।

"सब मजा कर रहे हैं । आपके यहाँ सब मंगल है ?" मैंने भी पूछा ।

"ईश कृपा है ।" उन्होंने कहा ।

"अच्छा तो बतलाइये न वह बात ।" मैंने कहा ।

"हाँ सुनिये, गृहलक्ष्मी ने मुझे आकर सूचना दी कि शीला के ननद-पति ने सदन को पवित्र किया है ।" चतुर्वेदी जी ने कहा ।

"मगर आप तो किसी कनिष्ठा का जिक्र कर रहे थे !" मैंने पूछा ।

"हाँ हाँ, वही तो इस समय भी कह रहा हूँ । शीला आर्ये की अवरजा ही तो हैं !" चतुर्वेदी जी ने उत्तर दिया ।

"अजीब मजाक है ! कभी आप कुछ कहते हैं और कभी कुछ । मेरी समझ में तो एक भी बात नहीं आती; कनिष्ठा होते-होते यह अवरजा और वह भी आर्ये की मैं पूछता हूँ टपक कहाँ से पड़ीं ?" मैंने खीझकर कहा ।

"आप व्यर्थ के इस वादविवाद में क्यों प्रविष्ट होने का प्रयत्न कर रहे हैं ? सर्वत्र अभीष्ट ही होगा ।" उन्होंने कहा ।

"भाई साहब ! यह बाजीगरों का-सा तमाशा करना आपने कब से सीख लिया ? जादूगरों के तो रूमाल ही रंग बदला करते थे मगर आपने अपनी जबान पर उस फार्मूले का प्रयोग कर दिखाया," मैंने कहा ।

"वास्तव में श्रीमन् ! बात यह है कि मेरी स्त्री ने आकर समाचार दिया कि उसकी अनुजा के ननदोई आए हैं ।" चतुर्वेदी जी बोले ।

"देखिये, आपने फिर रंग बदला ! यह बला अब अनुजा बन गई । मुझे साफ-साफ बतलाइये माजरा क्या है ?" मैंने पूछा ।

"तनिक अवनत गिरा में स्वर साधन कीजिये । कहीं उन्होंने श्रवण कर लिया तो सदन गगन का आलिंगन करने लगेगा ।" वह बोले ।

"मैं क्या करूँ ? आप पहेलियाँ ही इस तरह की बुझा रहे हैं जिनको सुनकर

ताव आ जाता है।" मैंने कहा।

"धैर्य से कार्य कीजिये, श्रद्धेय! अनुजा छोटी भगनी को कहते हैं।" मुसकराते हुए उन्होंने उत्तर दिया।

"वाह साहब, वाह! आपने भी रिस्ट वाच को क्लॉक टावर बना दिया! क्या सभी सम्पादक इसी उल्टे कैंडे के होते हैं?" कटाक्ष करते हुए मैंने पूछा।

"सम्पादकों की चर्चा मध्याह्न में करूँगा। इस समय आप शंका निवारण के लिए उद्यत हो जाइये।" चतुर्वेदी जी ने कहा।

लोटा लेकर मैं नीचे पहुँचा तो एक ओर लिखा मिला 'शयनागार', उससे आगे बढ़कर था 'गोष्ठी भवन', बगल में विराजमान थी 'पाकशाला', शायद इसलिए कि खाना पकने की खुशबू चतुर्वेदीजी की नाक में प्रवेश करती रहे और चूल्हे का धुँआ उनके पास बैठने वालों की आँखें फोड़ता रहे या यूँ कहिये कि चपातियों के सिकने और दाल में बघार लगाये जाने से चतुर्वेदीजी इस बात का अन्दाजा लगा लें कि भोजन तैयार हो गया; श्रीमतीजी बेचैनी से इन्तजार कर रही हैं; उन्हें मीटिंग खत्म करके उनके पास शीघ्र पहुँचना चाहिये। सोने के कमरे के दूसरी तरफ 'सामग्री भण्डार' बना था। एक कोने में अंकित था 'स्नानागार'। इतने कार्यालय तो मिले किन्तु दीर्घशंका समाधान करने का दफ्तर कहीं दिखलाई नहीं पड़ा। वह भी कोई न कोई आगार ही होगा, ऐसा विचार कर मैं उसकी तलाश में जुट गया। यह भी सोचता जाता था, हो सकता है पास में ही कहीं बमपुलस बना हो जहाँ चतुर्वेदीजी और उनकी पत्नी सांझ-सबेरे फ़रागत पा आते हों, घर में ऐसी बेहूदा वस्तु का प्रबन्ध न किया हो मगर अजीर्ण और अतिसार के समय कैसी निभती होगी, इसका रह-रहकर ख्याल आता था। इसी सोच-विचार में पड़ा चक्कर काट रहा था, तभी एक कोने में लिखा दिखाई पड़ा 'आयुधागार'। कब्ज न रहने से आयु बढ़ती है, यह मुझे अच्छी तरह मालूम था। इसलिए उसी स्थान को मल त्यागने की जगह समझकर मैं उसमें घुसने के लिए बढ़ा। दरवाजे पर हाथ रखकर कुंडी खोलने ही वाला था कि साला पत्नी आ मरीं और चिल्ला उठीं, "वह नहीं, वह नहीं···"

मैंने पीछे मुड़कर पूछा, "तो बतलाओ न जल्दी से कहाँ है?"

उन्होंने घूँघट की ओट में से उत्तर दिया, "···टटोल रहे हैं न?"

"जी हाँ, फिलहाल तो उसी की तलाश है। लौटकर आने पर मिट्टी की भी जरूरत होगी।" मैंने कहा।

यह सुनना था कि भीतर से साले साहब भी आ गये और बोले, "क्या बात है जीजाजी?"

"कुछ नहीं भाई, जल्दी करो। तुम्हारे यहाँ तो हर काम में राष्ट्रीय सरकार जैसा विलंब होता है!" मैंने हवास कायम रखते हुए कहा।

"इन्हें संडास बतला दीजिये।" चतुर्वेदी की अर्द्धांगिनी यानी द्विवेदी जी ने कहा।

"फिर तुमने उस जघन्य वस्तु का नाम लिया ! मैंने निषेध किया है संडास यात्रा नहीं करते।" अपनी भार्या की ओर लाल-पीली आँखें करते हुए चतुर्वेदी जी बोले।

"मगर मैं तो वहाँ जरूर जाऊँगा। आप जाते हों अथवा नहीं।" मैंने जोर से कहा।

"आपको कौन विपर्य्यस्त कर सकता है। पुरीषालय का द्वार मैं अभी दृष्टगत कराए देता हूँ।" उन्होंने मेरी ओर मुड़कर कहा।

"धन्यवाद। जरा जल्दी कीजिये," कहकर मैं उनके पीछे-पीछे हो लिया।

उनके 'शकृत-गृह' (उस स्थान पर खड़िया से यही लिखा हुआ था) से वापस आने पर देखा चतुर्वेदी जी हाथ धुलाने को तैयार खड़े हैं।

"यह विभूति लीजिये।" चूल्हे की राख की ओर संकेत करते हुए उन्होंने मुझसे कहा।

"आप इसे विभूति कहते हैं। हम लोग तो मिट्टी शब्द से अधिक परिचित हैं।" हाथ माँजते हुए मैंने कहा।

"मिट्टी को मृत्तिका कहते हैं। उसकी अपेक्षा विभूति अधिक सार्थक है।" मुसकराते हुए चतुर्वेदी जी ने उत्तर दिया।

"अच्छा, जरा दतौन और साबुन मँगवा दीजिये।" मैंने साले साहब से कहा।

"आर्ये ! जाओ दशन-प्रलेप, दंत-धावक तथा मजन-वट्टिका ले आओ।" चतुर्वेदी जी ने अपनी पत्नी को पुकारकर कहा।

"यह आप क्या खुराफात मँगा रहे हैं ? कुछ नहीं हो तो कोयला और बेसन ही मँगवा दीजिये।" मैंने कहा।

"आपकी दया से सब कुछ उपस्थित है। मैं आपके पूर्व स्नान की भूमिका के विभिन्न अवयवों का संकलन ही कर रहा हूँ," उन्होंने उत्तर दिया।

"अच्छा, तब तो मैं ऊपर से अपनी धोती, तौलिया आदि लिए आता हूँ।" मैंने कहा।

"ओ हो ! आप इन गौण प्रस्तावों को महत्त्व प्रदान कर अकारण पंर्युत्सुक हो रहे हैं। मैं सद्य संपूर्ण व्यवस्था किये देता हूँ।" उन्होंने उत्तर दिया।

"बहुत अच्छा," कहकर मैं खामोश हो गया। उन्होंने अपनी बीवी को बुलाकर कहा, "विदुषी ! मान्यवर के लिए अधोवस्त्र और अंग-प्रेक्षक का आयोजन करो।"

लगभग आध घंटे बाद नहाने का इन्तजाम हुआ। लाइफ बॉय की बदबूदार टिक्की को शरीर पर रगड़ना पड़ा। फ्रेंच बाथ (दिगंबर स्नान) के इरादे से मैंने दरवाजा बन्द कर लिया और बम्बे की मोटी धार प्राप्त करने की लालसा में टोंटी को पूरा खोल दिया। दो चार मिनट तक तो जल-प्रवाह काफी जोर का रहा। गंगावतरण का आनन्द शिवजी को क्या आया होगा जो मुझे उस समय नसीब हुआ परन्तु सहसा 'सुन-सुन' करके एकदम पानी का आना बन्द हो गया। ऐसा लगा जैसे उसके प्राण गले तक आकर रह जाते हों और बाहर निकलने में असमर्थ सिद्ध होते हों। मेरे सिर का

सारा साबुन धुल-धुलकर धड़ पर आ गया था। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने पर भी जब टंकी ने आशाजनक उत्तर नहीं दिया तो मैंने गीली धोती लपेटी और द्वार खोलकर बाहर आया।

"पानी बंद हो गया, चतुर्वेदीजी।" मैंने कहा।

"अरे! आप तो आपाद पर्यंत गाजयुक्त हो रहे हैं। चलिए, मैं विवृत घटिका में जल ले आता हूँ।" हँसी दबाते हुए चतुर्वेदीजी ने कहा।

मुश्किल से दो लोटे पानी को बाल्टी में सँभाले हुए वह आये, नहाना क्या, तेल चुपड़ना था। तौलिये से पोंछकर किसी तरह देह का साबुन दूर किया, फिर भी दिन भर शरीर चटकता रहा। तेल की जगह सिर में डालने को मिला 'नारिकेल स्नेह' और कंघे के स्थान पर 'कंक' से 'मुकुर' में झाँककर केश-विन्यास किया।

भोजन की मेज पर बहार आ गई। खाता जाता था मैं और चीजों का नाम बतलाते जाते थे चतुर्वेदीजी। यद्यपि सभी वस्तुएँ मेरी जानी-पहचानी थीं, परंतु मैं ऐसे जंतुओं के प्रदेश में पहुँच गया जिनकी बोली मेरी जुबान से एकदम भिन्न थी। पूड़ी को वह कहते पूलिका; कचौड़ी थी घृतक्ष्वेली; टमाटर बेटा का नाम रखा था लोहित कूष्माण्ड और पानी के लिये नीर-नीर करके पुकारते; कढ़ी और मंगौरी थीं क्वथितामाह और माषरंगी; बड़ी माषेंडरी बन गई थी; मालपुए, गुलाबजामुन, फेनी, घेवर, अंदरसे और रबड़ी के लिये जो शब्द प्रयोग में लाये गये थे, वे थे मल्लपूप, दूग्धकूपिका, तंतुफेनिका, घृतपूरः, अथेंदुरसा और घनक्षीर।

दोपहर का भोजन करके मैं सो गया। चार बजे के बाद चतुर्वेदीजी ने आकर जगाया।

"बंधुवर! शय्या का त्याग कीजिये। अतिरिक्त शयन के हेतु विभावरी आती होगी। सुजाता कुसुंभी क्वाथ बनाकर ला रही हैं। उसका पान भी तो करना है।" उन्होंने कहा।

आँखें मलकर करवट बदलते हुए मैंने पूछा, "यह कुसुंभी क्वाथ क्या चीज है?"

"वही जिसे आप 'टी' कहते हैं।" उन्होंने उत्तर दिया।

"लाहौल विला कुव्वत!" कहकर मैं उठ बैठा। जल्दी से मुँह-हाथ धोया और चतुर्वेदीजी के साथ गोष्ठी-भवन में पहुँचा। थोड़ी देर में कुंजबिहारिन चाय और नाश्ता ले आईं।

प्याला मेरे सम्मुख रखते हुए चतुर्वेदीजी ने प्रश्न किया, "शर्करा कितनी मात्रा में ग्रहण करते हैं?"

"आप चाहे जितनी पिला दीजिये। मिठास में बकवास करने की गुंजायश नहीं होती।" मैंने जवाब दिया।

"आप प्रातःकाल संपादकों के विषय में कुछ विचार प्रकट कर रहे थे?" चतुर्वेदीजी ने चाय उँडेलते हुए कहा।

"मैं!" चौंककर मैंने कहा।

"हाँ, हाँ, आप ही ! आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है ?" उन्होंने पूछा।

"नहीं, नहीं, आश्चर्य की तो कोई बात नहीं। मुझे याद आ गया। मैं कह रहा था कि क्या सभी संपादक आपके समान हिन्दी के पक्षपाती होते हैं ?" चाय की चुस्की भरते हुए मैंने उत्तर दिया।

"इसी वाक्य को श्रवण करने के लिये मेरे कर्ण-प्रकोष्ठ व्यग्र हो रहे थे। सत्य यह है जीजाजी ! हिन्दी का भविष्य-व्योम इस समय श्यामल मेघों से परिवेष्टित है। भाषा के सेवकों का पथ धूमिल और अस्पष्ट है।" उन्होंने चाय पीते हुए कहा।

"राष्ट्रभाषा का फैसला हो चुकने के बाद तो आपकी बात में कोई महत्त्व रह नहीं गया है !" मैंने कहा।

"यही धारणा तो आप सदृश अनेक महापण्डितों को भ्रम में डाले रहती है। कदाचित् आपको विदित नहीं, हिंदुस्तानी प्रचार के व्यवधान में अगणित विषैली और घातक योजनाओं का बीज वपन हो रहा है।" उन्होंने नाक-भौं सिकोड़ते हुए कहा।

"मुझे तो आपकी बातें सुनकर बड़ा ताज्जुब होता है।" मैंने कहा।

"अचरज होना स्वाभाविक ही है। आपने कभी समस्या के गर्भ में प्रवेश करने का प्रयास जो अब तक नहीं किया। उपरिस्थ विवेचन से कहीं वस्तु-स्थिति का पता चल पाता है। आप हिन्दुस्तानी शब्दकोश के पृष्ठों पर दृष्टिपात कीजिये, रहस्य स्वतः प्रकट हो जायेगा। उसके कुछ विचित्र एवं मनोमुग्धकारी स्थलों को आपके समक्ष मैं प्रस्तुत किये देता हूँ," यह कहकर चतुर्वेदीजी उठे और अपनी फाइलें टटोलकर आठ-दस अखबार के पन्ने निकाल लाये। फिर जेब में इधर-उधर हाथ डालकर कुछ खोजने लगे।

"क्या ढूँढ रहे हैं ?" मैंने पूछा।

"आपने मेरी चक्षुदीपिका तो नहीं देखी ?" उन्होंने कहा।

"चक्षुदीपिका ?" मैंने पूछा।

"जी हाँ, नयनक।" उन्होंने उत्तर दिया।

"नयनक ! यह क्या होती है ?" मैंने दुबारा पूछा।

"वही जिसे आप ऐनक कहकर संबोधित करते हैं।" उन्होंने कहा।

"उसे तो मैंने कहीं नहीं देखा। हो सकता है भाभी साहिबा कुछ मदद कर सकें।" मैंने जवाब दिया।

"देखिये पूछता हूँ अन्यथा विस्मरण-शक्ति उनकी भी पराकाष्ठा पर अवस्थित रहती है।" यह कहकर वह बाहर चले गये।

दस-बारह मिनट बाद लौटे, मगर चश्मे की शिकायत वैसी ही बनी रही।

"जाने भी दीजिये हिन्दी-हिन्दुस्तानी के झमेले को, और कोई बातें करेंगे।" मैं बोला।

"नहीं, नहीं, उसका अनुसंधान हो रहा है। शीघ्र ही देवीजी कहीं से लाकर देंगी।" चतुर्वेदीजी ने कहा।

"जरा उस किताब के भीतर तो देखिये। पन्नों के बीच में कोई चीज दबी हुई नजर आती है।" मेज की ओर इशारा करते हुए मैंने कहा।

चतुर्वेदीजी उठे। किताब को खोला तो वाकई ऐनक रखी हुई थी।

"आपकी पर्यवेक्षण-शक्ति अद्वितीय है!" उन्होंने चश्मा आँखों पर चढ़ाते हुए कहा। फिर जोर से चिल्ला पड़े, "अरे, अनुसंधान-क्रिया को स्थगित कर दो। दीपिका प्राप्त हो गई। यहीं पुस्तक की क्रोड़ में विलीन हो गई थी। तुम चर्वण करने के लिये तांबूल, पुंगीफल, एला, लवंग, शतपुष्पा, सुवासा आदि दे जाओ।"

"आपने तो खिलाते-खिलाते मेरा नाक में दम कर दिया है।" मैंने घबराते हुए कहा।

"कैसी लज्जित करनेवाली वार्त्ता में व्यस्त हो गये आप! आपने ग्रहण ही क्या किया है। फिर मैं तो पान-सुपारी मँगवा रहा हूँ। पाचन-क्रिया में सहायता मिलेगी।" चतुर्वेदीजी बोले।

"मैं तो कुछ और ही समझा था।" मैंने कहा।

"हाँ, तो मैं निवेदन कर रहा था कि भव्य भारती के कलित कलेवर की काव्य-विश्रुत कमनीयता को अपहरण करने के लिये पारिपथिकों का दल सचेष्ट है। संसद में देवनागरी अंकों का स्थानापन्न तो रोमन चिह्नों को बना ही दिया गया, अब यह प्रयास किया जा रहा है कि हिन्दी के सुकोमल शब्द पारिजात मे हिन्दुस्तानी के कदर्य कुसुम विकसित हुआ करें। नवीन भावों को व्यक्त करने के लिये जिन वर्णसमूहों का निर्माण किया जा रहा है, उनके संबंध में ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। मध्यभारत से एक पत्र प्रकाशित होता है 'भारत खादिम'। इसकी दो प्रतियाँ मेरे पास सुरक्षित हैं। यह पत्र सद्भावना-समन्वित भारतीयता का पृष्ठ-पोषक एवं राष्ट्रीय एकीकरण के अग्रदूत होने की घोषणा करता है, फिर भी बहुमत से स्वीकार की जानेवाली राष्ट्रभाषा हिन्दी की अवहेलना कर हिन्दुस्तानी के प्रचार के लिए कटिबद्ध रहता है। जिस प्रकार अनन्त काल से वर्णसंकरता को शिरोधार्य कर, यह अंत्यज शब्दों के उत्पादन-गृह का संचालन करता रहा है, वैसे ही आज भी अनुलोम और प्रतिलोम संबंधों को स्थापित कर नूतन सृष्टि की उद्भावना कर रहा है।" चतुर्वेदीजी ने अपने उपदेश में कहा।

"दो-चार शब्दों के उदाहरण भी तो दीजिये।" मैंने कहा।

"दो-चार क्या, दस-बीस लीजिये। पोस्टमैन के लिए हिन्दुस्तानी शब्द है 'डाकू'। भंग पीनेवाला 'भंगी' बना दिया गया है। अटैची और होल्डाल के नाम रखे हैं 'चिपकी' और 'सर्दलपेटू'। शिक्षालयों के प्रधानाध्यापकों को 'गुरु घंटाल' कहने की अनुशंसा की गई है। विश्वविद्यालयों के रीडर 'पढ्डू' कहे जायेंगे। चेयरमैन के लिये 'मीरसभा' अथवा 'जलसापति' रचा गया है और चेयरवोमेन को 'जलसापत्नी' द्वारा संबोधित किये जाने का सुझाव प्रस्तुत किया गया है। निर्धार के अर्थ दिये हैं गुठ्ठल या बिना धार वाला। निर्माता की व्याख्या करते हुए लिखा है, वह बालक

जिसकी माँ मर गई हो। सुहाल से आशय निकाला जाता है उस व्यक्ति से जो अच्छे हाल में हो। टेलीफून और लाउडस्पीकर 'खुसपुस यंत्र' तथा 'चिंघाड़दान' कहलाने लगे हैं। इसी प्रकार मिनिस्टर फार एनीमल हस्बेण्ड्री को 'मवेशी मंत्री' की संज्ञा दी जाती है।" चतुर्वेदी जी बोले।

"क्या वाक़ई ऐसी बेढंगी गढ़न्त की गई है?" मैंने पूछा।

"अजी, अभी क्या है? यह तो केवल राष्ट्रीय प्रदर्शिनी का उद्घाटन हुआ है। आगामी काल में इससे भी आकर्षक योजनाओं की प्रतीक्षा कीजिये।" चतुर्वेदीजी ने कहा।

"आपने तो ऐसा लगता है, हिन्दुस्तानी का मज़ाक उड़ाने की ठान रखी हो। तभी तो ऐसे चुनीदा नमूने पेश किये। अगर हिन्दुस्तानी के प्रचारक इस बेहूदगी से काम लेंगे तो मुँह की खानी पड़ेगी। मगर आप अपनी हिन्दी शब्दों की फाउन्ड्री के संबंध में क्या कहते हैं? वह भी तो ४४० वोल्ट पर वर्क कर रही है।" मुसकराते हुए मैंने कहा।

"हमें किस बात की चिन्ता हो सकती है। हम तो देववाणी के प्रस्फुटित पुष्पों से साहित्य-कानन को रमणीयता प्रदान करते जा रहे हैं। हमारी भाषा को संस्कृत की उत्संग में लालित-पालित होने का सौभाग्य प्राप्त है। हमारे शब्दों की नवसेना के शिविर का संचालन भाषा-विशेषज्ञों की संरक्षता में होता है, कर्मकांडी ब्राह्मणों द्वारा नहीं।" गर्व से माथा ऊँचा कर चतुर्वेदीजी बोले।

"यह तो मैं भी देख रहा हूँ कि आप रास्ते में अच्छी तरह काँटे बिछाते जा रहे हैं।" हँसी दबाते हुए मैंने कहा।

"देखिये, विदेशी शब्द 'सिगरेट' के लिये हमारे पास है 'श्वेतवसना धूम्रपान-शलाका'।" चतुर्वेदीजी ने मेरी आँखों में आँखें डालते हुए कहा।

"इसे आप शब्द कहते हैं! तो वाक्य कितना बड़ा होता है?" मैंने पूछा।

"मैं तो शब्द ही कहूँगा। बिना क्रिया-कर्म किये वाक्य की सृष्टि नहीं हुआ करती।" उन्होंने उत्तर दिया।

"मान भी लिया जाये यह वाक्य नहीं है फिर भी है तो उसी के जोड़ का। अच्छा आप बीड़ी देवी को क्या कहेंगे?" मैंने पूछा।

"पीत-वसना-धूम्रपान-शलाका अथवा पीतांबरा!" उन्होंने कहा।

"वाह, वाह! चतुर्वेदीजी आपने ग़ज़ब कर दिया!" जोर से हँसते हुए मैंने कहा।

"यह हास-परिहास का विषय नहीं है, जीजाजी! वास्तव में निशिवासर के निरन्तर परिश्रम का प्रसाद है।" कुछ उदास भाव से चतुर्वेदीजी बोले।

"आप नाराज हो गये! हँसी-मजाक करना तो मेरी आदत में शामिल है। अच्छा मिठाई के लिये मिष्ठान्न के अतिरिक्त आपके पास अन्य कोई शब्द भी है? बहुत-सी मिठाइयाँ जैसे कलाकंद, पेड़ा, पेठा आदि ऐसी होती हैं जिनमें अन्न का लेश नहीं होता। क्या उन्हें भी आप मिष्ठान्न कहकर ही पुकारा करेंगे?" मैंने पूछा।

"जी नहीं, उनके लिये मधुरिमा कहा जायेगा।" चतुर्वेदीजी बोले।

"और नमकीन के लिये आपके पास कौन-सा सलोना शब्द है ?" मैंने पूछा।

"लावण्यवती !" उन्होंने उत्तर दिया।

"धन्य हो ! धन्य हो !" के अतिरिक्त मेरे मुख से अधिक कुछ न निकल सका।

"मोटर के लिए हिन्दुस्तानीवालों ने 'पों-यान' शब्द की सृष्टि की है।" चतुर्वेदीजी बोले।

"और आपकी कम्पनी ने क्या बनाया है ?" मैंने पूछा।

"वह्नित्रयान।" चतुर्वेदीजी ने उत्तर दिया।

"बिजली का बल्ब आपके दिमाग में आया ?" मैंने कहा।

"जी हाँ, स्नेहशून्य-काँच-मन्दिर-दीपक कहते हैं उसे।" चतुर्वेदीजी बोले।

"तो लालटेन क्या होगी ?" मैंने पूछा।

"काँच-मन्दिर-दीपिका।" उन्होंने उत्तर दिया।

"और पेट्रोमेक्स ?" मैंने कहा।

"स्नेह-युक्त-काँच-मन्दिर-दीपक।" उन्होंने जवाब दिया।

"श्रृंगार के प्रसाधनों के क्या नाम रखे हैं ?" मैंने पूछा।

"आप किन वस्तुओं के विषय में विशेष रूप से उत्सुक हैं ?" चतुर्वेदीजी बोले।

"लिपस्टिक, नेल-पालिश, क्रीम, पाउडर और क्या !" मैंने कहा।

"इनके लिए अधरवर्त्तिका, नखरंजिका, आनन-ओपा, और अंगराग प्रयुक्त होते हैं।" चतुर्वेदीजी ने उत्तर दिया।

"ठीक है, आप निश्चय ही देश का बंटाधार करेंगे।" मैंने अपने मन में कहा।

"हिन्दुस्तानी के विषय में आपके क्या विचार हैं ?" चतुर्वेदीजी ने मुझसे पूछा।

"मेरे विचार ? मैं कोई भाषाशास्त्री तो हूँ नहीं। हाँ, इतना जानता हूँ कि हिन्दुस्तानी और हिन्दी का द्वन्द्व अवांछित और घातक है। मेरी राय में हिन्दी की प्रगति में बाधा डालना किसी के लिए श्रेयस्कर नहीं।" मैंने कहा।

"आपने ऐसा कहकर मेरे हृदय को कितना आनन्द पहुँचाया है, मैं सहज व्यक्त नहीं कर सकता। अच्छा, हमारी हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं ?" चतुर्वेदीजी ने मुझसे पूछा।

"मैं तो आपकी सेवा-पद्धति से बहुत असन्तुष्ट हूँ। आप चम्मच से दूध पिलाकर भाषा को प्रौढ़ बनाने का स्वप्न देख रहे हैं और मैं कबीर के इन शब्दों में विश्वास करता हूँ—'संस्किरत है कूप-जल, भाषा बहता नीर।' दवाओं के जोर से हिन्दी को ताकतवर बनाने की जो कोशिश की जा रही है वह भविष्य में हानिप्रद ही सिद्ध होगी। हज़्म करने की शक्ति भाषा में अपनी होनी चाहिए। जो जबान जितनी ज्यादा चट करनेवाली होगी उतनी ही उन्नतिशील और लोकप्रिय बनती जायेगी। आप ही देखिये

आजकल हर सभा-सोसायटी और समाज में बैठने-उठने और खाने-पीनेवाला मनुष्य ही सबसे ज्यादा पापुलर होता है। बिरादरी और गैर-बिरादरी के झमेले में पड़ने से भाषा का भला नहीं होगा। आपको हिन्दी में सब जबानों के अल्फाजों को स्थान देने की व्यवस्था करनी चाहिये। सर्वसाधारण के मुख से तो गुलाबजल ही निकलेगा। आप लाख कहते रहें गुलाब फारसी का शब्द है। संस्कृत में सेवती या पाटल कहते हैं मगर कोई भी समझदार आदमी सेवती-जल या पाटल-जल कहने को उद्यत नहीं होगा। इसी प्रकार चाहे कोई पों-यान करे या पीं-यान, मोटर, मोटर ही रहेगी!" मैंने चुआ दी।

चतुर्वेदीजी को शायद मेरी हिन्दी सम्बन्धी टीका-टिप्पणी अच्छी नहीं लगी। उन्होंने ऐनक उतार ली। अखबार मेज पर धर दिये और कुछ भर्राई हुई आवाज में बोले, "सन्ध्या को क्या भोग लगायेंगे?"

"मैं तो रात को चला जाऊँगा। बहुत से काम करने हैं और समय थोड़ा मिला है। आपसे भेंट करने की ख्वाहिश थी सो पूरी हो गई।" मैंने जवाब दिया।

"यह कैसे हो सकता है?" चतुर्वेदीजी ने कहा और ठहरने का अनुरोध करने लगे। जब वह हार गये तो अपनी स्त्री को लिवा लाये। उन्होंने भी आधा घण्टे तक दिमाग चाटा, लेकिन मैं दिनभर के अनुभवों से यह नतीजा निकाल चुका था कि उनके घर में रुकना अपने बीमे की पालिसी के रुपये वापस कराने की स्वयं दर्ख्वास्त देना है, इसलिए किसी प्रकार उल्टी-सीधी बातें बनाकर मैंने विदा होने की अनुमति प्राप्त कर ही ली।

चलने से पूर्व चतुर्वेदीजी की पत्नी ने मेरा तिलक किया। एक रुपया हाथ में टिकाया और गोला मेरे सूटकेस में डाल दिया। मैंने भी अन्तिम बार नमस्कार करने से पूर्व उनसे कहा, "चतुर्वेदीजी ने तो घर की काया ही पलट दी है। मैंने एक दिन के भीतर इतनी हिन्दी सीख ली जितनी आजकल के बालक दस वर्ष चुटिया बाँधकर पढ़ते तो प्राप्त न कर पाते। आप तो भाईसाहब की बोली खूब समझ लेती होंगी?"

वह कुछ मुसकराईं परन्तु उत्तर कोई नहीं दिया। मुझे भीतर ले गईं और एक लम्बे-चौड़े ब्लैक-बोर्ड के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया।

"यह है उनका हिन्दी शब्दकोष। इसी में देख-देखकर मैं उनका मतलब समझ लिया करती हूँ।" वह बोलीं।

लालटेन के धुँधले प्रकाश में मैंने भी दो-चार शब्द पढ़ लिये—

ज्ञापन-गृह : इन्क्वायरी आफिस

झाट-कंचुकी : बुश-शर्ट

हिम-संतानिका : आयस क्रीम

तपोघंट : थर्मस फ्लास्क

हिमानी : आयस कैंडी

मनुज यान : रिक्शा

गुलीवर की भाँति हिन्दी-प्रदेश की एक दिन की यात्रा में मुझे लिलीपुट के जिन मनोरंजक अनुभवों का साक्षात हुआ, उनका मजा चखने के बाद अब दुबारा साले साहब के घर जाने की हिम्मत नहीं होती। एक माने में घाटे में भी नहीं रहा। कम-से-कम आजकल की नई लहर से ही परिचय प्राप्त हो गया।
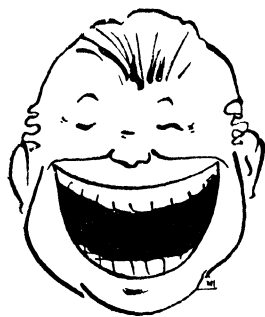
रामजी भाई

परदेशी

●

श्री परदेशी का जन्म सन् १९२३ में हुआ था। बचपन से ही कविता में रुचि रही। चौदह वर्ष की आयु में 'चित्तौड़' नामक खंड-काव्य लिखा। इसके बाद कविताओं के दो संग्रह और प्रकाशित हुए। फिर कथा-साहित्य की ओर आकर्षण बढ़ा।

सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन-काल में 'ज्योति' मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। इसके बाद कई वर्षों तक प्रेस-मैनेजर रहे, पब्लिसिटी विभाग देखा, संपादक रहे, प्रकाशकों का साथ दिया। आजकल लेखन ही प्रमुख कर्म-यज्ञ है। हिन्दी, अंग्रेजी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, उर्दू, संस्कृत, बंगला का भी खूब ज्ञान है।

रचनाएँ

'परदेशी के गीत', 'चित्तौड़', 'जयहिन्द', 'चम्पा के फूल', 'तृषा और तृप्ति', 'चट्टानें', 'औरत, रात और रोटी', 'भगवान् बुद्ध की आत्मकथा', 'बड़ी मछली; छोटी मछली', आदि।

ओरलेम, मलाड, बम्बई

और तब तक कमरे के बाहर पड़ौसी जमा हो जाते

विले पार्ले में जहाँ सरोजिनी रोड गोलाई लेकर घूमती है, ठीक वहीं रामजी भाई रहते हैं। आसपास के एक-दो उपनगर में लोग रामजी भाई का नाम जानते हैं, पर यह कहना कठिन है कि रामजी भाई का नाम प्रख्यात है अथवा कुख्यात ? यों उन्हें दोनों प्रकार की प्रसिद्धि प्राप्त है।

सड़क पर जहाँ कहीं दो आदमी खड़े हों वहाँ रामजी भाई को पा सकते हैं। किसी भी सभा, गोष्ठी या जुलूस में रामजी भाई की उपस्थिति सभापति और जलूस के नेता की तरह अनिवार्य है। विले पार्ले में यों भी आए दिन सभाएँ होती हैं, क्योंकि वहाँ के अधिकांश निवासी व्यापारी वर्ग के हैं, और दस बजे जब नौकरपेशा व्यक्तियों का समुदाय बम्बई चला जाता है, तो सदस्यों को बुलाते हैं, प्रस्ताव पास करते हैं और स्वयं ही जनता की बहुमति से सभापति और कोषाध्यक्ष बन जाते हैं।

अतः रामजी भाई का निरन्तर बहनेवाला वाग्प्रवाह विले पार्ले की जनवाणी बन जाये तो क्या आश्चर्य ? इस उपनगर में कौन जन्मा, कौन मरा, कहाँ ब्याह है और किस घर में गृहिणी के कारण हर घड़ी मातम छाया रहता है, किसकी लड़की आवारा है, सतियाँ कहाँ रहती हैं—ये सब घटनाएँ और समाचार रामजी भाई की अँगुलियों की नोकों पर हैं। पार्ले में अधिक संख्या समृद्ध श्रीमंतों की है और जब रामजी भाई, सुरती फाँककर, उनके घरों की अनकथ कहानियाँ सुनाते हैं तो श्रोता दंग रह जाते हैं और इन्हीं कारणों से पिछले दिनों लोगों ने उन्हें 'रेडियो' की उपाधि देकर उनका सम्मान बढ़ाया है।

रामजी भाई ठिगने कद के गुजराती हैं। न जवान, न बूढ़े। सफाचट चेहरा। सिर पर काली दुपल्ली टोपी—जैसी शेयर बाजारवाले पहनते हैं। लंबी अचकन जिसे बंबई में 'डगला' कहते हैं, और महीन धोती—यही उनकी सदा की पोशाक है। लोगों ने उन्हें आज तक इसी वेश में देखा है।

पिछले दिनों, जब महँगाई बहुत बढ़ गई थी और राशन बारह से नौ छटाँक रह गया और उसके भी दाम ड्योढ़े हो गये, तो रामजी भाई ने अपने 'ढाबे' वाले से कह दिया कि कल से वह एक बार भोजन करेंगे।

तब रामजी भाई ने एक बार ही काफी खा लेने की कोशिश की और अन्त में जब उन्हें अपने नये आविष्कार में सफलता मिलती नजर आई, तो वह जहाँ-तहाँ राह-चलते व्यक्तियों को रोककर एक बार खाने के लाभ पर धुँआधार भाषण देने लगे। उन्होंने अपने निर्बन्ध वाणी-व्यवसाय द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि यदि जनता एक बार खाना शुरू कर दे, तो भोजन-समस्या स्वयंमेव हल हो जाय। किन्तु रामजी भाई

यह न सोच सके कि यदि सब उनकी तरह एक बार ही पूरे पेट डटकर खाना शुरू कर दें, तो समस्या का उनका निकाला नया हल ही, एक नई समस्या बन जाएगा।

सुबह ९-१९ की लोकल ट्रेन से बम्बई जाते हुए रामजी भाई को सबने देखा है, जहाँ 'पुरोहित' के सामनेवाले क्लाथ स्टोर्स में वह सेल्समैन हैं। स्टोर में पहुँचते ही वह दुकान की सीढ़ियों को प्रणाम करते, फिर मोटे सेठ की ओर गद्‌गद् दृष्टि से देखते हुए अत्यन्त विनीत भाव से करबद्ध हो, अचंचल मुद्रा में खड़े रह जाते; और जब सेठ 'कैम, रामजी भाई, शुं समाचार छे?' कहकर उनका सम्बोधन करते तो वह अधमुँदी आँखें खोलते और 'ठीक छे' कहकर अपने काम में लग जाते। उनका काम था शो-केस में रखी, मसाले से बनी आदमकद सुन्दरी को सजाकर, नित्य नये ब्लाउज और नई साड़ियाँ पहनाना।

पिछले बीस वर्षों से रामजी भाई अपने इस काम को अत्यन्त कुशलतापूर्वक करते गए। न मालूम कितनी हजार साड़ियाँ उन्होंने बेची होंगी और न मालूम कितनी सुन्दरियाँ उन्हें पहनकर प्रसन्न हुई होंगी, कितनी कुँवारियों ने ब्याह रचाए होंगे, सुहाग-रातें मनाई होंगी, वे माँ बनी होंगी और उनकी नवजात बालिकाएँ युवतियाँ बनकर साड़ियाँ खरीदने आई होंगी। पर रामजी भाई इस लम्बी अवधि में भी वैसे ही बने रहे—जीवन के प्रति अचेतन और वाचाल। संगी-साथी के नाम पर शो-केस की यह सुन्दरी थी, पर ईश्वर और मनुष्य ने उसे भी ऐसा बनाया था कि वह रामजी भाई के शब्दों में 'सब सुनते समझते भी' किसी बात का जवाब नहीं देती थी।

इस प्रकार शो-केस की यह सुन्दरी धीरे-धीरे रामजी भाई के मन की रानी बन गई थी और उसने उनके जीवन में एक ऐसी विडम्बना पैदा कर दी, जो अब मिट नहीं सकती थी।

यह सुन्दरी रामजी भाई की बात सुनती, समझती और उत्तर में हँसती। रामजी भाई की बीस वर्षों की तपस्या ने इस मूर्ति में प्राण डाल दिये हों शायद, तभी उन्होंने उसे नाम दिया था और उससे गांधर्व विवाह कर लिया था।

रामजी भाई के दो सहयोगी थे—चिरजीवन सहचर। वे उनकी पत्नियाँ थीं, जिनके लिए प्रत्येक प्रकार से अपने प्राणों की बाजी लगाने को वह उतावले रहते, किन्तु तनिक-सी चूक पर उन्हें मार-मारकर भूसा बना देने की धमकी भी वह प्रत्येक वाक्य के अन्त पर देते रहते।

उनमें से बड़ी यानी घरवाली को शांता और दूसरी छोटी, शो-केस की सुंदरी को वह कांता के नाम से पुकारते। उनमें से किस पर उनका विशेष प्रेम था—यह कहना कठिन है क्योंकि जब वह घरवाली से झगड़ते तो बाहरवाली के सामने रो-धो कर सारा किस्सा बयान करते, और जब बाहरवाली के ग्रह खराब होते और वह ठीक से जवाब न देती, तो वह बड़े उच्च स्वर में घरवाली का बखान करते हुए कांताबेन के निकट भविष्य में ही, फैशन ही फैशन में बिगड़ जाने की उद्‌घोषणा करते।

फिर भी छोटी आखिर छोटी ठहरी। जब वह मजे में होते तो घुल-घुलकर उससे बातें करते और शांताबेन की सारी रिपोर्ट, पूरे तर्कों के साथ सुनाते : "तुझे क्या बताऊँ, कांता, शांता को आजकल न जाने क्या हो गया है ? यदि मैं उसे कहूँ कि देवी, कृपा कर कल आठ बजे रोटी दे देना, तो वह साढ़े आठ पर आटा पिसाने जायेगी। यदि मैं उसे कहूँ कि वैद्यजी की दवा लेना, तो वह डाक्टर से इंजेक्शन लगवाएगी। यदि मैं कहूँ कि नए साल का दिन है, भोर में जल्दी उठना, तो समय पर जागना तो अलग, वह दिन भर खुर्राटे भरेगी। यदि उसे कहूँ कि मैं थका-माँदा आया हूँ, जरा धीरे चल, तो वह इस तरह जोर से धमक-धमककर चलेगी कि ऊँचे रखे हुए बरतन-भाँडे जमीन पर आ गिरेंगे। यदि उसे सौगन्ध दिलाकर भी कहूँ कि उत्तर की ओर न जाना, तो वह अवश्य उत्तर की ओर ही बसेरा लेगी। अब तू ही बता, कांता, मेरा क्या होगा ? इस लम्बे जीवन में तू ही मेरा एक सहारा रह गई है।"

हिन्दी कवियों की तरह रामजी भाई में भी मूड आते और जाते। जब भोर होते ही कोई पड़ोसी उनके लिए दूधपाक रखने आता और वह चाहते हुए भी, दिखावे के लिए आग्रहपूर्वक अस्वीकार करते और पड़ोसी की कुछ सेवा न कर सकने का बहाना करते, हालांकि उनकी कंजूसी विख्यात थी, तो खीरवाहक के मन में उनके लिए जगह बन जाती। यों वह दिन भर प्रसन्न रहते और अकारण मुसकराते। मन-ही-मन बातें करते, अकेले में हाथ चलाते और उँगलियों के पोरों पर न जाने कौन-सा हिसाब जोड़ते !

और मान लीजिए, किसी दिन सुबह मकान-मालिक का लट्ठधर भैया रामनिहोर किराया उगाहने आ जाता और कसम खाता कि शाम तक रामजी भाई की खोली खाली करवा ली जायगी, तो रामजी भाई अपनी व्याख्यानविशारदा वाणीधारा द्वारा ऐसा बवण्डर मचाते कि परेशान पड़ोसिनें 'भैयाजी-भैयाजी' कहकर अस-फल रामनिहोर को विदा कर देतीं; और तब उस पूरे दिन रामजी भाई म्युनिसिपैलिटी के दिवालिया होने की रामकथा गाते और कमेटी के मेम्बरों के घर जा-जाकर उनकी कमजोरी का प्रत्यक्ष दर्शन करते। फिर बाहरवाली बीबी को सारा किस्सा नमक-मिर्च लगाकर सुनाते और अन्त में उसे बड़ी स्पष्टता से यह भी समझा देते कि यदि भैया रामनिहोर प्राणों के लोभ से वहाँ से टल न गया होता तो आज भारी मारामारी हो जाती।

रामजी भाई जन्मजात मक्खीचूस थे। यही कारण था कि इतनी उमर हो जाने पर भी लोग उन्हें दिल बहलाने का साधन समझते थे और काफी बरसों से आसपास के नाई उनके दुश्मन हो रहे थे, जिसका इतिहास इस प्रकार है—

हर रविवार को रामजी भाई पड़ोसी कायस्थों के हरिवल्लभ को बुलाते, पर हरिवल्लभ के बारे में कहावत बन गई थी कि वह हरिवल्लभ कहने पर नहीं, 'हरिया' कहने पर जवाब देता है; और जब रामजी भाई जरा तैश में आकर जोर से हरिया चिल्लाते तो अदृश्य हरिवल्लभ पल भर में हनुमान की तरह आ उपस्थित होता।

"हरि बेटा, नाई को तो बुला।"

नाई का नाम सुनते ही हरिवल्लभ की बाँछें खिल उठतीं और उसकी चाल में सौगुना उत्साह आ जाता मानो रामजी भाई उसे मिठाई खिलाने जा रहे हों—क्योंकि हरिया उस घटना को जानता था जो नाई के आने पर घटने वाली थी।

दो ही छलांग में हरिया मुहल्ला पार कर चौराहे पर आ जाता और नाई की ताक में आँखें मिचमिचाए दूर-दूर तक नजर दौड़ाता।

नाई के आने तक रामजी भाई एक फटा टाट बिछाए, कटोरी-भर पानी लिए, बनियान उतारे, पद्मासन मुद्रा में तैयार हो लेते।

नाई आता और वह उसे प्रेमपूर्वक बैठाते। उसके औजारों की जाँच करते। देखते कि आइने की कलई तो नहीं निकल गई है। कैंची की धार फेरीवाले चीनी से लगवाई है या बोहराजी से। इन सब बातों का इतमीनान कर वह शीशा हाथ में लेते और एक-दो क्षण अपनी शकल-सूरत की जवानी पर रहम खाते। उन्हें लगता कि लड़कीवाले अवश्य मूर्ख होते हैं—तभी तो भगवान् उन्हें लड़कियाँ देता है। फिर वह नाई का नाम पूछते।

वह कहता, "रामदीन।"

"कौन, भजनदीन का लड़का तो नहीं?"

उत्तर मिल जाता, "हाँ।"

"हाँ? अरे, वाह रे भजनिया के लड़के, तू तो बहुत बड़ा हो गया रे!"

तब तक रामदीन नाई रामजी भाई की दाढ़ी के खेत को, साबुन का खाद दे, उस पर उस्तरे का हल चलाना शुरू कर देता। तब वह एक-दो बार 'ऊँ हूँ' के विचित्र स्वर द्वारा उस्तरे के कुंद होने की ओर यों ही झूठमूठ इशारा करते और अंत में उसे रोक देते।

"अरे ठहर रे, ठहर!"

"क्यों, मालिक?"

"उस्तरा तो तेरा कुंद है। यह तो बता मजूरी क्या लेगा?"

"तीन आने, मालिक।"

"क्या बोला रे, भजनिया के बच्चे?"

"तीन आने, मालिक।"

"तीन आने! जुलुम करे है! सारे जमाने में चार पैसे लेते हैं। मुझे बीस बरस हो गए देते-देते। क्या आज नया-नया दाढ़ी मुँडवाने बैठा हूँ? तीन आने का मुँह फाड़ता है! बेटा, तीन आने तो कंपनीवाले भी नहीं लेते। चल, चल, निकल जा यहाँ से!"

पूरे समय नाई भौंचक्का हो उनकी ओर ताकता रहता।

"मैं कहूँ हूँ कि निकल जा, अपनी खोपड़ी सलामत चाहे तो! चलता है कि बुलाऊँ पुलिस को? हजामत करे है कि लूट करे है? बेटा लुच्चा, किसी की जेब

न काट ले !"

और घबराकर रामदीन या उस-सा ही कोई दूसरा नाई चलने की तैयारी करता और खिलखिलाता हुआ हरिया नाई को अपना सामान बटोरने में मदद देता।

फिर दूसरे नाई की बुलाहट होती। हरिया कमबख्त किसी-न-किसी को पकड़ ही लाता। किन्तु उसकी भी वही दुर्गति होती और इस प्रकार सुबह आठ बजे से ग्यारह बजे तक रामजी भाई की दाढ़ी मुफ़्त में बन जाती। तब वह घर में प्रवेश करते और शान्ता से नहाने के लिए गरम पानी की माँग करते।

रात में रामजी भाई मुहल्ले में सबसे देर से आते और आते ही मुहल्ले की नींद हराम कर देते—"अभी तक रसोई नहीं बनी !···क्या कहा—नहीं !···अरे शान्ता, तू मुझे खा जाएगी, मेरी जान लेगी···ठहर जा···!"

और तब तक कमरे के बाहर पड़ोसी जमा हो जाने पर किसी की हिम्मत नहीं होती कि पड़ोस में नए आये पति-पत्नी के झगड़े में दखल दे। कुछ दिन यों ही चलता रहा। आखिर एक दिन औरतों ने कहा कि वे दिन में कभी रामजी भाई की श्रीमतीजी को समझा देंगी कि उन दोनों के कारण पूरे मुहल्ले को कितना कष्ट है।

पर रामजी भाई की शान्ता दिन में कभी न दिखाई दी तो स्त्रियों ने मान लिया कि रात में उनके साथ ही बम्बई से लौटती होंगी या कुछ देर पहले आती होंगी।

एक-दो दिन शान्ति से गुजर जाते और तब फिर से दम्पति के बीच तकरार शुरू हो जाती। पड़ोसियों को इस गृहिणी पर दया आती थी, वे आपस में उसके स्वभाव से विस्मित हो रहे थे और प्रशंसा करते थे कि यह सती है जो चूँ भी नहीं करती। आज तक किसी ने उसका एक शब्द भी नहीं सुना था। कई पुरुष उसी स्त्री की प्रशंसा करते हैं, जो मौन रहकर अपना शोषण होने देती है।

तब मुहल्ले में एक दिन पत्नी-पक्ष प्रबल हो गया और एक-दो जवान भी मुहल्ले की कुमारियों की ओर मिल गये और नये जमाने के इन नये लोगों ने इस प्रकार का सामाजिक अन्याय देखना, सुनना और सहन करना सर्वथा अस्वीकार कर दिया।

और एक दिन जब सदा की तरह रात को रामजी भाई की गालियों का तार-सप्तक अपने पूरे वेग से तीव्र सुर में चल रहा था कि अचानक दरवाजा धकेलकर तीन-चार युवक बाहर के बरामदे तक आ गये। उन्होंने दरवाजे से झाँककर देखा तो विस्मयविमूढ़ रह गये। रामजी भाई दीवार पर टँगे कलेण्डर की एक रूपसी को सम्बोधन करते हुए अपना गुबार उतार रहे थे। वह बड़े विचित्र ढंग से चलते। चलते-चलते रुक जाते। कभी चिल्लाते; कभी हाथ-पैर और कभी उँगलियाँ नचाते।

दर्शकों में से एक अपनी हँसी न रोक सका। सहसा जोर ने खिलखिला उठा। शेष एकदम बाहर हो गये।

रात होने पर भी यह बात उसी समय सारी खोलियों में फैल गई : रामजी भाई, वही नीचे की खोली में रहनेवाला बेढंगा, किरायेदार 'रेडियो' तो अकेला है, अनब्याहा; और रोज-रोज जो तोता-मैना संवाद चलता है, उसका प्रणेता वह अकेला

ही है और कुछ-कुछ खब्ती नजर आता है।

और तब अधखुले बालोंवाली लड़कियाँ, दूध पिलाती माँएँ, चौथी में पढ़नेवाली कमसिनें और सुपारी चबाते हुए विश्राम करते दलाल और मुनीम मेहता रामजी भाई की रामकहानी सुनने लगे। मुहल्ले में फिर से बत्तियाँ जल गईं। बच्चे रोने लगे। शोरगुल बढ़ गया। पड़ोसी अपने परिचितों को आवाजें देने लग गये और सारी घटनाएँ सुन-सुनकर सब स्त्री-पुरुष खिलखिलाने लगे।

पुरुषों को मात्र अपने विवाहित होने पर गर्व होने लगा। रात्रि के ढीले वस्त्रों में ढँकी स्त्रियाँ उन्मुक्त हास्य के श्रम से अरुणाभ हो और भी सुन्दर प्रतीत होने लगीं।

अन्त में सबको विश्वास हो गया कि आज से वे सुख की नींद सो सकेंगे।

पर कठिनाई से चौबीस घण्टे बीते होंगे कि दूसरी रात और भी तीव्रतम रूप में पति-पत्नी का कलह आरम्भ हो चला, और आज रामजी भाई धड़ल्ले से शान्ताबेन को गालियाँ दुहराते जा रहे थे।

"क्या कहा, मेरे बाप के घर में खाने को आटा नहीं!···देख री, बाप तक जायेगी तो चमड़ी उधेड़ दूँगा—सुना!"

और दो-तीन लात-घूँसों की आवाज आई और फिर उपदेश सुनाई दिये :

"मैं तो तेरी भलाई के लिए कहता हूँ कि लड़के का भविष्य बिगड़ जायेगा और तू जन्म भर पछतायेगी। यह चोर हो जायेगा," उनका स्वर ऊँचा होता गया, "चोर हो जायेगा, जेब काटेगा, डाका डालेगा, फाँसी पर चढ़ेगा और तब हाकिम पूछेगा—'तेरी कोई इच्छा है? कोई माँग है?' तो यह कहेगा कि मेरी माँ को बुलाओ। जब तू पास पहुँचेगी तो दाँतों से तेरी नाक काट लेगा। मालूम है, एक चोर लड़के की कहानी? और दर्शक जनता से कहेगा, 'लोगो, यदि मेरी माँ बचपन से ही मुझे भली शिक्षा देती रहती और चोरी की मेरी आदतों का तिरस्कार करती रहती तो मैं काहे को चोरी करता?' और तेरा जनम अकारथ हो जाएगा। मैं तो, शांता, तेरी भलाई के लिए कहता हूँ, वरना मुझे क्या, साल-दो-साल जिया न जिया।"

जब गृहयुद्ध इस प्रकार चल रहा होता, तब मुहल्लेवालों को रामजी भाई के एकाकी जीवन पर बड़ी दया आती। वृद्धाएँ उनकी सूझ-समझ की अपने लड़कों से तुलना करतीं और यदि उनके कोई अनब्याही कन्या होती तो अवश्य ही वे उसे रामजी भाई को सौंप, उनके हाथ पीले कर, गंगा नहाने का पुण्य लूटतीं। किन्तु क्या आज की कोई लड़की रामजी भाई की गृहिणी बन जाना पसंद करती? फिर कौन बाप अपनी बेटी को ऐसे बैल के गले की घंटी बना देता?

रामजी भाई जन्म से ही कुँवारे थे। नारी को उन्होंने किसी भी रूप में नहीं देखा था। गाँववाले कहते थे, दूध-पीता छोड़कर माँ चल बसी थी, बहनें नहीं थीं। दूर के चाचा ने पालकर बड़ा किया। बड़ा क्या किया, पूरा शोषण कर अपना काम बनाया। दुकान जमा ली। उनकी ज्यादती से तंग आकर एक दिन रामजी भाई ने वीरमगाम से टिकट कटा लिया और बंबई सेंट्रल पर अपनी गठरी उठाए कुली से

स्टेशन से बाहर निकलने का रास्ता पूछते नजर आये !

तब से आज कई वर्ष बीत गये। वह पुरोहितवाले क्लाथ स्टोर में काम करते आ रहे हैं। जीवन के इन लंबे चालीस वर्षों में उन्होंने अपने मन और अपनी आत्मा को तो क्या, तन के वस्त्रों को भी नहीं बदला। वही टोपी, वही डगला, वही धोती, वैसे ही जूते; और नारी के सामीप्य की वही प्यास। आरंभ के दिनों में, जवानी के स्वप्नों में आनेवाली लड़कियों में से कोई एक अब उनकी पत्नी बन गई थी और उसे उन्होंने शांता नाम दिया था। और फलतः जीवन की इस ढलती दोपहरी में जब रामजी भाई के बाल आधे सफेद हो गये थे, आँखें बैठ गई थीं और चेहरे पर झुर्रियाँ फैल गई थीं, रामजी भाई की कल्पना और सपनों में ही नहीं, दिन के प्रत्यक्ष उजाले में भी यही शांता पूर्ण गृहिणी, बालगोपालवाली पत्नी बन गई थी। सपने सपने न रह गए थे और अधिक घनिष्ठता पाकर विचारमुक्त हो गए थे, और उन्हें वाणी द्वारा बाहर प्रकट होने का अवसर मिल गया था। अतः रामजी भाई पूर्ण उत्तरदायी पारिवारिक व्यक्ति की भाँति व्यवहार करने लगें तो क्या आश्चर्य !

पिछले कुछ दिनों से उपनगर आने-जानेवाली ट्रेनों की संख्या में रेलवे बोर्ड ने पचीस प्रतिशत कमी कर दी है। भोर के समय यों भी दफ्तर जानेवालों की अपार भीड़ से प्लेटफार्म भरे रहते हैं। ऊपर से मुश्किल यह कि गाड़ी दो मिनट भी नहीं रुकती। एक दिन इन्हीं बातों से परेशान रामजी भाई घबराहट में औरतों के डिब्बे में चढ़ गए। ट्रेन डबल फास्ट थी। जब एक-दो स्टेशन गुजर गए तो रामजी भाई को सुध आई। देखा चारों ओर सभी जातियों और सभी अवस्थाओं की सुंदरियाँ बैठी हैं, जो अपने बीच अचानक आ पड़े इस जंतु को देख-देखकर विस्मय प्रकट कर रही हैं।

रामजी भाई को वातावरण में एक विचित्र गंध के विद्यमान होने का भान हुआ। नजरें उठाकर देखा तो अपनी स्थिति से अवगत हुए। मन में एक टीस, एक कचोट पैदा हो गई। ईश्वर ने आजीवन तो लड़की न दी और आज यों अचानक सुंदरियों की वर्षा कर दी।

सामने एक ईसाई बाला बैठी थी—एकदम काली। वह सफेद फ्राक पहने थी। उसके जूते सफेद थे, हाथ का बैग सफेद था और रूमाल सफेद था। उसके बाल मेमों की तरह कटे थे और एकदम रूखे थे। होठों और नाखूनों पर बड़ी बेरहमी से लाल रंग उसने पोत रखा था।

रामजी भाई लड़की को बड़े गौर से देख रहे थे। लड़की बार-बार अपने पर्स से एक छोटा शीशा निकालती, अपना मुँह देखती, चेहरे पर थोड़ा पाउडर लगाती और होंठों पर लिपस्टिक से आग लगाती। ज्यों-ज्यों रामजी भाई लड़की की इन क्रियाओं को निहारते जाते, त्यों-त्यों उनके मुख की मुद्राएँ बदलती जातीं, यानी लड़की के हाथों की क्रिया के अनुरूप रामजी भाई के मुखारविंद पर भाव आते जाते थे।

बांद्रा आ गया था। रामजी भाई को इच्छा न रहते भी डिब्बा बदलना पड़ा।

मरदाने डिब्बे में जोर देने पर उन्हें एक ओर स्थान मिल गया। अब तो उनके बे-लगाम दिमाग ने सदा की तरह राजनीतिक चर्चा करनी चाही। किन्तु आँखों में अभी भी वह ईसाई बाला घूम रही थी। मन में एक अनजानी बेचैनी भर आई। वर्षों के एकाकी जीवन ने आज तक जो सूनापन और रिक्तता पाली थी, वह जैसे आज छलाछल भर गई थी। उन्हें रह-रहकर यह विश्वास होता जा रहा था कि यह लड़की उन्हें चाहने लगी है। यदि कुछ समय और मिलता और वह बांद्रा में न उतर गए होते तो अवश्य वह मेडम ब्याह करने की विनती करती।

'ब्याह !' उन्होंने एक बार मन में दोहराया और इस शब्द के रस और सौंदर्य की तरावट से उनका मन हरा हो गया। आँखों में एक चमक आ गई और चेहरे पर एक मुसकान छा गई। सहसा झटका खाकर गाड़ी रुकी। लोगों की बड़ी संख्या उतरने को खड़ी हो गई। अवश्य ही यह मरीन-लाइंस स्टेशन था।

जब रामजी भाई को लगा कि डिब्बा एकदम खाली हो गया है तो वह उतर गए। प्लेटफार्म सूना था। सुबह लोगों को दफ्तरों में हाजिर होने की जल्दी रहती है, वे एक बड़ी भीड़ की शकल में, पानी के एक रेले की तरह, टिकट या बेटिकट, गेट के पार हो जाते हैं।

रामजी भाई ने देखा, सूनेपन की इस खामोशी में गेट पर खड़ा एक टिकट चेकर इनकारी में बड़े जोर से सिर हिलाता हुआ एक लड़की से हुज्जत कर रहा है। पास में दो-तीन आदमी और खड़े थे। रामजी भाई भी जा पहुँचे।

लड़की वही ईसाई बाला थी। हाथ में बेग था पर पास में टिकट नहीं था। टिकट चेकर उसे रेलवे हाकिम के पास ले जाने की धमकी दे रहा था।

लड़की को गौर से देखने पर रामजी भाई के चेहरे पर वही खूबसूरत भाव लौट आये। तैश में आकर बोले, "ऐ मिस्टर, कितना पैसा माँगता है ?" और उन्होंने डगले की भीतरी जेब से डेढ़ फुट लम्बा बटुआ निकाला। "कितना रुपया होता है ? डेढ़ रुपया न ?" और उन्होंने कागज के कई छोटे-बड़े पुरजों की अनेक तहों में रखा दस का एक नोट निकाला और बाबू के हाथ में थमा दिया।

पास में टिकट न होने पर भी लड़की उसी रोब और नखरे से सर्र से गेट के बाहर हो गई मानो पीछे आता कोई नौकर उसके लिए जिम्मेदार है। उसने न तो धन्यवाद दिया और न रामजी भाई की ओर ही देखा। वह तो अपनी मुक्ति के मद में ओझल हो गई। रामजी भाई देखते रह गए।

प्लेटफार्म पर दूसरी गाड़ी आ गई थी। पहले की तरह उसमें भी भारी भीड़ भरी थी। रामजी भाई शेष बचे दाम गिन रहे थे। एक विचित्र व्यक्ति को टिकट चेकर से उलझा देख लोग आसपास जमा हो गए। अब तो रामजी भाई ने छुटकारा चाहा और चल पड़े। किन्तु टिकट चेकर ने रोकते हुए कहा, "ऐ भाई, रसीद तो लेते जाओ।"

"रहने दे, रहने दे अपनी रसीद अपने पास," रामजी भाई ने उपेक्षापूर्वक कहा।

"ओ काली टोपी, यह कोई बनिए की दूकान नहीं है। बिना रसीद दिये हम किसी का पैसा नहीं ले सकता," टिकट चेकर ने उनकी बाँह पकड़ ली और रसीद हाथ में थमा दी।

दर्शकों में से किसी ने कहा, "केम, रामजी भाई, बिना टिकट सैर!" दर्शक जोरों से हँस दिए।

रामजी भाई को दफ़्तर पहुँचने में देर हो गई थी। अतः शाम को वह काफी देर से घर लौटे। सदा की तरह उन्होंने अपना डगला खूँटी पर टाँगा और दुपल्ली टोपी को बड़े अदब से एक रेक पर रख दिया। तब दोनों हाथ कमर पर रखे वह कलेंडर के सामने खड़े हो गये—"अरी शान्ता, आज तो गजब हो गया। कहने की बात नहीं। जमाना बड़ा खराब आ गया है। लोग पक्के चार सौ बीस हो गये हैं।" और उन्होंने बड़े इत्मीनान से एक अजीब लहजे में जनाने डिब्बे से लेकर टिकट चेकर की रसीद तक का सारा हाल लम्बे-लम्बे हाथ फैलाकर, पैर पटक-पटककर, मुँह बना-बनाकर और आवाज को कभी मोटी, कभी पतली, कभी तेज और कभी हकलाती बनाकर कमरे में सौ-सौ चक्कर काटते हुए बयान कर दिया। साथ ही इस बात की भी घोषणा कर दी कि आज की लड़कियाँ बिलकुल बिगड़ गई हैं।

और जब उन्होंने अपनी कथा की इतिश्री पर शान्ता की स्वीकृति चाही, तो उत्तर में बाहर बरामदे में जमा हो गए। नौजवानों की खिलखिलाहट मिली। इस पर जब रामजी भाई भी हँस दिये और उन्होंने तुरन्त अपनी शान्ता को रिपोर्ट दी कि 'लोगों में कुछ शरम नहीं रह गई है, शान्ता,' तो सुननेवालों का समूह एक बार फिर से खिलखिलाकर हँस पड़ा।
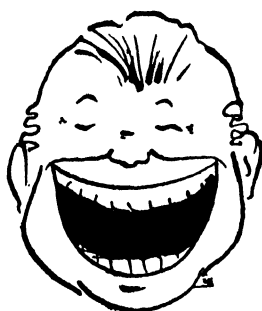
दरबार ड्रेस

प्रभाकर माचवे

●

डॉ० प्रभाकर माचवे का जन्म सन् १९१७ में ग्वालियर में हुआ था। दर्शन और अंग्रेजी में एम० ए० की उपाधि लेकर आप कालिज में प्राध्यापक हो गये। कुछ वर्ष बाद अध्यापन-कार्य छोड़कर सरकारी नौकरी कर ली और आकाशवाणी के इन्दौर और दिल्ली केन्द्र पर कार्य किया। अब तक साहित्य अकादमी, नई दिल्ली के सहायक मन्त्री के पद पर कार्य करते रहे। अभी-अभी आप अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में एक वर्ष के लिए भारतीय साहित्य के अध्यापनार्थ लेक्चरर नियुक्त होकर गये हैं। पिछले वर्ष ही आपको हिन्दी-साहित्य में शोध-कार्य पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी है।

आपकी प्रतिभा आशु और बहुमुखी है, अध्ययन विस्तीर्ण। आपका लेखन बड़ी त्वरा से होता है। कहानी, कविता, निबन्ध, आलोचना, रेडियो नाटक—साहित्य का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं, जिसमें आपकी लेखनी ने चमत्कार न दिखाया हो।

आप कई भारतीय और विदेशी भाषाओं के ज्ञाता हैं। हिन्दी की ही भाँति आपका स्थान मराठी लेखकों में भी उल्लेखनीय है।

रचनाएँ

'तार-सप्तक', 'स्वप्न-भंग', 'खरगोश के सींग', 'बेरंग', 'परन्तु', 'एकतारा', 'द्वाभा', 'साँचा', 'सन्तुलन', 'समीक्षा की समीक्षा' आदि।

कमरा नं० २२, यार्क होटल के ऊपर
कनॉट सरकस, नई दिल्ली

कमरपट्टा अचानक खुल जाने की घबराहट में बिरियानी वहाँ से भाग खड़े हुए

यह उस जमाने की कहानी है जब हमारे देश में छोटी-छोटी रियासतें हुआ करती थीं। हर ठिकाने का ठिकानेदार और रियासत का हिज हाईनेस अपने आपको नवाब वाजिदअली शाह या महामंडलेश्वर महाबलाधिपत्य सम्राट् चक्रवर्ती से कम नहीं समझता था। जिन्दगी के कई पहलुओं में रंगीनी थी, मगर साथ ही हँसने का भी मसाला काफी था। ऐसी ही एक छोटी रियासत में साल में एक बार महाराज साहब अपने महाराजपन का खिराज दरबार के रूप में जरूर वसूल करते थे अन्यथा अपने क्षत्रियत्व का यह प्रताप कहाँ दिखा पाते! उसे दिखाने के दो ही स्थान थे—महल में अपना जनानखाना और बाहर दरबार में उत्सव।

दिल्ली दरबार कैसा रहा होगा, पता नहीं। पर किंवदन्ती थी कि वर्तमान महाराज, जो नाबालिग थे, के दादा के पिता ने जार्ज पंचम से हाथ मिलाना स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि यह हमारे हिन्दू शास्त्र और धर्मग्रन्थों के विरुद्ध था। 'विदेशी भाषा न सीखो' का प्रतिपालन तो अभी तक, यानी रियासतें खालसा होने से पहले तक, महाराज करते ही थे।

मगर जार्ज पंचम ऐसे कैसे मानने लगा! उसने महाराज के दादा के पिता के भुजदण्ड का माहात्म्य पहचान लिया था। नतीजा यह हुआ कि बहुत अनिच्छापूर्वक उन्होंने इस तरह से हाथ मिलाया जैसे कोई झींगुर हाथ पर चढ़ आया हो और वह उसे झटक रहे हों। कहते हैं वहाँ से आते ही महाराज के दादा के पिता ने सचेल स्नान कर लिया। अंग्रेज साहब की छूत लगे जरी के कपड़े नौकरों को दे दिये।

इस महादेश में परिवर्तन आनन-फानन घटित हो जाते हैं। ऐसे साहब का मुख देखने पर दो दिन उपवास करके प्रायश्चित्त करनेवाले महाप्रतापादित्यसिंह जू देव की चौथी पीढ़ी ने एक अंग्रेज बीबी ही कर ली; और वर्तमान महाराज की दाई विलायत से मँगाई गई थी। ऐसे महाराज की रियासत में हर साल जो दरबार होता था, वह बड़ी भारी मुसीबत थी। बस चलता तो महाराज अपनी रियासत के हर ठिकाने, गाँव, तहसील, नगर-देहात में स्वयं जाकर उपहार के रूप में कर वसूल करते। पर बेचारे क्या करते—नाबालिग थे। दरबार में भी बैठ पाते थे, तो दर्शक के रूप में ही। जब इन महाराज कुंवर का जन्म हुआ था, तब राजकवि श्रीचरनदास ने कवित्त लिखे थे, और उनमें लिखा था कि अब हर उर-उर में आशा की आतिशबाजी लग गई है।

जिस ठिकाने की हम बात कर रहे हैं उस ऊँटयाखेड़ी में महाराज कुँवर साहब की सिर्फ तसवीर ही रखी जाती थी। राजभवन में प्रजा और शासनाधिकारी आकर

अपना प्रेम और राजनिष्ठा उसके आगे झुक-झुककर आदाब बजाकर और एक अशरफी तस्वीर पर निछावर करके पास के थाल में डालकर ही व्यक्त करते थे।

प्रिंसिपल बिरियानी विलायत से सन् १९२७ में लौटे और तब से उस रियासत में ही विभिन्न ओहदों पर काम करते रहे। विलायत में उन्होंने दर्शन-शास्त्र पढ़ा था, इसलिए रियासत में मनुष्य और दूसरे पशुओं की समानता का ध्यान रखकर पहले उन्हें घोड़ा डाक्टर बनाया गया। पशुओं की मृत्यु-संख्या जब बढ़ने लगी—क्योंकि बिरियानी के लिये जीवन और मृत्यु में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता था, उनके दर्शन-शास्त्र में दोनों एक ही चीज के दो नाम थे—तब उन्हें अजायबघर का क्यूरेटर बना दिया गया। मगर वहाँ भी कुछ अजीब-अजीब बातें होने लगीं। एक घुन लगी हुई लकड़ी की शहतीर के अक्षर ब्राह्मी लिपि के हैं, ऐसा समझकर जो उसे पुरानी तस्वीरों के कमरे में रखा, तो सब पुराने हाथ के लिखे ग्रंथ और पोथियाँ कीड़े खा गये। पर इस बात पर उन्हें पदच्युत करना या वेतन घटाना तो दूर रहा, उनकी तरक्की कर दी गई! इस बार उन्हें सड़कें बनानेवाले महकमे का इनचार्ज बना दिया गया। कुछ बरसों बाद डाक-बंगले बनवाने में उन्होंने बहुत रुपया खाया। आखिर जब वह अपना बंगला ऊँटयाखेड़ी में बना चुके तो उन्हें लड़कियों के कालिज का प्रिंसिपल बना दिया गया। उनके बाल सफेद हो गए थे, इसलिए लड़कियों के कालिज का प्रिंसिपल बनने में कोई कानूनी आपत्ति नहीं थी।

अब तक नौकरी में या तो बिरियानी दौरे पर हुआ करते थे, या उनके लिए दरबार में जाना जरूरी नहीं था। पर किसी ने महाराज कुँवर साहब के कानों में फुसफुसाकर कहा कि आप जानते नहीं, विलायत में लड़ाई छिड़ी हुई है। पता नहीं किस दिन जर्मनी के ठाकुर साहब हिटलरसिंह ऊँटयाखेड़ी में आ जायें। उन्हे आर्यों के बहुत से गुप्त ग्रन्थ और तन्त्र विद्या मालूम है। कहीं आपकी रियासत न छीन लें! इसलिए जरा कड़े होकर सब नागरिकों की राजनिष्ठा को हिलाकर पक्का करना चाहिए यानी सौ रुपए से ऊपर की तनख्वाह वाले लोगों के लिये यह अनिवार्य कर दिया जाए कि वे दरबार में आएँ।

यदि ऐसा नहीं किया गया तो दुनियाँ में जिस ब्रिटिश साम्राज्य का सूरज कभी डूबता नहीं है, उसके खैरख्वाह हिज हाईनेस, आलीजाह बहादुर, परम राष्ट्रभक्त, हिन्दू धर्म-ध्वजा संरक्षक, अनेक नारी-हृदय विजेता इत्यादि महाराज कुँवर साहब की प्रजा उनके हाथों से खिसक जायेगी। किस्म-किस्म के झण्डे चल पड़े हैं—तिरंगा, लाल, हरा और नीला। तो बेहतर यही है कि चन्द्रवंश या सूर्यवंश या जिस भी नक्षत्रवंश का यह राज्य है, उसके प्रति प्रजा की राजभक्ति की जाँच कर ली जाए, उसे सीमेंट की तरह पक्का बना दिया जाए।

हुक्म जारी हुआ कि लड़कियों के कालिज के प्रिंसिपल बिरियानी को भी दरबार में जाना पड़ेगा। अब बिरियानी को चिन्ता हुई कि दरबार-ड्रेस कहाँ से लाई जाए, कैसे बनवाई जाए? पहले तो यही पता नहीं था कि दरबार-ड्रेस होती क्या है?

पूछताछ की तो पता चला कि उसका पूरा विवरण इस प्रकार था :

पैरों में काले चमकीले पंप शू, जिनके सिरे पर तिपली, जैसे गले में लगाई जानेवाली बो, जैसी गाँठ होती है (जूते यदि स्टेट लेदर फार्मेसी के हों तो अधिक राजनिष्ठा मानी जायगी)।

काले मोजे, यदि मौजे का रंग काले के बदले दूसरा हुआ तो वहाँ उनका मुँह भी काला कर दिया जाएगा। (मौजे यदि स्टेट होजरी से लिए जाएँ तो अधिक राजनिष्ठा मानी जाएगी)।

चूड़ीदार पाजामा, नाड़ा केसरिया रंग का होना चाहिए। इस रंग के लिये ऐतिहासिक आधार स्टेट स्कॉलर इतिहासकुमारजी ने प्रस्तुत किया है।

लाल रंग की वास्कट, जिसके बाईं ओर के हिस्से पर जरी के फूलों का काम हो।

महीन मखमल का सफेद अंगरखा, जिस पर फूलदार कामवाली आस्तीनें हों, गले में फूलदार काम की या जरी की पट्टी। इस बारहबंदी के बाईं ओर बटन नहीं, बल्कि फीते हों।

एक लाल रंग का कमरपट्टा, जिसमें गहरे जामुनी रंग की मखमलवाली म्यान—तलवार चाहे अन्दर न हो, पर ऊपर मूठ जरूर दिखाई दे।

एक जरी का उपरने जैसा अंगोछा। सिर पर पगड़ी या साफा। पगड़ी तिकोनी, कच्छी, पारसी, मरहठी, बंगाली कैसी भी हो सकती है। साफा लहरिएदार हो और उसका पल्लू या तो नीचे छूटा हुआ हो या ऊपर चीनी पंखे की तरह खोंसा हुआ।

छाता कोई भी नहीं काम में ला सकता था, क्योंकि छत्रधारी तो सिर्फ महाराज कुँवर साहब थे। इसके बाद कई और नियम–उपनियम इस बात के थे कि दरबार हॉल में आया कैसे जाए? झुककर सलाम कैसे किया जाए, कमर कितने डिग्री के एंगिल पर झुकाई जाए? पगड़ी गिरनी नहीं चाहिए। तीन बार अदाब कितने धीमे और कैसे किया जाए? अशरफी किस हाथ में हो और रुमाल किस हाथ में? पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहिए। लौटते वक्त महाराज कुँवर की तसवीर को पीठ नहीं दिखानी चाहिए—इत्यादि नियमों का एक पूरा शास्त्र था।

अब समस्या थी दरबार ड्रेस बनाने की, बल्कि इधर-उधर से जुटाने की। हमेशा अँग्रेजी सूट पहना था। साफा माँगकर लाए, तो उसे बाँधना नहीं आता था। एक से चूड़ीदार पाजामा लाए, दूसरे से अचकननुमा अंगरखा। भड़कीली लाल वास्कट कहाँ से लाएँ? श्रीमतीजी की जरी की बनारसी साड़ी का उपयोग किया गया। जब सारा सरंजाम हो गया तो पता लगा तलवार की म्यान तो है, पर मूठ और म्यान का संयोग ठीक से नहीं हो रहा है। उसे रस्से से बाँधा। वही हाल चूड़ीदार पाजामे का था। उसके लिए नाड़ा नहीं मिल रहा था। पुरानी साड़ी की किनार से वह कार्य सम्पन्न कर लिया गया। अब वह अच्छे-खासे कार्टून लगते थे। ऐसी मुद्रा में अपनी विद्यार्थिनियों के तो क्या, किसी के भी सामने नहीं पड़ना चाहते थे।

एक बंद मोटर में बैठकर सूबा साहब की कोठी पर पहुँचे, जहाँ दरबार होनेवाला था। कई धजाओं में ऊँटयाखेड़ी की मानवता उपस्थित थी। पहले एक रस्म होती थी। एक सोने का छोटा-सा पुतली नाम का गोल सिक्का एक कमरे में मिलता था। उसका मूल्य साढ़े सात प्रतिशत के हिसाब से तनख्वाह से कट जाता था। सिक्का सबको एक-सा दिया जाता था। बिरियानी वह लेकर किसी तरह धड़धड़ाते हुए दिल से अन्दर पहुँचे।

सूबा साहब की कोठी के दीवानखाने को सजाकर दरबार का काम लिया गया था। बिरियानी उसमें दाखिल हुए। उन्हें महाराज कुँवर के मास्टर का किस्सा याद आ गया। एक बार मास्टर ने उन्हें चाँटा मार दिया। कुँवर साहब रोने लगे। उनके पिताजी ने गरीब मास्टर को बुलाया और पूछा, "ऐसों कैसो हुओ ?"

मास्टर ने दस्तबस्ता कहा, "हुजूर, कुँअर सा भण नहीं रये ते, तो म्हणे ऊण कू एक चाँटो पेश कियो, तो कुँअर सा आँसू फ़रमाँ दिया, जी।"

यहाँ खुद बिरियानी की हालत उन कुँवर साहब जैसी हो रही थी। सामंतवाद पर पढ़े ग्रन्थ आँखों के सामने भूत की तरह नाच रहे थे।

कुँवर साहब की तसवीर के पास चार-पाँच ब्राह्मण वेद-मंत्र पढ़ रहे थे। नारियल हाथ में थे। नंगे बदन, कंधे पर लाल शाल। धूपदीप, पूजापाती का सारा सरजाम। हॉल के दूसरे सिरे पर मुजरे का प्रबंध था। सोलह सौ कलियों का गोटेदार किनारी का घाघरा और सस्ती ओढ़नी, गिलट के गहने पहने मेनका, उर्वशी, रंभा का स्थानीय संस्करण अपना पान-रंगा मुख और 'काजल सुरमा अंजित लोचन द्वै' लेकर रीतिकालीन समाँ १९४६ में निर्माण करने का निष्फल यत्न कर रही थीं।

एक-एक कर लोगों के नाम पुकारे जाते और दरबार ड्रेस में लैस अफसर तसवीर के सामने तीन बार झुककर कोर्निश करते और लौट जाते।

प्रिंसिपल बिरियानी का नंबर ज्यों-ज्यों पास आ रहा था, उनका दिल बैठा जाता था। उन्हें पसीना छूट रहा था। आखिर उनका नाम पुकारा गया।

वह उठ खड़े हुए और आगे बढ़कर जैसे ही उन्होंने झुककर महाराज कुँवर की तसवीर को सलाम करने के लिये हाथ उठाया कि झटके के साथ उनका हाथ तलवार की मूठ पर जा पहुँचा। बिरियानी की निगाह दरबार हॉल में चारों ओर घूमी। दरबार में आए हुए लोगों की भौंह तन गई। पर अगले ही क्षण बिरियानी सपाटे के साथ दरबार हॉल से बाहर हो गए।

बाद में मालूम हुआ कि तलवार की मूठ पर हाथ जाने का आशय यह नहीं था कि बिरियानी महाराज कुँवर के खिलाफ बगावत करना चाहते हैं, बल्कि कमर-पट्टा अचानक खुल जाने के कारण वह म्यान को अपनी जगह से खिसकने से रोकना चाहते थे और इसी घबराहट में वहाँ से भाग खड़े हुए थे।

वापसी

बलदेवप्रसाद मिश्र

●

स्वर्गीय बलदेवप्रसाद मिश्र का जन्म संवत् १९७० में हुआ था। साहित्यिक जीवन ब्रजभाषा की कविताओं से प्रारम्भ हुआ। बाद में स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के सम्पर्क में आने से कहानीकार बने। आलोचना-क्षेत्र में भी काफी कुशलता प्राप्त की। आपकी आलोचना में गहन अध्ययन, निष्पक्षता, निर्भीकता और विद्वता के दर्शन होते हैं।

हास्य और व्यंग्य के क्षेत्र में मिश्रजी का स्थान आचार्यों की कोटि में रखा जा सकता है। कहानी, निबन्ध और कविता, तीनों ही विधाओं में आपने हास्य का प्रयोग किया। स्वतन्त्र भारत का परिहास स्तम्भ 'काँव-काँव' आप ही के द्वारा लिखा जाता रहा है।

आपने पटना के 'आर्यावर्त', बनारस के 'आज' और लखनऊ के 'स्वतन्त्र भारत' में साहित्य-सम्पादक के रूप में कार्य किया।

हिन्दी के दुर्भाग्य से यह महान् प्रतिभा अल्पायु में ही २० मई, १९५६ को अस्त हो गई।

रचनाएँ

'ब्रज-विभूति', 'दीपदान', 'अनुभूति', 'शिव-साधना', 'उलूक-तन्त्र', 'मौलिकता का मूल्य', आदि।
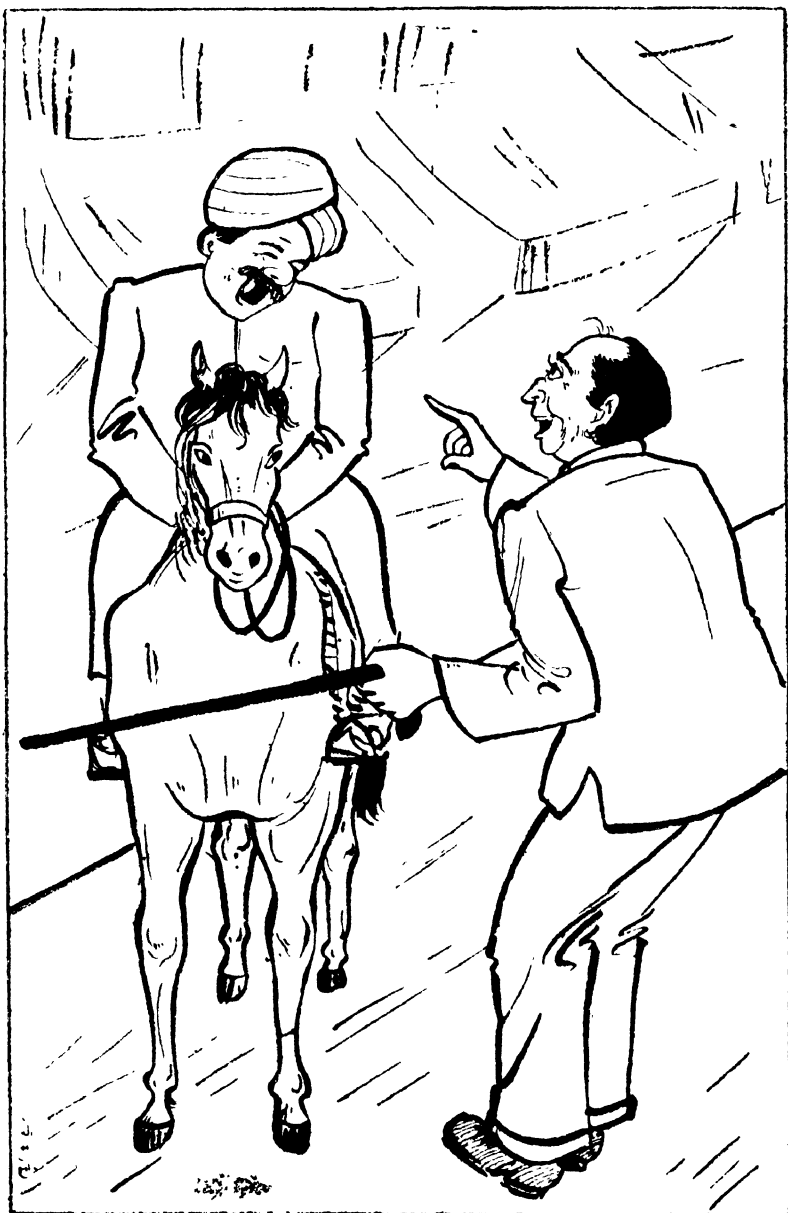
'हाय, हाय ! बिलकुल ऐरावत का भतीजा है । वाह, जमींदार साहब !, धन्य हो !''

बात यह है कि तिवारी जी सदर शहर में नहीं रहते। बीच-बीच में वह गायब हो जाया करते हैं। इसके कई कारण हैं। एक यह है कि वह रोज-रोज उन्हीं-उन्हीं आदमियों के मुँह देखना, उनसे बातें करना, उनकी बातें सुनना पसन्द नहीं करते। अतः वह कभी-कभी गायब हो जाते हैं। वह न किसी सम्प्रदाय के आचार्य हैं, न कवि हैं, न नेता हैं। अतः वह अपना पता और प्रोग्राम नहीं छपवाते। वह इतना बड़ा आदमी कभी नहीं होना चाहते। पर वह सूझ-बूझ के आदमी हैं—अतः गायब होने पर रहने का स्थान ध्यान में रखते हैं।

ऐसे स्थान ढूँढ निकालते रहने का उनका एक तरीका है। शहर के पास के देहातों के बड़े आदमी कभी-कभी शहर आया करते हैं—कपड़ा, सोना, चाँदी, खेती के औजार या बीज खरीदने। वे लोग कुछ मैला चुस्त पाजामा और बन्द गले का कोट पहनकर, प्रायः १०-२० वर्ष पुरानी चमड़े की चाबुक हाथ में लेकर और रूखे-रूखे घोड़े पर सवार होकर शहर के हास्य में वृद्धि करते हुए पधारा करते हैं। तिवारी जी ऐसे लोगों की ताक में रहते हैं—वह उन्हें २-४ कोस दूर से पहचान लेते हैं।

वह ऐसे व्यक्ति को देखते ही मुग्ध नेत्रों से घोड़े को देखते हैं—जैसे नजर लगा देंगे। तब वह पास होते जाते हैं और झुककर, आगे से, पीछे से, बगल से, हर तरह घोड़े को देखते हैं; फिर स्तब्ध खड़े होकर देखते हैं और तब अकस्मात् कहते हैं—"हाय, हाय! बिलकुल ऐरावत का भतीजा है! क्या अमाल है, क्या दुम है! क्या भौंरी है! ऐं! नथुनों पर, हरे-हरे! वाह, जमींदार साहब! धन्य हो!"

जमींदार साहब घोड़े को एकदम रोककर यह प्रशंसा सुनते हैं, मुसकराते हैं, अपने घोड़े के कभी न सुने गुणों पर उनकी छाती फूल उठती है, आँखें नाचने लगती हैं। तब तिवारी जी घोड़े पर हाथ फेरकर, जमींदार साहब की प्रशंसा करते हुए, अनायास उनकी पीठ पर भी हाथ फेरकर, अपना हाथ पोंछ लेते हैं। जमींदार इस प्रशंसा से गद्‌गद् हो जाते हैं।

तब तिवारी जी उन्हें अपने घर ले आते हैं और शहरी घी की निन्दा करते हुए उन्हें तेल की जलेबियाँ और गुड़ के सेव खिलाकर बर्फ का पानी पिलाते हैं और उनके घोड़े को सड़ा चना खिलाते हैं—जिसका कुछ 'स्टाक' इस उपयोग के लिए उनके यहाँ सदा रहता है।

इसके बाद जमींदार साहब से वह कौशल से उनका काम पूछते हैं और उनकी सहायता के लिए साथ चल पड़ते हैं—घोड़ा घर ही रहता है। खरीदारी हो जाने पर वह साथ ही लौटते हैं—दुकानदारों से अपना कमीशन लेने दूसरे दिन जाते हैं—और

जमींदार साहब से भोजन का आग्रह करते हैं। जमींदार साहब कृतज्ञता से इतने दबे रहते हैं कि भोजन नहीं करते—और उन्हें लौटने की जल्दी भी रहती है। तब तिवारी जी दो सेर पानी में पाव भर दूध मिलाकर शरबत बनाते और पिलाते हैं और उन्हें घोड़े पर सवार करा, बहुत दूर तक छोड़ आते हैं; पास छोड़ देने से आशंका रहती है कि शत्रु उन्हें भड़का न दें। इसके बाद तिवारी जी दिमाग के ताम्रपत्र पर स्मृति की लेखनी से जमींदार साहब का पता खोदते हुए लौटते हैं। गायब होने के समय तिवारी जी को प्रायः किसी जमींदार के यहाँ विराजमान देखा जा सकता है। यह कहने की तो जरूरत नहीं कि जाते वक्त जमींदार उनसे चरण-धूलि देने का भयंकर आग्रह कर जाते हैं।

तो पिछली बार जब तिवारी जी शहर से गायब हुए तो वह सीधे एक जमींदार के यहाँ पहुँचे। वहाँ उनका अत्यन्त स्वागत हुआ। जमींदार ने उन्हें अपने अतिथि-गृह में ठहराया और हलुए-शरबत से उनका सत्कार प्रारम्भ किया। तिवारी जी ने उस हलुए में वर्त्तमान एवं अवर्त्तमान गुणों की तालिका सुनाई, घी की प्रशंसा में शतमुख हो गये और हाथ धो चुकने पर भी बहुत देर तक अपना हाथ सूँघा किये। तब उन्होंने लौंग-सुपारी खाकर पूछा—"बड़ी मीठी सुपारी है। आपके बगीचे में कोई पेड़ है क्या?"

जमींदार साहब को तिवारी जी की अज्ञता पर बहुत सन्तोष और प्रसन्नता हुई। उन्होंने विस्तार में बतलाया कि सुपारी के पेड़ सुन्दरवन और लंका में होते हैं। तिवारी जी ने बहुत ध्यान से, खोद-खोदकर सुन्दरवन और लंका का इतिहास पूछा और यह भी जानना चाहा कि इन दोनों स्थानों से जमीदार साहब का या उनके पूर्वजों का कुछ सम्बन्ध था या नहीं; यदि नहीं तो इतना विद्वत्तापूर्ण वर्णन उन्होंने सुनाया कैसे! जमींदार साहब ने इस पर तुलसी बाबा की 'सतसंगति महिमा नहिं गोई' चौपाई से शुरू करके कोई आधा काण्ड सुना डाला और तब हर एक शब्द की व्याख्या की।

दोपहर को तिवारीजी ने डटकर भोजन किया। भूख की कमी के मामले में तिवारीजी को शहर से कोई शिकायत न थी—उन्हें शायद किसी मामले में न थी; शहर के कारण जो सुख उन्हें थे, वे देहात में न मिलते। तिवारी जी मुनिवृत्ति के आदमी हैं—कभी घी चना, कभी सूखा चना, कभी वह भी मना। आज उन्होंने 'कभी घी चना' को चरितार्थ किया। जमींदार साहब का भी यह भ्रम दूर हो गया कि शहरी लोग फूल सूँघते हैं या पान-फूल के आधार पर रहते हैं। उन्हें यह ज्ञान उत्पन्न हुआ कि एक भोजन से दूसरे भोजन के बीच का आधार 'पान-फूल' होगा।

भोजन करके तिवारी जी 'लेटायमान' हो गये यानी तीन घण्टे की झपकी। इसके बाद वह गाँव की सैर को निकले। जमींदार साहब साथ चले। इस कारण तिवारी जी के महत्त्व और प्रतिष्ठा का सिक्का 'परजा' पर जम गया।

यही कार्यक्रम कई दिनों—शायद हफ्ते भर चला। तब, एक दिन रात को

जब आल्हा समाप्त हो गया, तब तिवारीजी ने जमींदार साहब से फुसफुसाकर कहा—"मेरा एक काम करा दीजिए।"

जमींदार ऋण शोध की सम्भावना से प्रसन्न हो उठे, बोले—"कहिये, तिवारीजी! क्या हुकुम है? दस-बीस बोरा गेहूँ-चना या दस-पाँच मटके राब लदवा दूँ?"

तिवारीजी ने उन्हें समझाया कि हम बुद्धिवादी हैं, अपने बुद्धि-बल से जीते हैं। आपने देने को कह दिया इसलिए गेहूँ, चना या राब न लेंगे।

जमींदार साहब को तिवारीजी पर घोर श्रद्धा हुई। पूछा—"तो क्या काम है?"

तिवारी जी बोले—"लड़ाई का जमाना है, आपको मालूम ही है। कोई भी चीज पुराने दामों नहीं मिलती। खपत बढ़ गई है। चमड़ा लीजिये। आप ख्याल कीजिये कि हर साल लाखों आदमी पैदा होते हैं। सबको जूते चाहियें—छोटे, बड़े, मझोले। शहर में तो औरतों को भी चाहियें। लड़ाई में दस शंख सिपाही लड़ रहे हैं। उनके लिए बहुत मजबूत घुटने तक के जूते चाहियें। विलायत में इस वक्त सब काम बन्द करके जूते बन रहे हैं। वे तो एक कदम भी जूते के बिना नहीं चल सकते। किसी अंग्रेज को नंगे पैर देखा है?"

जमींदार बोले—"नहीं।"

तिवारी जी—"और लाखों तरह के जूते चाहियें—खाई खोदने के, दौड़ने के, बन्दूक चलाने के, तोप चलाने के, कीचड़ में चलने के, पानी में चलने के, बर्फ पर चलने के।"

जमींदार साहब मुँह बाकर सुन रहे थे। उन्होंने पूछा—"यह सब बातें आपको कैसे मालूम हुईं?"

तिवारी जी बोले—"अभी बताऊँगा; तो इतने जूते बनाने के लिए चमड़ा भी चाहिए। इसीलिए हमारे यहाँ से इतने जानवर खरीदे जा रहे हैं। आप जानते हैं कि पुरानी चीजें टिकाऊ होती थीं, क्योंकि लोग फुरसत में उन्हें बनाते थे। अब जल्दबाजी में बनाते हैं तो चमड़ा ठीक से 'कमाते' नहीं—बस, सब गुड़ गोबर!"

जमींदार बोले—"हाँ, बात तो ठीक है। पुरानी चीजें टिकाऊ होती थीं।"

तिवारी जी—"देखिए, ब्रह्मा जी ने पहले कितने टिकाऊ और तरह-तरह के आदमी बनाये। अब के आदमियों को देख लीजिये। पहले कम आदमी थे, ब्रह्मा जी फुरसत में बनाते थे।"

जमींदार बोले—"आप तो दिल्लगी करते हैं।"

तिवारी जी—"आप अपने को देख लीजिये। आपके सामने के लड़के आपसे हाथ मिला सकते हैं? ये सब एक सांचे में थोक के भाव गढ़े गये हैं। तो, बात यह कि हमें जूते चाहियें।"

जमींदार—"जूते? यहाँ जूते?"

तिवारी जी—"आप समझे नहीं। पुरानी चीज टिकाऊ होती है। पुराने जूतों का चमड़ा ज्यादा कमाया गया था, ज्यादा बढ़िया है, क्यों?"

जमींदार—"हाँ।"

तिवारी जी—"पुरानी चीजों से नयी बनती हैं। पुराने जूते गलाकर नये बनते हैं, मालूम है ?"

जमींदार—"नहीं।"

तिवारी जी—"शीशे की टूटी-फूटी चीजें गलाकर नई चीजें बनाई जाती हैं, देखा है ?"

जमींदार—"हाँ।"

तिवारी जी—"इसी तरह बड़े-बड़े कारखानों में चमड़ा गलाकर जमाया जाता है, तब नये जूते बनते हैं। इसलिए हमें पुराने जूते चाहियें। आपकी जमींदारी में जिनके घरों में पुराने, टूटे, फूटे जूते हों, सब इकट्ठे करा लीजिये, बस।"

जमींदार—"क्या कीजियेगा ? आपका कारखाना है क्या ?"

तिवारी जी—"कारखाना करोड़ों रुपयों से बनता है। उतनी तो हमारे घर में घास नहीं है। बात यह है कि जूते की एक विलायती कम्पनी से हमने बात कर ली है। वह कम्पनी हमसे एक जूता और चार रुपये लेकर, उसी वक्त नया जूता दे देती है, जो आजकल २२) रुपये का बिकता है।"

जमींदार—"नहीं ! ठीक कहिये।"

तिवारी जी—"हम उन्हें सैंकड़ों जूते दे चुके और ले चुके। हम उन्हें और दूकानदारों को २०) रुपये में बेच देते हैं। खड़े घाट।"

एक सज्जन हैं जो मनस्तत्त्व के माने हुए पण्डित हैं—मतलब, पहले न थे। ऐसा हुआ कि उनके विवाह के चौथे दिन उनकी पत्नी ने उनके घर में रहना विपत्तिजनक समझा और आठ महीने बाद अपने पिता के घर रहना भी निरर्थक समझा। सो, इस घटना के बाद उक्त सज्जन मनस्तत्त्व के पण्डित हो गये। तिवारीजी के जीवन में ऐसी कोई घटना इस जन्म में तो नहीं हुई है। अतः उन्हें जन्मजात मनस्तत्त्व पण्डित मानना पड़ता है। तो, तिवारीजी ध्यान से जमींदार के मुखारविन्द और लोचनारविन्द का निरीक्षण कर रहे थे। उपर्युक्त क्षण में उन्होंने कहा, "आपकी कृपा से, आपकी जमींदारी की वजह से मुझे लाभ होगा। इसलिए, नफे में एक चौथाई हमारा, बाकी आपका।"

जमींदार साहब को मानो देव-दर्शन हुआ, नर के चोले में नारायण का साक्षात्कार हुआ। बोले—"नहीं, नहीं, आधा आपका।"

तिवारी जी किसी तरह न माने। उन्होंने अन्त में कहा—"मेरी शर्त आपको मंजूर न हो तो रहने दीजिये।"

जमींदार साहब ने मान लिया। पर, उन्होंने कहा कि जूतों के साथ के रुपये हम देंगे। बस, अब आप कुछ न बोलिए।

तिवारी जी न बोले।

दूसरे दिन से जूतों की खोज शुरू हुई, बल्कि 'छापा' कहना उचित होगा।

जमींदार साहब के गण लोग चकित हुए, कारण किसी को पता न था, न पता चला। कुछ सयाने लोगों ने दो-चार जूते छिपा ही लिये। समाचार आस-पास के गाँवों में पहुँचा—दूसरे की जमींदारी में। वहाँ के लोगों ने तुरन्त जूते छिपाये और उनकी आशंका ठीक थी। उनके जमींदार ने बिना कारण जाने ही जूतों का संग्रह शुरू किया। पर, उसे ज्यादा न मिले।

यहाँ तिवारी जी ने जूते गिनवाये १८६२ थे। तब दो-दो आना इनाम दिया जाने लगा जो अन्त में आने-आने तक पहुँचा। इससे कोई ६०० जूते और हाथ लगे। अन्त में एक दिन आधी रात को एक ऊँट पर सब जूते लदवाकर तिवारी जी और जमींदार साहब ने शहर को प्रस्थान किया, जिससे कोई रहस्य न जान पाये। प्रातः काल शहर की सीमा के पास, तिवारी जी की सलाह से जमींदार साहब ने किराये पर एक ऊँट लिया, जूते उस पर लदवाये और अपने ऊँटवाले को वापस भेज दिया। यह इसलिए किया गया कि ऊँटवाले तक को रहस्य का पता न चले।

तिवारी जी जमींदार और ऊँट को लिये हुए शहर में आये और 'बाटा' की दुकान के सामने ऊँट रुकवाया। तब वह चौराहे के पुलिस के सिपाही के पास गये और उसे एक रुपया देकर इस बात के लिए राजी किया कि वह ऊँट की ओर न देखे।

तब तिवारी जी ने जमींदार साहब को 'बाटा' की दुकान में ले जाकर एक कुर्सी पर बैठाया और दुकान के मैनेजर से कहा कि इनके और साथी आएँ तब जूतों की खरीद हो।

तिवारी जी बाहर आये, तीन-चार मजदूर पकड़े, ऊँट पर से जूते उतरवा कर, ऊँटवाले को विदा किया और मजदूरों से कहा कि जूतों का झाला दुकान में ले जाकर खोल दो।

तिवारी जी सामनेवाली पटरी पर आकर खड़े हुए। मजदूरों ने झाला भीतर ले जाकर खोल डाला—टिकाऊ, पुराने जूते यहाँ से वहाँ तक फैल गये।

तिवारी जी ने देखा—मैनेजर मजदूरों की ओर दौड़ा। मजदूरों ने बाहर की ओर इशारा किया। तब जमींदार साहब मुसकराते हुए उठे, उन्होंने जूतों की ओर इशारा करके अपनी छाती ठोकी और कुछ कहा—यानी उन जूतों का स्वामी होना स्वीकार किया।

तब मैनेजर का यहाँ से वहाँ नाचना और न जाने क्या कहना शुरू हुआ; जो जमींदार साहब के कुछ कहने से बढ़ने लगा।

अब तिवारी जी ने एक रिक्शे को रोका, उस पर बैठे और संक्षेप में कहा—"स्टेशन।"

एक बात हम कहना भूल गये थे—जमींदार साहब ने जूतों के साथ दिये जाने-वाले ९८४८) तिवारी जी को दे दिये थे। उन्हें तिवारी जी जमींदार साहब को देना भूल गये।

लेकिन, तिवारी जी आदमी हैं और भूलचूक आदमी से ही होती है।

संगीतज्ञ

बेढब बनारसी

●

श्री 'बेढब बनारसी' का जन्म सन् १८९५ में हुआ था। आपका वास्तविक नाम कृष्णदेवप्रसाद गौड़ है। पर साहित्य जगत् में 'बेढब बनारसी' के नाम से विख्यात हैं। छात्रावस्था से ही आपकी रुचि साहित्य की ओर रही है। इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त आप डी० ए० वी० स्कूल, बनारस में अध्यापक हो गये। अध्यापनकाल में ही एम० ए० और एल० टी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। आजकल डी० ए० वी० कालिज, बनारस में प्रिंसिपल के पद पर कार्य कर रहे हैं तथा प्रसाद परिषद्, काशी द्वारा प्रकाशित मासिक पत्र 'प्रसाद' के सम्पादक हैं। हिन्दी के हास्य-व्यंग्य लेखकों में आपका विशिष्ट स्थान है।

रचनाएँ

'बनारसी इक्का,' 'मसूरीवाली', 'बेढब की बहक', 'गाँधीजी का भूत', 'लफटण्ट पिगसन की डायरी', 'उपहार', 'टनाटन', आदि।

सम्पादक, 'प्रसाद', ६५।२०९, बड़ी पियरी, वाराणसी
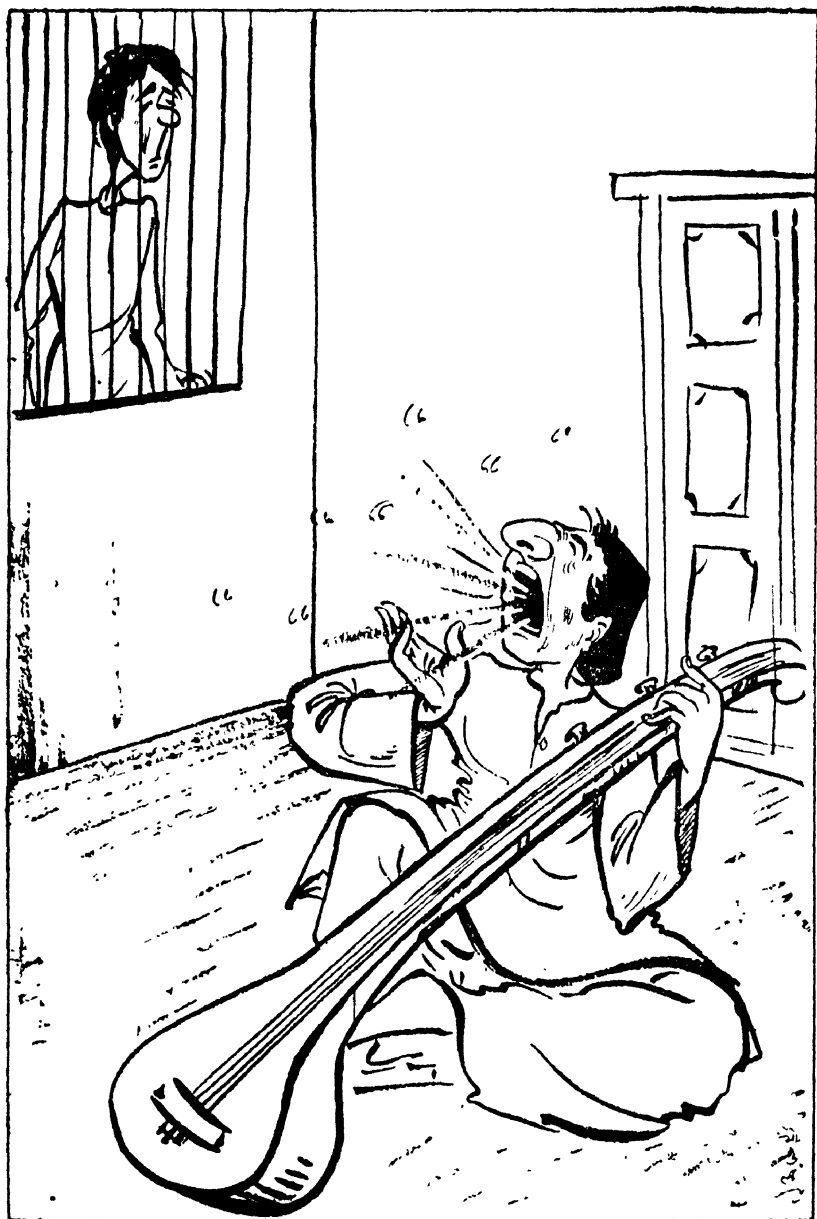
रात के दो बजे होंगे कि उनके कमरे से आलाप की आवाज आई

प्याला तश्तरी के साथ शोभा देता है, टोस्ट चाय के साथ अच्छा लगता है, कत्था चूने के साथ रंग लाता है और मनुष्य को मनुष्य के साथ रस मिलता है। यदि मनुष्य कलाकार हो, मधुर कंठवाला हो तब तो उसके साथ से यही आशा की जाती है जो शरबत में बरफ डालने से, विवाह में मोटरकार मिलने से, या खोटा नोट चला देने में।

कहते हैं मनुष्य समाज में रहनेवाला प्राणी है। सभी जीव ऐसे ही हैं। बैल बैल के साथ रहना पसन्द करता है, गधा गधे के साथ, उसी प्रकार मनुष्य भी। केवल पागल और संत अकेला रहना चाहते हैं। पागल कम हैं और संत उससे भी कम। इसलिए मनुष्य का लगाव मनुष्य के साथ होता है।

वाराणसी में कुछ मित्रों ने संगीत-सम्मेलन का आयोजन किया। रामपुर से, ग्वालियर से, बम्बई से, दिल्ली से, बड़ौदा से, और कहाँ-कहाँ से चोटी के कलाकार बुलाये गये। कोई गायक था, कोई वादक था, कोई नर्तक था। कोई पुरुष था, कोई स्त्री। आयोजकों ने निश्चय किया कि इन कलाकारों को होटलों मे ठहराना ठीक न होगा। एक-एक कलाकार को लोग अपने यहाँ ठहरा लें तो बहुत बोझ भी न पड़ेगा, सम्मेलन का व्यय भी न होगा और कलाकारों को समय से रुचिकर भोजन मिलेगा, किसी को कष्ट या असुविधा न होगी। एक ही ढेले से इतने पक्षी मरंगे ! एक कलाकार मेरे यहाँ के लिए भी नियुक्त हुए। उनके लिये मैंने अलग एक कमरा ठीक करा दिया। उनके लिए और भी आवश्यक प्रबन्ध करा दिये।

एक बजे दिन लोग उन्हें होटल से लाये। उनके साथ उनका एक शिष्य था। कलाकार की अवस्था पैंतालीस या पचास की होगी, शिष्य की बीस-बाईस। सामान आदि रखने के पश्चात् उन्होंने कहा मैं स्नान करूँगा। पानी गर्म करा दीजिए। मई का आरम्भ था ! स्नान के पश्चात् चाय आई। दालमोठ हटा दिया उन्होंने कि इसमें मिर्च होगी, समोसे भी कि सम्भवतः इसमें कुछ खटाई हो। रसगुल्ले और सेवड़े रख लिये। प्याला उठाते-उठाते बोले—"कौन-सी चाय पीते हैं आप ?" मैंने लिपटन का नाम लिया; उन्होंने प्याला रख दिया। बोले—"माफ कीजिए, मैं तो ब्रुक बांड पीता हूँ। बात यह है कि गले का ख्याल रखना पड़ता है, एक ही ब्रैन्ड पीता हूँ सदा।" मैंने कहा कि कोई बात नहीं। अभी आ जाती है वह भी। बनने में कितनी देर लगती है। उस दिन उनका कार्यक्रम सम्मेलन में नहीं था। किन्तु हम लोगों को जाना तो था ही। मैंने पूछा—"भोजन के लिये जो आवश्यक निर्देश हो कह दें, क्योंकि हम लोग किसी सिद्धान्त के अनुसार तो भोजन करते नहीं।" वह मुसकराये, बोले—"हम लोगों को गले का ख्याल करना पड़ता है। सब्जियों में नेनुआ,

परवल, लौकी, भिन्डी, तरोई और थोड़ा आलू भी खा लेता हूँ। प्याज भी खाता हूँ। दही बिल्कुल नहीं। मलाई हो तो कोई हर्ज नहीं। मिर्च और खटाई से दूर रहता हूँ। गले का ख्याल रखना पड़ता है। नींबू सलाद के साथ खा लेता हूँ। दूध नहीं पीता, रात को कप डेढ़ कप ओवल्टीन के साथ बस पीता हूँ।" मैंने कहा—"इसमें तो कोई ऐसी बात नहीं, सभी का प्रबन्ध हो जायगा।" बोले—"क्या कहूँ, बाबू साहब, सीधा-सादा जीवन बिताता हूँ, कला में डूबा रहता हूँ। खाने-पीने की ओर ध्यान देने की फ़ुरसत कहाँ। नेपाल दरबार में गया था। वहाँ रात को लोगों ने भोजन के समय मलाई में छः माशे सोने का वरक और तीन रत्ती कस्तूरी डाल दी। इनकार कर देना पड़ा। बाबू साहब, खा लेता तो एक सप्ताह तक निषाद का स्वर ही न निकलता।" दिन के भोजन के सम्बन्ध में पूछ लेना मैंने उचित समझा। बोले—"दाल में उड़द, चना, मसूर मत बनवाइयेगा। अरहर और मूँग ठीक होगी। फुलके चार खाता हूँ।" मैंने उन्हें सिगरेट दिया तो उन्होंने लौटा दिया। बोले—"माफ कीजियेगा, सिगरेट पीता अवश्य हूँ किन्तु सोबरनी पीता हूँ। न मिलने पर माक्रोपोलो भी पी लेता हूँ।" उनका प्रिय तो मिला नहीं, मैंने एक डिब्बा १२ रुपये का मँगवा दिया।

साढ़े आठ बजे कार आई उन्हें लेने के लिए। पहले उन्होंने कहा कि आज जाकर क्या करूँगा, फिर पूछा कि मंत्री जी आये हैं? पता लगने पर कि नहीं आये हैं, वह बोले, "देखिये, मैं कैसे जा सकता हूँ! कोई बुलाने भी नहीं आया। अब कहाँ वह जमाना रहा जब आर्टिस्टों की कदर होती थी। मैमन सिंह गया था, कलक्टर साहब स्वयं आते थे मुझे बुलाने—आई० सी० एस० कलक्टर! पीलीभीत के एक वकील साहब मन्त्री तो दिन में तीन बार आते थे मुझसे मेरा हाल पूछने। लाखों की उनकी प्रेक्टिस थी।" मैंने कहा—"मैं जरूर मन्त्रीजी को भेज देता हूँ।" मैंने सम्मेलन में जाकर मंत्रीजी से कहा। वह अनेक कार्यों में व्यस्त थे किन्तु उन्हें रुष्ट नहीं करना था, वह आये और उन्हें ले गये। किन्तु दस बजे वह लौट आये।

मैं दो बजे सम्मेलन से लौटा। एक करवट ली होगी कि इनके कमरे से आलाप की आवाज आई। घड़ी में चार बजे थे। मैं सोच ही रहा था कि यह खयाल है कि ध्रुपद, कि मेरी नौकरानी ने मेरा द्वार खटखटाया। दरवाजा खोला तो देखा उसके चेहरे पर भय और चिन्ता के लक्षण हैं। आँखें कुछ कोटरों से निकलीं। मेरी नौकरानी आईंस्टीन के सापेक्षवाद का जीता-जागता उदाहरण है। पैदा हुई बीसवीं शती के सन् १९३० में किन्तु वह है उसी सन् की जब औरंगजेब गद्दी पर बैठा। वह मूर्खता में चूर और संसार से बहुत दूर रहती है। संगीत तो क्या उसका नाम भी उसने नहीं सुना। चिन्तित स्वर में अपनी भाषा और बोली में बोली—"आपके जो मेहमान आये हैं उनके पेट में बड़ी पीड़ा हो रही है।" मैंने पूछा, "तुझे कैसे मालूम?" बोली, "बड़ी जोर-शोर से आधा घंटे से चिल्ला रहे हैं।" मैंने उसे डाँटा और कहा कि जा अपना काम कर। नींद भला कहाँ आती! आलाप का आरोह-अवरोह सुनता रहा। विद्यार्थियों को चाहिए परीक्षा के दिनों में किसी संगीतज्ञ को अपना अतिथि बना लें। अलार्म की

घड़ी की आवश्यकता न पड़ेगी। और अलार्म को तो आप बन्द भी कर सकते हैं जैसा मैं किया करता था जब वह तीन बजे रात को बजने लगती थी। इन्हें बन्द नहीं कर सकते। ज्यों-ज्यों पश्चिम से पूरब की ओर धरती घूमती गई, आलाप की गति बढ़ती गई। तीन बजे से छः बजे तक मेरे घर में केवल तानपूरे की झनकार और संगीत की पुकार ही सुनाई पड़ती थी।

चाय के समय मैंने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा, "आप तो खूब अभ्यास करते हैं! इसी से आप इतने अच्छे कलाकार हुए हैं।" बोले, "अब क्या अभ्यास करता हूँ। चौदह साल तक जवानी में बीस-बीस घण्टे अभ्यास किया है। हलक से खून निकल आया है, तब स्वरों की साधना हुई है। मैं घमण्ड की बात नहीं कहता सारंगी में जो स्वरों के टुकड़े न निकलें मैं गले से निकाल दूँ। यों तो गाना-रोना किसे नहीं आता। मैं यह कहने की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि तानसेन हूँ। दिल्ली में मैंने मिया की मल्लार गाया, बादल छाने ही वाले थे कि कान्फ्रेंस में एक बच्चा रोने लगा और मेरा ध्यान बँट गया। लोग बच्चों को लेकर संगीत-सम्मेलन में आ जाते हैं मानो कोई सिनेमा का खेल हो। संगीत की बारीकियाँ बड़े-बड़े लोग नहीं समझ सकते तो बच्चों को ले जाने से क्या फायदा? पटना सम्मेलन के तीन गवैयों ने छायानट गाया। एक मैं भी था। बड़े-बड़े कलाकार थे। एक-से-एक पारखी। दूसरे दिन अखबारों में मेरी इतनी प्रशंसा छापी गई कि निवासस्थान पर मेला लग गया। मेरा तो बैठना कठिन हो गया।"

चाय के बाद अनेक लोग उनसे मिलने आये और प्रत्येक से वह दो-चार सम्मेलनों का वर्णन करते थे। उनकी कला की कहाँ-कहाँ कितनी प्रशंसा हुई इसकी भी चर्चा विस्तार और ब्योरे से वह करते थे। चार बजे तक यही क्रम रहा। मैं भी कभी-कभी उनके कमरे में चला जाता था और उनकी कला की जानकारी कर लेता था।

चार बजे सम्मेलन के मन्त्री जी आये। उन्होंने पूछा, "कब सवारी भेजी जाय?" इसका उत्तर देने के पहले संगीतज्ञ महोदय ने पूछा, "संगत के लिए किसे-किसे रखा है?" मन्त्री जी ने कहा, "जिसे आप कहें।" उन्होंने तीन-चार तबलियों का, दो-तीन सारंगी वालों का नाम बताया। कलाकार ने कहा, "जिसने दो-तीन अखिल भारतीय सम्मेलनों में नहीं बजाया है वह तो चल नहीं सकेगा।" मन्त्री महोदय ने उन लोगों का परिचय दिया और बताया कि किस-किस अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में उन्होंने महान् कलाकारों की संगत की है और किसकी कितनी प्रशंसा हुई है। तब उन्हें कुछ सन्तोष हुआ। पूछा, "कितने बजे मेरा प्रोग्राम है?" मन्त्री महोदय बोले, "आठ बजे चलना चाहिए।"

सात बजे कार आ गई। इसलिए कि मेरे कारण विलम्ब न हो, मैंने तुरन्त कपड़े पहन लिये और तैयार हो गया। संगीतज्ञ महोदय तैयार होने लगे। आठ तो कभी के बज गये, नौ बजे आदमी आया। बोले, "अभी चल रहा हूँ।" साढ़े नौ बजे आदमी आया; बोले, "बस अभी चला।" दस बजे वह कार पर बैठे। मैं तीन घण्टों से बैठा-बैठा प्रतीक्षा, झुँझलाहट, घबराहट की त्रिवेणी में डुबकियाँ लगा रहा था। सम्मेलन के पण्डाल में पहुँचने पर उनका सब लोगों ने भव्य स्वागत किया। मंच पर वह बैठे। मैं भी

उनके साथ बैठा।

थोड़ी देर के बाद उनका नाम पुकारा गया। वह माइक के सामने आये। बीस मिनट तक तानपूरे और तबले का मिलान हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने दस मिनट तक भाषण दिया संगीत की महत्ता पर और बता रहे थे कि दादरा क्यों नहीं सुनना चाहिए कि कहीं से ताली बज गई। संगीतज्ञ महोदय अब रुष्ट हो गये। बोले—"मैं ऐसे सम्मेलन में गाना नहीं चाहता।" लोगों ने मनाना आरम्भ किया। मनाने से और जनाने से ईश्वर ही रक्षा करे। क्या-क्या बल, क्या-क्या मोड़, क्या-क्या अठखेलियाँ दिखाई पड़ीं। सहस्रों लेखनियाँ एक साथ लिखें, तब भी व्यक्त करना सम्भव नहीं। रूठनेवालों में एक बात अवश्य है कि देर भले ही हो अन्त में मान जाते हैं।

उन्होंने आलाप आरम्भ किया। गले में इतनी मिठास थी कि यदि वह किसी प्रकार खींची जा सकती तो सेक्रीन से अधिक मीठी होती। जनता धन्य-धन्य कहने लगी। डेढ़ घण्टे में उन्होंने द्रुत और बिलंबित गाया। पाँच मिनट के बाद लोगों ने चिल्लाना आरम्भ किया—"जय जयवन्ती!" बोले—"यात्रा के कारण मुझे जुकाम हो गया है।" किसी प्रकार यह भी उन्होंने गाया। तबलिये को बीच में ताल भी बताते जाते थे। लोग झूमने लगे।

इसके बाद ही वह चलने को तैयार हो गये। मैं अभी और लोगों का गाना सुनना चाहता था। किन्तु उन्हें घर पहुँचना आवश्यक था। सोचा—पहुँचाकर लौट आऊँगा। घर आने पर उन्होंने कहा—"एक प्याला चाय बनवा दीजिए।" पत्नी को जगाया, आग जलाई गयी, चाय बनी। बोले, "टोस्ट हो तो दो वह भी।" रोटी थी नहीं। मैंने कहा—"बिस्कुट लाऊँ।" उन्होंने कहा, "हाँ, किन्तु देशी न हो। विलायत का हो तो अच्छा। गले का खयाल रखना पड़ता है।" मेरे यहाँ इस समय विलायती बिस्कुट थे नहीं और एक बजे रात वाराणसी में बिस्कुट की दूकान नहीं खुली रहती।

तीन दिनों तक वह मेरे यहाँ रहे। तीन रात मैं सोया नहीं और दिन-रात उनकी सेवा में रहा। बराबर उनकी फरमाइशों पर ध्यान रहता था, तनिक भी गड़बड़ी होने पर वह सम्मेलन में जाने से इनकार कर सकते थे। उनके साथ निर्वाह करना और नंगे पाँव नागफनी पर चलना समान था। उनके घरवाले तो निशिदिन तपस्या का जीवन बिताते होंगे, ऐसा जान पड़ा। औरों की मैं नहीं कह सकता किन्तु ऐसे दो-तीन सज्जनों का यदि मेरा साथ हो जाय तो मैं घर छोड़कर कैलाश पर किसी गुफा में या टिंबक्टू में जाकर रहने लगूँ।

अस्पताल में

मनमोहन सरल

●

श्री मनमोहन सरल का जन्म सन् १९३४ में नजीबाबाद में हुआ था। आगरा विश्वविद्यालय से बी० एस-सी०, तत्पश्चात् हिन्दी साहित्य में एम० ए० किया। आजकल शोध-कार्य में तत्पर हैं।

प्रथम कहानी १९४८ में प्रकाशित हुई थी, किन्तु धारावाहिक रूप से लिखना सन् १९५४ से आरम्भ किया। अब तक दो सौ से ऊपर रचनाएँ हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं, अनेक आकाशवाणी से भी प्रसारित हुई हैं। कहानियों के अतिरिक्त कविता, नाटक, आलोचना, सभी कुछ लिखते हैं। बाल-साहित्य और वैज्ञानिक निबन्धों में भी रुचि है, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-युक्त आपकी कहानियों का विशिष्ट स्थान है। कई प्रान्तीय भाषाओं में कतिपय रचनाओं का अनुवाद भी हुआ है। कुछ दिन 'उपमा' मासिक का सम्पादन किया, एक महत्त्वपूर्ण बालोपयोगी पुस्तक-माला का भी सम्पादन कर चुके हैं।

आजकल महानन्द मिशन कालिज, गाजियाबाद के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक हैं।

रचनाएँ

'प्यास एक : रूप दो', 'पृथ्वी का अन्त', आदि।

१३, राजपूत क्वार्टर्स, मेरठ
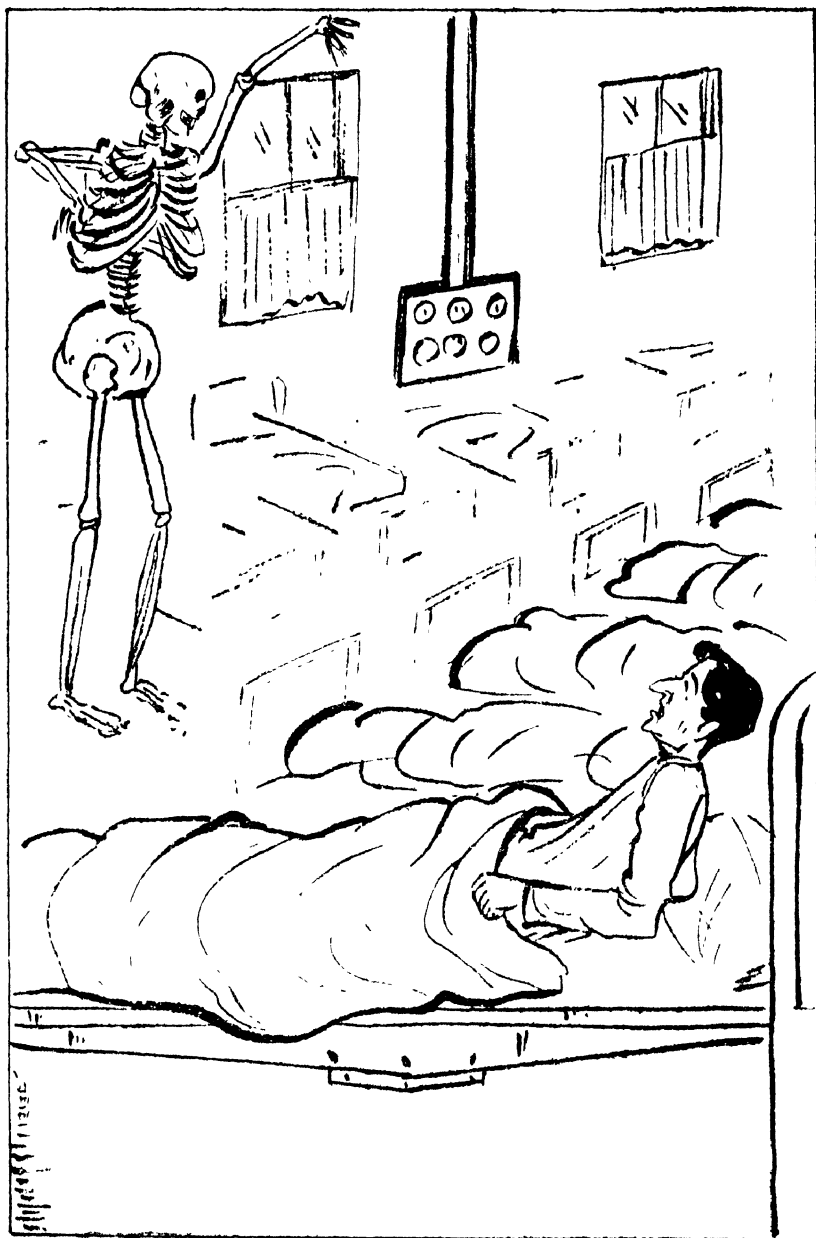
खालिस हड्डियों का एक मानव-आकार मेरे सामने खड़ा था

मैं बीमारी की दशा में घर पर ही रहना ठीक समझता हूँ। मानता हूँ कि अस्पताल मे रहने से व्यवस्थापूर्ण उपचार किया जाता है, लेकिन न जाने क्यों अस्पताल में मेरी तबीयत घबराती है। फिर भी एक बार सन्निपात की कृपा होने पर मुझे सरकारी अस्पताल की शरण लेनी पड़ी। परिवार के अन्य लोगों ने राय दी थी कि अस्पताल में भरती हो जाओ। मुझे सुझाया गया कि अस्पताल में तुम्हारी भावनाओं को प्रगति मिलेगी। मैं भी तनिक भावुक हूँ, मान गया, और शहर के एकमात्र अस्पताल में भरती हो गया।

प्रवेश करते ही एक बड़े से बोर्ड पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखे कुछ शब्दों पर दृष्टि गई, लिखा था : 'संबन्धीगण शव के लिए तीन से चार बजे तक आएँ।'

आप ही बताइए कि स्वास्थ्य-प्राप्ति की आशा से आए हुए नए-नए रोगी पर इसे पढ़कर कैसी बीतेगी ? वैसे मेरी नाड़ियाँ काफी मजबूत हैं, छोटी-मोटी उत्तेजनाओं का असर प्रायः उन पर नहीं होता। लेकिन यह स्थिति जरा भिन्न थी। आखिर मुझसे न रहा गया, और मैंने एक आदमी से पूछा, जो मेरे हालचाल देखने का प्रयत्न कर रहा था, "भई डाक्टर, आप लोग ऐसी कुरुचिपूर्ण बाते सामने ही क्यों लिख देते हैं ?"

वह डाक्टर था, या जो कुछ भी हो, विस्मय का प्रदर्शन करते हुए बोला, "अजी, बाबू साहब, यह सरकारी अस्पताल है, कोई खालाजी का घर नहीं। देखिये, यहाँ एक रोगी ऐसा है जो कि मुश्किल से चल पाता है। उसका टेम्परेचर ऐसा रहता है कि हम लोग कभी-कभी दवा का पानी उसके मुँह की भाप से गरम कर लेते हैं। मतलब यह है कि उसकी हालत अब-तब है। आप अपने ही को लें। अगर आप अच्छे हो जायें, तो आपका भाग्य। लेकिन अगर किसी वजह से, और ऐसी वजह कुछ कम नहीं हैं, आपका टिकट इस दुनिया से कट जाये, तो आपके सम्बन्धियों को आपका शव प्राप्त करने में कितनी आसानी होगी ? कितना नफीस उपयोग है इस साइनबोर्ड का ? मुझे पूरी-पूरी उम्मीद है कि आप अच्छी तरह समझ गये होंगे।" और इतना कहकर वह मुझे हत्यारे की नजरों से देखता हुआ चला गया।

मैंने उसके कुछ दूर पहुँचने तक प्रतीक्षा की। फिर हवा में मुट्ठी तानकर उसी ओर घूँसा दिखाते हुए मैंने चिल्लाकर कहा, "समझ लूँगा, समझ लूँगा।"

वह जाता-जाता स्तंभित-सा होकर मेरी ओर मुड़कर देखने लगा। फिर जैसे भनभनाते हुए मच्छर को लोग हाथों से मारकर चल पड़ते है उसी तरह कान के पास हाथ फटकार कर वह अपनी राह लगा।

मैं एक सौ चार डिगरी बुखार में ही फिर कुछ-न-कुछ कहता कि एक नर्स आ गई, और मुझे स्त्री जाति के सम्मान के विचार से चुप रह जाना पड़ा, पर वह आते ही बोली, "वेल, ए मिस्टर, मेरे साथ आओ और अपने शरीर को धो डालो।"

उसके ये शब्द मुझे चुभ से गये। मैं तेजी से बोला, "ए मिस साहबा, यदि आप सीधे से कहतीं कि मैं नहा लूँ, तो क्या अच्छा न होता ? क्या मैं घोड़ा हूँ, जो आपने मेरे लिए शरीर को धोने का प्रयोग किया ?"

"मैं समझी थी कि तुम मरीज हो, लेकिन देखती हूँ तुम तो बोलते हो। मुझे तो शक है कि तुम कभी ठीक भी होगे, और इसी से हर बात में अपनी टाँग अड़ा रहे हो, और हर बात में कानून बघारते हो।" और वह मुझे स्नानागार में ले गई।

उसने मुझसे कपड़े उतारने को कहा। जब मैं कपड़े उतारने लगा, तो देखा कि टब में एक सिर चमक रहा है। एक बूढ़ी औरत थी। मैं बोला, "आप मुझे जनाने गुसलखाने में ले आई हैं। देखिए, कोई महिला नहा रही है।"

वह नर्स बोल पड़ी, "ओह, यह तो वह बूढ़ी औरत है, जिसको कुछ सूझता नहीं है। इसे बड़ा तेज बुखार रहता है। तुम्हें उसके होने न होने से कोई सरोकार नहीं है। कपड़े उतारो। हम इसे निकाल देंगे और तुम्हारे लिये नया पानी भर देंगे।"

मैंने कहा, "इस औरत को नहीं सूझता, तो न सूझे। कम-से-कम मुझे तो अभी सूझता ही है। मुझे अच्छा नहीं लगता कि कोई महिला··"

तभी डाक्टर भी आ गया। वह बोला, "अपने जीवन में जनाब ही ऐसे मरीज मिले हैं, जो इस तरह से पेश आ रहे हैं। मुझे यह नहीं अच्छा लगता, वह नहीं अच्छा लगता। आपको इस औरत के नहाने से भी एतराज है, जिसका टेम्परेचर चाहे एक सौ पाँच ही क्यों न हो, जिसे चाहे ढंग से कुछ दीखता तक न हो। और अगर कुछ दीखे भी, तो आपका क्या जाता है। वह ज्यादा से ज्यादा बीस मिनिट और जिएगी।"

तभी वह बूढ़ी औरत बोल उठी, "मुझे बाहर निकालो, मुझे बाहर निकालो, नहीं तो मैं तुम सब लोगों को मार डालूँगी।" लगता था वह पागल थी।

उसे निकाल दिया गया और मेरे लिये नया गरम पानी भर दिया गया।

अब इन लोगों को मेरे स्वभाव का यथेष्ट ज्ञान हो गया था। वे भली भाँति जान गये थे कि यह नया रोगी जो अस्पताल में आया है उसका आसानी से मरने का इरादा नहीं है। उन्होंने अब बहस नहीं की और मेरी बातों को ज्यादातर बिना चूँचरा के मानने लगे।

नहाने के बाद जो अस्पताल के कपड़े मुझे पहनने को मिले वे इतने बड़े मालूम दिये कि मुझ जैसे दो उसमें और आ जायें। पहले तो मैंने समझा कि शायद यह भूल से हो गया है। पर बाद में पता चला कि यहाँ कुछ ऐसा नियम है कि मेरे जैसे छोटे आदमियों को हाथी के कपड़े पहनने को दिये जाते हैं और बड़े लोगों के

लिए बाजीगर की बन्दरिया की घघरिया ही काफी समझी जाती है। लेकिन मैंने देखा कि मेरे कपड़े फिर भी और रोगियों की अपेक्षा ठीक ही थे। अस्पताल का चिह्न और नम्बर मेरी बाहों पर आता था, जो उचित भी था, जबकि अन्य लोगों के सीने पर, पेट पर या कमर पर। मुझे एक छोटे से वॉर्ड में रखा गया, जिसमें लगभग बीस रोगी थे। उनमें कुछ गम्भीर रूप से रोगग्रस्त थे, कुछ लोग ठीक भी थे, जो सीटी बजा रहे थे, कुछ लोग शान्ति भंग करने का संकल्प करके खटाखट कैरम खेल रहे थे। यहाँ तक कि कुछ लोग तालियाँ भी बजा रहे थे। मुझे आश्चर्य था कि यदि मुझे देखनेवाले डाक्टर का कहना सही था, तो ये लोग मृत्यु के इतने निकट होते हुए भी इस प्रकार क्यों उछल-कूद रहे थे। इस प्रकार इनमें चेतना भरी रहेगी, तो इनके सम्बन्धियों को इनका शव ले जाने में कितनी कठिनाई पड़ेगी। आप सच मानिये, उनके हुल्लड़ से मैं इतना परेशान हो रहा था कि मेरे मन में यह भावना उठनी अत्यन्त स्वाभाविक और युक्तिसंगत थी।

खैर, इस सब्जीमण्डी की चखचख में भी मुझे नींद आ गई। आई कैसे, इसका पता नहीं, लेकिन साथ वह लेकर आई मल्कुल मौत यानी साक्षात् यमदूत को। वह कोई हाड़चाम की शकल नहीं थी, बल्कि खालिस हड्डियों का एक मानव आकार मेरे सामने खड़ा था। मेरी घिग्घी बँध गई। मैंने घबराये हुए से लहजे में पूछा, "तुम क्यों आये हो ?"

उसने उत्तर दिया, "क्यों आये हो, कितना अजीब सवाल है ? मैं तो यहाँ रहता ही हूँ। यह मेरा निवासस्थान जो है। ये इतने लोग जो तुम देख रहे हो, जो सीटी बजा रहे हैं, जो कैरम खेल रहे हैं, जो टबों में गरम-गरम पानी से नहाते हैं, सब मेरे इस पेट में समा जानेवाले हैं। उनके सम्बन्धियों को क्या मिलेगा यह तुम बाहर लगे बोर्ड पर देख भी चुके होगे। समय तक आसानी के लिये लिख दिया गया है। क्या तुम्हें अब भी मेरे कथन में झूठ दिखाई देता है ? मेरे पेट में सबके लिये जगह है। फिर तुम आश्चर्य करोगे कि ये लोग इतना उछलकूद क्यों रहे हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी हैं, जो अपनी स्थिति को खूब अच्छी तरह पहचानते हैं। वे लोग न तो सीटी बजाते, न कैरम खेलते और न खिलखिलाते, वे सूख-सूखकर ही मेरा इन्तजार करते हैं। पहले किस्म के रोगियों की बनिस्बत ये दूसरे किस्म के लोग ज्यादा बद-किस्मत हैं। अच्छा, तो तुम भी अब तैयार हो जाओ।"

मैंने निहायत बहादुरी से जवाब दिया, "भाग जाओ यहाँ से। मैं तुम्हारे चकमे में आनेवाला नहीं हूँ। मैं तुम्हारे साथ हरगिज नहीं जा सकता।"

"यह तुम्हारे बस की बात नहीं है। ये सब डाक्टर लोग मेरे सहायक हैं। तुम मेरे सहायकों से बचकर जा ही कहाँ सकते हो ? आओ आगे, जिद नहीं करते।" वह अपनी रीढ़ पर ही बड़े विचित्र तरीके से मचक कर बोला। अब उसने जो मेरी तरफ हाथ बढ़ाया, तो मैं अपने पोपले से मुँह में पूरी हवा भरकर चिल्लाया।

चिल्लाने पर मेरी आँख खुल गई, और देखा कि ठीक मेरे सामने बिजली का मीटर

लगा हुआ था, जो काले रंग का था, और जिस पर हाथ की दो सफेद हड्डियों को क्रास करके उनके ऊपर मानव की खोपड़ी चित्रित की हुई थी। मुझे ऐसा लगा कि मेरी आँख खुल जाने के कारण यमदूत भागकर इस चित्र में छिप गया है। उसके नीचे जो शब्द लिखे हुए थे, उनका अर्थ था : 'खबरदार।'

मेरी चारपाई के आस-पास अन्य रोगी इकट्ठे हो गये थे और बाहर से नर्स आदि भी आ चुके थे। मैंने उन लोगों से चिल्लाकर कहा, "मुझे या तो इस कमरे से निकालो या यह मीटर यहाँ से हटा दो।"

नर्स ने कहा, "तुम बड़े अजीब आदमी हो। ऐसे आदमी को अस्पताल में नहीं रखा जा सकता। कल को तो तुम कहने लगोगे कि मुझे, यानी नर्स और डाक्टर को भी यहाँ से हटा दो।"

मैं चुप ही रह गया क्योंकि मैं साफ़ ही देख रहा था कि अन्य रोगी भी अपने-अपने ढंग से नर्स का समर्थन करने लगे थे।

तीसरे दिन तक मुझे निकाला तो नहीं गया, हाँ नर्स ने मुझसे कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य तो बहुत अच्छा दिखाई दे रहा है। तुम तो ठीक हो रहे हो। जब तक तुम अपने आस-पास से कोई बीमारी नहीं ले लेते, हम तुम्हारे स्वास्थ्य पर तुम्हें बधाई ही देंगे।"

अब मेरी समझ में आया कि किस प्रकार वे लोग, जो हँसीखुशी से सीटी बजाते और कैरम खेलते दिखाई देते थे, उस मीटर वाले यमदूत के पेट में जायेंगे। तो यह आस-पास से रोग लगने का भी खतरा वहाँ पर मौजूद था।

जैसे मेरे स्वास्थ्य को नज़र लग गई हो, जबकि मैं छुटकारे की राह देख रहा था, मुझे जुकाम और कफ का रोग लग गया। मुझे नर्स ने बताया कि यह रोग मुझे उस बच्चोंवाले वार्ड से मिला है। हो सकता है कि मैंने वहाँ की प्लेटों में कुछ खाया हो। डाक्टर ने सुझाव दिया कि मैं चिन्ता करनी छोड़ दूँ तो जल्दी ठीक हो जाऊँगा।

हो सकता है कि वे मुझे भूल गये हों या किसी को मेरे बारे में कहा गया हो और वह भूल गया हो, ठीक हो जाने पर भी मुझे कोई डिस्चार्ज करने नहीं आया। पर शायद नये रोगियों की संख्या बढ़ गई थी और उनके लिए स्थान की आवश्यकता थी, इस कारण एक दिन डाक्टर ने कहा, "हमें आश्चर्य है कि आप एक सप्ताह में ही ठीक हो गये। आज आपको छुट्टी दी जायेगी।"

मैंने कहा, "पर, डाक्टर साहब, अभी तो मुझे जुकाम और कफ दोनों हैं।"

डाक्टर ने कहा, "वह ठीक है, हो सकता है, लेकिन हमारे यहाँ आप सिर्फ टायफाइड के लिये भरती हुए थे। आज आपको जरूर 'डिस्चार्ज' किया जायेगा। आप फिर कभी अपने इन रोगों के लिये भी यहाँ दाखिल हो सकते हैं।"

लेकिन जब नर्स मेरे डिस्चार्ज का सार्टिफिकेट लिये आई, तो रोगियों के कमरे के घंटे में ठीक साढ़े तीन बजे थे। नर्स ने आते ही कहा, "ए, यह बिस्तरेवाला रोगी कहाँ है ? उसके सम्बन्धी उसे लेने आये हैं।"

मैं खिड़की के पास खड़ा था। मैं आ तो गया, लेकिन मुझे उस समय,

यानी ठीक तीन और चार बजे के बीच नर्स का यह कहना बड़ा बुरा लगा कि मेरे सम्बन्धी मुझे लेने आये हैं। खैर, मैं नर्स की तरफ आँखें तरेरता हुआ, जिसे जरूर उसने मेरी बिना वजह की हरकत समझी होगी, उसके साथ-साथ अस्पताल से बाहर आ गया।

दरवाजे पर श्रीमतीजी मिलीं। मुझे देखते ही बोलीं, "अरे तुम···तुम···" और वह जोर-जोर से रो पड़ीं।

मैं अजीब असमंजस में पड़ा कि मैं तो अच्छा हो गया, फिर यह रोती क्यों हैं? बाद में पता लगा कि श्रीमतीजी के पास अस्पताल से एक नोटिस आया था, जिसमें लिखा था : 'इस नोटिस के मिलते ही कृपया अपने संबंधी का शव लेने के लिये तीन से चार बजे तक पधारिये।'

जान पड़ता था कि इस छपे हुए कार्ड में क्लर्क गलती से ऊपरवाली पंक्तियों के बजाय वह पंक्ति काट गया था, जिसमें लिखा था : 'हमें सूचना देते हुए हर्ष होता है कि आपका रोगी अच्छा हो गया है। कृपया उसे लेने के लिये तीन से चार बजे तक पधारिए।'

डा० अशर्फी लाल

महावीर अधिकारी

●

श्री महावीर अधिकारी का जन्म सन् १९२० में हुआ था। साहित्यिक जीवन सन् १९४१ से आरम्भ हुआ। इसी वर्ष आपने श्री भगवतीचरण वर्मा के साथ 'विचार' कार्यालय में कार्य किया, तदनन्तर सन् १९४२ में 'नवयुग' साप्ताहिक में सहायक सम्पादक नियुक्त हुए और बाद में सम्पादक। 'समाज' का भी कुछ दिन सम्पादन किया, आजकल 'समाज-कल्याण' के सम्पादक हैं।

कहानी, उपन्यास, आलोचना—सभी कुछ लिखते हैं।

रचनाएँ

'जीवन के मोड़', 'भारत का चित्रमय इतिहास', 'प्रसाद—जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व', आदि।

३०।१७, शक्तिनगर, दिल्ली

सनातन ने उछलकर दो-चार घूँसे डॉ० अशर्फीलाल के रसीद कर दिए

खाली पड़े-पड़े जब डा० अशर्फीलाल के स्टेथेस्कोप को जंग लगने लगा, उसकी रबड़ को चूहों ने काट डाला और बार-बार ताव देने से उनकी मूँछें दूकान की छत की ओर बढ़ने लगीं और छत की कड़ियाँ नीचे खिंचने लगीं तो घबराकर उन्होंने निश्चय किया कि वह अब एलौपैथी छोड़कर मानसिक रोगों की चिकित्सा करेंगे।

यह नया पेशा कम-खर्च और बालानशीन था। कम-खर्च इसलिए कि इस धंधे को शुरू करने में डा० अशर्फीलाल को दो-चार बढ़िया जिल्दवाली किताबें और कुछ खूबसूरत कलेंडर ही मुहैया करने पड़े; और बालानशीन इसलिए कि एक दिन में यदि दो मरीज भी उतर आते थे तो डाक्टर का टट्टू पार हो जाता था और बाकी वक्त डाक्टर साहब नये रोगियों का अनुसंधान करने में खर्च करते थे। चुनांचे अब डा० अशर्फीलाल जब अपने क्लीनिक मे बैठते तो उनकी मूँछें कलफदार कालर की तरह तनी रहतीं और उनके होंठों से गुलाब के फूल झड़ते रहते। जब वह प्रसन्न होकर मूँछों पर ताव देते होते तो लगते जैसे भारतीय स्टाइल के कोई शानदार बाक्सर हैं और जब मनमोहिनी मुद्राओं से अपने मरीजों का मनोरंजन करते होते तो लगता जैसे कत्थक के कोई पहुँचे हुए कलाकार हैं। डा० अशर्फीलाल ने इन दोनों कलाओं का अभ्यास भी किया था क्योंकि अपने निजी तजुर्बे से उन्होंने सीखा था कि मानसिक रोगों के चिकित्सक को बाक्सिंग और कत्थक का ज्ञान होना भी जरूरी है।

एक दिन डा० अशर्फीलाल के क्लीनिक में न कोई मरीज आया और न किसी ने टेलीफोन से पूछताछ की। डाक्टर ऊबकर उठने ही वाले थे कि सहसा दो सज्जन उनके एसिस्टेंट के साथ कमरे में दाखिल हुए। दोनों की आँखों पर काले चश्मे चढ़े हुए थे और इस तरह अपने मरीज को पहचानने में जब डाक्टर को परेशानी होने लगी तो उन्होंने पूछा, "आपमें से किन साहब की मुझे खिदमत करनी है?"

प्रश्न सुनकर उनमें से एक ने अपना चश्मा उतारकर मेज पर रख दिया और दूसरे की ओर इशारा करते हुए कहा, "आप हैं मि० सत्यनारायण तरुण नायक, जरा इनका हिसाब-किताब देखिये, डाक्टर साहब!"

"बड़ा विराट् नाम है आपका!" डॉ० अशर्फीलाल ने मरीज की ओर मुखातिब होकर कहा, "अगर हम नाम को थोड़ा संक्षिप्त कर दें और मि० सनातन कहें तो कैसा! देखिए न लम्बे नाम से राष्ट्रीय समय का कितना दुरुपयोग होता है।"

मरीज ने अपने साथी की ओर देखा और साथी डाक्टर के सुझाए हुए नाम को दोहराता हुआ अट्टहास कर उठा। अब मरीज ने देखा कि कोई बात ऐसी जरूर है जो उसका मजाक बनाने के लिए कही गई है। उसने अपना चश्मा उतार लिया,

उसकी भौंहें तन गयीं और इस तरह आँखें तरेरकर वह डाक्टर की तरफ देखने लगा कि डा० अशर्फीलाल अपनी मूँछों पर ताव देना तो भूल गये, मन-ही-मन हनुमान चालीसा पढ़ने लगे। डाक्टर ने मरीज की ओर से मुँह फेर लेना मुनासिब समझा और इस तरह बातचीत का सिलसिला कायम रखने के लिए उन्होंने मि० सनातन के साथी से पूछा, "आपके मित्र कब से समाधिस्थ हैं ?"

"यही, साहब, कोई दो वर्ष से घूम रहे हैं।"

"आदमी तो शौकीन-मिजाज मालूम पड़ते हैं," डाक्टर ने सनातन की ओर बिना देखे ही कहा।

"ज्यादा शौकीन-मिजाज तो थे नहीं बेचारे। शुरू-शुरू में जरा कविता का शौक करते थे, बाद में फिल्म कम्पनी में भर्ती होने की सोच रहे थे। घर से निकलनेवाले ही थे कि उन्हीं दिनों इनके मोहतरिम वालिद साहब जहाने फानी से उठ गये। एक हल्का-सा झटका इन्हें लगा तो उस समय भी था, पर किसी तरह सँभल गये थे। और अब तो, डाक्टर साहब, आपकी शरण में आए हैं—बस इन्हें ठीक कर दीजिए।"

"कोई काम-धाम नहीं था ?" डाक्टर ने फिर पूछा।

"बड़ी मुश्किल से लड़कियों के स्कूल में क्लर्की मिली थी, साहब ! वह भी चल नहीं सकी। मानसिक सन्तुलन तो तभी से बिगड़ना शुरू हुआ है इनका।"

उसी समय साथी का कंधा हिलाते हुए मि० सनातन बोले, "वह देखो मंगला का फोटो है न ?"

"मंगला कौन है जी ?" डाक्टर ने पूछा।

"वही तो रोग की असली जड़ है, साहब। इन बेचारों का वक्त बिगड़ा कि उनका भी मिजाज बिगड़ गया। यह उनसे प्रेम करते थे, वह इनसे नफरत करने लगीं।"

"बात कुछ समझ में आती नहीं, साहब।" डाक्टर ने अपने हाथ भींचते हुए कहा—"बाप के मरने से तो आजकल के लड़कों को कोई मानसिक आघात होने से रहा—हम कहते हैं। बाकी सारा-का-सारा माहौल शुरू से खुशगवार ही रहा है। यह सब हुआ कैसे ?"

"प्रेम का आघात भी तो हो सकता है, डाक्टर साहब," साथी ने कहा।

"बिला शक, हम समझते हैं यही है रोग की जड़। कुछ बहुत ज्यादा आदर्शवादी तो नहीं हैं ?"

"अजी, आदर्शवादी भी हों तो उसकी कोई सीमा तो हो, साहब। जिस दिन स्कूल में नौकरी मिली अपने वालिद साहब की खानदानी अचकन पहनकर इन्होंने शपथ खाई थी कि नारीमात्र को अपनी बहन समझेंगे।"

"इनसे पूछिये कि क्या उस शपथ में मंगला भी शामिल थी ?" डाक्टर ने कहा।

मरीज किसी कल्पना में डूबा हुआ था। चौंककर बोला, "मंगला की ही फोटो है न !"

"फोटो मंगला का नहीं है। मंगला के बारे में पूछ रहे हैं," साथी ने दोहराया।

"अच्छा वह मुझे छोड़ क्यों गयी, डाक्टर साहब ? भला क्यों छोड़ गई जब कि इतना प्रेम करती थी," आगे उसका गला रुँध गया और रुँधे कण्ठ से वह बोला—"बताइये तो, डाक्टर साहब, मंगला मेरे पास कब आएगी ?"

"देखिये, किस तरह से रो रहे हैं," डाक्टर से मरीज के साथी ने कहा।

"आत्मविश्वास की कमी ! हम कहते हैं सब रोगों की जड़ है आदमी में आत्मविश्वास का न होना। शुरू में कविता करते रहे, बाद में नाच-गाने का शौक। फिल्म-विल्म में भर्ती होने के ख्वाब देखना···ये सब क्या हैं और फिर नौकरी भी मिली तो कहाँ—लड़कियों के स्कूल में, एक तो थे करेले और फिर चढ़े भी तो नीम पर ! बन्दा परवर, अच्छा हुआ कि इनके सिर पर ही बीत गई वरना पेंच कुछ और तरह पड़ता तो इनका सेक्स भी तबदील हो सकता था। आहा, वह खबर पढ़ी नहीं आपने, विलायत में एक लड़का···साहब, लड़का क्यों, फौज का अच्छा-खासा नौजवान था··· लड़की में तबदील हो गया। हम कहते हैं जो लोग रात-दिन औरतों के बारे में सोचते हैं और उन्हीं के चक्कर में रहते हैं उनमें निस्वानियत का माद्दा उभर ही आता है ! ये इन्सान और हैं क्या साहब। माहौल का अक्स ही तो है," और फिर मरीज के पुट्ठे पर हाथ मारते हुए बोले, "हौसला करो, सनातन साहब, हम सब ठीक कर देंगे।"

डाक्टर ने फीस लेकर मरीज और उसके साथी को विदा किया।

अब उन्होंने रोग की जड़ खोजना आरम्भ कर दी थी। बताए हुए पते पर खोजते-खोजते वह मंगला के घर पहुँच गये। अपना कार्ड अन्दर भिजवाया। कार्ड को लेकर एक बुजुर्ग बाहर निकले और बड़ी बेरुखी से बोले, "क्षमा कीजिये, हमारे यहाँ किसी को मानसिक रोग नहीं है।"

डाक्टर अशर्फीलाल ने बहस में पड़ने की बजाय मंगला और तरुण नायक के प्रेम का चर्चा किया और उस बारे में मंगला से केवल एक बार मिलने की अनुमति माँगी।

बुजुर्ग ने झल्लाकर कहा, "हमें सब मालूम है, साहब। आप ये क्या अट्ठारहवीं सदी की बातें करने लगे हैं। मंगला कोई पार्वती है कि उस औघड़ के बिना चलेगी ही नहीं। ये डिमोक्रेसी का युग है, भगवन्।"

डा० अशर्फीलाल ने कहा, "तोबा है ऐसी डिमोक्रेसी से ! एक जमाना था कि वचन-बद्ध होने पर लड़कियाँ कोढ़ी-कुष्टियों तक को उम्र भर निभाती थीं और अब··· क्या वक्त आ गया है, साहब।"

डा० अशर्फीलाल अपनी आदत के मुताबिक अपने पेशे से हटकर समाज-शास्त्र पर पहुँचते जा रहे थे और बात शायद बढ़ जाती लेकिन अन्दर से मंगला आ गई और उसने कहा, "आप कहें तो, क्या कहना चाहते हैं ?"

"धन्यवाद, मंगलाजी," अब डाक्टर खतरे का अनुभव करते हुए सीधे अपने

मतलब पर आ गये।

"आप मिस्टर सत्यनारायण को अच्छा आदमी नहीं समझतीं क्या ?"

"वह दरअसल इतने अच्छे आदमी हैं, साहब, कि मैं आपसे क्या कहूँ...आप उनके कोई रिश्तेदार हैं ? आप दूसरे व्यक्ति के मामले में दिलचस्पी क्यों लेते हैं ?" लड़की ने कहा।

"नहीं, मैं उनका रिश्तेदार नहीं, मैं तो डाक्टर हूँ और यह किसी का व्यक्तिगत मामला नहीं है, यह तो सारी कौम की समस्या है, साहब। सोचिये तो अगर कौम की सारी लड़कियाँ इस कदर डिमोक्रेट हो गईं तो क्या हशर होगा ? डा० अशर्फीलाल तो तोबा करते हैं...हमसे इतने केस सँभलनेवाले नहीं, साहब।"

लड़की अन्दर ही अन्दर मुसकरा रही थी।

डाक्टर उसी रौ में बोलते जा रहे थे, "उस गरीब के हाल पर रहम खाइये, प्यार की आवाज सुनकर तो गूँगे भी बोल उठते हैं...कुमारी जी ! बस आपका एतराज यह है कि मि० तरुणनायक थोड़े सनकी हैं। हम कहते हैं, जरा चौराहे पर खड़े होकर देखिये तो—कोई रोकड़ अंगुलियों पर निकालता हुआ दीखेगा, कोई नाटक का रिहर्सल करता मिलेगा। आपके चश्मे से अगर लोग दुनिया को देखने लगें तो फिर सारी कौम इस तरह से पागल नजर आने लगेगी।"

"लेकिन मेरे पास कौम के पागलपन का क्या इलाज है ! आप मानसिक रोगों के चिकित्सक हैं, आप ही ठीक करें।" लड़की ने बात टालते हुए कहा।

"ओहो, चिकित्सा तो हम ही करेंगे। लेकिन बिना आप लोगों के सहयोग के हम क्या कर सकते हैं। आप अभी तक हमारी बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर रही हैं। सोचिए तो हम लोग मानसिक रोगियों के प्रति कितना गुनाह करते हैं। हमारा शरीर रोगी होता है। डाक्टर से दवाई लेकर खाई और चंगे हुए। पर हम कहते हैं अगर आपका मन रोगी हो जाय तो ! समझ लीजिए—गाज गिर पड़ी। अजी, सब मिलकर छोर तक पहुँचाकर ही दम लेते हैं गरीब को। हम कहते हैं, आप किसी घसियारे से विवाह करेंगी। पर अगर हम आपसे कहें कि घसियारा के अलावा और जितने सांस्कृतिक लोग हैं—लेखक, कवि, वैज्ञानिक, कलाकार और दार्शनिक ये सब एबनार्मल होते हैं तो ! हम कहते हैं आप क्यों नहीं मान लेतीं कि आपके मि० सनातन भी एक जीनियस हैं।"

"उन्हें आप सनातन कहते हैं ?"

"जी हाँ, हमने उनके नाम को थोड़ा संक्षिप्त कर लिया है," इतना कहकर डॉक्टर ने फिर साँस भरी, "आप घबराइये नहीं, मिस साहब, सनातन आज अकेले नहीं हैं, और हों भी क्यों, नार्मल होने का अर्थ है आदमी का आदमी न होकर पशु होना। अजी, समूची सभ्यता और संस्कृति का विनाश !"

आखिर डा० अशर्फीलाल ने लड़की को निरुत्तर कर दिया और वह उनके कहने के मुताबिक सहयोग देने के लिए राजी हो गई।

डा० अर्फीलाल का पक्का विचार था कि अगर उनके मरीज में पौरुषेय वृत्तियों को किसी तरह उत्तेजित किया जा सके तो वह अपनी सम्पर्कजन्य हीन भावना पर विजय प्राप्त कर सकता है।

नाटक भी उन्होंने सोच लिया। पर उसमें खलनायक का काम कौन करे यहाँ आकर समस्या विकट हो गई।

मि० सनातन के साथी भी पीठ दिखा गये हालांकि उन्होंने कहा यही कि मित्र के प्रति विश्वासघात का अभिनय करना भी उनके लिए घातक है। और डाक्टर के सहायक, थे तो बड़े ही सुन्दर और स्वस्थ युवक। पर वे भी कानों पर हाथ रख गए। आखिर अपने नाम की इज्जत रखने के लिए डाक्टर ने संकट अपने ही सिर पर ओढ़ने का निश्चय कर लिया।

पूर्व निश्चय के अनुसार डाक्टर अशर्फीलाल मंगला को साथ लेकर बाजार में निकले। रास्ते में मि० सनातन को लेकर उनके साथी बैठे ही थे। मि० सनातन ने दोनों को देखा और कहा, "देखो, मंगला जा रही है।"

"जा रही है तो तुम्हारे लिए क्या," साथी ने सनातन को उत्तेजित किया। "वीरभोग्या वसुन्धरा, पूर्व पुरुषों ने कहा है कि जिसकी बाहुओं में बल है वही संसार में ऐश्वर्य को धारण करता है।"

"लेकिन उसके साथ कौन है?" सनातन फुफकारा।

"अरे, वही तुम्हारा डाक्टर अशर्फीलाल! वाह! क्या खिजाब लगाया है भाई ने। बना दिया है न तुम्हारा असली सनातन उसने! अब घूमो, भाई।"

"अच्छा देखता हूँ उसे," सनातन ने बाहें कसीं। बाजार में खामखाँ ड्रामा हो जायेगा, इसलिए उस समय तो समझा-बुझाकर साथी ने सनातन को रोक लिया।

अगले दिन डाक्टर अशर्फीलाल का क्लीनिक खुला कि सनातन ने ड्रामा उपस्थित कर दिया।

डाक्टर बेचारे को क्या गुमान था कि उन्होंने रामबाण को अधिकार में कर लिया है। मि० सनातन की गालियाँ सुनकर बोले, "सनातन साहब, सारी कुलीन गालियाँ आप ही इस्तेमाल कर लीजियेगा। हमारे लिये कुछ भी नहीं छोड़ियेगा।"

बस फिर क्या था! मि० सनातन उछले और दो-चार घूँसे रसीद करने के बाद डाक्टर अशर्फीलाल की खूबसूरत मूँछ का एक अर्धांग उखाड़कर ले गए।

आठ दिन बाद जब डाक्टर अस्पताल से लौटे तो उनके सहायक ने सूचना दी कि मि० सनातन की स्थिति में सुधार हो रहा है। एक दिन मंगला के साथ वह क्षमा-याचना करने भी आये थे।

डाक्टर ने उदासीनता से वह समाचार सुना और अपने सहायक को आदेश दिया, "उस नामुराद के पास बिल तो भेज दीजिएगा, आठ दिन की फीस हर्जाना और हाँ! नयी मूँछों का बिल भी साथ में नत्थी कर दीजिएगा···भूलियेगा नहीं।"

मिस्टर भाटिया

मोहन राकेश

●

श्री मोहन राकेश का जन्म सन् १९२५ को अमृतसर में हुआ था। आपके पिता वकील होते हुए भी बहुत साहित्यानुरागी थे। अतः आपको बचपन में ही घर में पर्याप्त साहित्यिक वातावरण प्राप्त हुआ। सोलह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो गया और तब से ही जीवन में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। आत्म-निर्भर रहकर आपने एम० ए० तक की शिक्षा पूरी की और यूनिवर्सिटी से छात्रवृत्ति प्राप्त की। परन्तु विभाजन हो जाने से जीवन फिर से विश्रृंखल हो गया। जीवन का संघर्ष नये सिरे से प्रारम्भ हुआ। पाँच-छः वर्ष बम्बई, दिल्ली और शिमला में बिताने के बाद राकेश जी डी० ए० वी० कालिज, जालन्धर में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। वहाँ चार वर्ष तक कार्य करने के अनन्तर अब फिर से अलग हो गये हैं और स्वतन्त्र रूप से लिखते हैं।

रचनाएँ

'नये बादल', 'जानवर और जानवार', 'स्याह और सफेद', 'आसाढ़ का एक दिन', 'आखिरी चट्टान तक', 'इन्सान के खण्डहर', 'सत्य और कल्पना', आदि।

४।५८४३, देवनगर, दिल्ली
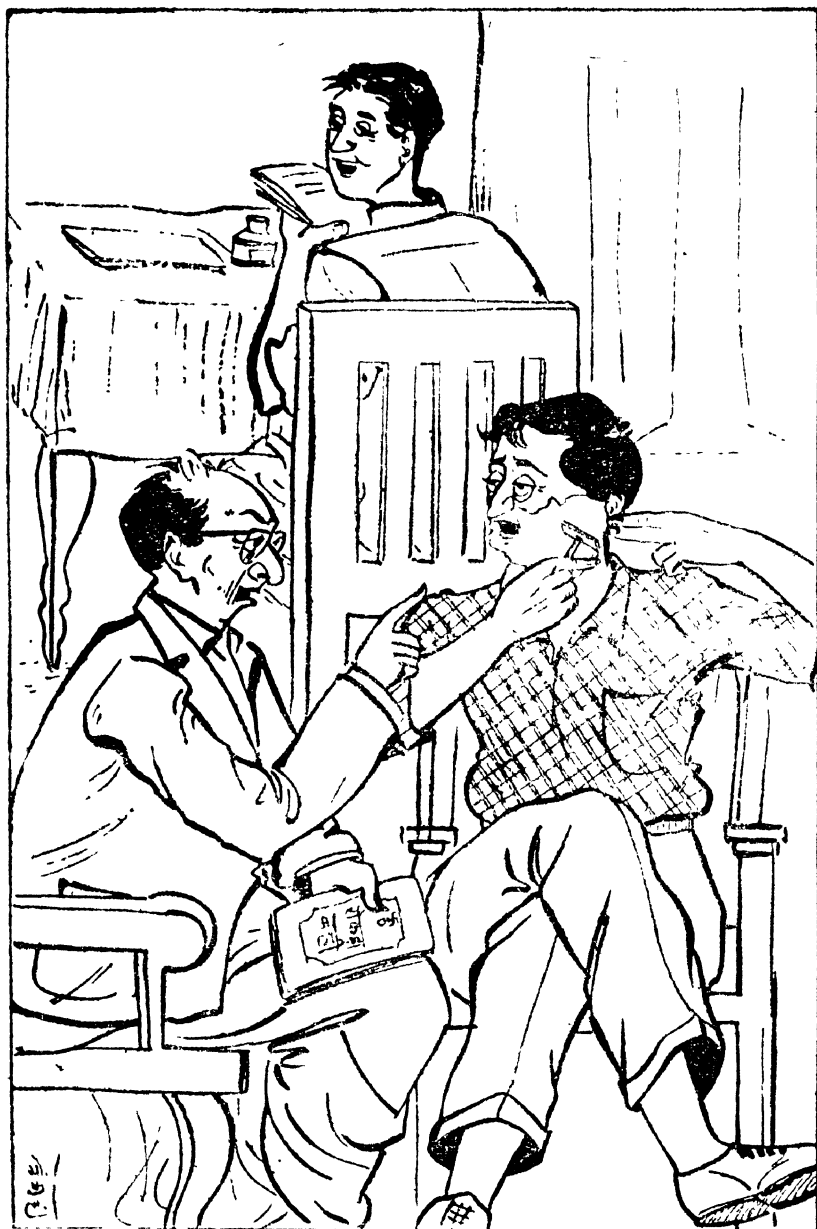
भाटिया ने ब्लेड को ठुड्डी के नीचे तेजी के साथ खींच दिया

भाटिया को इस बात में सख्त एतराज है कि उसके नाम के साथ 'श्री' का प्रयोग किया जाय। उसकी भद्रता का परिचय केवल 'मिस्टर' या 'एस्क्वायर' द्वारा ही दिया जा सकता है।

यदि भाटिया के पास पैसे हों तो वह हर इतवार को साढ़े तीन बजे का शो देखने जरूर जाता है। जाता तो खैर सदा वह अकेला ही है, पर टिकट उसके पास तीन रहते हैं। बुकिंग आफिस की खिड़की बंद हो जाने पर, बीच का टिकट अपने लिए रखकर दायें-बायें के दोनों टिकट वह निराश भीड़ में खड़ी किन्हीं दो लड़कियों के हाथ बेच देता है। इस तरह अच्छा साथ पाने के लिए दैव के भरोसे नहीं रहना पड़ता उसे।

टमाटर और अंडे खाने के बजाय चिट्ठियाँ लिखने के लिए आसमानी रंग का पैड मेज पर रखना भाटिया की दृष्टि में जिंदगी की ज्यादा बड़ी जरूरत है। उसने सुन्दर नीले अक्षरों में अपने नाम के लेटर पैड छपवा रखे हैं—के० सी० भाटिया, (बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०)।

डिग्रियों के अक्षर ब्रेकेट्स में देने का अर्थ यह है कि दो साल साइंस और लॉ की श्रेणियों में बिताकर आवश्यक योग्यता तो उसने प्राप्त कर ली थी, पर दुर्भाग्यवश एक बार भी सफल परीक्षार्थियों की सूची में उसका नाम नहीं निकला।

तीन साल पहले भाटिया का वजन एक मन दस सेर था। पिछले साल घट कर एक मन पाँच सेर रह गया था। इस साल शायद एक मन तक उतर आया है। दो साल वह बेकार रहा है। एक साल वह काम की तलाश करता रहा है। आजकल विश्राम कर रहा है।

जिन दिनों मेरा भाटिया से परिचय हुआ, उन दिनों उसके पास स्वत्व के रूप में सिर्फ दो चीजें थीं—एक अपना शरीर और दूसरा किराये का एक फ्लैट। वैसे था तो वह एक ही कमरा, मगर भाटिया उसके लिए फ्लैट से कम किसी शब्द का प्रयोग पसंद नहीं करता था। बंबई में जगह की किल्लत सदा ही रहती है, उन दिनों तो और भी ज्यादा थी। भाटिया किसी न-किसी को अपने फ्लैट में साथ पेइंग गेस्ट बनाकर रख दिया करता था। मेरा भी भाटिया से सम्पर्क इसी सिलसिले में हुआ।

मुझे भाटिया के फ्लैट में आये तब दो-चार दिन ही हुए थे, या ज्यादा से ज्यादा एक सप्ताह हुआ होगा, जब सबेरे उठते ही मैंने देखा कि भाटिया ढेरों कागज चारों ओर बिखरा कर किसी उलझन में पड़ा है। मैं काफी देर उसके चेहरे की तरफ देखता रहा, लेकिन उसने मुझसे आँख नहीं मिलायी। मैंने भी कुछ कहना उचित

न समझकर अखबार पढ़ने के लिए उठा लिया। मगर मैं अभी अखबार पर नजर जमा भी नहीं पाया था कि भाटिया अचानक हाथ की कलम फेंककर बोल उठा, "यह निकला !"

साथ ही उसने मेज पर मुक्का मारा और बाँह को हवा में झटका दिया।

"क्या निकला है, भाटिया ?" मैंने अखबार रख दिया और उत्सुकतापूर्वक उसकी ओर देखा।

"घोड़ा !" भाटिया मुसकराया। उसने ऊपर के होंठ को दाँतों में भींच लिया और नीचे के होंठ को थोड़ा ढीला हो जाने दिया।

"घोड़ा ?" मैंने आश्चर्य के साथ पूछा।

भाटिया ने उत्तर न देकर कागज को उँगली से ठोंका। मैंने देखा कागज पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा है—गिजाला !

मैंने फिर अनजान की तरह उसकी ओर देखा।

"आज दूसरी रेस गिजाला जीतेगा।" भाटिया ने समझाया, "जीतेगा क्या, दुनिया नीचे से ऊपर कर देगा। दस रुपये के बदले एक सौ बीस, एक सौ तीस रुपये मिलेंगे। है कुछ लगाने के लिए ?"

बिना उत्तर की आशा या प्रतीक्षा किये वह उठकर टहलने लगा। फिर क्षण भर के लिए रुककर उसने शीशे में अपना चेहरा देखा। फिर कंघी से बालों को माथे के ऊपर लाकर देखा। फिर धीरे-धीरे बालों को सँवारने लगा। कंघी रखकर उसने दाढ़ी को छुआ, ब्रुश पर क्रीम लगायी और प्याली में पानी लाने के लिए चला गया।

मैं अखबार खोलकर देखने लगा। आठवें पृष्ठ पर घुड़दौड़ की सूचनाएँ और घोड़ों के चित्र दिये गये थे। लेडी क्लियोपात्रा का लंबा-चौड़ा बखान था। मेघपुष्प, नसरुल्लाह और रंगाराव आदि के जीतने की भविष्यवाणी की गयी थी।

भाटिया पानी लाकर ब्लेड तेज कर रहा था। मैंने उससे पूछा, "घुड़दौड़ पर तुम हर सप्ताह जाते हो ?"

"जब पैसे होते हैं, चला जाता हूँ," उसने बिना मेरी ओर देखे उत्तर दिया।

"कभी जीते हो ?"

भाटिया ने ड्राअर खोलकर तौलिया निकाला। तौलिये को गरदन से लपेट लिया और गरदन के निचले भाग में खुजलाते हुए कहा, "आज जीतूँगा।"

किसी ने दरवाजा खटखटाया। भाटिया ने कुंडी खोल दी। एक मक्खी-सी मूँछोंवाला साँवला दुबला-ठिगना व्यक्ति दरवाजा खोलकर अंदर आ गया। आते ही वह अपने काले-पीले-कत्थई दाँत उघाड़कर मुसकराया। साथ ही उसने भाटिया को अधूरा-सा सलाम किया।

"बैठे हैं ?" उसने बगल से बही निकालते हुए पूछा।

"इस महीने नहीं, अगले महीने," भाटिया ने खुश्क होते हुए गले से

उत्तर दिया।

वह व्यक्ति फिर दाँत निकालकर मुसकराया। फिर धोती से कुर्सी झाड़कर बैठ गया और बही के पन्ने पलटने लगा। कुछ देर गिनती करके वह बोला, "यह पाँचवाँ महीना है।"

"मुझे पता है," भाटिया ने उपेक्षा के साथ कहा।

"अब की किराया जरूर ले जाना है," और वह धोती से अपने को हवा करने लगा।

भाटिया का हाथ पतलून की पिछली जेब में चला गया। उसने एक पाँच रुपये का नोट निकालकर मुंशी की तरफ फेंक दिया। मुंशी नोट का निरीक्षण करता हुआ जम्हाई लेकर उठ खड़ा हुआ और बोला, "तो अगले हफ्ते आऊँ?"

"पहली तारीख को," भाटिया ने जरा तेजी के साथ कहा और ठुड्डी के नीचे ब्लेड को उसी तेजी के साथ खींच दिया। लहू की हल्की-सी लकीर निकल आयी और सफेद झाग में मिलकर केसरिया होने लगी।

सीढ़ियों पर मुंशी के पैरों की आहट समाप्त होते ही भाटिया बड़बड़ा उठा, "सूअर का बच्चा! पाजी!"

दाढ़ी बनाकर भाटिया मेरे पास आ बैठा और उसने पाँच-पाँच के नोटों की गड्डी निकालकर ताश की तरह पलंग पर बिखरा दी।

"ये रुपये क्या होंगे?" मैंने पूछा।

"छः घंटे के अंदर ये दो सौ से बीस सौ हो जाएँगे!" और उसने वह पुलिंदा समेटकर जेब में डाल लिया।

"इतने रुपये कहाँ से मार लाये?" मैंने पूछा। एक रात पहले उसके पास सिर्फ सवा तीन रुपये शेष थे।

भाटिया का निचला होंठ ढीला हुआ और उस पर हल्की-सी मुसकराहट व्यक्त हुई। फिर मुसकराहट को ढाँपते हुए शब्द निकले, "गोपूमल से।"

गोपूमल को मैं दो दिन पहले देख चुका था। वह बहुत नाटा और मोटा था और उसके गले से शब्द घरघराकर निकलते थे। दो-एक इंच और छोटा होता तो उसे वामन का वंशज माना जा सकता था।

"सब रुपये गिजाला पर लगाओगे?" मैंने पूछा।

"येंपू!" भाटिया ने होंठों को ठेठ अमेरिकन ढंग से करवट देकर कहा। फिर किवी की डिबिया उठाकर जूते पर पालिश लगाने लगा।

उस दिन भाटिया का अनुमान वाकई बिलकुल सही निकला। दूसरी रेस सचमुच गिजाला ने जीत ली। उस पर रुपया लगानेवालों को दस के बदले एक सौ तीस रुपये प्राप्त हुए।

परन्तु भाटिया के साथ एक ट्रैजेडी हो गयी।

पहली रेस के समय भाटिया के पाँव पर कैप्टेन केशव नामक एक सज्जन का

जूता आ गया।

कैप्टेन केशव ने भाटिया से क्षमा माँगी, परिचय किया, हाथ मिलाया और बातें करने लगे। फिर उन्होंने अपनी पत्नी शारदा और बहन लीना के साथ उसका परिचय कराया। उनके आग्रह पर भाटिया को उनके साथ चाय पीने के लिए बैठना पड़ा। लीना ने अपने गोरे और मुलायम हाथों से चाय की प्याली उसकी ओर बढ़ाते हुए विचार प्रकट किया कि दूसरी रेस गिजाला नहीं जीत सकता। भाटिया को उन सुन्दर होंठों की कही हुई बात पर सहज ही विश्वास हो गया। लीना ने उसे टिप दिया कि वह जितना रुपया लगाना चाहे नसरुल्लाह पर लगा दे क्योंकि उन्हें विश्वस्त-सूत्र से पता चला है कि दूसरी रेस में नसरुल्लाह को जिताया जा रहा है। कैप्टेन केशव नसरुल्लाह पर पाँच सौ रुपया लगा रहे थे। भाटिया ने भी अपनी दो सौ की पूँजी नसरुल्लाह पर लगा दी। मगर नसरुल्लाह उस रेस में दूसरा-तीसरा भी नहीं आया। कैप्टेन केशव ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा, "अनलकी!" और अगली रेस का चार्ट देखने लगे। लीना ने भाटिया के साथ थोड़ी सहानुभूति प्रकट की और उसके सही अनुमान की प्रशंसा की। भाटिया के खून का दबाव सिर की तरफ बढ़ रहा था, फिर भी वह किसी तरह मुसकराता रहा। मगर घर जाकर उसने लीना, कैप्टेन केशव और नसरुल्लाह सबकी सात पुश्तों को जी खोलकर सिंधी-अंग्रेजी में गालियाँ दीं और रात भर बेचैनी से करवटें बदलता रहा। दिन होने पर भी वह बिना नहाये-धोये बिस्तर पर पड़ा रहा। मैं उसे उसी तरह पड़े छोड़कर बाहर चला गया।

शाम को जब मैं लौटकर आया तो भाटिया कालर-टाई लगाये, शान से बैठा चार्टर्ड बैंक की चेक-बुक में से बड़ी-बड़ी रकमों के चेक काट रहा था।

मुझे देखकर उसने बड़े आदमियों के अंदाज में मुझे बैठने का संकेत किया और एक दस हजार का चेक मेरे नाम लिखकर, हस्ताक्षर करके मेरी ओर बढ़ा दिया।

"नशे के लिए पैसे कहाँ से मिल गये?" मैंने चेक लेकर पूछा।

"मैंने बिलकुल नशा नहीं लिया," वह बोला, "मैं बिलकुल होश में हूँ।"

"तब तो मामला और भी खतरनाक है!"

भाटिया ठहाका मारकर हँसा और बोला, "चेक पर तारीख भी देखी है?"

मैंने देखा कि चेक पर पूरे सौ साल बाद की तारीख डाली गयी है।

"यह चेक-बुक कहाँ से उड़ा लाये?" मैंने पूछा।

"यहीं पड़ी थी," उसने सहज भाव से कहा।

"तुम्हारा बैंक में हिसाब है?"

"नहीं।"

"फिर चेक-बुक कहाँ से आ गयी?"

"भटनागर की है। वह पहले मेरे यहाँ पेइंग गेस्ट था। उस बेचारे को बेकारी ने बंबई से भगा दिया।"

और उसने एक चेक, एक लाख रुपये का, कुमारी लीना कपूर के नाम

काट दिया।

"आज यह रंग इतनी जल्दी बदल कैसे गया?" मैंने पूछा।

भाटिया ने लीना कपूर का चेक तह करके फिर से खोला, तह किया और जेब से एक नीले रंग का लिफाफा निकालकर उसमें से पत्र निकाल लिया और चेक उसमें रख दिया। लिफाफे को जेब में डालते हुए उसने पत्र मेरी ओर बढ़ा दिया।

पत्र कैप्टेन केशव का था। उन्होंने उससे कुछ रेस सम्बन्धी बातें करने की इच्छा प्रकट की थी और उस सिलसिले में उसे शाम को खाने पर निमंत्रित किया था।

"तो क्या इरादा है?" मैंने पूछा।

"इरादा तो ठीक है, पर धोबी साला दूसरी पतलून नहीं दे गया।"

"तो बगैर पतलून के कैसे जाओगे?"

"इसी पतलून को प्रेस करता हूँ।"

"खैर कमीज़ धुली हुई हो तो मैली पतलून साथ चल जाती है।"

"सो तो है, मगर जो कमीज़ धुली हुई है, वह कंधे के पास से फट रही है।"

"फिर?"

"ऊपर कोट पहनना पड़ेगा।"

बुलावा साढ़े सात बजे का था, मगर भाटिया पतलून प्रेस करके, जूते चमकाकर और शेव करके साढ़े छः बजे ही तैयार हो गया। नीचे जाकर वह दो पैसे में ईवनिंग न्यूज़ ले आया और उसे लिए हुए पौन घंटा कमरे में चहलकदमी करता रहा। सवा सात बजे वह शीशे पर आखिरी नज़र डालकर चला गया।

रात को वह मेरे आने से पहले ही लौट आया था। मैंने देखा कि उसके होंठ फैल रहे हैं और गालों में चिकनाई भर रही है। वह व्यस्ततापूर्वक 'लाइफ' के नये अंक में से तस्वीरें काट रहा था।

"यह क्या सनक है भाटिया साहब?" मैंने बैठते हुए पूछा।

"अपनी आनेवाली जिंदगी की रूपरेखा बना रहा हूँ," वह बोला।

"तस्वीरें काटकर?"

भाटिया ने होंठ सिकोड़कर सिर हिलाया और बोला, "तुम्हें पता है छः महीने बाद मेरी जिंदगी क्या होगी?"

मैंने चेहरा गम्भीर बना लिया।

"एक ऐसा ड्राइंग रूम," और भाटिया ने ड्राइंग रूम की कटी हुई तस्वीर मेरे हाथ में दे दी।

"एक ऐसी कार", और उसने ब्युक कार की कतरन मेरी ओर बढ़ा दी।

"और यह लड़की!" और उसने पल भर प्यार की नज़र से देखकर वह चित्र मेरी ओर बढ़ाया। वह रीता हेवर्थ का एक फ़िल्मी पोज़ था।

"रीता हेवर्थ तुम्हें कहाँ मिलेगी?" मैंने पूछा।

"यहीं बंबई में—और एक नहीं दस-दस। सिर्फ़ पैसा चाहिए।"

"और पैसा कहाँ से तशरीफ़ लाएगा ?"

भाटिया ने अंगुली से अपना माथा खुजलाया।

"इस दिमाग से।"

"तब तो मिल गयी तुम्हें रीता हेवर्थ !" और मैं उठने लगा।

"अरे बैठो तो सही !" भाटिया आग्रह के साथ बोला, "हम लोग रेस का निकाल रहे हैं।"

"हम लोग कौन ?"

"कैप्टेन केशव और मैं। उनका पैसा होगा और मेरा दिमाग। उन्हें मेरे कैल्कुलेशन पर बहुत विश्वास है। तुम भी देख लेना, जिस घोड़े पर पेंसिल रख दूँगा, वही जीतेगा।"

फिर उसने 'लाइफ' में से एक रेडियोग्राम की तस्वीर काटकर ड्राइंग रूम के साथ रखते हुए कहा, "एक बात और भी है।"

"क्या ?"

"यह लीना है न ?"

"हाँ।"

"वह मेरी तरफ कुछ···मेरा मतलब है कि कुछ ऐसी बात है और मैं भी उस पर विचार कर रहा हूँ।"

"तब तो वे लोग खासा इन्वेस्टमेंट कर रहे हैं !"

भाटिया पल भर गम्भीर रहा। फिर बोला, "भई कल्चर्ड तो वह है, पर सौंदर्य की दृष्टि से जरा साधारण है। अपने अब के स्टैंडर्ड से तो ठीक है, पर बाद के स्टैंडर्ड से···खैर, ठीक ही है।"

"यह बाद का स्टैंडर्ड कब से शुरू हो रहा है ?"

"देखते चलो," वह बोला, "साल भर में हमारा फ़ोर्ट में दफ़्तर खुल जाएगा। चार-चार चपरासी होंगे और एंग्लो-इंडियन लड़कियाँ टाइपिस्ट होंगी। बाहर बोर्ड लगा होगा—के० सी० भाटिया, एस्क्वायर। ताज में डांस हुआ करेंगे और क्रिकेट क्लब में डिनर।"

"फ़िलहाल दफ़्तर कहाँ खुल रहा है ?"

"फ़िलहाल यहीं," उसने कमरे में चारों ओर नजर दौड़ायी, "यहाँ पार्टीशन लगा देंगे। एक हिस्सा बॉस का कमरा हो जाएगा। वहाँ मैं बैठूँगा। दूसरे हिस्से में एक टाइपिस्ट बिठा देंगे। ड्योढ़ी में वेटिंग-रूम हो जाएगा। रहा कैप्टेन केशव का सवाल, सो उनके लिए···" और वह गंभीर होकर बॉथरूम की तरफ़ देखने लगा।

"काम शुरू किस दिन कर रहे हो ?" मैंने पूछा।

भाटिया ने इस अन्दाज से छत की ओर देखा जैसे सवाल का जवाब वहाँ लिखा हो, और फिर बोला, "पहली तारीख को।"

दूसरे दिन भाटिया का कैप्टेन केशव के यहाँ चाय पर निमंत्रण था, और

उन्हीं के साथ रात को उसका पिक्चर देखने जाने का प्रोग्राम था। उस रात को वह पिक्चर के बाद उन्हीं के घर पर रह गया। अगले दिन सुबह वह जल्दी ही लौट आया और आते ही पलंग पर सीधा लेट गया। फिर एकाएक उठकर शीशे के सामने चला गया। शीशे में चेहरा देखकर वह फिर बिस्तर पर पड़ गया।

"देखो, मुझे बुखार तो नहीं है ?" उसने अपना दायाँ हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया।

"क्यों, रात को उन्होंने मुर्ग-उर्ग खिला दिया है क्या ?"

"नहीं," वह बोला, "दरअसल बात यह है कि उनका बिस्तर बहुत गर्म, गुदगुदा और मुलायम था। मुझे सारी रात नींद नहीं आयी। ऐसे लगता रहा, जैसे हल्का-हल्का बुखार चढ़ रहा हो।"

"खैर, जिस्म में तो बुखार नहीं है !"

भाटिया ने ठंडी साँस ली और करवट बदलकर बोला, "बुखार हो जाता तो कोई खबर करने तो आता !" और वह धीरे-धीरे मीरा का गीत गुनगुनाने लगा, "पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे, नाची रे, नाची रे···"

"कहीं इस गीत का बुखार तो नहीं है ?" मैंने पूछा।

"यह गीत उसने रात को सुनाया था !" और वह फिर सीधा हो गया।

"अच्छा गाती है ?"

"अच्छा ? अरे, कुछ पूछो मत···उसके होंठ बिलकुल रीता हेवर्थ से मिलते हैं।"

"तो फिर से कुछ आशा ?"

"आशा ?" वह मुसकराया और उसकी आँखें रोमियो की तरह भावपूर्ण हो उठीं।

अगले दिन से भाटिया की मेज पर घोड़ों की सूचियों, घुड़दौड़ सम्बन्धी पुस्तकों और छोटे-बड़े अखबारों का ढेर लग गया। भाटिया दिन भर पेंसिल से सिर खुजलाता रहता और पूना और बंबई की पिछली रेसों के परिणाम मिलाता रहता। शाम को वह कैप्टेन केशव के यहाँ चला जाता और वहाँ से लौटने पर उसे आधी रात तक फिर वही बुखार चढ़ा रहता।

इतवार की दोपहर को मैं भाटिया को किशमिश, चिलगोजों और कागजों के बीच काम करते छोड़कर एक मित्र के यहाँ खाना खाने चला गया। बाद दोपहर जब मैं लौटकर आया तो सारे कमरे में धुआँ भर रहा था। मैंने देखा कि भाटिया बाल्कनी में बैठा आग में कागज जला रहा है। जले हुए कागज कमरे में इधर-उधर फैल रहे थे।

"घर जलाने के लिए इतनी सिरफोड़ी करने की क्या जरूरत है ?" मैंने बाल्कनी की ओर बढ़ते हुए कहा, "वैसे ही तेल छिड़ककर दियासलाई दिखा देते।"

"मैं सिर्फ कागज जला रहा हूँ," वह बोला।

"हाँ, तुम सिर्फ कागज जला रहे हो, बाकी सब कुछ कागज जला देंगे।"

अब भाटिया को भी खतरे का अहसास हुआ। वह बाल्कनी का दरवाजा बंद करके जूते से जलते हुए कागजों को मसलने लगा। इस चेष्टा में उसकी पतलून का एक पहुँचा जल उठा। भाटिया चीखकर बाल्कनी के फर्श पर बैठ गया। बाकी कागजों को मैंने जूते से मसल दिया। मैंने देखा कि भाटिया की सप्ताह भर की मेहनत उन अधजले कागजों में झाँक रही है।

"यह क्या किया, भाटिया ?" मैंने पूछा।

भाटिया जले हुए मांस पर मरहम लगा रहा था। उसे मलता हुआ बोला, "मुझे आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए।"

"वह तो खैर बाद की चीज है," मैंने कहा, "पहले यह बताओ कि हुआ क्या है ?"

"होना रह क्या गया है ?" वह तीव्रता के साथ बोला।

"कुछ बताओगे भी ?"

"बताना क्या है, मैं कुचला गया, मारा गया, दफना दिया गया।"

मैंने उसे गौर से देखा।

"नजर तो सही-सलामत आ रहे हो।"

"नजर आ रहा हूँ न !"

"बहरहाल यह भी बता दो कि किस तरह मारे और दफना दिये गये ?"

"कैप्टेन केशव का दिल्ली तबादला हो गया है।"

मैं भी फर्श पर बैठ गया क्योंकि वाकई मातम का मुकाम था।

"वह कब जा रहे हैं ?"

"अगले सप्ताह।"

"और रेस कार्ड ?"

भाटिया ने जले हुए कागजों की ओर संकेत कर दिया।

"लीना भी जा रही है ?"

भाटिया ने मरहम की डिब्बी बन्द की और एक ठण्डी साँस ली। फिर बोला, "वह भी चली जाय तो कम-से-कम जहर खाना तो आसान हो जाय।"

हवा के झोंके से बहुत-सी कालिख उड़कर कमरे में फैल गयी। उसी समय दरवाजा खोलकर गोपूमल ने प्रवेश किया।

"रुपये लाया है ?" उसने आते ही पूछा। फिर उसने आस-पास फैली कालिख को देखकर नकारात्मक भाव से सिर हिलाया।

"अभी नहीं !" भाटिया बाहर की तरफ देखने लगा।

"आज भी नहीं ?"

"नहीं।"

"किसी दिन देगा भी ?"

"जिस दिन होंगे, दे दूँगा।"

"होंगे किस दिन ?"

इस सवाल पर भाटिया चुप रहा।

गोपूमल मुझे लक्षित करके बोला, "इस शख्स का भेजा खराब है।"

"मेरी तकदीर खराब है !" भाटिया ने संशोधन किया।

"एक ही बात है !" गोपूमल ने निष्कर्ष निकाला। फिर क्षण भर रुककर बोला, "मेरी बात मान और ब्याह कर ले। लड़की मिलेगी, साथ तीन हजार रुपया मिलेगा, और कपड़े-लत्ते मिलेंगे। बोल, करूँ बात ?"

"मैं ब्याह करूँगा, मैं ?" भाटिया की आँखें चमक उठीं, "मैं ब्याह करूँगा, जब तीन हजार रुपया मेरी रोज की आमदनी होगी। एक गोपूमल मेरे आगे चलेगा और एक पीछे। दो सौ रुपया मेरे लिए दो कौड़ी के बराबर है। मुझे तेरी दो कौड़ी देनी हैं, जब चाहूँगा, फेंक दूँगा।"

"तो अभी क्यों नहीं फेंक देता दो कौड़ी ?" गोपूमल भी जरा गर्म हुआ।

"अभी मेरे पास नहीं है।"

"तो कब होंगी ?"

"कह नहीं सकता !" और वह शीशे के सामने जाकर कंघी करने लगा। गोपूमल भी उसके पीछे जा खड़ा हुआ।

"क्या बात है ?" भाटिया खीझकर बोला।

"कुछ नहीं, तेरी सूरत देख रहा हूँ।"

"मेरी सूरत में देखने को क्या है ?"

"यही तो मेरी समझ में नहीं आता !" कहता हुआ गोपूमल सीढ़ियों में पहुँच गया। आधी सीढ़ियों से उसकी आवाज आयी, "घर में नहीं भूसा, नाम मेरा मूसा !"

कुछ दिन बाद मुझे भाटिया का फ्लैट छोड़ देना पड़ा क्योंकि भाटिया वह फ़्लैट एक मारवाड़ी को देकर पाँच हजार रुपया पगड़ी प्राप्त करने की सोच रहा था। उसके बाद छः महीने तक मेरी भाटिया से मुलाकात नहीं हुई। फिर एक दिन अचानक वह मुझे एक पुस्तकों की दुकान में मिल गया। वह तीन पुस्तकें बेचने के लिए लाया था। मैंने पुस्तकों के नाम देखे—बाल-रूम डांसिंग, आर्ट आफ् पब्लिसिटी और इंश्योरेंस गाइड। दुकानदार ने तीनों पुस्तकों के तीन रुपये देने को कहा।

"तीनों पुस्तकें बिलकुल नयी हैं," भाटिया ने तर्क किया।

मगर दुकानदार कुछ न कहकर दूसरे ग्राहक से बात करने लगा।

"चार रुपये दोगे ?" भाटिया ने पूछा।

मगर दुकानदार दूसरे ग्राहक से बात करता रहा।

"अच्छा लाओ, साढ़े तीन में सौदा कर लेते हैं," भाटिया बोला।

मगर दुकानदार ने ध्यान नहीं दिया।

"ख़ैर लाओ, तीन ही रुपये दे दो, मामूली बात है !" और उसने किताबें

आगे बढ़ा दीं।

दुकानदार ने चुपचाप किताबें उठाकर तीन रुपये निकालकर दे दिये। मैं भाटिया के साथ ही दुकान से बाहर आ गया। भाटिया के गालों पर खुश्की जम रही थी, पतलून में क्रीज़ नाम की चीज़ थी ही नहीं, और कमीज़ का कालर सिरे से गायब था।

"क्या हाल-चाल हैं, भाटिया?" मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर पूछा।

"फ़ाइन!" और वह होंठों पर अधूरी-सी मुसकराहट ले आया।

"किताबें क्यों बेच रहे थे?"

"यूँ ही, ज़रा पैसों की ज़रूरत थी।"

"किताबें तो तीनों जोरदार थीं। इन दिनों बाल-रुम डांस सीखते रहे हो क्या?"

"दो-एक दिन के लिए गया था।" और उसकी मुसकराहट गायब हो गयी।

"फिर?"

"लड़की के साथ नाचा नहीं गया, छोड़ दिया।"

"और पब्लिसिटी का क्या चक्कर था?"

"पब्लिसिटी ब्यूरो में नौकरी मिलने की उम्मीद थी।"

"फिर?"

"नहीं मिली।"

"बड़ा अफ़सोस है, और कुछ किया?"

"हाँ, एक इंश्योरेंस कंपनी की एजेंसी ली थी।"

"कोई केस मिला?"

"एक दोस्त का केस था, पाँच हजार का···"

"फिर?"

"उसकी बीवी नहीं मानी।"

"तो आजकल क्या कर रहे हो?"

"आजकल? आजकल आराम कर रहा हूँ।"

चलते-चलते हम फ़्लोरा फ़ाउंटेन के ट्राम स्टैंड के पास पहुँच गये थे। भाटिया वहीं पर रुक गया।

"किधर जा रहे हो?" मैंने पूछा।

"होटल जा रहा हूँ," वह बोला।

"किस होटल में रहते हो?"

"इम्पीरियल गेस्ट हाउस में।"

"अपना फ्लैट दे दिया?"

"हाँ!"

"तो उसके पगड़ी के रुपये नहीं मिले?"

"उसके पाँच हजार रुपये मिले थे।"

"तो फिर ये किताबें क्यों बेच रहे थे?"

"वे रुपये सब खर्च हो गये।"

"क्या...? तुमने छः महीने में पाँच हजार रुपये खर्च कर दिये?"

"मैंने क्या कर दिये, अपने-आप हो गये।"

"अपने-आप हो गये?"

"कुछ रेस में चले गये, कुछ कर्जा चुकाने में और कुछ होटल के बिल देने में। होटल का इस महीने का बिल अभी बाकी है।"

"तो उसके लिए यह जिस्म नीलाम होगा?"

"नहीं, अँगूठी और घड़ी बेचूँगा?"

उसकी घड़ी और अँगूठी की तरफ मेरा ध्यान पहले नहीं गया था। अँगूठी के नग पर सुनहरे अक्षरों में लीना का नाम लिखा था।

"लीना के लिए बनवायी थी," भाटिया ने बिना पूछे ही बतला देना उचित समझा।

"फिर दी नहीं?"

"नहीं...वह..."

"नहीं वह क्या?"

"नहीं, उसने कहा कि वह सगाई की अँगूठी के अलावा और अँगूठी पहनना पसंद नहीं करती।"

"तो तुम लोगों की सगाई हो गयी? कब हुई?"

भाटिया क्षण भर दक्षिण की ओर देखता रहा और फिर होंठों को जबान से गीला करके बोला, "मेरी सगाई अभी इसी महीने हुई है...उसकी सगाई हुए दो साल हो गये।"

"क्या?" मेरा चेहरा विस्मय से प्रश्नसूचक-सा बन गया।

"उसकी सगाई हवाई सेना के एक अफसर के साथ हो चुकी है।"

"पर तुम तो कहते थे कि..."

भाटिया ने निचले होंठ को दाँतों से जरा-सा चबा लिया।

"कोल मोती रेस कार्ड! रेस कार्ड कोल मोती!" यह आवाज सुनकर वह सहसा चौंक गया। रुपये-रुपये के तीन नोटों में से सबसे घिसा हुआ नोट निकालकर उसने दोनों कार्ड खरीद लिये और उसकी नजर घोड़ों की सूचियों पर दौड़ने लगी।

"अब भी रेस पर जाने का इरादा है?" मैंने पूछा।

भाटिया ने सिर्फ़ सिर हिलाया।

"इतना पैसा गँवाकर भी?"

भाटिया का चेहरा सख़्त हो गया।

"जो गँवाया है, सब वापस आ जाएगा।"

"किस रास्ते से आएगा।"

"जिस रास्ते से गया है, उसी रास्ते से।"

"और उसे लाने के लिए पैसा···?"

"वह भी आ रहा है, पंद्रह दिन के अंदर!"

"क्यों, कोई लॉटरी निकल रही है?"

"नहीं, ब्याह जो हो रहा है! तीन हजार रुपया मिलेगा।"

मेरा ध्यान उसके माथे की फूली हुई नसों की ओर चला गया।

"और साथ लड़की मिलेगी?"

भाटिया ने सिर हिलाया, जैसे सचमुच ब्याह तीन हजार रुपये से हो रहा हो और लड़की दहेज में आ रही हो।

"और गोपूमल?"

भाटिया ने आश्चर्य के साथ सिर उठाया।

"वह आगे चलेगा कि पीछे?"

भाटिया के चेहरे पर खिसियानेपन की मुसकराहट व्यक्त हो आयी।

"लड़की देख ली?"

"देख लूँगा, लड़की का क्या है?"

ट्राम आकर खड़ी हो गयी थी। भाटिया ने हाथ बढ़ा दिया। मैंने उसका हाथ दबाकर पूछा, "तो कब हो रहा है ब्याह?"

"इसी महीने!"

"और पार्टी कब दे रहे हो?"

ट्राम झटके से चल पड़ी और भाटिया भागकर उस पर सवार हो गया। चलती ट्राम से उसने हाथ हिलाते हुए उत्तर दिया, "पहली तारीख को!"

और ट्राम के ज़रा आगे निकलते ही उसकी आँखें फिर रेस-कार्ड पर स्थिर हो गयीं।

चिरकुमारी सभा

मोहनलाल गुप्त

●

श्री मोहनलाल गुप्त का जन्म सन् १९१४ में हुआ था। आप काव्य-क्षेत्र में 'भैयाजी बनारसी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सन् १९३९ में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० किया। आजकल काशी के 'आज' दैनिक के साहित्य-विभाग के सम्पादक-पद पर कार्य कर रहे हैं। हिन्दी के हास्य साहित्य क्षेत्र में आपका विशिष्ट स्थान है। कहानियों के अतिरिक्त आप हास्य कविताएँ, नाटक, निबन्ध आदि भी लिखते हैं। आपने बालोपयोगी साहित्य भी लिखा है।

रचनाएँ

'दो काली-काली आँखें', 'मखमली जूती', 'चिरकुमारी सभा', 'राम झरोखा', 'अरबी न फारसी', 'बनारसी रईस', 'अनदेखे चित्र अनबोले चेहरे', आदि।

रामप्रसाद भवन, ९/४ चेतगंज, वाराणसी : १

“देखिए आप रेडियो बंद कर दीजिए।”

अविवाहित तरुणों को आजकल मकान की अपेक्षा अर्धांगिनी अधिक सुगमता से मिल जाती है। किसी बड़े शहर में आपको रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो तो आप कुमार तरुणों की निवास-समस्या से अवश्य परिचित होंगे। जब मैं दिल्ली आया तो मुझे भी मकान की मुसीबत का सामना करना पड़ा। दर्जनों मकान-मालिकों की 'नो वेकेंसी' और 'मकान खाली नहीं' की झूठी तख्तियों से टकराने के बाद मुझे वर्तमान निवास सुलभ हुआ था। इसे परमात्मा की देन समझकर मैंने अपने भाग्य को धन्यवाद दिया। जिस सहृदय मित्र ने कृपा कर मुझे अपने बंगले में सहवासी बनाया था वह भी अविवाहित थे। हम दोनों पुष्पपल्लवहीन ठूँठ—एक साथ, एक ही बंगले में रहने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पर अचानक मेरे मित्र का, जो आबकारी विभाग के कर्मचारी थे, किसी दूसरे नगर में तबादला हो गया। मेरी मुसीबत की कहानी यहीं से प्रारंभ होती है।

मित्र के जाते ही मैंने पूरे बंगले पर आधिपत्य जमा लिया। दूसरे ही दिन से तरह-तरह की मुखमुद्रा, वेशभूषा के व्यक्ति संभावित किरायेदार के रूप में बंगले के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगे। अगर मैं कुमारी होता तो सबको आवारा-लोफर समझ कर बंगले के बाहर खदेड़ देता। पर मैं पुरुष था—सज्जनता का आवरण त्याग नहीं सकता था। पुरुषों की इसी विवशता का कुछ कुमारिकायें नाजायज फायदा उठाती हैं।

बंगले के अर्धांग किरायेदार मित्र के चले जाने के बाद कोई दिन ऐसा न बीता कि खाली कमरे और मकान का किराया पूछने के लिये, बंगले का निरीक्षण करने के लिये पुनर्वास के इच्छुक सज्जन न पहुँचे हों। अपने एकांतवास, चिन्तन और मनन में खलल पड़ते देख मैंने बंगले के बाहर 'आउट' की तख्ती लगा दी। पर लाल सिग्नल की भी उपेक्षा कर एक देवीजी धड़धड़ाती हुई बंगले के अन्दर घुस आयीं।

"इसमें कौन साहब रहते हैं?"

"जी फरमाइये।"

"आप ही रहते हैं?"

"जी, क्या सेवा करूँ?"

"आपका परिवार भी साथ है?"

"जी नहीं, दुर्भाग्य से मैं तो अकेला ही हूँ।"

"तब तो मुश्किल है।"

"कोई और बंगला देख लीजिये।"

"यही बंगला मेरे नाम अलॉट हुआ है। मकान की बड़ी कठिन समस्या है। हाँ, आप क्या करते हैं?"

"लेखक हूँ।"

"और कोई काम नहीं करते?"

"लिखना-पढ़ना कोई काम नहीं क्या?"

"मेरा मतलब नौकरी से था?"

"आप क्या करती हैं?"

"मैं तो प्रोफेसर हूँ।"

"मकान पसन्द आया आपको?"

"अच्छा तो है। इसमें पार्टिशन लगाना पड़ेगा। हाँ, आपकी शादी हो चुकी है?"

"जी नहीं, और आपकी?"

"क्या मतलब?"

"मैंने वही प्रश्न किया जो आपने किया था।"

"मैं भी अविवाहित हूँ। देखिए, बंगला मुझे पसंद आ गया है। आप ऐसा नहीं कर सकते कि आपके लिये कोई दूसरा निवास का प्रबंध करा दूँ तो आप बंगला मेरे लिये खाली कर दें?"

"जो आप कहें तो बंगला ही नहीं, यह शहर छोड़ दूँ, यह दुनिया छोड़ दूँ!"

"जी···अच्छा नमस्ते!"

मेरी बंगले की सहवासिनी पड़ोसिन देवीजी से यह मेरा प्रथम परिचय था।

दूसरे दिन ही देवीजी कई गाड़ी सामान-फरनीचर लादे बंगले में आ धमकीं। मैं चुपचाप अपने कमरे में जा घुसा। रविवार का दिन था। दिन भर बगल के कमरों में भूतों की धमाचौकड़ी-सी मची रही। शाम को बाहर निकला तो देखा पोर्टिको का लकड़ी के पार्टिशन से विभाजन हो गया है। बंगले के बाहर एक ओर कुमारी मेनका, एम० ए० की तख्ती लटक रही थी। मैं फाटक पर खड़ा मेनकादेवी के नाम की सार्थकता और योग्यता पर विचार कर रहा था कि आधा दर्जन देवियों का एक गिरोह बंगले के अन्दर घुस आया। साड़ियों, सलवारों की सरसराहट, सैंडिलों की खटपट और अँग्रेजी वार्तालाप का ऐसा रोब गालिब हुआ कि मैं पुनः अपने कमरे में वापस लौट आया। बगल में कमरों से कोकिल कंठों का कलरव आकाशवाणी की तरह गूँज रहा था। संवाद साफ सुनाई दे रहा था :

"मेनका दीदी, बगल के कमरे में कोई जानवर पाल रखा है क्या?"

"चेहरे से तो पालतू मालूम होता है, पर इन मरदूदों का क्या विश्वास!"

"कहो तो मुआइना किया जाय?"

"नहीं, बहन, रहने दो। आज पहला दिन है। आओ, लो चाय पियो।"

"मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया। हवाई हमला होते-होते रह गया। खोपड़ी

की खैर मनाते हुए अपने बारे में सुनी हुई प्रशस्ति को भूलने के लिये मैंने रेडियो का सहारा लिया। सीलोन रेडियो गा रहा था—'हम आज कहीं दिल दे बैठे।' मै आँखें मूँदे गीत की अनुभूति तक पहुँचने का प्रयास कर रहा था कि अचानक सैंडिलों की खटपट ने मुझे चौंका दिया।

"देखिये आप रेडियो बन्द कर दीजिये।"

"क्यों ?"

"बगल में शरीफ महिलायें रहती हैं। आप इस तरह के बाजारू गन्दे गाने नहीं बजा सकते।"

"देखिये मेरा मकान, मेरा रेडियो और मेरी तबीयत—इन सबका मालिक मैं हूँ। मुझे अपने घर के अन्दर रेडियो से फिल्मी गाने सुनने का अधिकार भारतीय संविधान से प्राप्त है।"

"मैं कहती हूँ आप हर वक्त रेडियो नहीं बजा सकते !"

"माफ कीजियेगा—मेरा रेडियो चोरी का नहीं है। मैं इसका उपयोग जब जी चाहे जैसे भी कर सकता हूँ। अब आप जा सकती हैं—नमस्ते !"

सैंडिलों की खटपट हुई और देवियाँ गुस्से से बाहर चली गयीं। आज अपनी नयी पड़ौसिन का पहला दिन था। एक अध्याय समाप्त हो गया।

दूसरे दिन सुबह मैं बिस्तर के अन्दर ही समाचार-पत्र पाठन-क्रिया समाप्त कर उठने का उपक्रम कर ही रहा था कि मेनकादेवी दौड़ी हुई आयीं। मैं घबराया कि सुबह-सुबह ही आफत आई।

"आपने कोई कुत्ता पाला है ?"

"नही तो !"

"देखिये मेरा 'नेम प्लेट' मुँह में लिये कम्बख्त घूम रहा है। जरा पकड़िये उसे।"

"देखिये कुत्ता पकड़ने का मेरा कतई अभ्यास नहीं। आप नाहक परेशान होती हैं। नया-नया नाम है, परिचय प्राप्त कर रहा है।"

"आपको मज़ाक सूझ रही है! किसका कुत्ता है ? जी में आता है गोली मार दूँ।"

"मैं कुत्ते का मालिक होता तो बताता।"

मेनकादेवी पैर पटकती हुई चली गयीं। मैंने सन्तोष की साँस ली। यह सुबह-शाम की खटपट तो ठीक नहीं। पर चारा ही क्या था। मकान छोड़ नहीं सकता था। लाचार रोज शाम को मेनकादेवी की सहेलियों की वार्ता-गोष्ठी में अपनी प्रशस्ति सुनता। पुरुष समाज की निन्दा सुनते सुनते कान पक गये। लगता जैसे इन देवियों को पृथ्वी के सभी पुरुषों से शिकायत हो। अभी तक केवल मैं ही गाली का प्रिय पात्र था, अब पूरी पुरुष जाति को सम्बोधित किया जाने लगा तो मुझे सन्तोष हुआ कि मैं अकेला ही नहीं हूँ। बगल के बंगले की सन्ध्या-गोष्ठी में मुझे विशेष दिलचस्पी हो गयी। मैं दीवार में कान लगाये रोज सुनता रहता। इससे एक लाभ तो

हुआ कि नारी के सही दृष्टिकोण से मेरा परिचय हो गया। आधुनिक नारी पुरुष को किस दृष्टि से देखती है—इसका भी पता चल गया।

मेनकादेवी की गोष्ठी की कल की बैठक विशेष महत्त्वपूर्ण थी। इसमें एक नयी संस्था की स्थापना की गयी, जिसमें मेनकादेवी और उनकी सहेलियों ने चिर-कौमार्य का व्रत लिया। संस्था का नाम रखा गया—'चिरकुमारी सभा।' मेनका देवी अध्यक्ष चुन ली गयीं। दूसरे ही दिन फाटक पर एक और नयी तख्ती लटक गयी। उस मार्ग से आने-जानेवाले इन नयी तख्तियों को पढ़ते और मेरी ओर सन्देह से देखने लगते। मेरी स्थिति दयनीय हो रही थी। मेनकादेवी की सहेलियों ने बंगले के मेरे भाग में अनधिकृत आजादी भी बरतनी शुरू कर दी। मेरी गैर-मौजूदगी में मेरी तरफ की कुरसियाँ उठा ले जातीं। पूछने पर कहतीं, काम हो जाने पर लौटा दूँगी। कुरसी के अभाव में मुझे बिस्तर का सेवन करना पड़ता। कुर्सी-टेबुल ही नहीं, मकान के अन्य सामानों पर भी मेनकादेवी की सहेलियाँ हाथ साफ करने लगी। पुस्तकें गायब होने लगीं। अखबार उड़ने लगे। स्थिति असह्य हो गयी तो मैंने मित्रों की सलाह ली। मित्रों ने बिना मूल्य सलाह देने से इनकार कर दिया। लाचार होकर मित्र मण्डली को शाम को चाय पर आमन्त्रित करना पड़ा।

शाम को मित्रों का दल पहुँचा तो कुरसी नदारद। मैंने कहा, "कुरसी यहाँ ले आऊँ," तो मित्रों ने कहा—"नहीं, वहीं चलेंगे।"

मित्रों की मण्डली लिये जब मैं मेनकादेवी की बैठक में पहुँचा तो वहाँ सभा की बैठक चल रही थी। सभी सदस्याएँ इतने पुरुषों को देख घबरा उठीं।

"घबराइये नहीं," मैंने मेनकादेवी को सम्बोधित कर कहा—"मैंने अपने मित्रों को चाय पर आमन्त्रित किया था, पर मेरी कुरसियाँ, प्याले, तश्तरी और चाय सभी कुछ आपकी तरफ आ गये हैं। बड़ी कृपा होगी यदि आप लोग मेरी ओर से आतिथ्य का भार सँभाल लें।"

संकोचवश मेनकादेवी ने स्वीकृति दे दी। मित्र बैठ गये। देवियाँ उठ खड़ी हुईं। चाय के प्याले खनके। देवियों ने चाय ढाली। मित्रों ने एक-एक घूँट पीकर चाय की सराहना शुरू कर दी—

"ऐसी चाय तो जिन्दगी में मैंने पहली बार ही पी," एक मित्र ने कहा।

"एक प्याली चाय के लिये मैं पाँच रुपये दे सकता हूँ," दूसरे ने कहा।

"आप मेनकादेवी का अपमान नहीं कर सकते। उनकी चाय का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।" मैं भी क्यों पीछे रहता। साधारण नारी की तरह प्रशंसा सुनते ही मेनकादेवी गद्गद् हो उठीं। गालों पर सुरखी दौड़ आयी।

चाय की प्रशस्ति के बाद मित्र ने भूमिका बाँधी :

"देखिये मेनकादेवी, आपकी संस्था 'चिरकुमारी सभा' को देखकर हम लोगों ने भी एक 'चिरकुमार सभा' की स्थापना का निश्चय किया है। आप लोगों को कोई आपत्ति तो नहीं ?"

मेनकादेवी ने संकट की स्थिति देख सहेलियों की ओर देखा, पर उनमें से कोई भी न पिनकी। विवश मेनकादेवी ने कहा—"मुझे कोई एतराज नहीं।" चाय के लिये उन्हें एक बार पुनः धन्यवाद देकर हम लोग उठ आये।

दूसरे ही दिन बंगले के फाटक के दूसरी ओर 'चिरकुमार सभा' की तख्ती लटक गयी। 'चिरकुमार सभा' और 'चिरकुमारी सभा' की तख्तियों की चर्चा मुहल्ले भर में ही नहीं फैल गयी, अपितु वह नगर की चर्चा का विषय बन गयी।

शाम को मेरी तरफ दोस्तों का जमघट जुटने लगा। कवि-सम्मेलन, मुशायरा, फिल्म-स्टार चर्चा के अतिरिक्त अन्य बहुत से एजेण्डा के बाहर के विषयों पर भी वार्त्तायें होतीं। गप्प-गोष्ठी रात बारह बजे तक चलती।

अभी पूरा सप्ताह भी नहीं बीता था कि एक दिन प्रातःकाल मेनकादेवी आकर कहने लगीं—"आप से कुछ जरूरी बातें करनी हैं।"

मैंने बिस्तर से बाहर निकलकर उन्हें बिठाया और बोला—

"अब कहिये।"

"आपको यह रोज-रोज की गोष्ठी-वार्त्ता पसन्द है?"

"कतई नहीं।"

"तो कल से मैं अपनी गोष्ठी बन्द कर रही हूँ।"

"मैं भी अपनी मजलिस आज से ही समाप्त कर रहा हूँ।"

"मैं चाहती हूँ फाटक से ये तख्तियाँ भी हटा दी जायँ। आपकी क्या राय है?"

"मैं आपसे सहमत हूँ। दोनों तख्तियाँ आज ही मैं चूल्हे के हवाले करता हूँ।"

"देखिये हम दोनों एक ही बंगले में रहते हैं, यदि एक-दूसरे की सुख-सुविधा का ध्यान रखें तो कितना अच्छा हो!"

"मेनका जी, आप तो देवी हैं। आपके कारण किसी को क्या कष्ट हो सकता है।"

"देखिये मैं यह बीच का पार्टिशन हटा देना चाहती हूँ। आपको कोई आपत्ति तो नहीं?"

"दो हृदयों के बीच कोई दीवार रहनी भी नहीं चाहिये।"

मेनका जी चली गयीं, पर उनकी उदारता मेरे दिल-दिमाग में बस गयी थी। शाम को मित्र एकत्र हुए तो मैंने सिरदर्द का बहाना कर उन्हें धता बतायी। इधर मेनका जी ने 'तबीयत ठीक नहीं है' कहकर सहेलियों से छुट्टी ले ली।

सहेलियों का कहकहा फाटक के बाहर समाप्त होने के बाद मेरे पास आयीं।

"आपके सिरदर्द है, लाइये दाब दूँ।"

"आप क्यों कष्ट करेंगी।"

पर मेनकादेवी नहीं मानीं। उनकी सुकुमार अंगुलियाँ मेरे केशों को सहला रही थीं। मैं किसी और दुनिया में पहुँच चुका था।

दूसरे दिन शाम को 'चिरकुमार सभा' और 'चिरकुमारी सभा' के सदस्य और

सदस्यायें निश्चित समय पर सभा-स्थान में पहुँचें—इसके पूर्व ही उनके पास एक निमन्त्रण-पत्र पहुँच गया—

प्रिय मित्र,

हम दोनों ने कौमार्य व्रत भंग कर दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करने का निश्चय किया है। आपका आशीर्वाद अपेक्षित है।

—मेनका, एम० ए० —मोहन, एम० ए०

जिन मित्रों को विधिवत् सूचना न मिली हो, वे इसी को निमन्त्रण समझकर विवाह में सम्मिलित होने की कृपा करें।

मुझे लड़ाई चाहिये

योगेन्द्रकुमार लल्ला

●

श्री योगेन्द्रकुमार लल्ला का जन्म सन् १९३७ में जिला मेरठ के मवाना कस्बे में हुआ था। आप में लेखक और चित्रकार का अपूर्व सामंजस्य उभरा है; किन्तु इधर आप प्रकृति से लेखक और व्यवसाय से चित्रकार बने हुए हैं। आपने चित्रकला में बम्बई तथा लन्दन की परीक्षाएँ भी विशेष योग्यता के प्रमाण-पत्रों सहित उत्तीर्ण की हैं।

हास्य आपकी कहानियों और कविताओं का ही नहीं, वरन् व्यवहार और आचरण का भी स्वाभाविक गुण है। हिन्दी कवि-मंच पर हास्य-कवि के रूप में भी खासी लोकप्रियता अर्जित कर चुके हैं।

आजकल मैसर्स आत्माराम एण्ड संस से सम्बद्ध हैं। आपकी रचनाएँ, ललित-चित्र तथा व्यंग्य-चित्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

रचनाएँ

'हफ्ते की हैरानी' आदि।

११९, तिहाई मोहल्ला, मवाना, मेरठ

"मैं कहती हूँ, जो कुछ कह रहे हो सोच-समझकर कहो..."

गृहस्थ-मनोविज्ञान की एक दस आनेवाली पुस्तक पढ़कर मैंने कुछ महत्त्वपूर्ण नवीन तथ्य इस संसार को प्रदान किये हैं, जिनका श्रेय मेरे मरने के बाद मुझे अवश्य मिलेगा ऐसा मेरा विश्वास है। उनमें से कुछ आपकी जानकारी के लिए यहाँ दे रहा हूँ। मेरी खोजों पर चलनेवाला मोटा आदमी सींक की तरह पतला हो सकता है और पतला आदमी फुटबाल की तरह गोल, लेकिन शर्त यह है कि वह विवाहित हो। अविवाहित लोगों पर इसका कोई असर न होगा।

जिन व्यक्तियों की पत्नियाँ लड़ाकू होती हैं उनमें ९० प्रतिशत लोग मोटे होते हैं; और जिनकी पत्नी कभी नहीं लड़ती उनमें भी ९० प्रतिशत लोग पतले होते हैं। लेकिन लड़ाकू पतियों की पत्नियाँ सदैव मोटी होती हैं और न लड़नेवालों की पत्नियाँ प्रायः पतली। मोटे व्यक्ति का पतला होना अपेक्षाकृत कुछ कठिन है क्योंकि पत्नी का लड़ना छुटाने के लिए उन्हें अपनी आर्थिक आय को लॉटरी पर रखकर घुमाना पड़ेगा—ऐसी लॉटरी जिसमें तीन भाग पत्नी के होंगे और एक भाग आपका। पतले व्यक्ति मोटा होने के लिए अपनी पत्नियों को लड़ना सिखा सकते हैं।

मैं मानता हूँ, मेरी बातों पर अविश्वास करने का आपको पूरा अधिकार है। लेकिन मैं यह भी जानता हूँ कि कहानी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मेरी बातों पर विश्वास करने को आपका मन कर उठेगा। चार-पाँच वर्ष पूर्व जब मैंने इन तथ्यों की खोज की थी, मैं बहुत पतला-दुबला अविवाहित था और अपने ही आकार से मिलती-जुलती छोटी-मोटी कहानियाँ लिखा करता था।

एक दिन ओल्ड सेक्रेटेरियट में अपने मित्र से मिलकर मैं काश्मीरी गेट की ओर आ रहा था। दो बजे थे। गर्ल्स कालिज की छुट्टी हो गई थी और अन्दर का सारा रंग बाहर सड़कों पर बिखर गया था। रंग, जो महक रहा था, चहक रहा था; रंग, जिस पर दृष्टि फिसल-फिसल जाती थी; रंग, जो पारदर्शक थे, सुनहरे थे। बस स्टॉप पर भीड़ थी और नीली आँखें बस की राह देख रही थीं। पसीने से मेरा रूमाल भीग गया था। कुछ उसे सुखाने और कुछ अपने को धूप से बचाने के विचार से मैंने उसे दायें हाथ में सिर के ऊपर उठा रखा था।

"ओ, टुन्नी! तूने कभी झण्डा देखा है—अपने आप चलता हुआ झण्डा?" बस स्टॉप से एक आवाज आई।

"कैसा झण्डा?" शायद टुन्नी थी।

"अरी झण्डा, तिरंगा झण्डा, लाल झण्डा, नारंगी झण्डा, सफेद झण्डा; देख एक 'झण्डा' सड़क पर जा रहा है। बाँस, और बाँस के ऊपर कपड़ा!" इस आवाज के

साथ मेरी ओर एक संकेत हुआ; फिर हँसी, जिसमें लगभग एक दर्जन आवाजें सम्मिलित थीं।

यह था मेरे पतलेपन का उपहास, जिसने मुझे यह सोचने पर विवश कर दिया कि मैं आवश्यकता से अधिक पतला हूँ। उसी दिन गृहस्थ मनोविज्ञान की वह पुस्तक मेरे हाथ लगी जिसे पढ़कर मैंने इस नवीन तथ्य की खोज की थी कि मोटा होने के लिए एक पत्नी की आवश्यकता है जो रात-दिन लड़ाई कर सके।

कभी-कभी जीवन में ऐसा क्षण आता है जब मुख से निकली या सोची हुई बात तत्काल पूर्ण हो जाती है। घर पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि माताजी ने पड़ौस में रहनेवाली राधा चाची की भांजी से मेरा ब्याह करने का आज वचन दे दिया है और यह भी कि इन्हीं जाड़ों में विवाह होगा। पहले तो मैं एकाएक बौखलाया, पर जब आँखों के सामने बार-बार 'झण्डा' लहराने लगा तो मैंने स्वीकृति दे दी। यह सच है कि भगवान् छप्पर फाड़कर देता है लेकिन यह भी सच है कि भगवान् को गधे और घोड़े की पहचान नहीं है; वह गधे की जगह घोड़े को भी मार देता है। हुआ यह कि विवाह तो जाड़ों में हो गया लेकिन श्रीमतीजी ऐसी मिलीं जिनका लड़ाई से कोई परिचय ही नहीं था। मुसकान, हास और खिलखिलाहट का कोष जाने कहाँ से उठा लाई थीं। कड़वी बात कहो तो भी टाल जाती थीं। क्रोध करो तो प्यार से सटकर खड़ी हो जाती थीं।

इस प्रकार मेरी बनाई हुई समस्त योजना छिन्न-भिन्न हो गई थी और 'झण्डे' का डण्डा लम्बा ही लम्बा होता जा रहा था। सोचा करता था जब कालिज में पढ़कर उन्होंने बी० ए० किया है तो जरूर चंचल होंगी। कभी वह रूठेंगी, मैं मनाऊँगा; कभी मैं रूठूँगा, वह मनायेंगी। मैं जब रात के बारह और एक बजे तक कहानियाँ लिखूँगा तो वह बार-बार बिजली बुझाकर मुझे सो जाने के लिए बाध्य करेंगी। जब अपनी अव्यावहारिकता के कारण मैं कहीं ठगा जाऊँगा तो वह मुझे फटकारेंगी या मेरा उपहास करेंगी। मेरे अस्त-व्यस्त और लम्बे बालों के लिए जरूर जिद करेंगी कि इन्हें कटा डालूँ। कपड़ों और कमरे की वस्तुओं के प्रति मेरी असावधानी पर उन्हें जरूर गुस्सा आयेगा, और नाश्ते के समय—"आया, अभी आया" कहकर मैं उस समय पहुँचूँगा जब चाय का पानी ठण्डा हो चुका होगा तो दोबारा गर्म करते हुए वह बहुत झुँझलायेंगी। प्रत्येक छुट्टी के दिन सिनेमा का प्रस्ताव रखेंगी और न ले जाने पर रात को दूसरी ओर करवट लेकर सोयेंगी। समय-असमय साड़ियों और जेवर के अभाव के प्रति भी सचेत करेंगी। यह भी बतायेंगी कि मुन्नी की भाभी ने तीन तोले का हार कब और कहाँ से खरीदा है; या जुगल की बहू नायलोन की साड़ी में चुड़ैल-सी लगती है, फिर भी उसके पास एक दर्जन साड़ियाँ हैं।

इन सभी कल्पनाओं के मूल में कहीं-न-कहीं लड़ाई के बीज अवश्य हैं। मुझे विश्वास था कि कभी-न-कभी विवाद या कटुता के जल से सिंचाई होने पर कहीं-न-कहीं अंकुर अवश्य फूटेगा। लेकिन अपनी तो किस्मत ही फूटी निकली। विवाह हुए छः

महीने भी बीत गये पर उनके मुख पर नाराजगी की हल्की-सी रेखा भी कभी न उभरी। नारी-वर्ग फैशन की वस्तुओं की ओर अधिक सचेष्ट रहता है पर उन्होंने कभी इन चीजों की भी माँग न की।

कभी-कभी बादल हट जाते थे और धीमी-धीमी एक आवाज आकाश में गूँजती थी···

"ओ टुन्नी! तूने कभी झण्डा देखा है—अपने आप चलता हुआ झण्डा?"

"कैसा झण्डा?"

"···देख सड़क पर एक 'झण्डा' जा रहा है। बाँस, और बाँस के ऊपर कपड़ा!"

अनेक बार स्मृति-चित्र से 'झण्डा' मिटा देने का मैंने असफल प्रयत्न किया। स्वयं कटुता का जल लड़ाई के बीजों पर छिड़का, पर कैसी धरती थी वह जहाँ से कठोरता नहीं, मुसकानें और खिलखिलाहटें ही उत्पन्न होती थीं। उनके पास प्यार का एक ऐसा आवेश था जो मेरी कठोरता को भाप बनाकर उड़ा देता था। पर 'झण्डा'···!

"ओ टुन्नी! तूने कभी झण्डा देखा है—अपने आप चलता हुआ झण्डा? देख सड़क पर एक 'झण्डा' जा रहा है। बाँस·····"

बस!

एक दिन मैं अड़ गया। वह बर्तन माँज रही थीं। छोटी-छोटी दो कटोरियाँ रह गई थीं। मैंने कहा—"इधर आओ! मेरी कमीज में यह बटन तो लगाओ जरा।"

"अभी आई एक मिनट में, तुम इतने में आलमारी से सूई-धागा निकाल लो; डिब्बे में रखा है।" उन्होंने कहा।

"यह कैसी आदत है तुम्हारी, एक बार में कुछ सुनती ही नहीं हो! उठो न जल्दी से; मुझे देर हो रही है और आपको हुक्म चलाने की सूझी है!" वास्तव में इतना कड़ुवा स्वर मेरे मुख से निकलेगा, ऐसी मुझे स्वयं आशा नहीं थी।

वह बोली नहीं, उठीं, हाथ धोए; पोंछे, फिर पास आईं। प्यार से मेरे माथे पर हाथ रखा, सहलाया और मेरे सीने से सट गईं। आँखों में तरलता उमड़ आई; बोलीं—"आपकी तबीयत तो अच्छी है न?"

"ठीक है; लेकिन तुम जाने अपने-आपको क्या समझती हो! तुम्हें उल्टी-सीधी बातें सूझ रही हैं; बटन नहीं लगाना तो वैसा कहो, बेकार मेरा वक्त खराब करने पर तुल जाती हो!" 'झण्डे' ने अपने हाथ से उन्हें दूर हटा दिया और 'मैं' चुपचाप खड़ा रहा।

फिर वह कुछ नहीं बोलीं। बटन लगाकर दे दिया।

एक दिन अखबार में एक समाचार प्रकाशित हुआ कि लखनऊ के एक छात्र गिरिराज को एक छात्रा से छेड़छाड़ करने के कारण दो महीने का कारावास दिया गया। गिरिराज श्रीमतीजी के छोटे भाई का नाम भी था। वह लखनऊ के मेडिकल कालिज में डॉक्टरी पढ़ रहा था। मैं जानता था कि आजकल वह अपने साथियों के साथ दक्षिण भारत के टूर पर गया हुआ है। दो-तीन दिन हुए, मैसूर से लिखा हुआ उसका एक पत्र मुझे मिला था। श्रीमतीजी को यह बात मालूम नहीं थी। समाचार

पढ़ते-पढ़ते ही 'झण्डे' के मस्तिष्क में एक योजना घूम गई। श्रीमतीजी को समाचार पढ़कर सुनाया। वह सन्न रह गईं। एक क्षण बाद बोलीं—

"नहीं, यह कोई और है, अपना गिरि ऐसा नहीं कर सकता।"

"क्यों नहीं कर सकता? और कोई गिरिराज ऐसा कर सकता है, तुम्हारा भाई गिरिराज ऐसा नहीं कर सकता, वाह! देवीजी! यह निश्चय ही अपना गिरि है। उसकी आदतें पहले से ही खराब थीं?" 'झण्डा' अकड़कर बोला।

"क्या कह रहे हो जी? गिरि का चरित्र मन्दिर की प्रतिमा की तरह पूजनीय है। पराई लड़की की ओर आँख उठाकर भी उसने आज तक नहीं देखा, छेड़ना तो बहुत दूर की बात है। आपको नहीं मालूम जब कभी मेरी सहेलियाँ घर आती थीं तो शर्म के मारे उनके सामने भी नहीं आता था।"

"अपने सड़े हुए माल को भी कोई बुरा नहीं बताता! ऊपर से देखने पर पता नहीं चलता कि बादाम कड़ुवा है या मीठा? बाहर से देखने पर तो मुझे भी गिरि ऐसा ही लगता था लेकिन वह इतना गिर सकता है, इसका मुझे अन्दाज भी न था।" 'झण्डा' चढ़ता चला गया।

श्रीमतीजी के होंठ फड़कने लगे थे। सख्ती से बोलीं—"बेकार की बातें मत करो! एक बार कह दिया कि यह अपना गिरि नहीं है।"

"हाँ, मैं तो हमेशा बेकार की बातें करता हूँ, काम की बातें तो तुम्हीं करती हो या तुम्हारे घरवाले! तुम्हारे कहने से गिरि अच्छा हो गया होता तो शायद मुझे भी खुशी होती। लेकिन बच्चा तो वही करता है जो अपने बड़ों से सीखता है। विवाह के पूर्व एक-दो बार तुम्हारे बड़े भाई के बारे में भी उड़ती-उड़ती सुनी थी, लेकिन मैं कभी ऐसी बातों पर न ध्यान देता हूँ और न कभी किसी से कुछ कहता हूँ।" मैं चुप खड़ा था और 'झण्डा' बोलता चला जा रहा था—"मुझे क्या पड़ी है? जो जैसा करेगा, भुगतेगा! गुण्डागर्दी करोगे तो जेल भी जाओगे!"

"मैं कहती हूँ, जो कुछ कह रहे हो सोच-समझकर कहो। पागलों की-सी बातें मत करो! यह सब झूठ है!"

"हाँ, मैं झूठा हूँ, मैं पागल हूँ, मेरा ही चरित्र खराब है—यही कहना चाहती हो न; और तुम्हारे भैया सब दूध के धोये हैं!" 'झण्डा' बहुँत ऊँचा हो गया।

"मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ। जबान सम्हालकर बात करो। मेरा यह मतलब कभी नहीं था।" अपने स्वर के सर्वोच्च सीमान्त से वह बोलीं।

"मतलब मैं तुम्हारा सब समझता हूँ। पर जो जैसा होगा उसे वैसा कहा भी जायेगा। हमें कोई क्यों बुरा नहीं कहता?"

"मुझे गुस्सा न दिलाओ, मैं कहे देती हूँ; नहीं तो फिर तुम्हें बुरा लगेगा।"

"बुरी लगनेवाली बात जरूर बुरी लगेगी लेकिन सच्ची बातों का बुरा मानना कोई तुमसे सीखे! अपने भैया की बातें तुम्हें भी बुरी नहीं लगनी चाहिएँ।"

"मेरे भैया जैसे हैं वैसे ही सही; पर जरा अपने भैया पर भी तो नजर डालो।

कभी कुछ कहा नहीं इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं कुछ जानती नहीं। तीन साल से क्यों इण्टर में लुढ़क रहा है इसका तुम्हें कुछ पता है ? मुझसे पूछो, घर से कालिज जाता है लेकिन कालिज तक पहुँचता नहीं; बदमाश लड़कों के साथ आवारा घूमता है। एक दिन राधा मौसी के साथ मैं बाजार जा रही थी तो रास्ते में कुछ लड़के अश्लील फब्तियाँ कसने लगे थे और उन लड़कों में आपके भाई साहब भी थे। शाम को आकर मेरे हाथ-पैर जोड़े—'भैया से मत कहना', लेकिन बिना कहलाये तुम्हें चैन भी तो नहीं मिलेगा ! और उसकी क्या ? अपनी ही बताओ—विमला कौन है जिसका फोटो मेज की दराज में कागजों के नीचे छिपाकर रख छोड़ा है, जिसका हर तीसरे दिन प्यारे कहानी लेखक को पत्र आता है··· ?" कहते-कहते श्रीमतीजी रो पड़ीं।

आखिर मुझे ही बीच में बोलना पड़ा। 'झण्डा' मालूम नहीं कहाँ गायब हो गया था। उस दिन जैसे-तैसे उन्हें चुप करा लिया, लेकिन अब लड़ाई के बीजों में श्रीमतीजी खुद पानी डाल देती हैं और अक्सर लड़ाई का प्रोग्राम हो जाता है। जीवन बदल गया है। 'झण्डा' यानी मैं अब मथुरा के पण्डों की तरह गोल हो गया हूँ और बस-स्टॉप की लड़कियाँ अब भी मुझे देख मुँह में चुन्नी दबाकर हँसती हैं।

गुणवन्ती मौसी

रजनी पनिकर

●

श्रीमती रजनी पनिकर का जन्म सन् १९२४ में लाहौर में हुआ था। आपने हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० किया। आपने अल्पायु से ही लिखना आरम्भ कर दिया था। पंजाब सरकार द्वारा प्रकाशित 'प्रदीप' की सम्पादिका रहीं तथा महिलोपयोगी मासिक 'दीदी' की परामर्शदाता समिति की सदस्या भी रहीं। आजकल आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र में 'स्कूल ब्राडकास्ट' कार्यक्रम की प्रोड्यूसर हैं।

महिलोपयोगी साहित्य में विशेष रुचि है। आपने साहित्य में नारी-भावनाओं का बहुत ही स्वाभाविक तथा सफल चित्रण किया है। कहानी, निबन्ध, उपन्यास—सभी कुछ लिखती हैं। आपकी कई पुस्तकें उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हुई हैं।

रचनाएँ

'जाड़े की धूप', 'काली लड़की', 'ठोकर', 'पानी की दीवार', 'मोम के मोती', 'प्यासे बादल', 'सिगरेट के टुकड़े', आदि।

९९, पटौडी हाउस, नई दिल्ली

"अरे ! तुमने पहचाना नहीं, अच्छी भांजी हो !"

आँख से अन्धे, नाम नयनसुखवाली उक्ति प्रायः हमारे दैनिक जीवन में चरितार्थ होती दिखाई देती है। हमारी गुणवन्ती मौसी ऐसी नहीं हैं। वह वास्तव में गुणों का भण्डार हैं। गुणों से आप यह मतलब मत लगा लीजिए कि वह बहुत बड़ी लेखिका हैं, या किसी कला-केन्द्र की अध्यक्षा हैं। वह चित्रकार या कवयित्री भी नहीं हैं और यदि आज्ञा दें तो यह भी बतला दूँ कि वह संसद की सदस्या भी नहीं हैं। फिर आप कहेंगे, जब वह यह 'सब' नहीं तब उनकी चर्चा से लाभ। आजकल तो उस मौसी, बुआ या बुआ की ननद की मौसी, और उससे भी निकट का सम्बन्ध स्थापित करना हो तो आप अक्सर ऐसी मौसी की सास की भतीजी की नानी से कोई-न-कोई सम्बन्ध निकाल लेते हैं और उन्हीं की चर्चा में हमें अतीव आनन्द मिलता है। हम सोचते हैं, भरी सभा में, हलके-झूठे या सच्चे रिश्ते का उल्लेख कर देंगे तो वह बात सूखी लकड़ियों की आग की तरह फैल जाएगी। क्षमा कीजियेगा, लकड़ियाँ तो आज के युग में फिर भी महँगी हैं, परन्तु ऐसी बातें तो केवल धीरे से दूसरे व्यक्ति को विश्वासपात्र बनाकर कान में फुसफुसा दी जाती हैं और बिना कौड़ी खर्च स्वतः ही फैलने लगती हैं।

हमारी मौसी केवल हमारे मौसा मुरलीधरजी की धर्मपत्नी हैं। श्री मुरलीधर ने शायद जीवन-भर में—राम झूठ न बुलवाये—सच्ची मुरली के दर्शन नहीं किये होंगे। हाँ, वैसे वह नियमपूर्वक अपना माथा 'मुरलीवाले' के सामने झुकाते हैं। श्री मुरलीधर की एक बड़ी-सी दूकान पंजाब के एक बहुत ही छोटे-से शहर में है। शहर का नाम बतला दिया तो जानते हैं क्या होगा ? ठीक वही होगा, जिसकी मुझे आशंका है और जिसका वृत्तान्त मैं आपको अभी बतलाने जा रही हूँ। पति की आभूषणोंवाली दूकान में जो सोने का सेट नया बनता है, चाहे वह जड़ाऊ हो या सादा, एक दिन मौसी के शरीर की शोभा जरूर बढ़ाता है। वैसे कहना तो नहीं चाहिए, परन्तु पूरी बात का आधा महत्त्व जाता रहेगा यदि मैं मौसी के व्यक्तित्व पर प्रकाश न डालूँ। मनोविज्ञान का बड़े-से-बड़ा पण्डित भी इस बात से इनकार नहीं करेगा कि शरीर व्यक्तित्व का बहुत ही आवश्यक अंश है। गुणवन्ती मौसी जहाँ चार फुट दस इंच लम्बी हैं, वहाँ उनका वजन साढ़े तीन मन से जरा ही कम होगा। त्वचा का रंग ऐसा है, जैसे किसी ने मक्खन में केसर मिलाया हो। गोल मुख पर बड़ी-बड़ी आँखें, उन पर सुनहरी फ्रेम की ऐनक जो 'दृष्टिदोष' के लिए नहीं लगाई गई है।

मौसी जब मुसकराती हैं तब उनका ऊपरवाला होंठ, जिस पर एक बड़ा-सा काला तिल है, ऊपर-नीचे उठता है, फड़कता रहता है, देखनेवालों का हलका-सा

मनोरंजन करता है। गुणवन्ती मौसी बहुत बातें करती हैं, एक बार शुरू हो जाती हैं तो उन बातों का अन्त नहीं होता। बातें करने के साथ-साथ मुख पर हर भाव के साथ एक नई प्रतिक्रिया होती है। जब हँसती हैं तब उनका दोहरा शरीर आठ तह पा जाता है।

गुणवन्ती मौसी हमारी माँ की सगी, चचेरी, ममेरी या किसी तरह की 'गाँव बहन' भी नहीं हैं। वह हमारे एक तीन महीने पुराने पड़ौसी की पड़ौसिन रह चुकी हैं। एक बार लाहौर में प्रदर्शनी हुई थी, उसमें वह आई थीं, पड़ौसियों ने गुणवन्ती मौसी से परिचय करवा दिया था। एक ही बार हमारा नमस्कार हुआ था।

कुछ मास पूर्व दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग-प्रदर्शनी हुई थी। तब जिस घर ने कभी मेहमानों का मुख नहीं देखा था, वहाँ भी मेहमान आये थे। हमारे यहाँ की बात ही दूसरी है। पंजाब सरकार की ओर से एक सरकारी डाक-बंगला है, जिसमें केवल अधिकारी वर्ग के लोग आकर ठहरते हैं, परन्तु हमारे 'डाक-बंगले' में न किराया लगता है, न धोबी की धुलाई; सुबह का नाश्ता और रात का भोजन भी किसी-न-किसी तरह मिल ही जाता है। रही दोपहर के भोजन की बात, वह आजकल घर में खाने का रिवाज नहीं। खैर, मैं बात अपने यहाँ के डाक-बंगले की कर रही थी। दिल्ली में इतनी बड़ी नुमायश हो, वह न देखी जाय, भला यह कैसे हो सकता था? धड़ाधड़ मेहमान पके आमों की तरह टपकने लगे। दिल्ली में पाँच-छः कमरों का घर हो और हर कमरे के साथ स्नान-गृह सटा हो तो आपको औपचारिक विधि से किसी को निमन्त्रण देने की आवश्यकता नहीं, वह काम बेतकल्लुफ मेहमान स्वयं ही कर लेते हैं।

मेहमानों से घर भरा पड़ा था। उस शाम को अधिक सर्दी नहीं थी। रात्रि के पौने नौ बजे के लगभग समय होगा। मैं चाय पी रही थी। उसी समय श्रीमती गुणवन्ती मौसी ने प्रवेश किया। हाथों में सोने की बीस-बीस चूड़ियाँ, गले में पाँच-छः हार—क्षमा कीजियेगा, उतनी जल्दी में मैं पूरी तरह से हारों की गिनती नहीं कर पाई, कम गिनाने से हमारे मौसा की प्रतिष्ठा में बट्टा लगेगा। मौसी ने आते ही मुझे गले लगा लिया। सच मानिये, उन्होंने मुझे क्षण-भर का समय नहीं दिया कि मैं उठकर उनका स्वागत करूँ।

"अरे! तुमने पहचाना नहीं, अच्छी भांजी हो?"

मेरी सगी मौसी कोई नहीं। फिर यह कौन हैं? किसी भाभी की माँ भी नहीं हैं।

इतने में उनका बड़ा लड़का बिस्तर उठाये आगे बढ़ा। वह मुसकराकर बोलीं—"बेटा, बहन को नमस्कार करो, तुम्हारे जीजा शायद बाहर गये हैं, झट से सब सामान अपने-आप ऊपर ले आओ।"

तब कहीं मुझे आभास हुआ और दिमाग में यह बात कौंधी कि यह तो यहाँ रहने आई हैं।

मौसी की जुबान चलती ही रही, एक क्षण भी रुकी नहीं।

जो कुछ उन्होंने कहा था, उसका दो शब्दों में आशय यही था कि अमृतसर के गुरुद्वारे में वह अपने सातवें पुत्र, बड़ी लड़की के लड़के और अपनी तीसरी लड़की के लड़के के मुण्डन करवा उन्हें माथा टिकाने के लिए ले गई थीं कि उनकी मुलाकात मेरी बुआ की ननद की ननद से हुई और वहीं से उन्होंने मेरा पता पाया। हाँ, पोस्टकार्ड तो परायों को लिखा जाता है, मैं भला कोई पराई थी? फिर कौन वह महीना-दो महीना रहने आई थीं, यही दो-चार दिन की बात थी, क्या हुआ कि कुल मिलाकर चौदह बड़े प्राणी और पाँच-छः बच्चे थे।

मौसी ने मुझे तो हाथ से पकड़कर अपने पास बैठा लिया, कमरे के भीतर उनका लड़का-लड़की या उन लड़के-लड़कियों के पति-पत्नी, या फिर कोई बच्चा बारी-बारी से आने लगा। मौसी, जिनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था, बड़ी तत्परता से मेरा परिचय पुत्र-पुत्रियों, नाती-पोतों से करवा रही थीं। किसी की मैं बुआ थी और किसी की मैं मौसी, बड़ी बहन और छोटी बहन।

उस समय मुझे लग रहा था, शायद मैं कोई सिनेमा की फिल्म देख रही हूँ, वरना लोगों की इतनी भीड़, जिन्हें मैंने जन्म-भर देखा तक नहीं, कैसे एक के बाद एक बढ़ती ही जा रही थी। मुझसे किसी तरह की आज्ञा लेने या पूछने की आवश्यकता गुणवन्ती मौसी ने नहीं समझी। वह स्वयं ही सबको बतलाने लगीं कि वह क्या-क्या करें। उनके कथनानुसार बड़े लड़के ने ड्राइंग-रूम का कारपेट गोल कर दिया, सोफे की कुर्सियाँ दूर-दूर हटा दीं और वहाँ अपने और अपने बहन-भाइयों के बिस्तर बिछा दिये।

जब बिस्तर तक नौबत पहुँच चुकी थी तब मुझे खयाल हुआ कि इनसे कुछ खाने के लिए भी तो पूछना चाहिए।

मौसी ने मेरे पति के बारे में अपने-आप ही ज्ञान अर्जित कर लिया। मैं हैरान थी। यह स्त्री यदि इतनी कुशाग्र बुद्धि रखती है तो इसे कहीं-न-कहीं मिनिस्टर होना चाहिए था।

खाने के लिए पूछने पर वह बोलीं—"मेरा तो व्रत है, मैंने सुबह से अब तक पानी नहीं पिया।"

एक छोटा-सा बच्चा बोला—"नानी, तुमने दूध तो पिया था।"

मौसी को बच्चे की उस बात से कुछ बुरा नहीं लगा। वह झेंपी भी नहीं, मुसकराकर बोलीं—"बेटी, पाव-भर बर्फी मँगवा लो, मैं पानी पीऊँगी, कोरा पानी मेरे कलेजे में लगेगा।" आप यह न सोचें कि मौसी का व्रत था, इसलिए उन्हें बर्फी की आवश्यकता पड़ी। दूसरे दिन सुबह भी उन्होंने बर्फी खाकर ही पानी पिया। यही उनका नियम था।

मौसी ने बड़े बेटे से कहा—"बहन से शरमाता क्यों है, तुझे चाय पीने की आदत है तो कहता क्यों नहीं? तेरी बहन पढ़ी-लिखी है, अभी देख कैसे चटपट तुम

लोगों के लिए चाय और नाश्ता बनाती है।"

मैं थककर चूर थी। उसी दिन सन्ध्या को कुछ मेहमानों को विदा कर चुकी थी। घर में नौकर केवल एक था, वह भी मेहमानों के लिए खाना बना-बनाकर तंग आ चुका था। मैं हतप्रभ-सी मौसी के मुख की ओर देख रही थी। मौसी बड़ी चालाकी से मुझसे कहलवा चुकी थीं कि खाना अभी बना जाता है। इतने में मेरे पति आ गए। उनका परिचय मौसी ने खुद ही अपने परिवार से किन शब्दों में करवाया, यह मैं नहीं दोहराऊँगी।

मैं रसोई-घर में जुटी थी, वहाँ मेरे पति आए और धीरे-से दबे स्वर में बोले—"मैं ऐसे मेहमानों से बाज आया, तुम इन्हें किसी होटल में ठहरने के लिए कहो।"

अभी बात उनके मुख में ही थी कि मौसी उनकी, यानी मेरे पति की, बलाएँ लेती हुई कमरे के भीतर आ गईं।

मैं चुपचाप काम में जुटी रही। मौसी ने व्रत सम्पूर्ण किया, आधा सेर बर्फी खाई, तीन पाव दूध पिया और रात्रि-भोज, जो साढ़े ग्यारह बजे खाया, के लिए पूरी और हलवे की फरमायश कर दी।

मेरे छोटे भाई-बहन, यानी मेरी मौसी के लड़के-लड़कियाँ, अपनी माँ की आज्ञा मान, उस घर को अपना ही घर समझ जहाँ-तहाँ फर्श पर पानी फेंकने लगे। रात का खाना खाने तक वे लोग एक दर्जन शीशे के गिलासों को ठिकाने लगा चुके थे। मेरी मुश्किल की कुछ मत पूछिए, मैं तो अपने पति से आँखें भी नहीं मिला सकती थी, क्योंकि वह बार-बार मौन रूप से डाँट रहे थे कि यह मेरा ही दोष है जो हमारे घर को लोग धर्मशाला बनाए हुए हैं।

भोजन हो चुकने के बाद मौसी ने कहा—"इन बच्चों को तो मलाई खाए बिना नींद ही नहीं आती।" अतिशयोक्ति न समझें तो सच बतलाऊँ कि उस रात हलवाई के यहाँ से एक सेर मलाई और पाँच सेर दूध आया।

मेरे पति ने घर छोड़ जाने की धमकी भी चुपके-से दे दी। गुणवन्ती मौसी की बुद्धि की प्रशंसा किए बिना मैं न रह सकूँगी। उन्होंने झट से कहा—"हम मौसी-भांजी पास-पास सोएँगे, हमने बहुत दिनों से एक-दूसरे से सुख-दुःख की बातें नहीं की हैं।" इस बात को मैं दोहराऊँगी नहीं कि जीवन में उनसे मैं प्रथम बार मिल रही थी।

गुणवन्ती मौसी ने रात को बहुत-सी बातें कीं, जिनका यहाँ उल्लेख कुछ बेतुका-सा लगता है। परन्तु एक बात उन्होंने बड़े प्रगतिवादी ढंग की कही—"बच्ची, तुम्हारे मौसा को मैं वहीं छोड़ आई हूँ। इन बूढ़ों के साथ सैर-सपाटा बड़ा मुश्किल हो जाता है।" फिर मौसी की आँखों में आँसू आ गए और उन्हें अपने महीन जालीदार दुपट्टे से, जिस पर रेशमी तागे की कढ़ाई हुई थी, पोंछती हुई बोलीं—"औरत के लिए यह कितना बड़ा दुःख है कि उसका पति उसके देखते-देखते बूढ़ा हो जाए।"

मैंने आँखें अच्छी तरह से मलकर फिर गुणवन्ती मौसी की ओर देखा, जो बूढ़े से जवान होनेवाली दवाइयों, काले से गोरे होनेवाले नुस्खों और चार दिन में

नया जीवन लानेवाली गोलियों को चुनौती दे रही थीं। मैं मन-ही-मन सोचने लगी, कोई 'शाश्वत यौवन' की स्पर्धा हो तो मौसी को जरूर प्रथम पुरस्कार मिल जायगा। सात लड़के, पाँच लड़कियाँ! ठीक एक दर्जन जीवित और लगभग आधा दर्जन मरे बच्चों की माँ। सिर का एक बाल सफेद नहीं।

मौसी कितनी देर बात करती रहीं, मुझे याद नहीं। मैं थककर चूर थी, सो गई। दूसरे दिन फिर वही झमेला शुरू हुआ। मौसी की अनुभवी आँखों ने मुझे और मेरे पति को पाँच मिनट भी एकान्त में बात नहीं करने दी। कहीं हम दोनों मिलकर उन्हें घर से निकाल न दें!

नाश्ते पर कितनी पूरियाँ बनीं या कितनी जलेबियों की फरमायश मौसी ने की, उनका ब्यौरा न देकर केवल इतना कहूँगी कि नुमायश में साथ ले जाने के लिए भोजन की माँग शुरू हुई।

मौसी का बड़ा लड़का बोला—"बहनजी के घर का खाना बहुत अच्छा है।"

मौसी का सर्वांग खिल उठा—"वाह! तुमने बहन के बनाए पराठे तो खाए नहीं। एक बार खाओ तो याद रह जाएँ।"

मेरे बनाए पराठे अच्छे होते हैं, यह मौसी ने कैसे जाना, इस विज्ञान का क्या नाम हो सकता है? यह न 'टेलीपैथी' है और न 'एलोपैथी'! मेरे खयाल में इसे 'गैस-पैथी' कहना चाहिए!

मौसी का नहाना कैसे हुआ और कैसे वह नुमायश के लिए तैयार हुईं, यह बताने की जरूरत नहीं।

मेरे नौकर ने यह बात बहुत धीरे से कही कि नुमायश में बहुत अच्छा खाना मिल जाता है। मौसी ने कहा—"परदेस में कौन भरोसा? बेटी, तू कोई तीस-पैंतीस पराठे सेंक दे, अधिक कष्ट मत कर।"

हमारे घी की शामत तो आनी ही थी, परन्तु पड़ौसियों का घी भी खतम हो गया। सब बाँधकर मौसी को सवारी की चिन्ता हुई। वह अपना सुनहरी चश्मा चढ़ाती हुई बोलीं—"मैं तो बसों में चढ़ी नहीं। ताँगे के लिए वह जगह बहुत दूर है। केवल एक साधन रह गया है, मोटर। हमारे यहाँ मोटर न होने पर मौसी ने एक व्याख्यान दे डाला। मैं अपने पति के डर के मारे घर के भीतर चली गई, क्योंकि मौसी बरामदे में लेक्चर दे रही थीं।

हमारे पड़ौसियों के पास मोटर है। दुर्भाग्य कि उन्होंने उसे उसी समय बाहर निकाला। उसकी सफाई होते देख मौसी बोलीं—"अरे बेटी, पड़ौसियों की मोटर और अपनी में कोई भेद होता है? फिर तुम तो बतला रही थीं कि हमारे पड़ौसी बहुत अच्छे हैं, बिलकुल भाइयों की तरह। मेरे भी तो बेटे की तरह हुए। मौसी को नुमायश तक पहुँचा न देंगे?"

पड़ौसी बेचारे झेंपकर रह गए। इससे पहले कि वह कुछ बोलें, मौसी उनके लिए फैसला सुना चुकी थीं। मरते क्या न करते! उन्होंने मौसी को और उनके परिवार

को दो बार में नुमायश तक पहुँचाया।

मौसी के बहुत आग्रह करने पर भी मैं उनके साथ नुमायश न जा सकी।'

गुणवन्ती मौसी के गुणों का बखान कहाँ तक करूँ। दो दिन दिल्ली रहकर जब वह वापस जाने लगीं तब मेरे हाथ पर 'दो रुपए' रखकर बोलीं—"बेटी, क्षमा करना, तुम्हें बड़ी तकलीफ दी है। लेकिन, भला कहीं अपने आदमियों से तकलीफ मानी जाती है! तुम भी तो हम लोगों से मिलकर प्रसन्न हुई होंगी।"

धीरे-धीरे नमस्कार-आशीर्वाद समाप्त हुआ। दो रुपए मेरी हथेली पर थे। मौसी सीढ़ियाँ उतरकर फिर लौटे आईं। मेरा दिल धक्-से रह गया। कहीं इन्होंने इरादा तो नहीं बदल लिया है! वह हाँफती हुई आईं और बोलीं—"यह चवन्नी ले लो, बेटी, अपने नौकर को दे देना।"

वह फिर मेरे सिर पर हाथ फेरती हुई, सैकड़ों आशीर्वाद देती हुई सीढ़ियाँ उतर गईं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे पड़ौसी की मोटर बाहर खड़ी थी, जिसमें किसी तरह लदकर आधे लोग एक बार और आधे दूसरी बार गए।

आप भी गुणवन्ती मौसी के गुणों की प्रशंसा किए बिना न रह सकेंगे। हमारे पड़ौसी आज तक मौसी को याद करते हैं—"बड़ी हँसमुख थीं, बड़ी ही बेतकल्लुफ थीं। भेद-भाव बरतना वह बिलकुल नहीं जानती थीं।" पड़ौसियों को उसी में संतोष है!

कभी-कभी मन में विचार आता है कि मौसी से बदला लूँ, परन्तु चौदह-पन्द्रह लोग आखिर कहाँ से इकट्ठे करूँ, अभी तक यह नहीं समझ पाई।

बहन की बारात

रमेशकुमार माहेश्वरी

●

श्री रमेशकुमार माहेश्वरी का जन्म सन् १९३९ में वाकमा, बर्मा में हुआ था। आपने मेरठ कालिज से बी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की और आजकल अलीगढ़ विश्वविद्यालय में इञ्जीनियरिंग की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

आपकी प्रथम कहानी सन् १९५५ में प्रकाशित हुई थी। तदुपरान्त अनेक रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा आकाशवाणी से प्रसारित हुई हैं। कहानियों के अतिरिक्त बालोपयोगी साहित्य में आपकी विशेष रुचि है। व्यंग्य और हास्य की ओर आपका विशेष झुकाव है।

एलोपैथिक डॉक्टर के सुपुत्र होने पर भी आप प्राकृतिक चिकित्सा पर विश्वास रखते हैं और इस विषय पर कुछ विविध लेख भी लिख चुके हैं।

९२, होली मोहल्ला, मेरठ

जीजाजी बाल्टी में हाथ घुमाते-घुमाते बोले—"इसमें कुछ शुभ होता होगा···"

बचपन में बाबाजी कहा करते थे कि बेटा, बाराती ऐसा जानवर होता है, जो खाता है और गुर्राता है। मुझे उन जानवरों को देखने का बड़ा शौक लगा हुआ था और इस तलाश में मैंने कई सरकस भी देखे। मगर एक दिन मेरे एक मित्र ने बताया कि बारातो सरकस में नहीं मिलते किसी लड़की के ब्याह में देखने को मिलेंगे।

जब मैंने बहन जी के विवाह की बात सुनी, तो फूला नहीं समाया। बारात आनेवाली थी मथुरा से, जहाँ का यह नियम होता है कि वे लोग कम-से-कम चार दिन बेटीवाले के घर को अपने शुभागमन से पवित्र करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। अतः उन लोगों को जाँचने-परखने का हम बच्चों के लिए पर्याप्त अवसर था।

बारात के आने का समय रात के बारह बजे निश्चित हुआ था। अतः दस बजे से ही हम सब बच्चे-बच्चे जनवासे में जा धमके। कुछ देर ताश पिटे, कुछ देर गप्प लड़ी और जब किसी के मोटर का हार्न सुनाई पड़ता हम सबके कान खड़े हो जाते।

आखिर ठीक बारह बजकर पाँच मिनट निकल जाने पर धर्मशाला के दरवाजे पर एक 'मरकरी' आकर रुकी। ड्राइवर ने हार्न दिया और भीतर से लोग भागे हुए बाहर पहुँचे। हम लोगों ने कार को घेर लिया। मैं तो झाँक-झाँककर भीतर देखने लगा।

मौसा जी ने झट हाथ बढ़ाकर कार का दरवाजा खोला। उसमें से काले रंग की एक भीमकाय आकृति मोटी नजाकत के साथ बाहर निकली। इस हट्टे-कट्टे, साक्षात् किंगकांग के अवतार को देखकर मेरे होश गुम हो गये। मैंने अनुमान लगाया कि जीजा जी का ड्राइवर होगा, लेकिन जब उन्होंने घड़ी देखने के लिए कलाई ऊपर की, तो देखी हाथ में बँधी कलावे की डोरी। बहन जी की तरफ से अपने तो होश गुम हो गये। आँखें आकाश पर जा टँगीं। 'हे ब्रह्माजी, अगर हमारे इन होनेवाले बहनोई साहब पर न सही, हम पर ही दया करके, इन्हे चारकोल से बनाने के उपरान्त थोड़ी देर कलई के टब में डुबो दिया होता, तो तेरी लीला में कमी न आती!'

दमादम बारात की मोटर-पर-मोटर आने लगीं और कुछ ही देर में चारों ओर पेट-ही-पेट नजर आने लगे। भीतर चलते हुए हम लोगों ने सोचा कि अब सारी रात की मुसीबत आ गई।

भाई साहब, जो भीतर ही दूध तैयार कराने में लगे थे, जीजा जी को देखते ही बोले, "पाँच मिनिट लेट हो गए, श्रीमान जी।"

"ह ह ह!" हँसते हुए जीजा जी बोले, "अजी, सारी मोटरें पाँच मिनिट तक मोड़ पर खड़ी रहीं। हम लोगों ने सोचा कि कहीं आप लोग यह क्लेम न कर दें कि

हम लोग एक दिन पहले ही आ गए···ह ह ह !"

चारों ओर अधसेरे कुल्हड़ों में दूध भरा जाने लगा। कुल्हड़ बारातियों के हाथों में, गंगासागर घरातियों के हाथों में और दोनों के बीच का अंतर दूध की निरंतर धार से बँधा हुआ। मेवा है कि मचल-मचलकर, टोंटी में से निकलकर कुल्हड़ों में जा रहा है, और फिर दूध के साथ घुल-मिलकर गटागट गणेशालय में।

एक साहब बोले, "सा'ब, मुझे तो बिना मलाई का दूध पीने की आदत है, इसलिए जरा दूध को छनवा लाइए···"

मैंने कहा, "लेकिन मेवा भी छन जाएगी···"

उन्होंने उस शंका का निवारण कर दिया। बोले, "मेवा अलग से मिला लाइए।"

अब मैंने उनकी ओर ध्यान से देखा, तो आँखें फाड़ दीं। भगवान् झूठ न बुलाए, मुझे यह वहम होने लगा कि किसी ने दिल्लगी करने को हमारे घर के दो मने मटके पर मानस का सिर रखकर यहाँ तो नहीं ला रखा। चुनांचे खूब गौर से देखा, और जब यह इतमीनान हो गया कि यह खालिस बाराती ही हैं, तो उनकी माँग पूरी करने के लिए जल्दी से भीतर की ओर दौड़ा। माँग पूरी करने के लिए तो क्या कहिए—हाँ, मित्रों को बुलाकर यह दिखाने की जल्दी थी कि इस बारात में आने-वाले दो सौ बारातियों में एक बाराती ऐसा भी है कि···अरे! आप पूछेंगे रुक क्यों गए!

अजी साहब, सामने जो देखता हूँ, तो रुकना ही पड़ता है। एक साथ दो, अलादीन के लैंप के जिन्न की भाँति, दो डबल बाराती खड़े हैं और गौर के साथ मुझे देख रहे हैं। मेरे मुँह से और तो कुछ नहीं निकला, हाँ इतना जरूर पूछा: "आप लोग कितने भाई हैं?"

"तीन," उन्होंने उत्तर दिया।

"तीन···तीन···तीन!" की रट मन-ही-मन लगाता हुआ मैं उन लोगों से घिरी हुई जमीन का चक्कर काटकर दूसरी ओर निकला।

कुछ देर के बाद कुल्हड़ों का एक टोकरा, दो-तीन बाल्टी मेवे और दूध की भरी हुई लेकर हम चार-पाँच मित्र उन लोगों की खोज में निकले। ढूँढना जरा मुश्किल तो था ही क्योंकि उन तीन भाइयों में और अन्य बारातियों में कोई ज्यादा फरक नहीं था, मगर मिल गए। हमें देखते ही तीनों एकदम लेटे से उठे और पलोथी मारकर बैठ गए।

जिससे पहले बातचीत हुई थी उसने पूछा, "दूध छान तो लिया या नहीं?"

"खूब छानकर खूब मेवा मिला दी है," मैंने कहा।

इसके बाद पिलाई शुरू हुई। जब हम लोगों की आधी-आधी बालटियाँ खत्म हो गईं, तो सुरेश ने मुँह पर हाथ रखकर कहा, "अब नए कुल्हड़ ले लीजिए···"

तीनों व्यक्ति हाथों में कुल्हड़ थामे उनमें दूध गिरने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

उनमें से सबसे बड़ा बोला, "क्यों, नए क्यों, ये ही बहुत हैं।"

"बात यह है," सुरेश बोला, "ये कच्ची मिट्टी के बने हैं। जहाँ एक बाल्टी पानी हरेक में भरा गया वहाँ फौरन फूट जाते हैं।"

पहले तो वे हम लोगों की ओर चकरा कर देखने लगे। मगर शायद फिर बात समझ में आ गई। उन लोगों ने पुराने कुल्हड़ रख दिए और मेरे हाथों से नए ले लिए। फिर उनमें से एक बोला, "ओ भईया, नेक जाई कै थोड़े और कुल्हड़ लै आओ ना··"

"किसके लिए?" मैंने पूछा।

"ऐसे ही," वह बोला, "ऐसे कहें कि ए कुल्हड़ भी जिब फूट जाईवैं, तौन फेरि चहिंएंगे के नाहीं?"

इस पर हम लोगों का हँसते-हँसते दम निकल गया। अब और अधिक दूध पिलाना बस का नहीं रहा और सब पेट पकड़कर वहीं पर बिराज गए। तब तक उन तीनों भाईयों ने अपनी सेवा आप करनी शुरू की और कुछ ही देर में हमने देखा कि वापस ले जाने के लिए केवल आठ बाल्टियों का बोझ रह गया था। और वह भी हम लोग तभी लौट पाए, जब भाई साहब की कड़कड़ाती आवाज सुनाई पड़ी: "डेढ़ बज गया, अभी तक दूध ही नहीं खत्म हुआ! जा, सिगरेट लेकर आ!"

दूध पीकर तीनों सज्जन बीड़ी के एक बंडल में से बीड़ियाँ निकाल रहे थे कि सिगरेट का नाम सुनते ही उन्होंने बीड़ी का बंडल कुरते के पल्ले के नीचे दिया और हँसकर बोले, "ऐ भईया, ओ सिगरेट लईबो, जौन चार पैसे से पाँच की ह्वै गयी है···बीड़ी पीवनवालों को ओ ही नीक लागै!"

"अभी लाता हूँ," मैंने मुसकराकर उत्तर दिया और जल्दी से वहाँ से खिसक लिया।

अपने राम के भीतर जितना तेल था वह खत्म हो गया था और मशीन घरघराने लगी थी। इसलिए सोचा कि सिगरेट लाने के लिए घर में सैकड़ों आदमी हैं, कुछ देर नींद ले ली जाए, जिससे अगले दिन झिड़कियाँ न खानी पड़ें—और इस पुनीत उद्देश्य को लेकर हम पहुँचे घर पर, जिससे एकांत में नींद अच्छी आ जाए।

मगर घर में घुसने पर पता चला कि सारी छत आने-जानेवालों के पलंगों से घिरी हुई है और अपने राम के लिए किसी के पलंग के नीचे लम्बी तानने के अतिरिक्त कोई चारा दिखाई नहीं पड़ रहा है। आखिर अपने छोटे-से कमरे का दरवाजा खोला, दो कुरसियाँ आमने-सामने बातचीत करती हुई रखीं, बीच में स्टूल डाला और पंखा खोल, बत्ती बुझा, सो गए।

नींद पूरी भी नहीं हो पाई थी कि बहनजी दनदनाती हुई कमरे में आकर बोलीं, "ओ मुन्ने, उठ खड़ा हो···पाँच बज गए···कब तक सोता रहेगा?"

जी हाँ, इन्हीं के हाथ पीले किये जा रहे थे। जी में तो आया कि दो धौल

जमा दूँ। मगर फिर सोचा कि बेचारी मुझसे बड़ी है।

लेकिन वह अपनी हरकत से बाज थोड़े ही आती। मुझे बार-बार हिलाकर बोली, "अरे, उठ ! खड़ा हो, खड़ा हो जा !"

क्या मुसीबत है ! सभी जानते हैं कि जब उठूँगा, तो खड़ा भी हो ही जाऊँगा ···मगर इन बहनजी को कौन समझाये ! जरा-सी आँखें खोलीं। देखा कि बहनजी गुलाबी साड़ी पहने हुए हैं। जरा-सी 'ऊँ आँ' की और फिर आँखें मूँदकर, करवट लेकर दम साध लिया।

बहनजी पता नहीं क्या खोजने आई थीं, किताबों की शैल्फ उलट-पलटकर देखने लगीं। जब किताबें गड़बड़ हुईं, तो जरा हमारे दिल को चोट पहुँची। आखिर क्यों न पहुँचे, किताबें हमारी चहेती थीं। सत्याग्रह का विचार ढीला पड़ने लगा। फिर करवट लेकर मैंने पूछा, "अरी, सुबह-ही-सुबह क्या आफत आ गई ?"

"कम्बख्त, शुभ सायत ऐसे वचन क्यों निकालता है मुँह से ?" बहनजी बोलीं, "मैं पूछती हूँ स्टोव कहाँ रखा है ? जैंटिलमैन बारातियों को बैड टी देनी है।"

"तो स्टोव क्या किताबों में छिपाकर रखा है मैंने ?" मैं अकड़कर बोला। उठा, आलमारी से निकालकर स्टोव दिया और पुनः अपने विलायती बिस्तरे पर बैठकर बहनजी के खिसकने की राह देखने लगा। बहनजी दरवाजे तक गईं, फिर लौटकर आईं। मैंने सिर उठाकर देखना चाहा कि कहीं कुछ और बला तो सिर पड़नेवाली नहीं है।

बहनजी मेरे पास आकर बैठ गईं और बड़े प्रेम से, एकदम बदले हुए स्वर में, मेरे बालों को सहलाते हुए बोलीं, "मुन्ने भैया, एक बात बताएगा ?"

मैंने आश्चर्य से इन करख्त बहनजी की ओर देखा और बोला, "इस तरह पूछो, तो एक नहीं दस बता दूँगा।"

बहनजी ने स्वर और भी कोमल और धीमा किया और नीचे को सिर झुकाकर बोलीं, "भला, मुन्ने, तेरे जीजाजी देखने में कैसे लगते हैं ?"

अब जरा बात बनी थी। मैंने खँखारकर गला साफ किया और जरा तनकर बैठ गया। पंडितों की तरह अँगुली पर अँगूठा रखकर कहा, "दक्षिणा !"

बहनजी ने बिना किसी हील-हुज्जत के पाँच का नोट निकालकर मेरी हथेली पर रखा और मैंने उसे तुरंत 'डिफेन्स सर्किल' में पहुँचाकर कहा, "वाह, क्या पूछती हो, बहन ! जीजाजी क्या हैं पूरे कृष्ण जी हैं कृष्ण जी ! मेरा तो ख्याल है कि तुम्हारा ब्याह निबट जाए, बस, उनकी एक कुश्ती दारासिंह से हो जाए। बहन, तुम्हारे भाग खुल गए। जीजाजी और कहीं से रिटर्न हों या न हों, लेकिन अफरीका-रिटर्न जरूर हैं। मगर फिर भी घबराना नहीं, मैंने एक ऐसे साबुन का नुस्खा बनाने की बात सोची है, जो उल्टे तवे को भी कलई की पतीली कर दे···"

बहनजी अनखनाकर उठीं और 'चल मुए' कहकर चल दीं। मैंने जाते-जाते उन्हें हिदायत दी कि अगर कोई पूछे कहाँ गया है, तो कह दें कि जनवासे गया

है। फिर भीतर से चटखनी लगाई और लेट गया।

मगर एक आइडिया आया, आया तो फिर लेटा नहीं गया और मैं जल्दी से आवश्यक कामों को निबटाकर जनवासे की ओर चल दिया। वहाँ लोग-बाग नहा रहे थे, मुँह धो रहे थे और कुछ लोग आमाशय की सफाई करने के लिए चले गए थे, मैंने झट पानी से भरी एक बाल्टी उठाई और दौड़ा-दौड़ा जीजाजी के पास पहुँचा, जो उस समय अपने बदन पर पानी लुढ़का रहे थे।

मैंने कहा, "जीजा जी!"

"कहिए, साले साहब!" उन्होंने नीचे को मुँह करके हमसे मुसकराकर कहा।

"जरा इस बाल्टी में हाथ डालकर घुमा दीजिए," मैंने बोला।

वह चकराए, बोले, "क्यों जी, हाथ डालकर घुमाने मे क्या होगा? कुछ टोटका करने का इरादा है?"

"जरा घुमाइए तो हाथ डालकर इसमें," मैंने कहा—"जीजी ने कहा है।"

"सच?" वह गंभीर होकर बोले।

"हाँ, हाँ, और क्या झूठ?" मैंने आँखें चौड़ाकर कहा।

"ह ह ह···यह भी अच्छी दिल्लगी रही," कहकर उन्होंने मुट्ठी बाँधकर बाल्टी में हाथ डाला और उसे घुमाने लगे। घुमाते-घुमाते बोले, "इसमें कुछ शुभ होता होगा··"

जब हाथ काफी घूम गया, तो उन्होंने बाहर निकाल लिया और मैंने बाल्टी के पानी को गौर से देखकर कहा, "अभी तो नहीं हुआ, थोड़ा-सा और घुमाइए।"

"क्या नहीं हुआ? आखिर क्या मंशा है?" वह बोले।

और लोग भी अब इस विचित्र कांड में रस लेने लगे।

मैंने कहा, "आप घुमाईए तो···जीजी को साड़ी में काला रंग देना है···"

इस पर वह उठकर मेरे पीछे दौड़े और लोगों ने जबरदस्त कहकहे लगाने आरंभ किए। मैं तो बाल्टी लेकर यह जा वह जा···जीजाजी को मुझे पकड़ने के लिए कम-से-कम आधा वजन घटाना चाहिए था।

अब सारी बारात में मेरा नाम मशहूर हो गया था। दोपहर को फलों को तराशने का काम मेरे और मेरे मित्रों के जिम्मे पड़ा था। तरबूज खरबूजे, लीची, आलूबुखारे बगैरह-बगैरह सब छील-छीलकर थालों में सजाने थे और ऐसा मालूम होता था कि पूरा सब्जी-बाजार ही एकत्र हो गया है। तरबूज काट-काटकर हम उसका पानी एक बाल्टी के भीतर करते जा रहे थे और जब वह भर जाती, तो दूसरी बाल्टी ले लेते।

यह सब करते-कराते वे तीनों भाई, जिनकी चर्चा मैं ऊपर कर आया हूँ, वहाँ आ पहुँचे, जहाँ कोल्ड स्टोरेज से मँगाकर फलों के ढेर लगाए गए थे। दसियों बड़े-छोटे उसमें जुटे थे। फलों को देखकर, पेट पर हाथ फेरते हुए उनमें से एक बोला, "ह ह ह, इतने सब कैसे खाए जाएँगे?"

हमने उनकी ओर देखा और बोले, "देखिए, साहब, आप लोग जाकर पलोथी लगाइए। इसके बाद देखेंगे कि आप जीतेंगे या ये फल!"

ह ह ह की आवाज करते हुए तीनों चले गए।

जब हम लोग फलों के थाल लेकर जनवासे में पहुँचे, तो देखा कि सचमुच तीनों देवता पलोथी मारे प्रतीक्षा कर रहे थे। हम लगभग दस मित्र थे, जिनके हाथों में थाल थे। हमें देखते ही वे लोग मानो हमारे लिए जगह करते-करते बोले, "आ जाओ जी, आ जाओ!"

बड़ा गुस्सा आया। चाकू चलाते-चलाते अँगुलियाँ दुःख गई थीं। खैर, क्रोध में आकर दसों थाल उनके सामने रख दिए और देखने लगे कि दोपहर के पक्के भोजन के बाद, जिसमें उन लोगों ने कम-से-कम पचास कचौरियाँ प्रत्येक ने खाई थीं, ये लोग दसों थाल निबटा पाते हैं या नहीं। घर-फूँक तमाशा तो है, मगर फिर भी···

मगर पाव घंटे के भीतर भीतर थाल खाली हो चले। मैंने मित्रों की ओर देखकर कहा, "भाइयो, वह ठंडा और लाल शरबत, जो बालटियों में रखा है···ले तो आना जरा! खरबूजों के ऊपर बहुत गुणकारी होगा!"

मित्रगण समझ गए। दौड़े-दौड़े गए। कुल्हड़ और तरबूज का छना हुआ पानी बालटियों में ले आए। हमने उन त्रिमूर्ति से कहा: "देखिए, यह शरबत कम मीठे का नया ईजाद हुआ है। भगवान् कसम, निखालिस फलों का रस है। एक बार गटागट चढ़ाइए, दूसरी बार स्वाद लेकर पीजिए, तीसरी बार···"

मगर उन्होंने तब तक पहली बार आरम्भ कर दिया था। वे तीन बार से अधिक नहीं चल सके। पेट पर हाथ फेरते हुए उनमें से सबसे बड़ा बोला, "चित्त प्रसन्न हुआ, तबीयत भर गई। जीते रहो। जाओ, सबको खिलाओ-पिलाओ···"

"सब लोग भी खिलाए-पिलाए जा रहे हैं, मगर आप कम-से-कम एक-एक कुल्हड़ तो और लीजिए···देखिए, मना मत कीजिए।"

मना करना उन्होंने शान के खिलाफ समझा और हमने भी एक के स्थान पर दो कुल्हड़ भर दिए। आखिर पानी को फेंकना ही था, सो जगह सिर फेंका जाए, तो कुछ काम भी आए।

मगर सन्ध्या तक दूसरा ही गुल खिल चला। मैं घर में था कि बाहर से आवाजें आने लगीं। मैंने सुना, भाई साहब की आवाज थी। इतने में सुरेश आया और मुझे जल्दी से ऊपर ले जाकर बोला, "अरे, छिप जा, छिप जा, शामत आ गई है।"

"क्या हुआ आखिर?" मैंने सहमकर पूछा।

"वे तीनों थे न, जिन्होंने तरबूज का पानी पिया था···"

"हाँ, हाँ," मैंने घबराते हुए भी हँसकर कहा।

"उन तीनों की ढिबरी ढीली हो गई है।"

"कैसे?" मैंने हँसते-हँसते पूछा।

"दस्त और कै लग गए हैं···अब तक हो रहे हैं। एकाध होता, तो जान

बच जाती। डाक्टर ने कहा है कि तरबूज का पानी दिया गया है, जिससे पेट फूलकर पहले अफारा हुआ, फिर दस्त और कै लग गए।"

"फिर? अब क्या होगा?" पेट पकड़कर मैंने पूछा।

"बस, अब तो ब्याह का भी ऊपरवाला ही मालिक है। ये तीनों अच्छे हो जाएँ, तो कुछ शुभ कारज हो। मगर इस बीच कहीं तू भाई साहब को दिखाई पड़ गया, तो तेरी हड्डी-पसली का पता नहीं चलेगा।"

मैं तो उस समय से ऐसा गायब हुआ, जैसे गधे के सिर से सींग। तीन दिन बाद, जब बारात सकुशल बहनजी को लेकर चली गई और मेरी खोज सहानुभूति के साथ होने लगी, तो मैं सुरेश के घर मिला।

मैंने शुक्र मनाया कि बहनजी का ब्याह सकुशल हो गया।
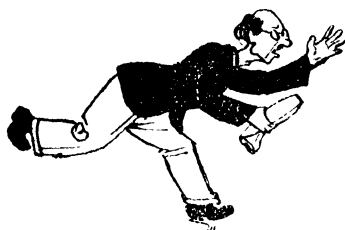
कान्फ्रेन्स की तैयारी

राजेन्द्र शर्मा

●

श्री राजेन्द्र शर्मा का जन्म सन् १९२३ में हुआ था। प्रयाग विश्वविद्यालय में बी. ए. में पढ़ रहे थे कि १९४२ के आन्दोलन के समय पढ़ना छूट गया। काशी विश्वविद्यालय में रजत-जयन्ती पर गांधीजी के भाषण और सारनाथ में बौद्ध-स्थल देखकर जीवन में परिवर्तन हुआ। १९४१ में 'रश्मि' नाम से अपना मासिक-पत्र निकाला। तब से निरन्तर पत्रकारिता और साहित्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। 'सरिता', 'फौजी अखबार', 'नवभारत', 'अमर भारत', 'विश्वामित्र', 'विजय साप्ताहिक' के सम्पादक-मंडल में रहे। 'हिन्दी मिलाप', हैदराबाद के प्रधान सम्पादक; फिर 'धर्मयुग' के संयुक्त सम्पादक; 'समाज', 'सुप्रभात' मासिक के सम्पादक रहे। 'मधुकर' नाम से आपने दिल्ली से अपना एक मासिक पत्र भी निकाला था जो काफी लोकप्रिय रहा।

रचनाएँ

'पत्ते-हरे, पीले', 'परिधि', 'मानस-हंस', 'सागर-सेतु', 'कायर', 'हेमा', 'मंगल-गीत', 'अन्धे मोड़', 'मणिमय कुण्डल', 'ज्ञान सतसई', आदि।

१९५४-मदरसा रोड, काश्मीरी गेट, दिल्ली

आँखें निकालकर पण्डितजी ने उसे घूरा—"मनहूस ने शकुन बिगाड़ दिया !"

आपका आग्रह है, इसलिए पण्डित कलाहीन की थोड़ी-सी बात बता देता हूँ। बताना केवल इतना ही है कि मैनेजर ने जब कान्फ्रेंस बुलायी, तो उसकी तैयारी में उन्होंने क्या कुछ किया। पर अभी तो यह बताना ज्यादा जरूरी होगा कि उनका नाम कलाहीन क्यों पड़ा! नाम की ही सारी महिमा है, उसे समझ लिया तो नामी यूँ मुट्ठी में आता है। पण्डित जी का माँ-बाप ने लाड़-प्यार से जो नाम धरा था, वह था, "कमलनयन शर्मा।" पुरानी संस्कृति को माननेवाले थे, अतः 'मंगल्यं ब्राह्मणस्य' और 'शर्मवद् ब्राह्मणस्य' के अनुसार उन्होंने अपने पुत्र का नाम मंगलमय भगवान् के नाम पर ही रखा। इस सुन्दर नाम पर पण्डित जी को बहुत गर्व था और आयु के बढ़ते हुए वर्षों के साथ-साथ यह गर्व भी बढ़ता गया था। पढ़-लिखकर 'पूरे' विद्वान हुए और पत्रकार के साथ-साथ व्यंग्यकार भी हुए; यों अक्सर बेकार भी हुए। पर इस हिन्दी की प्रतिष्ठा के युग में उनके भाग्य के द्वार भी खुले। एक अँग्रेजी कम्पनी के प्रचार विभाग में अध्यक्ष का पद उन्होंने सँभाला। कम्पनी बम्बई में थी, अतः उन्होंने अपने को कम भाग्यशाली नहीं माना। बात भी ठीक ही थी। ऊँचे पद पर बैठे, वेतन इतना मिलने लगा कि कुरते की जेबें भारी होकर फटने लगीं। पूँजीपतियों और बैंकों की कटु आलोचना करते नहीं थकते थे कभी; पर अब वहीं मत्था टेकने में छाती फुलाते न हारे। मकान भी कम्पनी ने सागर-किनारे दिया था, जब कि मकानों का परम अभाव था। इस तरह सब ओर लाभ ही लाभ था; हानियाँ केवल दो हुई। एक तो यह कि पण्डित जी ने अपना धोती-कुर्ता न छोड़ने के कारण पास-पड़ौस के अपटूडेट साहबों को नाक सिकोड़ने और मुँह फेरने का अवसर दे दिया था और दूसरी हानि तो उनके जीवन की सबसे बड़ी हानि थी। उस पर उन्हें इतनी खीझ सवार थी कि स्वयं उसे वह 'हिमालयन लॉस' कहा करते थे, और बम्बई को कोसते हुए कभी-कभी 'देस' लौटने की घोषणा कर बैठते थे। पर जिस प्रकार मीठा-मीठा पकवान खिलाकर, कसकर काम लेनेवाली सासु पर नई रोशनी की बहू मन-ही-मन कुढ़ती है, उसी प्रकार पण्डित जी भी अपने को निरुपाय ही देखते थे। और वह 'हिमालयन लॉस' था—'कमलनयन' से 'कलाहीन' हो जाना! बात यों साधारण थी, पर यह मित्र-मण्डली भी कभी-कभी नशाबन्दी पुलिस की भाँति ही पीछे पड़ जाती है।

पण्डित जी का साहब था—अंग्रेज; बड़ा सज्जन। पण्डितजी को भेंट का अवसर यद्यपि अभी तक नहीं मिला था, पर इनके काम से इतना प्रसन्न था कि दो सप्ताह में ही पण्डितजी की मेज पर स्वतन्त्र टेलीफोन लगवा दिया। जिस दिन फोन

लगा, उस दिन वह इतने ही प्रसन्न थे जितना कि मिष्ठान्न खाकर कोई चौबा हो सकता है। पर पीछे तो यह फोन कड़ुवी कुनीन बन गया। साहब जो बात पहले टाइप हुए 'नोट' में कहते थे, वही फोन पर कहने लगे—यहाँ तक गनीमत थी—पर फोन उठाते ही साहब अपनी रौबीली आवाज में कहते, 'मि० कमलीन' अथवा 'कम-नीन।' अब पण्डितजी साहब से कैसे कहें कि उनका नाम 'कमलनयन शर्मा' है—यह भी नहीं कहने का साहस हुआ कि केवल 'शर्मा' के 'सरनेम' का ही प्रयोग हो जाया करे; क्योंकि कम्पनी के एक और सफेद हाथी, चीफ एकाउण्टेण्ट भी 'शर्मा' के नाम से प्रसिद्ध थे। मन मसोसकर पण्डितजी रह जाते और दूध देनेवाली गाय की दो लातों की तरह ही साहब की यह खुराफात सहन कर लेते।

पर दूसरी भूल उनसे स्वयं हो गई—और यह भूल न हुई होती तो वह 'कमलनयन' से 'कम···नीन' ही बनकर रह जाते—'कलाहीन' न बनते। इस भूल का उन्हें सदैव बड़ा पछतावा रहता है और रहे आयगा। बात यों हुई : एक मित्र-मण्डली पण्डितजी ने आते ही जुटा ली थी, जिसमें रसिक साहित्यकार ही अधिक थे। दफ्तर में बैठकर पण्डितजी जो कविता या तुकबन्दी करते थे, वह किसी मित्र से एक पान का बीड़ा मिलने पर ही आसानी से सुना दिया करते थे। विभागाध्यक्ष होकर भी वह यों एक 'उच्च योग्यतावाले स्वामिभक्त कर्ल्क' से अधिक न थे, पर अपनी कविता में वह 'बाबू' को ही नायक बनाया करते थे—अशिक्षित मजदूरों में लम्बेवाला 'नान-मैट्रिक्यूलेट' कम्युनिस्ट नेता जैसे चमकता है, वैसे ही उनकी कविता में 'बाबू' उज्ज्वलता प्राप्त करता था। अन्धों में काने की उपमा मैं नहीं दे रहा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं तो 'बाबू' की हीनता नहीं सिद्ध करना चाहता। 'बाबू' की उपमा पण्डित-जी कभी-कभी रजक के परम सेवक से दिया करते थे; कहते थे—'हमारे देश में चाहे इसका सम्मान आजकल भले ही घट गया हो, पर आधुनिक सभ्यतावाले सबसे धनी देश की सरकारी पार्टी का तो यह परम पावन प्रतीक है—कांग्रेस ने 'बैल' के बूते पर वोट माँगे हैं, पर उनका (अमरीकन डेमोक्रेटों) 'निर्बल का बल' खर ही रहा है। खर श्वेत है, धवल; और 'बाबू' भी नित्य नवल-धवल होकर ही घर से निकलता है। उसकी सेवा-सहायता के लिए आज 'लोमा' से लगाकर 'आई० डी० कोलीन' तक अनेकानेक प्रसाधन उपस्थित हैं। खर अपनी पीठ पर गट्ठर के गट्ठर ढोता है, उन्हीं के बीच बँधता है, सोता है। (धोबी के यहाँ, कुबेरों के कुत्तों की तरह गधे के लिए अलग 'स्लीपिंग रूम' नहीं होता—माफ कीजिए।) और 'बाबू' फाइलों से दबा जाता है, दफ्तर में तो, और घर में तो। फाइल ओढ़न और फाइल बिछौना। सपने फाइल, काहे का सोना !! धोबी अपनी हैसियत के अनुरूप हरी घास, मुफ्त की ही, खिलाता है उस गरीब को, और 'बाबू' को सस्ते मूल्य में 'डालडा', 'पोस्टमैन', 'उम्दा', और 'नं० १' का बड़ा टीन मिल जाता है—जिसे खाने से स्फूर्ति आती है, फाइलों को देखने के लिए मस्तिष्क में ताजगी बनी रहती है। धोबी के खर पर उसके बालगोपाल मुफ्त सवारी गाँठ लेते हैं और बाबू बिचारे से चपरासी बिना ब्याज

के रुपये उधार ले लेते हैं, तो लौटाना गंगा-नहान जैसा दुर्लभ हो जाता है। रजक का परम सेवक जब तब अधिक शराफत बरतता है तो दण्ड-पूजा से प्रतिष्ठित होता है और यह 'बाबू' सज्जनता पर उतर आते हैं तो सुपरिण्टेण्डेण्ट की 'वारनिंग' पर 'वारनिंग' चली आती है, पर फाइल का फीता नहीं खोलते हैं। जिस दिन धोबी घाट पर नहीं जाता, उस दिन पड़ौसी की सेवा में यह कर्तव्यनिष्ठ भेज दिया जाता है, उधर बाबू छुट्टी के मूड में होते हैं, तो कोई सासु-साले की पहचान का अतिथि आ टपकता है। इस तरह, मित्र जब पण्डितजी की दुधारी कविता का खूब आनन्द लूट लेते तो पण्डितजी आत्म-प्रशस्ति का स्वर्णिम अवसर हाथ से नहीं गँवाते थे। साहब ने उन्हें जो सुविधाएँ दे रखी थीं, उनका वह पुनः पुनः विस्तार से बखान करते। ऑफिस में घुसते ही चपरासी जिस प्रकार तनकर सलाम करता था, मित्रों को उसी प्रकार 'एटेन्शन' होकर चपरासी का अभिनय वह कर बताते और फिर साहब की ताम्रचूड़-सी तीव्र आवाज बनाकर बताते कि वह किस सम्मान से इनके साथ बात करता है, और यहीं आकर उस दिन उनकी सारी किरकिरी हो गई—एक मित्र ने ठहाकों के बीच पूछ ही तो लिया—"शर्मा जी, आपको आपके साहब कैसे पुकारते हैं ?" बस, पण्डितजी का चेहरा छेद हुए गुब्बारे की तरह पटक गया। मित्र भी अधिक उत्सुक हो गये। पण्डितजी ने टाला—"अरे, अब यह सब जाने दो! जो नाम है, वही पुकारेंगे—और क्या ?"

"नहीं···फिर भी···जरा अभिनय करके बताइए—वाह, क्या कहने पंडित-जी !" एक मित्र ने कहा।

दूसरा बोला—"मैं जिस कम्पनी में 'ट्रायल' पर 'डायलॉग' लिख रहा हूँ, वहाँ आपको हजार रुपये वेतन का कॉमेडियन बनवा सकता हूँ।"

"हजार रुपये वेतन का···?" पंडितजी के मस्तिष्क में बात बैठ गई और क्षण के सौंवे हिस्से में ही यह सब हो गया। एकदम मेज पर कोनी टिकाकर बाँयें हाथ की मुट्ठी कान पर लगाई—टेलीफोन सुनने का उपक्रम किया—बारीक आवाज में बोले, "साहब कहता है—'मि. कम···नीन, पब्लिसिटी फाइल प्लीज'···" बस, मित्रगण हँसी से लोटपोट हो गये और इससे पूर्व की पंडितजी उन्हें भोलेबाबा के गणो के रूप में देखते और अपनी भूल समझते, एक महाशय बोल पड़े—"वाह ! पंडित कलाहीन जी ! हो सचमुच कलाकार !" अब क्या था, कहकहे पर कहकहे लगने लगे, और पंडितजी रुष्ट होकर उस दिन कुरते की जेबों में हाथ डाले लौट आये। पर मित्रो ने जो नामकरण किया था, वह पुराने सिनेमा घर को नवीन रूप देने की तरह मूल्यवान अथवा आकर्षक चाहे नहीं था, पर व्यापारी के पीछे इन्कमटैक्स के नोटिस जैसे पड़ जाते हैं, वैसे ही यह नाम उनके पीछे पड़ गया। मित्रों ने शरारत की। दफ्तर में उन्हें फोन किया और ऑपरेटर से बार-बार 'मि. कलाहीन' का नम्बर मांगने लगे। यों पंडितजी दफ्तर में भी धीरे-धीरे पूरे 'कलाहीन' बन गये। प्रसिद्ध है, यथा नाम तथा गुण। गधे में भी क्या अवगुण है ? पर उसे मूर्ख मान ही लिया गया

तो वह अधिक बोझा ढोने की ही मूर्खता करता है, घर-ठिकाने देनेवाले पर भी दुलत्तियों की बौछार कर बैठता है। जब से पंडितजी को दफ्तर के समवयस्क पदाधिकारी भी 'कलाहीन' कहने लगे तो उन्होंने एक नयी कला अपनाई। टाइपिस्ट को कुछ लिखवाना होता अथवा स्वयं लिखते-लिखते कुछ सोचने लगते तो कलम या पैन्सिल कान में डालकर कान ही कुरदने लगते। अधिक तन्मय हो गये तो फिर वह पैन्सिल मेज पर नहीं आती थी, कान पर ही टँगी रह जाती थी। फिर तो 'कान पर पैन्सिल और दफ्तर में ढिंढोरा' होता था। आदत यहाँ तक पुरानी पड़ी कि एकाध बार तो पैन्सिल कान पर रखे-रखे पंडितजी घर तक पहुँचे। जिस दिन प्रथम बार ऐसा हुआ, पत्नी ने मजाक उड़ाया, पंडितजी रूठकर बैठ गये और थाली में पेड़े रखे होने पर भी उपवास की ठान ली। पर उपवास का एलान करने पर भी शान्ति नहीं मिली, क्योंकि पैन्सिल बार-बार आँखों के सामने आ जाती थी। गुस्से से उसे घूरते-घूरते उन्हें सूझ गई दूर की बात। छोटे बेटे को पुकारा—"राजीवनयन! लो बेटा, तुम पैन्सिल माँगते थे न! लो यह पैन्सिल।" बरखुरदार रसोई में थे। माँ ने चतुराई से काम लिया। बेटा बाप से बोला—"पैन्सिल हम पीछे लेंगे, पहले आप खाना खाइए।" बस, पंडितजी की धमकी अम्बरीष पर दुर्वासा के क्रोध की तरह व्यर्थ सिद्ध हो गई। लड़के की जेब में पैन्सिल खोंसते हुए वह रसोई में आ गये, गुस्से से टुकुर-टुकुर पत्नी की ओर देखते जाते और खाना खाते जाते; पत्नी इनकी ओर देखती तो लड़के की ओर मुँह फेर लेते। इतना संग्राम-सन्धि होने पर भी पंडितजी इस कला में दिन प्रति दिन निष्णात होते गये। स्टेनो जब चिट्ठी पर हस्ताक्षर कराने लाता तो पंडितजी कलम ढूँढते और उसे कहना पड़ता—"सर, आपके कान पर तो है।" कान न हुआ खूँटी हो गया। एक दिन यह कला भयानक उग्र रूप धारण कर गई। वह एक विज्ञापन एजेन्सी को पत्र लिखवा रहे थे, सहसा पैन्सिल की ओर उनका हाथ बढ़ गया और कान के मार्ग पर प्रशस्त हुआ। पर पंडितजी के हाथ में वस्तुतः पैन्सिल नहीं, रेडइंक निबवाला कलम आ गया था। उसकी निब ने कान से कोई लिहाज नहीं किया। परिणाम वही हुआ जो आजकल पुलिस के सामने छात्रों के अकड़ने पर होता है। पंडितजी के श्रवणरन्ध्र से रक्त प्रवहमान् हुआ और वह छुट्टी लेकर घर आये सीधे। उस दिन भी उनके कान पर पैंसिल थी। पत्नी ने घर जल्दी लौट आने का कारण न पूछा; क्योंकि वह पड़ौसिन के साथ गप्पें लड़ा रही थी। पंडितजी दर्द से कराह रहे थे। पर घर क्या था, पंडितजी के लिए इस समय नक्कारखाना बना हुआ था। मत्था ठोंक रहे थे कि पड़ौसी का छोकरा पास आकर बड़ी दीनता से बोला—"पंडितजी, हमारे लिए पैंसिल लाये?" पंडितजी चौंके और हाथ कान पर चला गया। पैंसिल उतारी; पर पूछने लगे, "तूने यह बीमारी कहाँ से पकड़ी रे?"

"मुझे राजीवनयन ने बताया था कि आपके दफ्तर में मुफ्त पैंसिल बँटती हैं..." सरल भाव से उसने कहा।

पंडितजी कुर्सी से उछल पड़े, पैंसिल मेज पर रख वह लाल-पीले हो चिल्लाये,

"कहाँ है, यह राजीव का बच्चा ? मैं तो दफ्तर में ही पब्लिसिटी करता हूँ—यह घर में भी करने लगा…" वह भीतर के कमरे की ओर लपके और पड़ोसी का छोकरा चुपचाप पैंसिल उठा चम्पत हुआ। इस तरह पंडितजी ने घर में झगड़ा मोल लिया, पर पड़ोसियों की सद्भावना उन्हें अब धोती-कुरता न उतारने पर भी मिलने लगी। पहली हानि को किंचित सुधारने में सफल हो गये थे पंडितजी, इसका उन्हें सन्तोष था।

अगले दिन दफ्तर में ऐसा संयोग हुआ कि मैनेजर साहब का एक फरमान आ गया। लिखा था—"सोमवार को प्रातः ठीक दस बजे विभागाध्यक्षों की एक आवश्यक कांफ्रेंस होगी। सब समय पर आ जायें।" पंडितजी ने जब से पद सँभाला था, तब से कोई ऐसी कांफ्रेंस न हुई थी। मैनेजर के भी उन्होंने दूर से ही दर्शन किये थे—आमना-सामना नहीं हुआ था। उनके हृदय में खुदड़-पुदड़ आरम्भ हो गई, जैसे अधपकी खिचड़ी में थोड़ा-थोड़ा पानी फुदकता रहता है। सोचने लगे, "इस कांफ्रेंस में होगा क्या ? क्या मुझे भी कुछ भाषण देने के लिए कहा जायेगा ?" और उनसे रहा नहीं गया, अपने टाइपिस्ट से उर्दू विभाग के प्रचाराध्यक्ष मि. साहनी को बुलवाया, उनके साथ दक्षिणी बाबू आयंगर भी आ गए। दोनों अपटूडेट रहते थे—सूटबूट, नकटाई में, और मिलते ही एक साथ कहते थे—"धोती कुर्तेवाले पंडित जी, आप तो रहते हैं पेड़ा-बालूशाही में !" पंडित जी ने मुँह बनाकर कहा—"यार, हर वक्त मजाक ठीक नहीं ! यह बताओ इस कांफ्रेंस में क्या होगा, जो सोमवार को होनेवाली है !…राष्ट्रीय पोशाक का महत्त्व फिर समझाऊँगा !" साहनी ने आयंगर की ओर तिरछे नैनों से एक बार देखा और बहुत ही गंभीर होकर कहने लगा, "हमने तो यह सुना है कि स्टेशनरी की बचत पर साहब कुछ कहेंगे। इन दिनों स्टेशनरी का खर्च पहले से बहुत बढ़ा हुआ है, जबकि काम नहीं बढ़ा है…"

बीच में ही आयंगर बोला—"पैंसिल का टुकड़ा देने पर ही अब नई पैंसिल मिला करेगी, ऐसा सुनने में आ रहा है।"

"सच ?" आश्चर्यमिश्रित गांभीर्य से प्रश्न करते हुए पंडित जी ने कान पर से पैंसिल उतारकर 'स्टैण्ड' में रख दी और काँपते हुए स्वर में बोले—"हमारे यहाँ तो कोई खर्च बढ़ा नहीं है।"

"अजी, दफ्तरों में यह सब चला ही करता है। इन कांफ्रेंसों से क्या होना है—" साहनी कह रहा था—"कोई अपने बच्चे के लिए महीने में दो पैंसिल ले भी गया तो इतनी बड़ी कम्पनी में क्या मालूम पड़ता है ?"

पंडित जी को कुछ सांत्वना मिली—"हाँ भाई, समुद्र में से दो बूँद भाप बनकर निकल गई तो क्या फर्क पड़ता है ?"

आयंगर की बारी थी—"कुछ भी कहो, अनुशासन-प्रबंध में अंग्रेज होते बड़े मार्के के हैं…" और यों पण्डित जी फिर दुविधा में पड़ गये। जाते-जाते साहनी यह और कह गया—"एक दिन के लिए धोती-कुर्ता घर रख आना, पण्डितजी।"

इस एक ही वाक्य ने तो उन्हें आँधी का तिनका बना छोड़ा। बीच में रविवार

पड़ता था। उससे कुछ राहत महसूस करते हुए वह तैयारी में लग गये। पैण्ट बरसों से नहीं पहनी थी। ऐन वक्त पर सूट लायें तो कहाँ से ? उसी दिन घर आते ही पत्नी से अपना सन्दूक भीतर के छोटे कमरे में रखवाकर उन्होंने कमरा अन्दर से बन्द कर लिया। पत्नी विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देखती ही रह गई—"आज हुआ क्या है इन्हें ?" उसके मुँह से निकला और पण्डित जी भीतर बन्द, घबराए हुए हाथों से पुरानी पैण्टों की ट्रायल ले रहे थे। किसी को भी कमर में ठीक नहीं पाया उन्होंने, कोई टखनों से भी ऊपर आती थी और किसी-किसी को तो मकौड़े भी छलनी-सा सुन्दर बना चुके थे। कोट अव्वल तो थे ही नहीं, जो एक था, वह तब का था जब कि पंडितजी बेकारी के दिनों में एकदम सूखा काँटा थे। पसीने से भीजे हुए वह उस 'ड्रेसिंग रूम' से बाहर आ गये। पत्नी ने उनका लटका हुआ चेहरा देखकर और भी अचम्भे से पूछा—"आखिर परेशानी क्या है ? चाय नहीं पीनी आज ?"

"चाय को रखो 'कोल्ड-स्टोरेज' में"—तपाक से पंडित जी बोले—"सोमवार को मैनेजर ने कान्फ्रेंस बुलाई है और मेरे पास इस आड़े वक्त के लिए एक सूट भी नहीं है।"

"तो क्या हुआ ? राष्ट्रीय पोशाक की तो अंग्रेज प्रशंसा करते हैं···"

"तुम बिलकुल भोली हो, राजीव की माँ ! पहली-पहली तो कान्फ्रेंस ! उसमें इस सादी धोती और कुर्ते में जाऊँ ? राम ! राम !! यह मेरा प्रश्न नहीं है। वहाँ हिन्दी की नाक कट जायेगी···"

राजीव की माँ सब सहन कर सकती थी, पर पंडितजी के पहले ही वाक्य से उसके तन-बदन में आग दौड़ गई—"मैं भोली हूँ तो मुझसे पूछते क्या हो ? चाहे हिन्दी की नाक कटे, चाहे तुम्हारी; मैं तो चाय पी रही हूँ ; पीनी हो तो रसोई में आ जाना।"

पंडितजी बेचारे खड़े रह गये—जैसे नये नगर में कोई परदेशी बीच बाजार में लुट गया हो। चाय नहीं पी, अहिंसावादी थे—क्रोध किया और घर से चल पड़े। उनका एक साला रहता था, पास ही। फिल्म के व्यवसाय में था, इसलिए उसके पास सूट-बूट सब मिल सकते थे। बड़ी आशा लेकर वहाँ पहुँचे, दो-एक सूट इस संकटकाल में शरीर पर चढ़ाये भी—पर उनके रंग इतने चटकीले-भड़कीले थे कि पंडितजी जैसा अधेड़ उम्र का आदमी उन्हें पहने और वह भी पहली बार—तो लोग उसे क्या कहेंगे—यह आपकी ही समझ पर छोड़ता हूँ।

अस्तु, जूता उसके पैर का वहाँ कोई न मिला। एक दिन के लिए चप्पल को जूते से नीचा देखना पड़े तो क्यों ? पण्डितजी के साले को एक बात सूझी। कहा उसने—"आप ऐसा करें, किसी 'बाटा' की दूकान पर चले जायें और ब्राउन कैनवास का जूता खरीद लें। ४-५ रुपये में आ जायेगा।" पण्डितजी की बुद्धि में यह बात डिब्बे के ढक्कन की तरह या कसे हुए बूट की तरह ही फिट बैठ गई। अब प्रश्न यह था कि एक दिन के लिए—कुछ ही घंटों के लिए कहो—चार-

पाँच रुपये क्यों बिगाड़े जायँ। पैसा वह दाँतों से पकड़कर चलते थे। सोचने की शक्ति बहुत थी और बात कहते इस ढंग से थे कि दूसरा व्यक्ति प्रभावित हुए बिना न रहे। पहुँचे बाटा की दुकान पर। ब्राउन कैनवास का जूता माँगा। नाप का मिल गया। मूल्य था चार रुपये तेरह आने। पंडितजी ने यहाँ भी कला दिखाई। अपनी बड़ी प्रसिद्ध कम्पनी का नाम बताया, सज्जनता से बड़ी ही मधुरवाणी में बात की और समझाया—"हमारी श्रीमती जी को यह मेल कम ही पसन्द है, नजदीक ही मकान है, आप कहें तो अभी दिखा ले आता हूँ, पाँच मिनट में ही। तभी बिल बना दीजियेगा।" मालिक उनका तर्क मान गया—इतनी बड़ी कम्पनी में दायित्व के पद पर काम करने वाला व्यक्ति चार-पाँच रुपये के लिए भला क्या मिथ्या बोलेगा ? पंडितजी ने सेल्समैन के हाथ में दो रुपये पकड़ा दिये—"देखिए, यह अभी रख लीजिए, ताकि आपको कुछ विश्वास हो जाय···" और कान में कहा चुपके से—"दोनों पैर रख देना भाई।" सेल्समैन अन्दर से डिब्बा बाँध ले आया। आश्वस्त हो पंडितजी घर लौट आये। सूट और जूते का डिब्बा सोमवार के लिए सँभाल कर रख दिया। हँसी-खुशी घर आये थे, इसलिए श्रीमती जी से भी सन्धि कर ही ली—अब चाहे वह उन्हीं की शर्तों पर सही ! और सोमवार का दिन देखते-देखते उन्होंने रात्रि बिता दी—यानी कांफ्रेंस की चिंता ने उन्हें सोने नहीं दिया। पाँच बजे ही उठ बैठे। नहाए-धोए, और वही छोटा कमरा बन्द कर सूट, जो साले से माँग लाए थे, पहनना आरम्भ किया। न जाने हुआ क्या, उस वक्त पैण्ट ठीक आ गई थी, अब एड़ी से नीचे जा रही थी। बात यह थी कि साले ने 'गेलिस' कसकर पहनाई थी और उतारते समय उसे फिर ढीला कर दिया था। पंडितजी यह एकदम भूल गए थे। घबराहट में गेलिस पर उनका ध्यान ही नहीं गया और खीझ के मारे मन-ही-मन साले पर आग-बबूला होने लगे। कुछ न सूझा—गेलिस निकाल फेंकी और ऊपर से मोड़कर पाजामे के नाड़े से पेट कस डाला। अब बारी आई जूते की। डिब्बा खोलकर चटपट दाँयें पैर में जूता कस लिया। दूसरा पहनने को उठाया तो सहसा हाथ रुक गए। यह जूता भी दाँयें ही पैर का था ! थे कुछ संजीदा पंडितजी, वरना नौबत उसी जूते से माथा पीट लेने की थी। उनकी समझ में सब आ गया। नौ बज रहे थे। वह चप्पल पहने ही जूतेवाले की दूकान पर पहुँचे। गरम थे, सोच रहे थे—'खूब डाँट लगाऊँगा, शरीफ ग्राहकों से यह क्या मजाक ?' पर दूकान तब तक खुली न थी। पंडित जी उस क्षण फिर मुट्ठी मलते रह गये। लौटने ही वाले थे कि सेल्समैन आ टपका। उसकी मुद्रा पर शरारत-भरी मुसकान थी। पंडितजी ने आव देखा न ताव—डिब्बा उसके हाथ में पकड़ाते हुए बोले—"यह लीजिए अपना जूता ! आपकी दूकान से कोई चीज लेने का धरम है ?"

सेल्समैन ने अपनी हँसी रोकते हुए कहा—"महाशय, मैं जानता था, आप लौटेंगे—एक दिन देर से लौटे पर—तीन रुपये और लाइये, मैं अभी बाँयें पैर का जूता भी बाहर निकाल देता हूँ।"

पंडितजी ने कहा—"मैं आपसे बाज आया, मेरे दो रुपये लौटा दीजिए—

जूता मुझे नहीं चाहिए।"

"ठीक है—आप ग्यारह बजे आइये, हमारे मैनेजर तभी आयेंगे—पैसे ले जाइये···"

"यह भी खूब रही!" कहते-कहते पंडितजी के मस्तिष्क में फिर मैनेजर शब्द टकराया और वह विवशता से, "अच्छा!" कहकर बस-स्टैण्ड पर आए। दफ्तरों का समय था और कोई बस एक-या दो यात्रियों से अधिक न लेती थी। पंडितजी को अपना नम्बर पाँचवीं बस में भी न आता दिखता था। धीरे-धीरे वह लाइन में आखिर इतने आगे आए कि बस यदि पाँच यात्री ले तो उनका दाँव भी लग जाय। घड़ी पौने दस बजा चुकी थी। उधर घर में खाने की थाली प्रतीक्षा कर रही थी, उसका भी क्षणिक ध्यान उन्हें आया और पास खड़े बाबुओं से वह 'टाइम प्लीज' भी पूछते रहे। अन्ततोगत्वा बस आई—पर चार ही 'जगह' थीं, पंडितजी ने हिम्मत तोड़ दी और कण्डेक्टर के मना करते-करते भी वह कपिशिरोमणि की भाँति कूदकर डंडे से लटक गए। एक पैर नीचे झूलता ही नहीं रह गया, वरन् उसमें से चप्पल निकलकर भी सड़क पर गिर पड़ी। पंडितजी चिल्लाए, कण्डेक्टर ने बस रुकवाई और सड़क के राहगीरों और बस-यात्रियों की कर्ण-कटु हँसी के बीच वह एक पैर में चप्पल पहने ही दूसरी चप्पल के लिए दौड़े। बस में अब और पन्द्रह मिनट तक नम्बर नहीं आ सकता था। भय और आशंका के जोर से पंडितजी ने टैक्सी बुलाई। फोर्ट की ओर चल पड़े। दफ्तर पहुँचे तो सवा दस हो चुके थे। जल्दी ही छूटनेवाली लोकल को पकड़ने के लिए जैसे यात्री लपकते हैं, वैसे ही वह अपने 'कैबिन' की ओर लपके, समाचार-पत्र मेज पर पटका और जेब में पैंसिल रख, हाथ में थोड़ा पैड का कागज उठा वह पुनः बाहर की ओर लपके। यह सब इतनी शीघ्रता से हुआ कि पंडितजी के टाइपिस्ट का उन पर तब ध्यान गया जब कि वह अपने कमरे से बाहर आ चौथी मंजिल पर मैनेजर के यहाँ जाने के लिए 'लिफ्ट' की ओर दौड़ रहे थे। टाइपिस्ट ने गलियारे में से ही पुकारा—"अजी पंडितजी! सुनिए तो पंडितजी···" क्रोध से उफन आए पंडितजी। आँखें निकालकर उसे घूरा और भीतर-ही-भीतर बड़बड़ाए—"मनहूस ने शकुन बिगाड़ दिया।" तब तक टाइपिस्ट पास आ चुका था—धीरे से बोला—"कांफ्रेंस में जा रहे हैं क्या?"

"काम से जाते हुए को टोकना बहुत बुरा है, समझे!" उनकी वाणी में रोष था।

टाइपिस्ट कुछ सहम गया—कहने लगा—"पर कांफ्रेंस तो··········"

"तो क्या?" पंडितजी बड़ी उतावली में थे।

"स्थगित हो गई।"

पंडित जी जैसे आसमान से जमीन पर गिर पड़े। विश्वास न हुआ "क्या बकते हो?" उसी क्रोधपूर्ण स्वर में वह बोले।

टाइपिस्ट अब दृढ़ हो गया—"क्या आपने अपनी मेज पर रखा वह नोट नहीं

देखा मैनेजर साहब का ?"

"कौन-सा नोट ?" कहते हुए पंडितजी कमरे की ओर घूमे। टाइपिस्ट ने कहा—"अभी, आपके आगे-आगे तो आया है···" और पंडितजी की वेशभूषा को देखते हुए वह होंठ भींचे ले रहा था।

पंडितजी इस समय एकदम हड़बड़ा उठे थे, उनके मुँह से निकला—"क्या कहा, मेरे आगे-आगे ? यह नोट न हुआ गाड़ी का घोड़ा ही हो गया।"

टाइपिस्ट मौन था और पंडितजी भारी पैरों से अपने कैबिन में घुसते हुए बोले—"देखो, साहनी यार आयंगर से यह बात भूलकर भी न कहना, समझे !"*
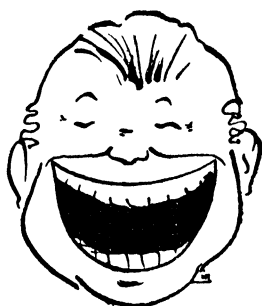
* स्वयं पंडित जो द्वारा मित्रमण्डली में सुनाए गए संस्मरणों के आधार पर।

कल्पवृक्ष की कलमें

रामकुमार ओझा

●

श्री रामकुमार ओझा का जन्म सम्वत् १९८३ में पंजाब के झोथर ग्राम में हुआ था। बचपन का अल्पांश दार्जिलिंग में और अधिकांश नोहर में बीता। लिखने का चाव बहुत पुराना है। प्रथम रचना 'यह भारतीय बच्चे' थी जो, जब आप चौथे दर्जे में पढ़ते थे, अबोहर से प्रकाशित होनेवाले मासिक 'दीपक' में छपी। छठे दर्जे तब पहुँचते-पहुँचते कई छोटे-मोटे पत्रों में कहानियाँ छपने लगीं। उन्हीं दिनों इलाके में राजनीति की लहर आई और स्कूल को अलविदा कह चौदह साल की अवस्था में प्रजा परिषद् के सहायक मंत्री बन गये।

स्कूल तो छोड़ दिया पर पढ़ना-लिखना न छोड़ा। प्राइवेट तौर पर 'प्रभाकर' और मैट्रिक की परीक्षायें पास कीं। इस बीच अच्छे पत्रों में भी रचनायें निकलने लगीं। सन् १९४७ में जब भारत को स्वतंत्रता मिल गई तो पारिवारिक आर्थिक कठिनाइयों से मजबूर हो प्रजा परिषद् के कार्य से हाथ खींच स्थानीय हाई स्कूल में अध्यापक हो गये और आजकल वहीं हैं। इसी बीच साहित्यरत्न भी कर चुके हैं।

आप विशेष रूप से हास्य और व्यंग्य लिखते हैं। हिन्दी की प्रायः सभी उच्च कोटि की पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ छपती हैं।

रचनाएँ

'रावराजा', 'ताँगेवाले नवाब', आदि।

नोहर, राजस्थान

उसी गड़बड़ी में अपने राम को भी पुलिसवाले ने डण्डे के
बल पर नीचे उतरने को मजबूर कर दिया

सिद्धिश्वर जिस समय मेरी बैठक में घुसा उस समय मैं पानी पी रहा था। उसने आते ही अजीब स्वर में कहना आरम्भ कर दिया, "भगवान् विष्णु आ रहे हैं। भगवान् विष्णु आ रहे हैं।"

मैं बौखला गया। बोला, "दो मिनट के लिए उन्हें बाहर ही रोक लो। मैं जरा बैठक ठीक कर लूँ।"

"तुम्हारे घर में नहीं आ रहे हैं। यह 'टाइम्स आफ़ पैरेडाइज़' का समाचार है। उसमें लिखा था—'बैकुण्ठाधिपति हिज मेजैस्टी भगवान् विष्णु अल्पकालीन दौरे पर भारत पधार रहे हैं।"

"सच कह रहे हो?"

"बिलकुल सच।"

"तो चलो काफी हाउस में चचा चिरोंजी की कमैन्टरी सुनेंगे।"

'बैठक के किवाड़ बन्द कर लेना' की आवाज लगाने के बाद जब हम काफी हाउस की ओर दौड़ने लगे तो हमें विश्वास हो गया कि हवाई जहाज की तरह आदमी भी रेस में उन्नति कर रहा है।

काफी हाउस में पहुँचते ही हमने देखा कि उसी कोनेवाली कुर्सी पर चचा चिरोंजी विराजमान हैं। उनके शरीर-रूपी उपन्यास का ऊपर से गिना जानेवाला प्रथम परिच्छेद गम्भीर था। चेहरे पर हो० ची० मिन्ह टाइप या पणिकर-कट दाढ़ी थी। मिचमिची दार्शनिक आँखों के नीचे गालों की हड्डियाँ उभर आई थीं। सुकरात मार्का नाक के नथुनों के नीचे ऐसी मूँछें मानो नासिका-रन्ध्रों से बरबस तारकोल बह चला हो। नाक का ऊपरी हिस्सा जहाँ समाप्त होता था वहीं लेनिन की खोपड़ी जैसे सिर रूपी कवर में डॉ० सिगमन री के मस्तिष्क जैसी ही मैशीनरी फिट थी।

जीवन के प्रथम आश्रम में आपको क्रान्ति का शौक चर्राया और पढ़ने-लिखने के दिनों में पिस्तौल चलाने का अभ्यास करने के प्रयत्न में सीधी बाँह की हड्डी तुड़वा बैठे। दूसरे आश्रम में प्रेम के चक्कर में फँसे परन्तु जब ब्याह का अवसर आया तो सिंगापुर की राह ली। वहाँ क्या किया यह तो भगवान् जाने मगर जब लौटकर आये तो तीसरे आश्रम में थे।

अब न क्रान्ति का शौक था, न रोमांस का जनून। अतः कुछ दिन निरपेक्ष भाव से राजनीति के साथ आवारागर्दी करते रहे। यहाँ से ऊबते ही दर्शन की ओर रूचि हुई तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर मार्क्सवादी साहित्य चाट डाला। द्वितीय महा-युद्ध के दौरान में कुछ फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध जनवादी मोर्चा के प्रोपेगण्डा सेक्शन

में काम किया। परन्तु युद्ध समाप्त होने के साथ-साथ ही आपके राजनीतिक, दार्शनिक बनाम क्रियाशील जीवन की परिसमाप्ति हो गई। चौथेपन में आपने गठिया का शिकार बन काफी हाउस में अड्डा जमाया और शागिर्दों को तात्विक उपदेश देने के बदले में चाय और काफी के घूँट वसूल करने शुरू कर दिये।

जिस समय हम काफी हाउस पहुँचे उस समय वहाँ चचा चिरौंजी बैठे हुए कोई दिवा-स्वप्न देख रहे थे। हमारे वहाँ पहुँचते ही उनकी तन्द्रा भंग हो गई। मगर अपनी आदत के अनुसार पहली दृष्टि में उन्होंने हमें देखकर भी न देखा। परन्तु सिद्धिश्वर ने जब चाय के लिए आर्डर दिया तो वह कुछ इस प्रकार सावधान होकर बैठ गये कि यदि अचानक आसमान भी गिर पड़ता तो वह उसे अपने भग्न बाजू पर रोक लेते। गरम-गरम चाय का फ्लेवर जब उनके नोकीले माथे के नीचे जड़ी दो बरौनी-विहीन आँखों और नासिका-रन्ध्रों से जा टकराया तो उस जड़ शरीर में चैतन्यता आती दिखाई दी; और प्रथम चाय की चुस्की ने ही उनकी जिह्वा को मुखरित कर दिया।

अनुकूल अवसर देखकर मैंने भगवान् की प्रस्तावित यात्रा की चर्चा की तो हमें डाँटते हुए बोले, "चुप रहो, इन व्यर्थ की बातों में चाय का आनन्द न बिगाड़ो। लाओ, अखबार मुझे दो। चाय और अखबार का समन्वय स्वर्गीय सुख का सृष्टा है। चाय राजनीति की जननी और अखबार उसका पालनकर्ता है।" इस स्थल पर उन्होंने चाय का एक घूँट भरा, फिर बोले, "एशिया के तमाम मौजूदा नेता परले सिरे के सिरफिरे हैं और राजनीति के बीज यूरोप और अमेरिका को निर्यात करते हैं। परन्तु तुम अभी बच्चे हो। इस तत्व को क्या समझो कि दुनिया के बड़े कूटनीतिक मसले चाय की टेबिल पर ही हल होते हैं। सीटो, नाटो और बगदाद-पैक्ट जैसी सन्धियों के दस्तावेज और भारत आदि देशों के फरमान सब चाय के सरूर में लिखे गये हैं।"

चचा को विषयान्तर में फँसते देख मैंने फिर उनका ध्यान प्रस्तुत विषय की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया तो वह बोले, "हाँ हाँ, पढ़ चुका हूँ। हिज मैजेस्टी भगवान् भारत आ रहे हैं और भारत सरकार कुछ सैंकड़ा संन्यासियों को बटोरने की फिक्र में है जो भगवान् के शुभागमन पर भूमि पर लम्बायमान लेटकर वैदिक ढंग से सलाम यानी साष्टांग प्रणाम करने की रस्म अदा करें।"

इतना कह चचा फिर समाधिस्थ हो गये, तो सिद्धिश्वर ने एक हाफ सैट का आर्डर और दिया। चचा की कुण्ठित जिह्वा में नई स्फूर्ति का संचार हुआ तो वह आसन जमाकर बैठ गये, और फिर प्रवचन आरम्भ कर दिया, "तुम भी कहोगे क्या खूब है हमारा मुल्क। इसलिए नहीं कि यहाँ चाय जैसी दुर्लभ पेय की पत्तियाँ पाई जाती हैं और आम जैसा रसीला फल पैदा होता है अथवा बंगाल का जादू ठीक सिर पर चढ़कर बोलता है या यहाँ के गवैये अपने चेहरे पर गज भर की दाढ़ी और सवा गज की मूँछों का अवगुण्ठन डालकर भी राधारानी के अंदाज

से अंग-संचालन करते हुए ठुमरी गाते हैं। ये सब बातें गौण हैं। असल बात है भारत-वासियों की जातिगत विशेषताएँ। जूते में पांव भले ही कटता रहे मगर यहाँ के लोग नाक नहीं कटने देंगे। जिस देश की बंदरिया तक अपने मृत बच्चे को पेट से चिपकाये फिरती हैं, वहाँ के लोग भला अपनी मृत परम्पराओं को कैसे छोड़ देंगे। 'जो पुराना सो हमारा' सिद्धान्त के पोषक भला बड़ी पुरानी अतिथि-सत्कार की कहानियों को कैसे भूल जाएँ। तुम कहते हो हिज मैजेस्टी भगवान् भारत आ रहे हैं। यह कोई खास बात नहीं है। जहाँ इतने इन्सान आये वहाँ एक भगवान् भी सही। वह भी पंचशील का समर्थन कर भारत की शान्ति-पसन्द नीति को दाद दे जायेंगे; और भगवान् के साथ एम्प्रेस लक्ष्मी भी आ रही हैं—साक्षात् धन की देवी! यदि कहीं स्वागत-सत्कार का ढब बैठ गया तो न-जाने क्या कृपा-दृष्टि कर जायेंगी।"

अब सिद्धिश्वर चुप न रह सका। बोला, "चचा, विश्वास रखो, इस आजादी में हमारे हाकिम-हुक्कामों ने चाहे और कुछ न सीखा हो पर वे मेहमाननवाजी के फन में काफी चतुर हो गये हैं। अमरीकन स्टाइल से शेक-हैण्ड करना, अरबी कायदे से फारसी सलाम बजा लाना और तुर्की कायदे से कार्निश करना हमारे स्वागताधिकारी खूब सीख चुके हैं।"

"मगर स्वागत की सफलता तो जनता पर निर्भर है," मैंने भी बातों के बीच में अपनी टाँग अड़ाई।

"जनता की बात छोड़ो! रूसियों पर सच्चे मोती बरसानेवाली जनता भगवान् पर माणिक बरसायेगी। इस मुल्क की जनता नुमायशी कामों को बहुत पसन्द करती है। और जब सिक्यूलर सरकार भगवान् की अगवानी में तोपें दागेगी तो धर्मप्राण जनता भी फूल बरसाने में पीछे न रहेगी।"

चचा का समर्थन पाकर सिद्धिश्वर अकड़ गये। वह राजनीतिक प्रवक्ताओं की तरह बोले, "और इसके बदले में भगवान् कहेंगे : 'मैं भारत किसी राजनैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए नहीं बल्कि सांस्कृतिक सम्बन्धों की दृढ़ता के लिए आया हूँ। भारत की प्रगति देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ।' और लगे हाथों आप वैष्णव मतावलम्बियों को भारत सरकार के हाथ मजबूत करने की सलाह भी दे डालेंगे।"

इस स्थल पर मैं कुछ बोलना चाहता था। इसलिए बहुत देर से मन-ही-मन वाक्य-विन्यास के बारे में सोच रहा था। बहुत सोच-समझकर मैं बोला, "यह भी अच्छी मखौल है। आये दिन···"

"तुम हो पूरे गधे! तुम रेंकना जानते हो, सोचना नहीं जानते। पहले यह समझ लो कि यह मुल्क ही मसखरों का है। भरे-पूरे संसार को माया, स्वप्न और पानी का बुदबुदा बतलानेवाले यहाँ तत्वज्ञानी कहलाते हैं। बोदेपन को इस मुल्क के लोग सच्चरित्रता की संज्ञा देते हैं, समझे! इन आगमन स्वागतम में बस यही होता है कि स्वागत कमेटी एक आकर्षक-सा प्रोग्राम बनायेगी। कुछ दिन रिहर्सल चलेगा। एक तूफान-सा आयेगा और फिर प्रधान मंत्री से 'सब ठीक है' का फतवा पाकर सब

निश्चिन्त हो जायेंगे।"

"मगर चचा, हम तो सन्तुष्ट तब होंगे जब भगवान् के शुभागमन के समय दर्शकों की अगली पंक्ति में हमें स्थान मिलेगा।"

"अरे, इसकी तुम क्यों चिन्ता करते हो, बेटा ? स्वागत कमेटी में अपना भी एक-आध शिष्य होगा ही। पास-वास की तुक भिड़ ही जायगी, और तुम तो फिर पालम पर भगवान् से हाथ मिलानेवालों में होगे। समझे कलन्दर !"

चचा ने मेरे लिए कलन्दर शब्द का प्रयोग किया था, मैं बड़ा प्रसन्न हुआ।

चचा का वहाँ से प्रस्थान करने का मूड आ गया था और उनके चेहरे पर एक अजीब अपरिचितों जैसी झलक आ गई।

भगवान् के आगमन के दिन तक हम चचा के पासों का इन्तजार करते रहे। पर न पास आये न उनके दर्शन हुए। वह अचानक 'अण्डर ग्राउण्ड' हो गये थे। मगर जब राजमार्ग पर खड़ी भीड़ 'भारत-बैकुण्ठ मैत्री जिन्दाबाद' और 'बैकुण्ठी-हिन्दी भाई-भाई' के नारे लगाने लगी, तो हम भी लपककर सड़क पर आ गये। सिद्धिश्वर उछलकर एक पेड़ पर चढ़ गया और बन्दा टेलीफोन के खम्भे पर।

भगवान् का जलूस हमारे सामने से निकल गया पर हम पापी न देख पाये क्योंकि सिद्धिश्वर जिस डाल पर बैठा हुआ था उस डाल पर इतने नर-बानर चढ़े हुए थे कि वह डाल धरती पर आ गई और उसी गड़बड़ी में अपने राम को भी एक पुलिस-वाले ने डण्डे के बल पर पृथ्वी पर उतर आने पर मजबूर कर दिया। अब भला पिछली पंक्ति में खड़े उचक-उचककर क्या खाक दिखाई देता ?

परन्तु अगले दिन पैरेडाइज़ में जो कुछ देखा उसे देखकर हैरान रह गये। बात यह थी कि पेड़ से गिरने के कारण हड्डी-हड्डी दर्द कर रही थी। सिद्धिश्वर नीम की छाया में पड़ा कराह रहा था और मैं पूरी शक्ति से उसकी हड्डियों में दर्द-नाशक खपा रहा था, तभी समाचार-पत्र का मुख्य पृष्ठ देखकर सिद्धिश्वर का दर्द भी हवा हो गया। मुख्य पृष्ठ पर भगवान् के बहुत-सारे फोटो छापे गये थे। उन सब में चचा चिरोंजो का शुतुरमुख मौजूद था। कहीं वह नारद से हाथ मिला रहे थे और कहीं भगवान् से बातें कर रहे थे। एक फोटो तो ऐसा भी था जिसमें वह लक्ष्मी के कान में कुछ कहते नजर आ रहे थे।

चचा ने निश्चित रूप से हमें धोखा दिया। दो-दिन तक काफी हाउस के कई-कई चक्कर लगाये तब कहीं तीसरे दिन उनके दर्शन हुए।

हम झल्लाये, शिकवे किये मगर चचा चुप रहे। जब उनका मुँह खुला ही नहीं तब मैंने एक जोर की आवाज लगाई, "बॉय, चाय !"

चाय आई। चाय का एक घूँट घेंटुए से उतरते ही वह मुखरित हो उठे। "भाई, बड़ा अफसोस है कि तुम्हारे पास मेरे पाकिट में ही पड़े रह गये। ठीक समय पर जो हाथ लगे तो अपने राम सीधे पालम पर जा पहुँचे। आनन्द तो बहुत आया परन्तु तुम्हारे बिना कुछ फीका-फीका-सा रहा। भगवान् रजत-धवल पंखोंवाले गरुड़

वाहन पर और लक्ष्मी उल्लूक वाहन पर आईं। नारददेव यमराज से भैंसा माँग लाये थे। राष्ट्रपति भगवान् से गले मिले और प्रधान मन्त्री ने लक्ष्मी से हाथ मिलाया। फौरन ही अपने राम भी अवसर देखकर नारददेव से जा उलझे। इस तपाक से शेक-हैण्ड किया कि वह उलझन में पड़ गये और अपने राम उनके साथ नत्थी हो गये।"

"खूब मिले, चचा! बन्दर से कलन्दर मिल गया," मैंने अपनी उपाधि जोश में आकर उन्हें दे दी।

तारतम्य तोड़ने पर मुझे डाटते हुए उन्होंने अपनी बात जारी रखी, बोले, "समझे साहब, औपचारिक शिष्टाचार के बाद सवारी चली तो एक बड़ी-सी कैडलाक कार में भगवान् के साथ राष्ट्रपति बैठे और दूसरी में तन्वांगी लक्ष्मी के बराबर में प्रधानमन्त्री और अपने राम नारददेव के साथ एक फौजी ट्रक में भड़भड़ाते हुए चले। बड़ा आनन्द आया। अपने राम के सिर पर भी जीवन में पहली बार फूलों की वर्षा हुई और सबसे अधिक आनन्द देनेवाली बात तो यह है कि नारददेव बंदे को अभी तक कोई छोटा-मोटा स्वागताधिकारी ही समझे बैठे हैं। अब जरा अन्दरखाना रहस्य की बात भी सुनो। भगवान् भारत से एक व्यापारिक समझौता करना चाहते हैं अर्थात् कुछ सांस्कृतिक, ऐतिहासिक वस्तुओं का आदान-प्रदान करना चाहते हैं।"

मैं बोला, "चचा, इस बार यदि स्वर्ग के बच्चों के लिए हाथी न भेजकर आपको भेज दें तो कैसा रहे?"

चचा ने मेरी बात न सुनते हुए कहा, "भगवान् की इच्छा है कि यहाँ से स्वर्ग को चूहा-संहारक-औषधि, टिड्डी-नाशक-पाउडर, डी० डी० टी० और मछली फँसाने वाले जालों का निर्यात हो। लक्ष्मी शृंगारिक प्रसाधनों और खटाऊ की साड़ी में दिलचस्पी ले रही हैं। नारददेव चाहते हैं कि बनारस के लंगड़ा आम, दार्जिलिंग की चाय, बताशा गली के सीलबन्द अचार, मुरब्बे तथा सिदरी की खाद स्वर्ग को जाने लगे, पर भारत इसके बदले में कल्पवृक्ष की कुछ कलमें चाहता है। भगवान् को इसमें कुछ एतराज है। वैसे कल राजघाट पर उन्होंने जो कलमें अपने हाथ से रोपी हैं कूटनीतिज्ञों की राय में समझौते की लक्षण हैं।"

"मगर, चचा, आपने यह गोपनीय बात जानी कैसे?" मैंने पूछा।

"भाँग की झोंक में नारद ने उगल दीं। परन्तु छोकरों, तुम चाय के सरूर में कहीं न बक देना। और हाँ, कल राजभवन में भगवान् की दावत है। यदि डौल बैठ गया, तो तुम्हे भी तर खिलाऊँगा, तैयार रहना।"

अगले दिन हमने राजभवन में माल उड़ाने की आशा में खूब दण्ड पेले, खूब भूख लगाई। मगर चचा चिरोंजी के दर्शन न हुए। अतः हमें पैरेडाइज के ताजा अंक में भोज सम्बन्धी फोटो देखकर ही पेट भर लेना पड़ा। चित्रों में जहाँ-जहाँ चचा की खोपड़ी उभरी हुई थी हमने उन अंशों को नोच डाला।

परन्तु जिस दिन भगवान् काशी, मथुरा आदि विभिन्न तीर्थों का पर्यटन कर लौटे उस दिन फिर हमने चचा को काफी हाउस में जा पकड़ा।

हम खूब चीखे-चिल्लाये। उन्हें अव्वल दर्जे का धोखेबाज भी कहा पर वह मौन साधे गम्भीर चिन्तन में निमग्न रहे। चीखते-चीखते जब हम थक गये तब चचा बोले, "चलो छोकरों, आज की चाय चचा के सिर रही।"

और जब चाय आ गई तो वह आसन जमाकर बैठ गये। फिर बोले, "बड़ा आनन्द रहा इन दिनों। सब पाप झड़ गये। झड़ क्या गये अब तक तो अतल हिन्द महासागर में डूब भी गये।"

"तब तो बहुत बुरा हुआ, चचा!" सिद्धिश्वर बोला।

"क्या बुरा हुआ?"

"सरकार की एक योजना निष्फल हो गई। देश का एक व्यापार चौपट हो गया।"

"आखिर कौन-सा व्यापार?" चचा ने हैरान होकर पूछा।

"मछली व्यवसाय तहस-नहस हो गया, चचा। जब सागर के पानी में तुम्हारा विषाक्त मैल मिल गया तो भला बेचारी मछलियाँ क्या खाक जियेंगी।"

"यू डैविल डोन्ट बकवास! बात सुनो।" चचा ऐंग्लो-इण्डियन-हिन्दुस्तानी हिन्दी में बोले, "नारददेव अब भी हमें भारत सरकार का कर्मचारी समझते हैं और सरकारी क्षेत्र नारददेव का परम मित्र। भगवद्-दम्पति भारतीयों के स्वागत-सत्कार से प्रभावित होकर भारत की बढ़ती आबादी के कुछ हिस्से को स्वर्ग में बसाने की सहूलियत देना चाहती है। इस समझौते पर कल हस्ताक्षर हो जायेंगे और परसों भगवद्-दल यहाँ से विदा लेगा।"

"उसके कुछ दिन बाद यहाँ से एक शिष्ट-मण्डल स्वर्ग को जायेगा और वह वहाँ बसने-योग्य जमीन का चुनाव करेगा और वहाँ से लौटते समय कल्पवृक्ष की असली कलमों की पहली खेप भी लायेगा।"

"असली से क्या मतलब? पहली कलमें क्या नकली थीं?" मैंने पूछा।

"हाँ, नारददेव को सन्देह है कि लक्ष्मी ने भूल से भगवान् के थैले में कल्पवृक्ष की कलमों के बजाय बबूल के दन्तौन रख दिये थे। अब जरा काम की बात सुनो। लोबी क्षेत्र में चर्चा क्या है? यह प्रायः तय ही है कि स्वर्ग के श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ नारददेव के अन्तरंग मित्र होने के नाते स्वर्ग जानेवाले शिष्ट-मण्डल के नेता हम ही होंगे; और अपने दल के सदस्यों का चुनाव भी हम ही करेंगे। तुम दोनों का चलना तो निश्चित ही है। परन्तु इसके साथ-साथ तुम अपने मित्रों को भी दावत दे सकते हो।"

इसलिए साथियो! हम आपको भी विश्वास दिलाते हैं कि चचा चिरोंजी इस बार हमको धोखा न देंगे, क्योंकि हम भारत के सांस्कृतिक प्रतिनिधि बनकर जा रहे हैं। कल्पवृक्ष की कलमें हमें लानी हैं। अस्तु, हर प्रतिनिधि बतौर भेंट के कोई-न-कोई

चीज अवश्य ले जायेगा। मौसम की अनुकूलता की दृष्टि से आम ठीक है। लीचियों के बारे में भी कोई एतराज नहीं। इसलिए जो भी मित्र, या मित्र के मित्र अथवा उसके दुश्मन के दुश्मन इस शिष्ट-मण्डल के सदस्य बनने के इच्छुक हों वे कम-से-कम एक बड़ा टोकरा आम अथवा पाँच सेर लीचियाँ या दोनों चीजें एक सप्ताह के अन्दर हमारे पास भेज दें जिससे कि उन चीजों को ऐसे तापमान में पैक कर दिया जाये कि वे बिगड़ने न पायें। इसके बाद ही आप अपने को भी शिष्ट-मण्डल का सदस्य मान लें। धन्यवाद।

अँधेरा

रामचन्द्र चेट्टी

●

श्री रामचन्द्र चेट्टी का जन्म सन् १९१८ में आन्ध्र प्रान्त के विजयनगर में हुआ था। बी० एस-सी० तक आपने शिक्षा पायी। पिछले १६ वर्षों से बिहार में रह रहे हैं और रेलवे में कर्मचारी हैं। आप विशेष रूप से हास्य कहानियाँ लिखते हैं जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। आप एक कुशल चित्रकार भी हैं और आगरा से निकलनेवाले हास्य-रस के पत्र 'नोक-झोंक' के सह-सम्पादक हैं। कुछ अन्य पत्रों से भी सम्बन्धित हैं।

टी० सी० एम्स आफिस, आद्रा (बी० एन० रेलवे)
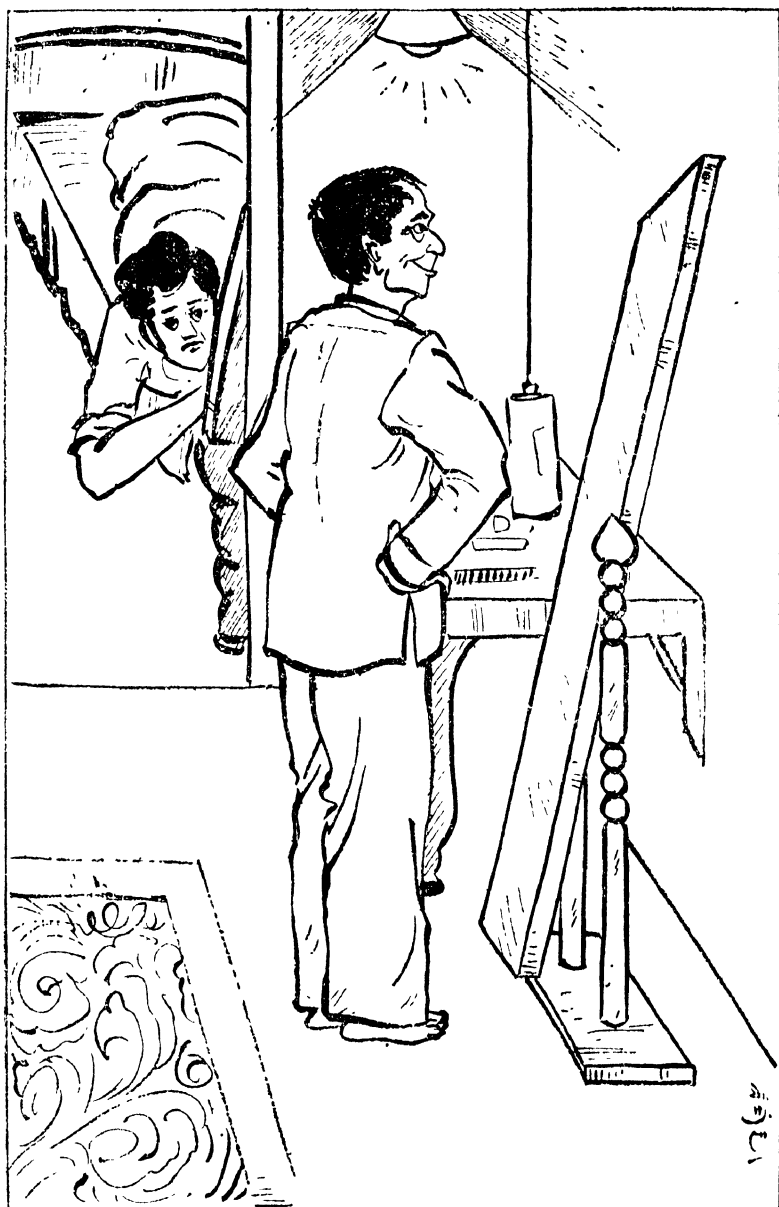
मियाँ रहमत आदमक़द आईने में अपने चेहरे का मुआइना करते हुए मुसकरा रहे थे

जब लोगों ने देखा कि अपने रहमत सरीखे फरमाबरदार नौकर को सरकारी नौकरी दिलाकर खुद दूसरे नौकर की तलाश में परेशान हूँ तो उन्हें बहुत ही ताज्जुब हुआ। खुद मेरी हसीन बीबी जेबा, अपने सुर्ख सुन्दर चेहरे पर एक हलकी-सी उदासी की छाया फैला अपनी दादी अम्मा से बोली—"दादी अम्मा, आप भले ही जो कहें, पर मेरा तो ख्याल है कि उनके दिमाग का कोई पुर्जा ढीला हो गया है या फिर उसमें कोई फितूर पैदा हो गया है या वाकई में पूछो तो मुझे शक है कि·····"

दादी अम्मा अपनी झुर्रियों के बीच छिपी छोटी-छोटी आँखों को मिचमिचाती ताज्जुब से उसके चेहरे पर नजर गड़ाकर बोली—"क्या ?"

"दादी अम्मा, नौकर तो आजकल गूलर के फूल हो गये हैं। आप ही बतायें यह कहाँ की अक्लमन्दी है कि घर के एक ईमानदार अच्छे-खासे नौकर को निकालकर अब एक जवान नौकरानी की तलाश की जाय ?"

जवान नौकरानी ! यह जेबा की अपनी ईजाद थी, जिसने मुझे कायल कर दिया। वल्लाह ! क्या नेकबख्त बीबी थी और कितने पाकीज और ऊँचे ख्यालात थे अपने शौहर के बारे में ! हकीकत तो यह थी कि मेरा काम किसी बूढ़ी, बदशक्ल या कम उम्रवाली नौकरानी से भी चल सकता था।

दादी अम्मा पोपले मुँह में हवा खींच, पान की गिलौरी को इस कल्ले से उस कल्ले कर, नाक के सिरे को अँगुली की नोक से छू, ठोढ़ी को मशीन के शटल के समान ऊपर से नीचे हिलाते हुए बोलीं—"ना, ना बेटी, क्या कहती हो ? वह तो बहुत ही शरीफ लड़का है।" खुदा जाने बात दिल से निकल रही थी या केवल जबान भर से क्योंकि आवाज में कुछ इस तरह का पुट था मानो अब उन्हें मेरे शरीफ होने पर भी शक होने लगा हो।

खैर, अल्लाह भला करे मेरी नेक पाक-दामन सास का, जिन्होंने ऐन मौके पर आकर मेरी इज्जत बचा ली और उन दोनों को डाँट दिया। जेबा तो उँगलियाँ चटकाती बाहर चली गई और दादी अम्मा ने चबाते हुए पान को जल्दी-जल्दी इस गाल से उस गाल में फेरना शुरू कर दिया।

जब मेरी शादी नहीं हुई थी यानी श्रीमती जेबाबानू ने हमारे गरीबखाने को रोशन नहीं किया था, तब से रहमत मेरे यहाँ नौकर था। मेरा हम-उम्र था। कपड़े-लत्ते से दुरुस्त रहना पसन्द करता था। तबियत में रंगीनी थी। मेरी आँखों के ओझल होते ही मेरे साफ कपड़ों पर हाथ फेर, पड़ौस की जवान नौकरानियों को देख लम्बी आहें भरना शुरू कर देता और सिनेमा के मोहब्बत से लबरेज गानों को गाता फिरता

था। फिर भी काम में ठीक था और मुझे उससे कोई खास शिकायत न थी।

आखिर मेरी शादी हुई और जेबाबानू ने आकर मेरी नन्ही-सी दुनिया को आबाद किया। जेबा हसीन थी। इतनी हसीन कि देखनेवाले बस देखते ही रह जायँ। पर वह जितनी हसीन थी उतनी ही तेज-मिजाज भी। उसके सुर्ख और पतले होंठ हिलते, तो मैं उसके तानों की बौछार के ख्याल से परेशान हो जाता और जब उसकी गोरी नाजुक कलाई कड़ी होती तो रहमत सिर सहलाने लगता कि कहीं जूतियाँ न बरस पड़ें। फिर भी बीबी बीबी ही है और हसीन बीबी तो अल्लाह की सबसे बड़ी नियामत है, जिसकी बदमिजाजी भी शोखी में शुमार हो जाती है और जिसकी प्यार की बातें लब पर खिंची हलकी मुसकराहट और अन्दाज-भरी एक नजर जन्नत पहुँचा देती है। यह उसकी तेजमिजाजी का ही असर था कि रंगीनियों में डूबा रहमत अब मजनू बना फिरने की जगह सुबह से शाम तक जूतियाँ खाता फिरता और काम में लगा रहता था। सिनेमा के गाने गाने और लड़कियों को घूरने की उसकी हरकतें ऐसी खत्म हो गई थीं मानो इन आदतों से वह कभी वाकिफ ही न था।

रहमत को मैंने निकाल दिया जबकि उसकी हमें खास जरूरत थी। उसके जैसा वफादार नौकर, जो बेशर्मी का सेहरा सिर पर बाँधे मालकिन की जूतियाँ और गालियाँ खाकर भी काम किये जाय, मिलना नामुमकिन नहीं तो मुश्किल जरूर था। फिर भी उसे निकाल देने की वजह बताना खुद-ब-खुद इतना शर्मनाक है कि बात जबान पर आते-आते रुक जाती है! खैर, किस्सा असल में यों है—

एक दिन शाम का वक्त था। खुला आसमान था। हवा में ताजगी थी। जेबा सुबह से ही खुश नजर आ रही थी। रहमत चाय की ट्रे टेबल पर रख गया। जेबा ने खुद अपने हाथों से चाय बना मुझे दी। एक चुस्की ले खामोशी तोड़ते हुए खुशामद-भरे लहजे में मैंने कहा—"भई, आज चाय तो गजब की बनी है। न-जाने तुम्हारे हाथों में क्या जादू है। बस दिल में आता है कि बनानेवाले हाथों को···" और उसकी कलाई ज्यों ही पकड़ी उसने अपने हाथ को एक झटके से खींच लिया और तुनककर बोली—"और लो! तो क्या आपको रोज नीम घोलकर पिलाई जाती है।"

"ओह, मेरी प्यारी बेगम!" जलकर मन-ही-मन मैंने कहा—"चाय में भले ही नीम न घोलो पर जबान पर तो घोल ही लेती हो।" फिर भी उस सुन्दर शाम को जरा-सी बात के लिए मन में कड़ुवाहट पैदा कर बर्बाद करना नहीं चाहता था, इसलिए ए बेशर्मी की फीकी हँसी हँस खामोश रह गया।

जेबा ने फिर कुछ बिगड़कर कहा—"देखिये, कहे देती हूँ, इस तरह काम न चलेगा; समझे!···"

समझता क्या खाक! न बात का सिर था न पैर। औरत एक पहेली है। उसके मस्तिष्क को समझना दुरूह है। वह सुई के छेद से ऊँट निकाल सकती है और चींटी के अंडे से हाथी पैदा कर सकती है। मैंने साहस कर पूछा—"क्या?"

"पूछते हो क्या ? मैं कहती हूँ इन मुए घासलेटी लैंपों से कब तक काम चलेगा। दीदे फूट जाते हैं, फिर भी घर में अँधेरा-ही-अँधेरा रहता है।"

"जी बिजली···" पीछे से आवाज आई। रहमत बुहारी देते-देते पहुँच गया था और कदाचित् बात सुन कर उसने भी अपनी राय जाहिर करना जरूरी समझा।

"तुझे बीच में बोलने को किसने कहा था, कम्बख्त !" जेबा ने घुड़ककर जोर से चाय का चम्मच जो उसकी ओर खींचकर मारा तो वह सनसनाता हुआ मेरे कान की बगल से निकल गया और मैं बाल-बाल बच गया। फिर वह मेरी ओर घूमकर बोलीं—"घर में बिजली क्यों नहीं लगवा लेते ? घर-घर तो लगी है और लग रही है। यही एक निगोड़ा घर बचा है, जिसमें रात होते ही चमगादड़ फड़फड़ाते हैं और उल्लू बोलते हैं।"

बात सरासर झूठी थी, पर कुछ बोलना आफत मोल लेना था। नाक घुमाकर पकडना स्त्री का जन्मजात स्वभाव है। कुत्ते की टेढ़ी दुम के समान वह बदल नहीं सकता। जेबा की भूमिका का मतलब अब समझ में आया। हम लोगों के छोटे से शहर में नई-नई बिजली लगी थी। यह मुमकिन न था कि उसे देख जेबा खामोश रह जाय। उसके सिर पर चढा बिजली का जुनून मेरा दर्दे सिर और बवाले-जान हो गया। जेबा को बिजली लगवानी थी और वह लगवा कर रही।

घर में बिजली लग गई। पर यह कम्बख्त बिजली भी अजीब मुसीबत लेकर आई। नई कम्पनी थी पर बिजली-घर पुराना था। नये नातजुर्बेकार आदमी थे और बदइन्तजाम था। नतीजा साफ था। बस हर तीसरे-चौथे दिन रोशनी आँखमिचौनी खेलते-खेलते एकबारगी गुल हो जाती थी। फिर काफी दौड़-धूप, खीज-परेशानी के बाद कहीं जाकर कम्पनी के आदमी आते और चन्द घण्टे अँधेरे में गुजारने के बाद लाईन ठीक होती थी। पर जेबा को कौन समझाये ! वह तो उसी में खुश थी। रहमत तो बिजली का लट्टू जलता देख खुद लट्टू बन नाचना शुरू कर देता था।

उस दिन रात को मैं देर से लौटा। शाम को चाय पर एक दोस्त ने बुलाया था और रात को खाना खिलाकर रुखसत किया। चीजें बहुत-सी थीं और बेहतरीन बनी थीं। लिहाजा मैंने दिल खोलकर हाथ साफ किया और मन-ही-मन बहुत खुश था। केवल कुछ परेशानी थी तो खबर न देने और देर से लौटने पर जेबा की नाराजगी की, पर ऐसे मौके पर वे बहाने जिनको खुशामद के मक्खन से चिकना जेबा के आगे पेश करने पड़ते थे मैंने पहले ही सोच रखे थे।

घर के भीतर जैसे ही कदम रखा, एक-ब-एक रोशनी गुल हो गई और सारे मकान में अँधेरे का आलम छा गया। जेबा शायद भीतर किसी कमरे में थी। वहीं से उसकी तीखी तेज आवाज सुनाई दी—"अबे, ओ रहमत के बच्चे ! मरदूद कहाँ मर गया है ! मुए, जल्दी लैम्प जला।"

"जी दियासलाई ढूँढ रहा हूँ।" रहमत की कहीं से सहमी-लरजती आवाज आई।

जेबा का बिगड़ना रहमत के पिटने का बायस होता था और इसी से जहाँ एक ओर जेबा के स्वर में तेजी थी वहाँ बेचारे रहमत की आवाज में बेहद घबराहट थी।

"कम्बख्त मुँहझौंसा ! लाख बार कह दिया कि दियासलाई सँभाल कर रखा कर। पता नहीं मुआ कहाँ रख देता है !"

जेबा की आवाज की कड़ाई बेचारे रहमत को बौखला देने के लिए काफी थी। उसने शायद दियासलाई उस आलमारी में रखी थी जिसमें खाने-पीने के चीनी के बर्तन, चाय का सैट, तश्तरियाँ, रकाबियाँ रखी थीं। कोई चीज झनझनाते हुए जमीन पर गिरी। आवाज से किसी तश्तरी के टूटने का अन्दाज था, जिसे सुन जेबा का गुस्सा शायद अपनी आखिरी हद तक पहुँच गया था जिसका पता उसके पैरों की धमक से चल जाता था।

"अबे, क्या तोड़ दिया ? दियासलाई नहीं मिलती तो टार्च का क्या हो गया, मुए ? बिना पिटे इसकी अक्ल ठिकाने नहीं आती। कहाँ है बे तू उल्लू के पट्ठे !"

जब टार्च ही दिखाई पड़ता तो दियासलाई का मिलना कौन मुश्किल होता। फिर रहमत उल्लू का पट्ठा तो था नहीं जो उसे अन्धेरे में भी दिखाई पड़ता ! बद-नसीबी से वह वहाँ था नहीं, जहाँ जेबा उसकी तलाश कर रही थी। उससे साफ जाहिर था कि उसका इरादा उसकी मरम्मत करने का था। इधर रहमत को क्या पड़ी थी जो अँधेरे में पिटता, गिरता, पड़ता और ठोकरें खाता। लिहाजा उसने खामोशी अख्तियार करने में ही अक्लमन्दी समझी थी।

मैं अँधेरे में अपने कमरे में घुस जूते खोल, शेरवानी उतार टाँगने के लिए खूँटी टटोलता जेबा और रहमत की परेशानियों का मजा ले रहा था। इतने में पास आते पैरों की आवाज सुनाई दी। बदन में किसी का हलका धक्का लगा और फिर कोई चीज मेरी पीठ पर जोर से लचकती सड़ से पड़ी—शायद बेंत था या और कुछ।

"मुए, यहाँ खड़ा है तो आवाज क्यों नहीं देता ? मर गया क्या ? जा, दौड़कर बाजार से दियासलाई ला नहीं तो हड्डी-पसली तोड़कर रख दूँगी।"

मुझे चीखने या चिल्लाने का मौका न दे क्षण-भर में जेबा ने अपने नाजुक हाथों से बड़ी बेरहमी के साथ अनाप-शनाप पीटकर रख दिया। सवाल यह न था कि मैं रहमत के धोखे में पीटा गया बल्कि यह कि बीबी के हाथों पीटा गया, चाहे वह धोखे में ही क्यों न हो। इतनी बड़ी जलालत, बेइज्जती और बेशर्मी कौन शरीफ-जादा गवारा कर सकता ! यह तो मेरी सरासर तौहीन थी और फिर लोगों को यदि पता चल जाता तो मेरी ओर उँगलियाँ उठाते, खिल्लियाँ उड़ाते, फब्तियाँ कसते और कहकहे लगाते और मैं शर्म से मुँह छिपाये घूमता। यह मुझे कतई मंजूर न था। जब पिट ही गया था तो खामोख्वाह अपनी बेवकूफी का इजहार क्यों देता ? मेरे दिमाग ने सहज रास्ता अख्तियार किया और मैं सामने सीधे दरवाजे की ओर भागा, पर तब तक जेबा ने दो-तीन गहरे हाथ और भी जमा दिये। बाहर आ ठण्डी हवा में राहत

की साँस ली और बदन सहलाने लगा। हाथ-पैर बस टूटने-भर की कसर थी। तभी एकाएक सड़क रोशनी से भर गई और मैं आहिस्ते से भीतर घुसा। पैरों की आवाज सुन जेबा बाहर निकल आई और रुखाई के साथ ताने-भरे लहजे में बोली—"खूब! इतनी जल्दी क्यों की आने में! सारी रात गुजार सुबह ही लौटते तो क्या बुरा होता! इधर रहमत ने क्या गुल खिलाया जानते हैं?"

"क्या?" मैंने जानते हुए भी अनजान बनकर पूछा।

"उधर घर की रोशनी गुल हुई, इधर दियासलाई खोजते हुए उसने चीनी की वह बढ़िया तश्तरी तोड़ दी जिसे हमने नुमाइश में खरीदा था। मैंने भी कम्बख्त को इस कदर ठोंका कि उसके फरिश्ते याद कर रहे होंगे।"

रहमत के तो क्या मेरे फरिश्ते जरूर याद कर रहे थे। मुझे जेबा की नाजुक कलाई की सख्ती का अनुभव पहली बार जिन्दगी में हुआ था और दूसरी बार के अनुभव के लिए मैं किसी शर्त्त पर तैयार न था। लिहाजा बिना किसी बहस के मैंने मान लिया कि रहमत खूब पीटा गया था और अब रहमत को क्या पड़ी थी कि एतराज करता जबकि बिना पिटे ही जाहिर हो रहा था कि उस पर जोरों से मार पड़ी है। वह खामोशी से अपना काम किये जा रहा था। कुछ दिन यों ही गुजर गये और कोई नई वारदात न हुई।

एक दिन सुबह तार आया कि जेबा के छोटे भाई को लड़का हुआ है और वह उसे ले जाने खुद आ रहे हैं। जिस बात का इन्तजार सालों से था उसका नतीजा आ पहुँचा था। जेबा बेहद खुश थी। उस दिन पूरे घर में झूमती फिर रही थी और चाहती थी कि और लोग भी उसी की तरह फुदकते फिरें।

"भई, पहला लड़का है। भाई की खुशी का क्या पूछना है। देखिये मुझे ले जाने खुद-ब-खुद चले आ रहे हैं।" जेबा ने मुसकराते हुए यही बात घुमा-फिराकर कोई बारहवीं बार कही।

"तुम उनकी हमशीरा हो। उनकी खुशी में तुम्हारा शरीक होना निहायत जरूरी है। चन्द घंटों का तो सफर है, चली जाना।" मैंने अपना बँधा-सा जवाब बिना कुछ सोचे बारहवीं बार दुहरा दिया।

"भाई की मुराद पूरी हुई। कितनी मुद्दत के बाद एक बच्चा पैदा हुआ है।"

"पहले हो हो जाना था, उस पर तो कोई कंट्रोल न था।" एकाएक मेरे मुँह से निकल गया। और कोई मौका होता तो जेबा ठुनक जाती, गुस्से से बेकाबू हो जाती, ऊलजलूल बकती या फिर मुझसे दो-दो चोंच कर बैठती; पर उस दिन वह बेहद खुश थी। उसने केवल अपने पतले सुर्ख होंठो पर एक हलकी सी मुसकराहट नचाकर कहा—"जाइये, आप बड़े वो हैं।"

शाम गुजरे जब घर लौटा तो सामानों का एक बड़ा बण्डल साथ था और उसमें वे सब चीजें मौजूद थीं जिन्हें जेबा ने भाई के यहाँ जाने के सिलसिले में मुझे लौटते वक्त ले आने का आर्डर दिया था।

जेबा जाने की तैयारी में सरे शाम से घर सिर पर उठाये थी। वह खुशी के दरिया में तैर रही थी—यह उसकी हर हरकत और हर बात से जाहिर हो रहा था। रहमत के गमगीन और रूखे चेहरे पर भी आज खुशी की झलक दिखाई पड़ रही थी और वह कुछ शरीफजादा-सा जँच रहा था। इसकी वजह शायद वे कमीज और पाजामा थे जिन्हें चन्द ही दिनों पहले मैंने सिलवाये दिये थे और आज जेबा ने खुशी के जोश में उन्हें पुराना कह उसे पहनने को दे दिये थे। मैं अपने कमरे में बैठा कुछ जरूरी चिट्ठियाँ लिख रहा था। जेबा ने रहमत को किसी काम से बाहर भेजा था। वह लौटकर दबे पाँव मेरे कमरे में आ खड़ा हुआ। मुझे कुछ शक हुआ। कनखियों से नजर बचाकर ताका तो पता चला कि मियाँ रहमत आदमकद आईने में अपने चेहरे का बड़े गौर से मुआइना करते मन-ही-मन मुसकरा रहे थे। बदनसीबी या इत्तफाक जो कहिये तभी एकाएक बिजली गुल हो गई और हम लोग अँधेरे में खो गये।

"यह बिजली भी अजीब मुसीबत है! और रहमत अभी तक नहीं आया। मुआ जहाँ जाता है वहीं का हो जाता है। न जाने लालटेन कहाँ रख दी है। अब मैं कहाँ खोजूँ?" जेबा का स्वर पास के कमरे से सुनाई दिया।

चेहरे से बुद्धू होते हुए भी यों रहमत काफी चालाक था। सवाल का जवाब दे पिटने या और भी गालियाँ सुनने के बजाय पास के कमरे में रखा लैम्प ढूँढना ज्यादा ठीक समझ, वह शायद मेरे कमरे से खिसक गया।

"और आप यहाँ क्या कर रहे हैं? भई, आज मालूम हुआ कि आपको रात में भी दिखाई पड़ता है!" जेबा के पैरों की चाप और हँसी से गूँजती आवाज सुनाई पड़ी। आज उसकी हर बात में मजाक और खुशी का पुट था। मुझे भी मजाक सूझा तो आहिस्ते से हलके पैर रखता हुआ खामोशी अख्तियार किये उसकी ओर बढ़ा।

"कम्बख्त रहमत कहाँ गया? आने तो दीजिये, उसकी टाँगें तोड़कर रख देती हूँ......पर भई यह तो आप मानेंगे कि कभी-कभी अँधेरा भी बड़ा खुशगवार मालूम पड़ता है। अँधेरे में ही मोहब्बत के गुल खिलते हैं और रूमानी रंगीन दिलचस्प कहानियाँ पैदा होती हैं। पर आप हैं कहाँ? खामोश क्यों हैं? क्या समझते हैं, आपको मैं खोज नहीं सकती?"

मैं उसकी बातों का मन-ही-मन मजा लेते चुप्पी साधे खड़ा रहा।

"लीजिये, पकड़ लिया न आपको! अब भागकर जाइयेगा कहाँ?" पैरों के शब्दों के साथ जेबा की खिलखिलाहट-भरी आवाज सुनाई दी और उसकी मीठी हँसी मुझे सातवें आसमान पर पहुँचाते गूँज उठी। फिर अचानक धर-पकड़ की आवाज के बीच एक हलका-सा शब्द सुनाई दिया जो उसके सुर्ख होंठो के बीच से निकला था और जिससे मैं अच्छी तरह वाकिफ था—चुम्बन का! पर ऐसे मौके पर या अल्लाह! सब कुछ लहमे भर में हो गया। घबराहट और बदहवासी से मुझे पसीना छूटने लगा।

थोड़ी देर बाद रहमत बावर्चीखाने से लैंप जला लाया और मेज पर रख दिया। उसका चेहरा जर्द हो रहा था और वह बौखलाया-सा लग रहा था।

"कम्बख्त कहाँ मर गया था ! ठहर तो जरा ।" जेबा ने कहा और जो मेरी मेज पर से रूलर उठा उसकी ओर बढ़ी तो वह जान छोड़कर भाग खड़ा हुआ । तब उसे छोड़ जेबा मेरे गले में अपनी मक्खन-सी मुलायम बाँहों को लपेटकर बड़े प्यार से बोली—"छिः आप बड़े शैतान हैं । मैंने पकड़ा तो आप भाग क्यों खड़े हुए ?"

कौन मरदूद भाग खड़ा हुआ था ! पर मैं क्या कहता केवल उसे अपनी गोद में खींच एक फीकी-सी हँसी हँस खामोश हो गया ।

जेबा अपने भाई के साथ चली गई । दूसरे दिन ठंडे दिल और दिमाग से सोचा तो सारे फसाद की जड़ में रहमत को पाया । कम्बख्त डीलडौल में मेरे ही समान था और फिर जेबा जब कभी खुश या मेहरबान हो जाती तो मेरे अच्छे-खासे कपड़े भी उसे दे डालती थी और फिर अँधेरा तो अँधेरा ही है जिसमें सामने खड़ा पहाड़-सा हाथी भी नहीं सुझाई देता । फिर अगर जेबा को ही धोखा हो गया तो क्या ताज्जुब था । अँधेरा होने की वजह से ही एक बार मैं पिट चुका था और इसी अँधेरे की वजह से रहमत मियाँ···का लुत्फ उठाये । खुद बेचारी जेबा इन दोनों वाकयातों से वाकिफ न थी । जानने से भी कुछ हासिल नहीं होता सिवाय इसके कि सारा कसूर मुझ पर मढ़ दिया जाता और मैं मुफ्त में झिड़कियाँ खाता और रहमत पिटता और बेहद पिटता । लिहाजा मैंने रहमत को हटा देना ही बेहतर समझा । क्या ठिकाना इस बिजली का, और अँधेरा—खुदा बचाये इससे·····लाहौल विला कूवत !
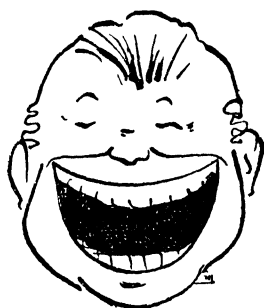
चन्दी को तो फजीते में ही मज़ा आता है

लाडलीमोहन

●

श्री लाडलीमोहन का जन्म उत्तर-प्रदेश के मेरठ जिले में सन् १९२७ में हुआ था। लिखने का चाव बहुत पुराना है। प्रथम रचना 'रोमांस के खेत' थी, जो 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित हुई। अब तक सवा-सौ के लगभग कहानियाँ लिखी हैं जो हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

एक अजीब-सी शैली में लिखी लाडलीमोहन की कहानियाँ अलग ही पहचान ली जाती हैं। हीरे की कनी से तीखे आपके व्यंग्य 'डनलपपिलों' की तरह गुदगुदाने और उछाल देनेवाले होते हैं।

आजकल आप देवनागरी कालिज, मेरठ में प्राध्यापक हैं।

रचनाएँ

'चैत्र जाते-जाते', आदि।

ठठेरवाड़ा, मेरठ

चाची चीख रही थी—"मैं आज तुझे घर से निकालकर छोड़ूँगी···"

रामलाल मेरा मित्र और बहुत ही हँसोड़ व्यक्ति है। उसके चुटकुले मैं यदा-कदा अपने साथियों को सुनाता रहता हूँ। वह अक्सर सुनाया करता कि एक बार मैं अपने कुत्ते के साथ दिल्ली स्टेशन पर गया। वहाँ आदमियों का वजन तौलने के लिए बड़ी मशीन रखी थी। मैंने एक आना देकर अपने कुत्ते को उस पर खड़ा कर दिया। फलस्वरूप मशीनवाले ने मुझे एक कार्ड दिया जिस पर वजन लिखा था—३६ पौण्ड, और साथ ही एक वाक्य भी लिखा था—'आप सफल राजनैतिक नेता बनेंगे।'

गणित में एम० ए० करने के बाद वह इलाहाबाद के डिगरी कालिज में प्रोफेसर हो गया और मैं मेरठ में ही रहकर कहानियाँ लिखने लगा। मुझे रामलाल से मिले बहुत दिन हो गये थे इसलिए मैंने पत्नी से कहा—"गरीबपरवर, मैं तीन-चार दिन के लिए इलाहाबाद जा रहा हूँ। वहाँ प्रकाशकों के पास कुछ रुपये पड़े हैं, उन्हें प्राप्त करना है और रामलाल से भी मिलता आऊँगा। तुम्हारी क्या राय है?"

"बड़ी अच्छी राय है," कहकर महादेवी ने स्वीकृति दे दी और मैंने अपने इलाहाबाद पहुँचने का एक तार रामलाल को भेज दिया।

इलाहाबाद स्टेशन पर पहुँचते ही मैंने रामलाल को खोजना प्रारम्भ किया। परन्तु जो व्यक्ति एकदम मेरे गले से आकर लिपट गया वह रामलाल होगा, ऐसी मैंने कल्पना न की थी। क्योंकि रामलाल कपड़ों के मामले में लापरवाह था; पर आज मैंने शार्कस्किन के बढ़िया सूट में उसे देखा। मुझसे लिपटते हुए ही वह बोला—"बड़े अच्छे मौके पर आये हो, मित्र, मैं एक मुसीबत में फँस गया हूँ।"

"कैसी मुसीबत, मुझे तो अच्छे-खासे नजर आ रहे हो।"

"तुम्हें पता नहीं, मैंने शादी कर ली है।"

"यह तो और भी खुशी की बात है। क्यों साहब, हमें खबर भी नहीं दी?"

"बात तो सुनो पहले, मैंने जिस लड़की से शादी की है वह साइकोलॉजी (मनोविज्ञान) में एम० ए० है।"

"अरे सच, यह तो और भी अच्छी बात है।"

"अच्छी-वच्छी कुछ नहीं। उसने तो आते ही मेरे ड्राइंग-रूम का सामान निकालकर फेंक दिया और उसमें अपनी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला बना डाली।"

"तब तो तुम्हें बड़ा आनन्द आया होगा।"

"हाँ, शुरू-शुरू में तो मुझे बड़ा अजीब-सा लगा, पर अब तो बड़ी मुसीबत आ गई।"

"आखिर कुछ हुआ भी?"

"सबसे पहले उसने मेरी चाची का मनोविश्लेषण किया, फिर मोहल्ले की अन्य औरतों और उनके पतियों का मनोविश्लेषण किया··और फिर·····फिर मेरा मनोविश्लेषण कर डाला।"

"ही ही ही, भाई रामलाल, बहुत बढ़िया बात सुनाते हो। तुम्हारा विश्लेषण कर डाला?"

"हाँ, कल रिपोर्ट दे दी।"

"रिपोर्ट? तुम भी खूब आदमी हो! जरा यह तो बताओ मनोविश्लेषण किया कैसे था?"

"उसने मुझे एक पलंग पर लिटा दिया, मेरी बाँह में किसी दवा का इंजेक्शन लगाया और बोली कि मैं जो भी शब्द कहूँ उससे फौरन कोई-न-कोई वाक्य बना देना। शीघ्र बनाना और उसमें वह शब्द अवश्य हो।"

"सबसे पहले उसने क्या शब्द कहा?"

"दही।"

"तुमने क्या बनाया?"

"मैंने बनाया—'क्यों जी मध्यप्रदेश में दही तो क्या मिलता होगा।"

"फिर?"

"फिर वह बोली—'बर्तन।' मैंने कहा—'मुरादाबाद में पीतल के बर्तन बनते हैं।' बस ऐसे ही बहुत से शब्द कहे थे। जरा रिपोर्ट तो देखो।" यह कहकर उसने अपनी जेब से कागज निकाला। यह एक लैटरपैड था जो इस प्रकार लिखा हुआ था—

सुशीला गोयनका, एम० ए० 'साइको०'

पेशेण्ट का नाम··········रामलाल गोयनका

बाप का नाम··········हरिलाल गोयनका

पेशा········अध्यापन

आयु········अट्ठाइस वर्ष

ब्योरा—हीन भावना से पीड़ित। आत्म-विश्वास की कमी। अपने विचारों पर दृढ़ न रहने के कारण निराशावादी। चाची के आज्ञाकारी होने के कारण नारियोचित चेष्टायें। बुद्धि लब्धि-रेखा ५० से कम।

"अरे, तुम्हारा ब्याह क्या हुआ तुम्हारे घर में तो एक अच्छा-खासा तमाशा आ गया। तुम्हारा तो इससे मन बहलना चाहिये। बेकार में ही शोर मचा रहे हो कि मरा जा रहा हूँ, मुसीबतों में फँस गया हूँ?"

"तुम बात ही नहीं समझते, जब से उसने चाची का मनोविश्लेषण किया है, तब से वह उसे निकालने पर उतारू हो गई हैं। दोनों मे लगभग रोज ही महायुद्ध होता है!"

इतनी बातें स्टेशन पर खड़े-ही-खड़े हो गईं। फिर सामान को रिक्शा पर रखकर वह मुझे एक होटल पर ले गया और एक अच्छा-सा कमरा लेकर मेरा सामान

वहाँ रखवा दिया। उसी होटल में हम दोनों ने चाय पी। चाय पीते समय उसने बताया कि इस समय घर में ठहरने से तुम्हें बहुत असुविधा होगी। वह कहीं तुम्हारा भी मनोविश्लेषण न कर डाले।

"खैर, मुझे तो इस बात में आनन्द ही आयेगा। मगर हाँ, एक बात तो बताओ वह देखने में कैसी लगती है ?"

"बहुत सुन्दर है—बिलकुल कालिज की लड़कियों जैसी। वह तो विदा के समय भी ऐसी लग रही थी जैसे स्कूल जा रही हो।"

"अच्छा एक बात और बताओ—जब तुमने उसका चुम्बन लिया होगा तो उसके चेहरे पर कैसे भाव थे ?"

"वह इस प्रकार मुसकराई थी जैसे उसे मेरे ऊपर दया आ रही हो। उसने कहा था कि आपमें अभी बच्चों जैसी सस्ती भावुकता विद्यमान है।"

चाय पीने के बाद मैंने शीघ्रता से कपड़े बदले, कमरे का ताला लगाया और रामलाल के साथ उसके घर को चल दिया। मैं वास्तव में इस अन्यतम मनोवैज्ञानिका से मिलने के लिए बहुत उत्सुक था।

होटल से घर बहुत दूर नहीं था। रामलाल का यह फ्लेट देखने में काफी अच्छा था। किवाड़ खुले पड़े थे, इसलिए मैं और रामलाल जैसे ही अन्दर घुसे हमें जोर-जोर की आवाजें सुनाई देने लगीं। हम वहीं ठिठक गये। बोलनेवाले हमें दिखाई नहीं दे रहे थे। उसकी चाची चीख-चीखकर कह रही थी—"मैं आज तुझे घर से निकालकर छोड़ूँगी। यह तैने क्या स्वांग रचा रक्खा है। ऐं ! तूने मुझे समझा क्या है !"

रामलाल की पत्नी कह रही थी, "तुम न्यूरौटिक हो, न्यूरौटिक !"

चाची की आवाज, "नटी होगी तू, तेरे घरवाले ! मेरा मनन विषन (मनोविश्लेषण) करेगी, ऐं ! घर से निकाल दूँगी, घर से ! अपने पूजा के ठाकुरजी का अपमान न करने दूँगी। समझी ? मुझे भी बड़ी काफिर औरत समझयो।"

पत्नी की आवाज, "तुम्हें रिलिजियस फोबिया हो गया है।"

चाची की आवाज, "तू फजीता करेगी मेरा ? अरे बन्दी को भी फजीता करने में मजा आता है। सारा मोहल्ला मुझसे घबराता है। और तू परसों की छोकरी मेरा फजीता करेगी। घर से निकाल दूँगी, घर से। तूने समझ क्या रक्खा है ?"

पत्नी की आवाज, "तुम में बहुत इन्फीरियओरिटी काम्प्लैक्स है।"

चाची की आवाज, "तू अँग्रेजी मे मुझे गाली दे। मैं सिर फोड़-फोड़कर इसी समय जान दे दूँगी।"

मैंने रामलाल के कान में कहा, "तुम फौरन जाकर अपनी पत्नी को मेरा परिचय एक महान् मनोवैज्ञानिक के रूप में दे दो। फिर देखना सब कुछ ठीक हो जायेगा।"

उसने फौरन ही मुझे अपने कमरे में एक अच्छी कुरसी पर बैठा दिया और

स्वयं पत्नी को बुलाने चला गया। उसके जाते ही मैंने एक आईना उठाकर अपना व्यक्तित्व देखा कि मैं महान् मनोवैज्ञानिक-सा लगता हूँ या नहीं। मैंने अनुभव किया कि रौब डाला जा सकता है।

थोड़ी देर बाद रामलाल पत्नी को लेकर अन्दर आया। वह सफेद धोती पहने हुए थी। चेहरे पर गाम्भीर्य झलक रहा था। बाल जूड़े से गुँथे हुए थे। पैरों की चप्पलें उसके मनोवैज्ञानिक होने का सबूत दे रही थीं। उसने बहुत ही धीमे स्वर में मुझे नमस्ते की। नमस्ते के उत्तर में मैंने केवल सिर हिला दिया और बैठने का संकेत किया।

रामलाल अपनी पत्नी से कहने लगा—"आप मेरे गुरु-पुत्र हैं, कल ही विदेश से लौटे हैं। मनोवैज्ञानिक जगत् में आप अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त हैं। अडलर के शिष्य हैं।"

मैंने बहुत ही सन्तुलित और हलकी आवाज में कहना शुरू किया, "अमको यह बोला तुम शाइकोलोजी में बड़ा अच्छा। आम बोला, आम तुमको देखेगा। कुछ शजैशन देगा। आई कैन रीड मैन लाइक बुक्श (मैं आदमी को किताबों की तरह पढ़ सकता हूँ) 'मैन इज ट्रान्शपेरेण्ट फार मी' (आदमी मेरे लिए पारदर्शक है) आम बता शकता तुम क्या शोचता। इश शमय तुम इन्फीरियओरिटी से शफर करता (हीन भावना से पीड़ित)।"

रामलाल की पत्नी घबराकर बोली, "आप मुझे अपनी शिष्या बना लीजिये।"

"नाई, बिलकुल नाई, अबी आमरा श्टडी चल रहा। आमरीकन शाईको में अम तीन शाल रहा। अब से बीश शाल बाद हम अपना लैब (प्रयोगशाला) खोलेगा।"

रामलाल की पत्नी आँखें फाड़ती हुई बोली—"मैंने तो अपना लैब खोल दिया।"

"गल्टी किया। अब से दश शाल बाद लैब कोला। अम टुमको पुश्तकें बेजेगा। उनको श्टेडी करो। अपने लैब को अबी खटम करो। बेवोकूफ! हम शुना तुम अपनी चाची से लड़ता। बरा आदमी। जाओ, मापी माँगो।"

रामलाल की पत्नी शीघ्रता से उठकर माफी माँगने चली गई।

रामलाल मुझसे लिपट गया। हम दोनों ही खिलखिलाकर इस प्रकार हँसने लगे कि आवाज न हो।

भीमसेन के लट्ठ

वृन्दावनलाल वर्मा

●

श्री वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म सन् १८८९ में झांसी के मऊरानीपुर ग्राम में हुआ था। हिन्दी उपन्यास जगत् में वर्मा जी को कौन नहीं जानता ! हिन्दी जगत् को आपकी उपन्यास-कला पर अभिमान है। ऐतिहासिक कथानकों को अत्यन्त सजीव एवं रोचक ढंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना आप ही का कार्य है। आपके कथानक खोजपूर्ण और प्रामाणिक होते हैं, जिनमें रोचकता लाने के लिये आप कल्पना का सहारा लेते हैं। आपके लिखने की गति अत्यन्त तीव्र है। कई पुस्तकों पर आपको पुरस्कार भी मिल चुके हैं। अभी आपको आगरा विश्वविद्यालय ने डॉक्टरेट की उपाधि देकर सम्मानित किया है।

रचनाएँ

'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'माधवजी सिंधिया', 'कचनार', 'अंचल मेरा कोई', 'सोना', 'अमरबेल', 'भुवन-विक्रम', 'टूटे काँटे', 'कुंडली-चक्र' 'राखी की राज', 'झाँसी की रानी', 'हंस-मयूर', 'पूर्व की ओर', 'मंगल-सूत्र', 'जहाँदारशाह', 'दबे पाँव', 'शरणागत', 'कलाकार का दण्ड', आदि।

मयूर प्रकाशन, झाँसी

"जहाँपनाह, ये लाटें भीमसेन के लट्ठ हैं..."

बात लगभग सन् १३९० की है, जब दिल्ली में राज्य फीरोजशाह तुगलक का था। फीरोजशाह थट्टे की लड़ाई में नाममात्र को विजय पाकर लौटा। दिल्ली में जश्नों की बाढ़-सी आ गयी। कवियों ने चिल्ला-चिल्लाकर, गा-गाकर कहा कि फ़ीरोजशाह सिकन्दर से भी बाजी मार ले गये, सिवाय खलीफों के—क्योंकि उनका प्रसंग धर्म से सम्बन्ध रखता था—फीरोजशाह ने करीब-करीब सबको मात कर दिया! फीरोजशाह को शैरबाजी और शिकार भी पसन्द थी। शैर-सपाटे के लिए एक समाचार ने विवश कर दिया।

समाचारदाता ने बतलाया था कि दिल्ली के उत्तर-पूर्व में हिमालय पहाड़ के एक सिलसिले के नीचे साफ-सुथरे चिकने गोल लम्बे ऊँचे पत्थर पर, जो हजारों बरस से वहाँ गड़ा हुआ है, कुछ लिखा है, हिन्दी में है। मालूम नहीं उसमें क्या लिखा है, और इस तरह का दूसरा मेरठ गाँव के नजदीक खड़ा हुआ है।

बादशाह ने अपना लाव-लश्कर तैयार किया और मेरठ के निकटवाले पत्थर के पास गया। देखा तो हैरान हो गया। बड़ा चिकना पत्थर—मक्खन जैसा चिकना। समाचारदाता ने बतलाया कि उस पर हिन्दी में कुछ अजीब-सा लिखा है। बहुतेरे हिन्दीवाले पकड़ बुलाये गये पर उसे पढ़ कोई न सका। हो सकता है इसके नीचे या आस-पास बेशुमार खजाना गड़ा हो क्योंकि इस पर शेर बने हैं और चक्र भी, हो सकता है इस देश के बहुत पुराने लोगों ने इस पत्थर पर अपने हिसाब से लिख डाला हो कि बाबा आदम कब हुए और दुनिया कब बनी। तरह-तरह के अटकल लगाये गये। अन्त में तय हुआ कि किसी बहुत पढ़े-लिखे ब्राह्मण को बुलाया जाये, वह इस लेख पर प्रकाश डालेगा। परन्तु हिन्दुओं को आमतौर पर और ब्राह्मणों को खासतौर पर फीरोजशाह के जजिया कर ने इतना खिन्न कर दिया कि बड़ी मुश्किल से वैसा एक ब्राह्मण हाथ लग पाया।

पूछने पर ब्राह्मण ने कहा : "जहाँपनाह, यह लेख पढ़ा नहीं जा सकता। जिसने बहुत तपस्या की हो वही इसे पढ़ सकता है।"

"तो तुमने क्या अब तक भाड़ ही झोंका है?" फीरोजशाह ने भर्त्सना की।

फीरोजशाह ने समझा कि ब्राह्मण छिपा रहा है। उसकी मरम्मत की गयी, परन्तु जो कुछ उसने पहले कहा था उसमें केवल इतना जोड़ा : "सुनते आते हैं, जहाँ-पनाह, कि जब द्वापर में कौरव-पाण्डवों का युद्ध हुआ तब यह लाट खड़ी की गयी थी।"

उस ब्राह्मण को मुश्किल से छुटकारा मिला, परन्तु फीरोजशाह को चैन कहाँ?

अन्य 'बहुत पढ़े-लिखे' ब्राह्मणों की खोज की जाने लगी। अन्त में एक ब्राह्मण बादशाह को मिल गया। यह बुद्धू न था, बहुत चतुर था।

बादशाह के सामने पेश होने पर जब उससे सवाल किया गया तब उसने उत्तर दिया : "जहाँपनाह, मैंने सब पढ़ लिया।"

"खूब, खूब। क्या लिखा है उसमें ?'

"उसमें, जहाँपनाह, यह लिखा है कि यह भीमसेन पाण्डव का लट्ठ है, किसी की हिम्मत नहीं, ताकत नहीं जो इस जगह से हटाकर कहीं और ले जा सके; कलियुग में केवल एक ऐसा सम्राट होगा जो इसे सँभालकर उठा ले जायेगा और सुरक्षा के साथ रखेगा। उसका नाम होगा शाहंशाह सुल्तान फीरोजशाह तुगलक। इस पत्थर पर यह भी लिखा है कि यह बादशाह जब इस लाट को उठाकर ले जायेंगे और दिल्ली के किसी प्रमुख स्थान में सुरक्षा के साथ गाड़ देंगे, तब उनका राज्य तो बहुत समय तक चलेगा ही, जब तक यह लाट वहाँ खड़ी बनी रहेगी उनके वंशजों का राज्य भी अनन्त काल तक चलता रहेगा।"

"वाह, पण्डित, वाह! इसे कहते हैं इल्म और जहन! अच्छा, यह और बतलाओ कि क्या इसमें इतना ही लिखा है या कुछ और ?" बादशाह ने प्रश्न किया।

चतुर ब्राह्मण ने तुरन्त उत्तर दिया : "नहीं, जहाँपनाह, इसमें हमारे शास्त्र और पुराण का हवाला देकर बतलाया है कि भीमसेन पाण्डव का लट्ठ है। भीमसेन पाण्डव इसका क्या उपयोग करते थे यह पुराण की बात है। इसमें केवल इतना ही लिखा है।"

"तो जिस पुराण का हवाला इस लेख में है, उसमें क्या बात बतलायी गयी है भीमसेन की बाबत ?"

"जहाँपनाह, यह बात पुराण पढ़कर बतला सकूँगा। जब से मेरे ऊपर जजिया लगा है तब से पैसे की इतनी चिन्ता में लगा रहता हूँ कि पढ़ने का समय ही नहीं मिल पाता।"

"तुम्हारा जजिया उतने दिन के लिए माफ किया जाता है जितने दिन में तुम पुराण पढ़कर इस शिला-लेख की सब बातें बतला सको।" ब्राह्मण को मानना पड़ा—इस समय कुटाई-पिटाई से बचे, जैसी एक और की हुई थी, और, कम से कम कुछ दिन का जजिया तो न देना पड़ेगा, सम्भव है भविष्य और भी कुछ सुधर जाये। ब्राह्मण मुहलत लेकर चला गया।

फीरोजशाह ने इतनी मेहनत, इतनी सावधानी से उस लाट को वहाँ से उखड़वाकर दिल्ली ले जाने में की कि दूर-दूर तक उसकी ख्याति फैली। सुननेवाले दंग रह गये। पड़ोस के ही क्या अन्तर्वेद से दूर-दूर तक के हजारों आदमी बुलाये गये। अधिकांश सेना उस काम में जुटाई गयी। सैंकड़ों मन सेमल का रूआँ इकट्ठा करवाया गया। सेमल के रूएँ की गाँठें बना-बनाकर लाट के आस-पास रखी गयीं कि खुदाई होने पर जब लाट लटके या गिरे तब किसी प्रकार की भी उसे क्षति न पहुँचने पाए। खुदाई होते-होते जब लाट एक ओर लटकी और गिरी, तब उसे एक खरोंच तक नहीं

लगी। लाट को नरम रूई और पशुओं की खालों में लपेटा गया। एक गाड़ी बनायी गयी या यों कहिये कि एक भारी-भरकम गाड़ा बनाया गया जिसमें बड़े-बड़े बयालिस पहिये थे। हजारों आदमियों की सहायता से लाट इस तरह उठाकर उस गाड़ी पर लादी गयी जैसे कोई नवजात शिशु को सावधानी के साथ उठाकर पालने में लिटाये। गाड़ी चलाने के लिए बैल नहीं जोते गये—दो-चार भी उनमें से भड़क गये, क्योंकि जानवर ठहरे, तो लाट को नुकसान पहुँच जायगा, शायद टूट ही जाय—टूटी तो फीरोजशाह का राज्य शायद बीच में ही समाप्त हो जाय और आगे की एक पीढ़ी तक भी न पहुँचे। तो गाड़ी खींचने के लिए साढ़े आठ हजार मजदूर लगाये गये। किसी तरह लाट यमुना तक आ गयी। फिर बहुत बड़ी-बड़ी नावों के गुट्ठ पर से पार लायी गयी और किसी तरह बड़ी सावधानी के साथ फीरोज कोटला पहुँचायी गयी।

उस ब्राह्मण के पास समाचार और बुलावा भेजा गया। ब्राह्मण ने आकर निवेदन किया: "जहाँपनाह, डर के मारे मेरे घरवालों ने पुराण इधर के उधर कर दिये थे। अब पता लगा है। दूर पहाड़ों में हैं। मैं वहाँ से ले आने के लिए जानेवाला ही था कि बुलावा आ गया। जहाँपनाह, लाट को ठिकाने से खड़ा करवा दें तब तक मैं पहाड़ों से पुराण लाता हूँ। फिर पढ़कर सब बतला दूँगा।"

ब्राह्मण को और समय मिल गया। फीरोजशाह ने कुशल से कुशल कारीगरों की सहायता से लाट लगवायी। लगभग पचास फीट ऊँची थी। इसकी एक चौथाई नीचे गाड़ी गयी, बाकी ऊपर रही। तैयारी में काफी समय लगा। फीरोजशाह ने उसके शीर्ष पर ताँबे का कलश भी चढ़वाया, जिस पर सोने के पत्र मढ़े थे। आखिर क्यों न करता? जिस शिला पर हजारों बरस पहले लिख दिया गया हो कि सिवाय कलियुग में होनेवाले शाहंशाह सुल्तान फीरोजशाह तुगलक के और कोई भी इस लाट को यहाँ से न हटा सकेगा, उसकी उतनी इज्जत-खातिर क्यों न हो? परन्तु एक समस्या हल होने के लिए बाकी थी—लाट वहाँ गाड़ी क्यों गयी? पुराण में इसके बारे में और क्या लिखा है? जब तक ब्राह्मण आये एक और लाट का पता फीरोजशाह को लगा। यह शिवालिक पर्वत श्रेणी के नीचे थी। ब्राह्मण ने भी सुन लिया कि फीरोजशाह ने लाट को बहुत आदर-सम्मान प्रदान किया है—उसके सिरे पर कलसा तक चढ़ा दिया है!

ब्राह्मण आया। दूसरी लाट के लेख के सम्बन्ध में पहले प्रश्न हुआ।

ब्राह्मण ने बतलाया—"जहाँपनाह, इसमें भी वही लिखा है। दूर-दूर तक ऐसी लाटें खड़ी मिलेंगी। कलियुग के लोगों को हर जगह सावधान कर देने के लिए ही ये लाटें हजारों बरस पहले खड़ी की गयी थीं। परन्तु दिल्ली में उन सबके उठाने की आवश्यकता नहीं है। एक और आ जाय तो बहुत होगा।"

बादशाह ने मान लिया। वह उस ब्राह्मण पर प्रसन्न था। अब सवाल रह गया था लाट के पौराणिक इतिहास का।

"पढ़ लिया तुमने अपना पुराण?" फीरोजशाह ने पूछा।

"जहाँपनाह, मैंने पढ़ लिया, परन्तु पुस्तक यहाँ नहीं ले आ सका हूँ, क्योंकि पहाड़ों में जहाँ पहुँच गयी थी, वहीं के एक नातेदार ने रख ली है।"

"कोई हर्ज नहीं। तुमने पढ़ तो ली है। सुनाओ पत्थर की लिखावट में से पुराण का जो हवाला है उसमें तुमने क्या पाया ?"

"जहाँपनाह, भीमसेन पाण्डव पाँच भाई थे। यह सब से बड़ा था। उसमें इतना बल था कि पेड़ उखाड़कर फेंक देता था, पहाड़ उठाकर इधर से उधर धर देता था।"

फीरोजशाह के एक आलिम ने, जो इतिहास लिखता और पढ़ता भी था, समर्थन किया : "खुदावन्द, मैंने भी उस काफिर* के बारे में पुरानी तारीखों में यही पढ़ा है। एक हजार मन खाना रोज खाता था वह। उस जमाने में उसका मुकाबला कोई भी नहीं कर सकता था।"

"जहाँपनाह !" ब्राह्मण बोला—"पत्थर की ये भारी-भरकम लाटें उसी भीमसेन के लट्ठ हैं।"

"भीमसेन के लट्ठ हैं !" फीरोजशाह को आश्चर्य हुआ।

उस आलिम ने फिर समर्थन किया : "जहाँपनाह, भीमसेन के भाई उनके बड़े दुश्मन थे। भीमसेन को इन भाइयों के ढोर चराने पड़े। उस जमाने के जानवर भी तो बहुत बड़े होते थे। ये लाटें भीमसेन के लट्ठ थे, जिनसे वह जानवरों को हाँकता-चराता था।"

ब्राह्मण ने कहा—"हुजूर, ये पाँचों भाई दिल्ली के निकट ही रहते थे।"

"जरूर रहते होंगे", फीरोजशाह ने विश्वास प्रकट किया—"बड़े-बड़े जानवर के चराने लायक जंगल मेरठ के पास से लेकर हिमालय की तली तक फैले होंगे। वह सबेरे निकल पड़ता होगा अपने ढोर लेकर और सैकड़ों कोस घूमकर शाम के वक्त दिल्ली लौट आता होगा। इसलिए लाटें मेरठ से लेकर हिमालय तक मिलती हैं।"

ब्राह्मण ने व्याख्या की—"श्रीमान्, उसका स्वर इतना भारी और ऊँचा था कि जब चिल्लाता था, पृथ्वी काँप उठती थी। ढोरों को इकट्ठा करने के लिए जब हाँक लगाता था, ढोर गोबर कर देते थे !"

फीरोजशाह ने तुरन्त टोका—"म्याँ, तुम्हारी समझ में इतनी ही तो कमी है। अगर भीमसेन की हाँक से ढोरों का वह हाल हो जाता था, जैसा कि तुमने बयान किया, तो इन लाठियों या लट्ठों की क्या जरूरत थी ? असल में बात यह है कि भीमसेन हो या मीर हमजा या सोहराब रुस्तम ! अकेली आवाज से उतने और वैसे जानवर काबू में नहीं रखे जा सकते थे। बात ठीक यह है कि ये लाटें भीमसेन के लट्ठ ही हैं, जिससे वह जानवरों को चराता-हाँकता था।"

---

* कहानी की सामग्री शम्से सिराजे अफीफ कृत तारीख फीरोजशाही से ली गयी है, उसकी एक प्रति में भीमसेन के लिए 'काफिर' का शब्द नहीं आया है, एक में आता है। यहाँ उसी से उद्धृत किया है।

ब्राह्मण ने तुरन्त अपनी गलती स्वीकार करके हाँ भरी।

आलिम ने पुष्टि की : "जहाँपनाह, बड़ी पुरानी तारीखों में मैंने भी यही पढ़ा है। अब ये लाटें बन्दापरवर हुजूर के इकबाल के सबूत बनकर हमेशा खड़ी रहेंगी।"

उस समय किसी को क्या मालूम था कि पाँच सौ वर्ष उपरान्त इन लाटों के लेख पढ़ लिये जायेंगे और ये भीमसेन के लट्ठ न रहकर अशोक के स्तम्भ हो जायेंगे।

किसान-ऊपर-उठाऊ-सम्मेलन

विश्वदेव शर्मा

●

श्री विश्वदेव शर्मा का जन्म सन् १९३१ में इलाहाबाद में हुआ था। प्रथम रचना सन् १९४५ में प्रकाशित हुई।

हिन्दी और अंग्रेजी में एम० ए० और साहित्य-रत्न किया। कालिज में प्रायः हर कहानी-प्रतियोगिता में प्रथम रहे। 'जनसत्ता' द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विद्यार्थी कहानी प्रतियोगिता में भी आपकी कहानी ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। १८५७ पर उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय कविता प्रतियोगिता में भी प्रथम पुरस्कार पाया। पत्रकारिता से आरंभ से ही प्रेम है। आपने 'विद्यार्थी' मासिक-साप्ताहिक और 'सत्य' नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। पंजाब विश्वविद्यालय की 'डिप्लोमा इन जर्नलिज्म' और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की 'सम्पादन कला विशारद' परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। 'नवभारत टाइम्स' में भी कुछ दिन कार्य किया। आजकल भारत सरकार के केन्द्रीय सांख्यिकी विभाग में प्रवर हिन्दी अनुसन्धाता के पद पर कार्य कर रहे हैं।

गणेश लाइन, किशनगंज, दिल्ली-६
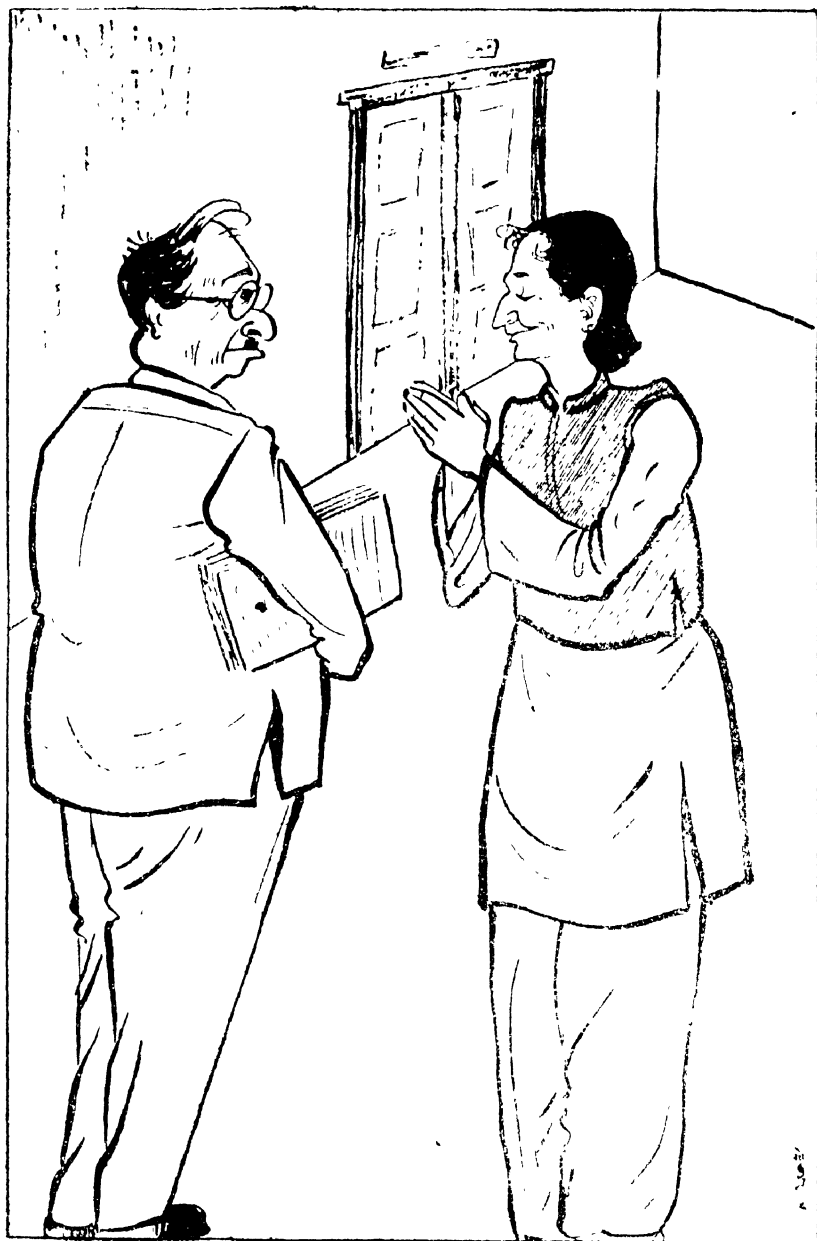
"मैंने उस कविता की स्पून खूब सैट कर ली है।"

बात उन दिनों की है जब स्थानीय साप्ताहिक में दो-एक कविताएँ छप जाने के बाद से मैं अपने आपको राष्ट्रकवि से दो ही चार अंगुल छोटा मानने लगा था। किचकिचाकर पूँजीपतियों को गालियाँ देता, पुक्का फाड़कर मजदूरों की हालत पर आँसू बहाता और किसानों की तारीफ पर उतरता तो उन्हें जगती का राजा और धरती का देवता बनाये बिना न मानता।

गोल शीशेवाले पतले फ्रेम को धता बताकर, मैंने मोटे फ्रेम का चश्मा खरीदा, कुरता सिलाया तो उसे घुटनों से भी एक बालिश्त नीचा रखाने का ख्याल रखा, और बाल कुछ ऐसे बेतरतीब बढ़ाये कि ट्राम और बस में पास बैठे लोग मुझे घूरते हुए अक्सर पूछ बैठते—"आप शायरी करते हैं शायद?"

होली की साँझ जान-पहचान के गड़े मुर्दे उखाड़ डालती है। मुझे भी हाजत हुई कि अपने पुराने सम्पादक शशधर वाजपेयी से मिलकर आऊँ! अब इनका क्या परिचय दूँ? इनकी सम्पादकी न चली तो अब नेता बन गये हैं और इनकी धर्म-पत्नी कविता के क्षेत्र में असफल होकर अब आलोचक बन चली हैं। अमीरी और गरीबी के बीच त्रिशंकु-सा लटका परिवार है—टेलीफोन है पर कार नहीं; मोटर से कम में कहीं जा नहीं सकते, पर टैक्सी के पैसे कभी खर्च नहीं करना चाहते। मिनिस्टर इनके देवता हैं तो उनके परिचर इनके माई-बाप।

सपत्नीक कहीं जाने को तैयार थे। फोन पर किसी से बात कर रहे थे—"जी! बस मैं थोड़ी देर में पहुँच जाऊँगा···जी हाँ! आपके नाम से छपने के लिए लेख मैंने लिखवा लिया है···धूम मच जायेगी। किसी मिनिस्टर ने ऐसा लेख न लिखा होगा।" और फिर खिसककर असली मुद्दे पर आये—"आपकी कार तो खाली नहीं···? कोई बात नहीं, कोई बात नहीं···यों ही पूछ लिया था," और उन्होंने खट्ट से रिसीवर रख दिया।

मेरी ओर मुखातिब होते हुए वह बोले—"भाई, वो कविता पढ़ी थी—'श्रमिकों की सरकार बनेगी दुनिया में'—वाह! क्या खूब लिखते हो!"

मैंने सिटपिटाते हुए उनकी गलती सुधारी—"यह कविता तो मेरी नहीं। मेरी नयी कविता तो है।

"श्रमिकों—कृषकों के कन्धों पर टिकी धरा
गिर पड़ी अगर तो कद्दू सी फट जायेगी!"

उनकी देवीजी उछल पड़ीं—"वाह! वाह! तुमने श्रमिकों की वेदना को बिलकुल अछूती कल्पना में बाँधा है। सच कहती हूँ हिन्दी साहित्य के दो हजार वर्ष

के इतिहास में ऐसी शक्तिपूर्ण रचना नहीं हुई। सचमुच युगप्रवर्तन है यह !" वह जोश में आती हुई बोलीं।

एयर इण्डिया के मुच्छड़ हिज हाइनेस की तरह गर्दन झुकाते हुए वाजपेयी जी बोले—"ठीक कहती हैं आप, इसी को कहते हैं पारदर्शी अन्तर्दृष्टि ! हाँ ! जरा पूरी कविता सुनाओ।"

मैंने खखारकर गला साफ किया और अगला चरण पढ़ा—

"यह हीटर के तारों जैसी लाल, गरम
धरती, टायर-सी अब फटनेवाली है,
सागर की कैतली उफनती आती है
अरमानों की चाय उबलनेवाली है···"

तभी टेलीफोन की घण्टी घनघना उठी। वाजपेयी जी ने लपककर रिसीवर उठाया—"हाँ ! हाँ ! याद है···और आप न करते तो मैं फोन करनेवाला था···एक बहुत बड़े कवि···बड़े ही सुमधुर गायक अनायास आ पहुँचे हैं···जी हाँ ! ऐसी कविता पढ़ेंगे कि आसमान मचल जाय—धरती पिघल जाय···अभी लिये आता हूँ···हाँ, आपकी कार खाली है क्या ?···बस, बस, भेज दीजिये, अभी लेकर आया···" फोन रखते हुए मुझसे बोले—"'किसान-मजदूर ऊपर-उठाऊँ विभाग' के उप-महानिर्देशक बोल रहे थे···किसानों की अखिल भारतीय कान्फ्रेंस कर रहे हैं···स्वागत गान के लिये कोई नहीं मिल रहा था। मैंने तुम्हारा नाम ले दिया है। हाँ, चीज कोई पक्की सुनाना।"

लिफ्ट पर चढ़कर जब तीसरी मंजिल पर उप-महानिर्देशक के कमरे में पहुँचे तो शाम के छः बज चुके थे। बेचारे कार्य की अधिकता के कारण छुट्टी के दिन भी दफ्तर में बैठे थे। सूट-विभूषित लम्ब-तड़ंगी देह, पान चबाता मोटा चेहरा, मेज पर पैर फैलाये कुर्सी में घुसे हुए थे। हाथ की सिगरेट का धुँआ कमरे में भरा हुआ था, टाइपिस्ट प्याले में चाय उड़ेल रही थी।

"आइये ! आइये ! आप ही का इन्तजार था," अपने पास बैठे सज्जन की ओर संकेत करते हुए बोले, "आपसे मिलिए···हमारे पब्लिसिटी एडवाइजर ए० बी० सी० मुत्तूस्वामी, आप मिस्टर वाजपाई, आप मिसेज वाजपाई और आप···क्या कहते हैं शायरों को हिन्दी में ?···हाँ, कविजी ! मिस खन्ना, मेहमानों के लिए भी चाय बनाइयेगा।"

चाय आयी ही थी और मैं नमकीन की तरफ हाथ बढ़ा ही रहा था कि उप-महानिर्देशक बोले, "हाँ, तो कविजी ! सुनाइये अपना गाना। आप भी ध्यान दीजियेगा मिस्टर मुत्तूस्वामी। गवर्नर साहब इनाग्यूरेट करेंगे—चीज फड़कती हुई होनी चाहिये, किसानों पर।"

गले में खनखनाहट पैदा कर मैंने सचमुच अपनी सबसे फड़कती हुई कविता शुरू की—

"जय धराधीश ! तुम जग को देते अन्नदान !

तुम शक्तिमान्, तुम हो महान्, तुम हो किसान !"...

"वाह ! वाह ! बस· · ·बस· · ·क्या चीज है ! बिलकुल काम दे जायेगी। आज-कल रेडियो पर भी ऐसे ही गाने आते हैं· · ·आपका क्या खयाल है मुत्तूस्वामी ?"

"एग्जेक्टली सर· · ·! ट्रिमेण्डसली अपीलिंग· · ·बहुत अच्छा है। कांफ्रेंस का बाद, कवि जी ! आपका कविता हमको देना, रेडियो का देहाती प्रोग्राम में भिजायगा· · · अदरवाइज भी कांफ्रेंस में आपका गाना का रेकार्ड बनेगा· · ·थोड़ा सुगर देगा, मिस खन्ना !"

कविता टेक से भी आगे न बढ़ पायी इसका अफसोस दूध की तरह उफनकर आ ही रहा था कि रेडियो के नाम के पानी से दबता चला गया। लगा जैसे दिमाग की किसी खिड़की से बहुत-सी गर्म भाप भीतर घुस आयी और मैं कागज के गुब्बारे की तरह धरती से बहुँत ऊँचा उठ गया। ओह, गवर्नर ! ओह, रेडियो ! राष्ट्रकवि बनने के दो-दो जीने साथ-साथ !"

"तो कविजी, आप कल सम्मेलन में जरूर आ जायें। चार बजे गवर्नर साहब आयेंगे, आप दो बजे पहुँच जायें, और सवारी ! आप तो खुद ही पहुँच जायेंगे, जवान आदमी हैं। मिस खन्ना ! आपको कार्ड दो !· · ·"

तभी वाजपेयी जी बोले, "तो आपके कवि का इन्तजाम तो हो गया। कार तो खाली ही है, घण्टे-भर के लिए ले जा रहा हूँ। और तुम तो घर चले ही जाओगे, दर्शन !"

वाजपेयी दम्पति खिसक गये। अंग्रेजी में छपा सुनहरा कार्ड जेब में डाले मैं भी चल दिया। पैर जमीन पर न पड़ रहे थे। जी चाहता चिल्ला-चिल्लाकर हर आदमी को बताऊँ—मैं गवर्नर के सामने कविता पढ़ूँगा। रेडियो पर मेरी कविता सुनायी जायेगी।

पंसारी की दुकान दीखी तो डेढ़ पाव मुलहटी ले ली· · ·गला अगर फीका पानी भी हो तो शर्बत बन जाय। कपड़े कुछ मैले लगे तो लांड्री में अर्जेण्ट धुलाई में डाल आया। कमरा बन्द किया और शीशे के सामने झूम-झूमकर कविता पढ़ने लगा।

मुहल्ले-भर में खबर फैल चुकी थी कि मैं किसान सम्मेलन में गवर्नर के सामने कविता पढ़ूँगा। दूसरे दिन सुबह ही नाई की दुकान पर हजामत बनवाने गया। लौटा तो धोबी से कपड़े लेता आया। नहाने में साबुन की टिकिया आधी घिस दी, तो बालों में खुशबूदार तेल की चौथाई बोतल खाली कर डाली। साइकिल उठाकर सम्मेलन की तरफ चल दिया।

पण्डाल के दरवाजे पर ही दसियों फोटोग्राफर खड़े थे। दिमाग में एक नयी बात आयी—आज का क्षण जीवन में स्थायी क्यों न करा लूँ ! एक फोटोग्राफर के पास जाकर शर्माता-सा बोला, "आज स्वागत गान मैं पढ़ूँगा।"

उसने मुझे कुछ इस तरह घूरा जैसे मैं अजायब घर से छूटकर भागा हुआ जन्तु हूँ। ऊपर से नीचे तक देखता हुआ बोला—"अच्छा" और एक ओर को चल दिया। स्पष्ट था कि मेरी बात का उस पर इतना रौब नहीं पड़ा कि मेरा फोटो खींचने

को तैयार हो जाता। आखिर मैंने नाक सीधे पकड़ने को ठानी--"सुनिए ! बात यह है कि मैं उस समय अपना फोटो खिंचवाना चाहता हूँ।"

"मैंने बहुत फोटो खींचे हैं, साहब, लोग तो फिर कापी लेने भी नहीं आते। कुछ एडवांस दें तो एक स्नैप ले सकता हूँ। आप शुरू में पाँच ही रुपये दे दीजिये।"

गवर्नर के सामने कविता-पाठ बार-बार नहीं होता, रेडियोवाले कविता रेकार्ड करने बार-बार नहीं आते, फोटो लेने लायक मौकों पर फोटोग्राफर हमेशा नहीं मिलते। आखिर मैं जान पर खेल गया। चुपके से पाँच रुपये उसके हाथ पर रख दिये। वह फोटो लेने का वायदा कर चला गया।

भीतर जाते ही सामने उप-महानिर्देशक दीख पड़े। बड़े व्यस्त से इधर-उधर घूम रहे थे। मैंने अर्थभरे भाव से मुसकराते हुए नमस्ते की। वह बिना देखे ही आगे बढ़ गये। वह व्यवस्था की दौड़-धूप में थे और मैं इसलिये उनके पीछे भाग रहा था कि उन्हें बता दूँ मैं आ गया हूँ। साढ़े तीन बजने को आ रहे थे, आखिर मैंने ही बात चलाकर कहा, "मैंने उस कविता की ट्यून खूब सैट कर ली है।"

"क्या कहा आपने ! ओह, वह कविता ! बहुत शानदार है वह ! मगर···" वह बड़ी आत्मीयता से स्वर को धीमा करके बोले, "बात यह है कि ऐसे वक्त लोग जरा गाना-बजाना ज्यादा पसंद करते हैं। हमने इसीलिये 'सुन्दरी संगीत संयोग' से लड़कियों का इन्तजाम किया है। ऐसी चीज है कि सुनियेगा तो फड़क जाइयेगा। आपकी कविता के लिये माफी···"

"तो क्या मेरी कविता नहीं होगी ?" मैंने खोखले गले से कहा। सिर में चक्कर आता सा लगा, आँखों में अँधेरा छा गया। तभी बाहर पुलिस की सीटियाँ बजीं और महानिर्देशक जी दरवाजे की ओर भाग चले—"लीजिये, गवर्नर साहब आ गये।"

मैं पास की कुर्सी पर लुढ़क गया। बादलों पर तैरते से गवर्नर साहब स्टेज की ओर बढ़ते रहे, बिजली की तरह चमककर कैमरे फोटो लेते रहे, मैं संज्ञाविहीन-सा देखता रहा। सहसा मंच पर तबला-हारमोनियम की ताल पर युवतियों के स्वर उभरे—

"झूम-झूमकर नाचो आज, गाओ आज
कृषकों का है सम्मेलन···"

सहसा मैं चौंककर उठ खड़ा हुआ। सोचा—कोई पूछेगा तो कह दूँगा तबीयत खराब होने से मैंने ही कविता पढ़ने से इन्कार कर दिया। तभी मुझे फोटोग्राफर की याद आयी। मैंने सब ओर ढूँढ़ा, आज भी हर कैमरामैन को घूरकर देखने लगता हूँ, मगर वह फोटोग्राफर आज मेरी खोज की ही वस्तु बना हुआ है।

शिकार की तलाश

विष्णु प्रभाकर

श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म सन् १९१२ में मुजफ्फरनगर जिले के मीरापुर कस्बे में हुआ था। आप सन् १९३४ से लिख रहे हैं। प्रारम्भ में आपने लेख, गद्य-काव्य और कविताएँ लिखीं, पर शीघ्र ही आप केवल कहानियाँ लिखने लगे। सन् १९३९ से आपने नाटक और रेखा-चित्र भी लिखने शुरू कर दिये। सन् १९४८ से आप रेडियो के संपर्क में आये और शीघ्र ही रेडियो-नाटक-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हो गये। आपकी रचनाओं का प्रान्तीय और विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद होता रहता है तथा कई पुस्तकें विभिन्न सरकारों और संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। १९५५ में आपको आकाशवाणी में ड्रामा-प्रोड्यूसर नियुक्त किया गया, लेकिन डेढ़ वर्ष बाद त्यागपत्र देकर आपने फिर स्वतन्त्र लेखन अपना लिया।

रचनाएँ

'निशिकान्त', 'तट के बन्धन', 'स्वप्नमयी', 'नवप्रभात', 'समाधि', 'होरी', 'डॉक्टर', 'चन्द्रहार', 'इन्सान', 'क्या वह दोषी था ?', 'प्रकाश और परछाईं', 'बारह एकांकी', 'दस बजे रात', 'आदि और अन्त', 'रहमान का बेटा,' 'जिन्दगी के थपेड़े,' 'संघर्ष के बाद', 'धरती अब भी घूम रही है', आदि।

८१८, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट, दिल्ली

निशाना ऐसा अचूक था कि चुहिया वहीं ढेर हो गई।

सुरेश भाई नाटे हैं, पर इतने नहीं कि सेना में भरती न हो सकें। रुझान उनका मुटापे की ओर है, पर बन्दूक का प्रयोग करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। उमर अभी बीस के इस ओर ही है, इसलिए उनकी मुसकान में बचपन है और आप जानते हैं, बचपन बुद्धि के मामले में भले ही अविकसित हो, पर प्यार के मामले में बड़ा विकसित होता है। सो सब मिलकर वह बड़े प्यारे लगते हैं।

लेकिन प्यार का एकमात्र कारण उनका यह रूप ही हो, सो बात नहीं। और भी बहुत-सी बातें थीं—मसलन उनकी मेरी रिश्तेदारी। मेरे ससुर के साले की ससुराल से वह आये थे और उन्हें शिकार की तलाश थी। मेरे साले साहब इंजीनियर थे और ऐसी जगह काम करते थे जहाँ जंगल और दरिया दोनों थे। इस दोहरे आकर्षण के कारण सुरेश भाई के मुँह में जो पानी आया, यदि आप शिकारी हैं तो उसकी कल्पना करके आपके मुँह में भी पानी आ सकता है। जंगल में सांभर आदि तो थे ही, उन दिनों वनराज शेर के आने की सूचना भी मिली थी, और नदी में मगर इतने थे कि उनकी खालों से तम्बू तैयार कर लो।

मेरे साले साहब के स्वभाव मे एक खास बात है कि जो नाते-रिश्तेवाले या दोस्त लोग उनसे मिलने आते हैं, उन्हे वह खूब सैर कराते हैं। इस पर सुरेश भाई तो शिकारी थे और मेरे साले साहब के शिकार-प्रेम की कहानी तो दूर-दूर तक मशहूर है। जमीन पर से शेर को मारने की बात छोड़ भी दें तो भी उन्होंने अपने अफसरों की शोहरत के लिए कई बार मगर मार-मारकर दिए हैं।

तो साहब, तय हुआ कि सुरेश भाई के सम्मान में शिकार-यात्रा की जाए। विशेषकर इसलिए भी कि सुरेश भाई फिर शीघ्र ही सेना में भरती होकर दूर जानेवाले थे। मौसम बड़ा प्यारा था। दिसम्बर की सरदी में थकान तो कम होती ही है, उलटे शरीर में गरमी भी आती है। ऐसा सुन्दर अवसर देखकर मेरे मुँह में भी पानी भर आया और यात्री-दल ने दर्शक के तौर पर, मुझ खद्दरधारी अहिंसक को भी साथ ले जाना स्वीकार कर लिया। वैसे बहुत-से लोग गांधी टोपी को ३०३[१] तो कहते हैं, पर यकीन मानिए मैं जीव-हत्या के मामले में बुद्ध, महावीर और गांधी का पट्ट शिष्य हूँ। मैं तो लेखक के नाते ही उस दल में शामिल हुआ।

बहरहाल हम यात्रा पर निकले और अन्तिम समय पर मेरे साले के साले साहब भी एक्स्ट्रा के रूप में उस दल में शामिल हो गए। वैसे उन्हें रमी[२] खेलने का बड़ा शौक है और उस यात्रा में कहीं भी—जंगल में, मोटर में, खाने की मेज पर, सोने के समय, नदी के किनारे—जहाँ भी मौका मिला हो वह मेरे

१. एक प्रसिद्ध राइफल। २. ताश का एक खेल।

साले के साले मेरे ससुर के साले के साथ रमी ही खेलते रहे। इस प्रकार मुझे दो-दो लाभ हुए—शिकार के साथ रमी भी देखी और ऊपर से मुफ्त में रसगुल्ले खाए वे अलग, क्योंकि शर्त यह थी कि उस यात्रा में जो भी जितने रुपए जीतेगा उनके रसगुल्ले खाए जाएँगे।

लीजिए, शिकार की बात करने चले थे, जा पहुँचे रसगुल्लों पर। ठहरा न खद्दर की टोपी पहननेवाला अहिंसक ! माफ कीजिए, अब गलती न होगी। सबसे पहले टीम का वर्णन करूँ। मेरे अतिरिक्त उसमें मेरे साले साहब थे, मेरे साले के साले साहब थे, मेरे ससुर के साले साहब थे, और मेरे ससुर के साले के साले के भतीजे सुरेश भाई थे। इस टीम के मैनेजर कहिए या मेजबान कहिए, मेरे साले साहब थे। शिकारियों में प्रमुख थे सुरेश भाई और उनके सहायक थे मेरे ससुर के साले। मेरे साले के साले रिजर्व में थे और मैं दर्शक था ही।

बहुत-सी कच्ची-पक्की सड़कों की धूल फाँकते हुए, नदी-नाले पीछे छोड़ते हुए जब घने जंगल के बीच से होकर हम नदी के किनारे पड़े इंजीनियर साहब के कैम्प की ओर बढ़ रहे थे तब रात भी चुपके-चुपके हमारा पीछा कर रही थी। मेरे ससुर के और साले के साले साहब रमी मे व्यस्त थे, लेकिन शाबाश सुरेश भाई ! वह बन्दूक सम्हाले जंगल की ओर टकटकी लगाए देख रहे थे।

एकाएक वह चिल्ला उठे—"भाई साहब ! उधर देखिए।"

सबकी दृष्टि संकेत की दिशा में उठी और घने जंगल के पेड़-लता-गुल्मों में उलझकर रह गई।

सुरेश भाई ने कहा—"सांभर है।"

"कहाँ ?"

"वह देखो, वह खड़ा पेड़ के पास !"

स्टेशन वैगन तब तक धीमी पड़ चुकी थी और सुरेश भाई बन्दूक का निशाना साध ही रहे थे कि इंजीनियर साहब ने वैगन आगे बढ़ा दी और कहा—"इतनी देर सांभर आपकी गोली का इन्तजार नहीं कर सकता, जनाब ! आपने पेड़ के टूटे तने को देख लिया है।"

सुरेश भाई ने बहुतेरा विरोध किया, लेकिन साहब, कोई माने तब न ! बेचारों का शकुन खराब हो गया। इसलिए अगली बार जब सांभर जंगल में गायब होने से पहले काफी दूर तक दौड़ता हुआ दिखाई दिया तब उन्होंने बन्दूक नहीं चलाई। हो सकता है, कोई भूत सांभर का वेष बदलकर आ गया हो।

बहरहाल कैम्प में पहुँचने पर हमने वह रात तम्बुओं में गुजारी। सवेरे जल्दी-से-जल्दी उठकर मगरदाह पर मगर का शिकार करने की बात थी। लेकिन रात को देर तक बन्दूकों की जाँच करने और जंगल की ठिठुरती सरदी के कारण शिकार-पार्टी देर तक सोती रही। सुरेश भाई जब हड़बड़ाकर उठे तब चारों ओर शोर मच रहा था। एक बार तो वह समझे कि कहीं हांका पड़ रहा है, पर शीघ्र ही पता लगा कि भाभीजी

चाय का प्रबन्ध कर रही हैं, नौकर नदी किनारे भोजन बनाने का सामान बाँध रहे हैं, साहब दो आदमियों को मगरों का पता लगाने के लिए नीचे की ओर जाने को कह रहे हैं। हमें उठा देखकर वह बोले—"जनाब! क्या किया जाए, देर हो गई। अहा, कैसा अच्छा मौका था! मगर इस समय धूप सेंकने किनारे पर लेटने के लिए चल पड़े होंगे, लेकिन जब तक हम वहाँ पहुँचेंगे वे लौटने की तैयारी में होंगे।"

जंगल के उस उबड़-खाबड़ रास्ते को कुछ कार से, कुछ पैदल पारकर नदी पर पहुँचते-पहुँचते सचमुच ग्यारह बज गए और जो दो आदमी मगरों का पता लगाने आए थे, उनमें से एक ने आकर रिपोर्ट दी—"साहब, मगर तो कहीं नहीं हैं।"

साहब ने परेशान होकर कहा—"क्या बकते हो? कहाँ गए?"

"जी, जान पड़ता है वे और भी नीचे चले गए।"

उसे डाँटकर साहब ने कहा—"तो जहाँ गए हैं वहीं उन्हें खोजो। यहाँ हमने कितने ही मगरों को मारा है। मेहमान क्या कहेंगे?"

वह आदमी चला गया और हम लोग पार्टियों में बँटकर नदी के कटे-फटे पथरीले किनारों के साथ इधर-उधर फैल गए। भाभीजी नौकरों को लेकर खाने का प्रबन्ध कर रही थीं और बच्चे मुझ दर्शक के साथ इधर-उधर फुदक रहे थे। मगर, मगर कहीं दिखाई नहीं दिए। इंजीनियर साहब के बच्चे, जो अक्सर मगर के शिकार के साक्षी रहे हैं, मुझे अपनी अटपटी भाषा में अपनी कहानी सुनाने लगे। काफी देर पत्थरों पर दौड़-दौड़कर मैं थकावट महसूस कर रहा था, इसलिए वे कहानियाँ मेरे लिए काफी स्वास्थ्यवर्धक साबित हुईं। मगर, मगर को मरते देखने की चाह ने मुझे फिर भी एक स्थान पर नहीं बैठने दिया। कभी मैं सुरेश भाई के पीछे भागता, कभी इंजीनियर साहब की पार्टी की ओर। तभी सहसा मैंने बन्दूक छूटने की आवाज सुनी। सारा वन-प्रान्त एकबारगी उस ठहाके से गूँज उठा और मैं तेजी से इंजीनियर साहब की ओर भागा। बच्चे भी दौड़े। वे चिल्ला रहे थे—"अहा, मगर मर गया, मगर मर गया!" मैंने देखा—दूर ऊपर की ओर वे लोग जोर-जोर से बोलकर कुछ कह रहे थे। मैंने चिल्लाकर कहा—"क्या मगर मर गया?"

गोली मामाजी ने चलाई थी, बोले—"गोली तो लगी है।"

"क्या मतलब?"

"मगर वहाँ उस छोटे-से टापू पर पड़ा था, गोली खाकर वह उछला और दह में घुस गया।"

"तो?"

"तो क्या, अब वह जीते जी अपने-आप ऊपर नहीं आएगा। उसे बुलाना पड़ेगा।"

लेकिन उसे बुलाने के लिए सारे प्रयत्न विफल गए। पानी के नीचे अपनी दह के किसी अस्पताल में वह सुरक्षित था। हमारा आक्रमण उस किले को न तोड़ सका और इंजीनियर साहब को विश्वास हो गया कि अब तो मगर मरने के बाद ही

ऊपर आएगा। उसमें कई दिन लग सकते हैं और तब तक उसकी खाल बेकार हो जाएगी।

थके हुए शरीर और भी थक गए। धूप की तेजी के कारण प्यास से गला सूखने लगा। भाभीजी ने सूचना दी कि भोजन तैयार है, लेकिन सुरेश भाई का कुछ पता नहीं था। जब हम लोग दूर तक ऊपर दूसरे मगर की खोज में बेकार भटककर लौटे तब एकाएक वह जंगल एक बार फिर बन्दूक छूटने की आवाज से थर्रा उठा। मामाजी ने कहा—"लो, सुरेश भाई ने भी मगर मारा।"

इंजीनियर साहब मुसकराए—"शायद आपकी तरह।"

और वह तेजी से उधर ही लपके। मैं भी साथ था। आधे रास्ते क्या देखते हैं कि सुरेश भाई कन्धे पर बन्दूक लटकाए लथपथ हमारी ओर ही आ रहे हैं। हमने चिल्लाकर पूछा—"क्या रहा?"

जवाब आया—"गोली ऊपर से निकल गई।"

इंजीनियर साहब हँस पड़े—"हवा में छोड़ी होगी।"

"नहीं साहब, बाल-बाल छूती हुई गई है। मगर को मैंने जल में कूदते देखा है।"

मैंने साँस खींचकर कहा—"तुम भाग्यवान हो, सुरेश भाई, इतना तो देख लिया। यहाँ तो कोरे ही रह गए।"

बच्चा पास ही खड़ा था, बोला—"फूफाजी, आप मगर का घर देख लीजिए। यहीं तो रहता है।"

एक ठहाका उठा। सुरेश भाई ने कहा—"नहीं साहब, आपको मगर दिखाया जाएगा। सबर कीजिए।"

लेकिन मगर के दर्शन नहीं होने थे, सो नहीं हुए। शिकारी लोग हैरान थे—जहाँ सैंकड़ों मगर थे वहाँ एक भी नहीं।

मैंने कहा—"भाई, वे जान गए हैं कि विदेशियों ने हमारी बस्ती देख ली है इसलिए कहीं और जा बसे हैं।"

शायद यह बात ठीक थी, क्योंकि नीचे जानेवाले व्यक्ति ने आकर बताया—"साहब, आस-पास चार-चार मील तक मगरों का नामोनिशान तक नहीं है।"

यह सुनकर हम लोग तो लौट पड़े, लेकिन सुरेश भाई बन्दूक सम्हाले देर तक मगरों को ढूँढते रहे। लेकिन मगर तो क्या, एक मुरगाबी भी उनके हाथ नहीं पड़ी। भला मगर का शिकार करनेवाला मुरगाबी पर हाथ कैसे उठाए!

इस अप्रत्याशित पराजय की खीझ उतारने के लिए सुरेश भाई ने प्रस्ताव किया कि पोचिंग पर चला जाए। रात को चोरी से शिकार करना जुर्म है, पर जुर्म करने का भी अपना एक मजा होता है और फिर दिसम्बर की अँधेरी रात में जंगल में शिकार; वह भी जब नाहर आया हुआ है। इससे बढ़कर रोमांस और क्या होगा! यद्यपि दल के दूसरे व्यक्तियों में कोई विशेष उत्साह नहीं था, फिर भी सुरेश भाई की प्रबल इच्छा

को देखते हुए तैयारी की आज्ञा दे दी गई। मैं भी मन-ही-मन बहुत खुश था। चलो, इस बार तो किसी शिकार के दर्शन होंगे ही और मुझे अपनी कहानी में उसका वर्णन करने का अवसर मिलेगा। बस, मगर को छोड़कर मैंने अपने मन में शेर और सांभर के शिकार के अनेक काल्पनिक चित्र बनाने शुरू किए और जब जीप में बैठकर हम चले तब, सच कहता हूँ, मेरी वही अवस्था हुई जैसी शायद अपनी बारात में चढ़ने पर हुई होगी। जीप में तेज रोशनी लगी हुई थी। उसके अतिरिक्त इधर-उधर जंगल में रोशनी फेंकने को दो और तेज सर्चलाइट ले ली थीं। टार्चों की तो बात ही क्या कहें! आगे की सीटों पर ड्राइवर के अलावा ओवरकोट में लदे-फदे बन्दूक सम्हाले सुरेश भाई थे। वही इस दल के कप्तान थे। उनकी सहायता के लिए पीछे दोनों ओर मामाजी और इंजीनियर साहब के साले थे। उनके पास बन्दूकें थीं और वे बार-बार रोशनी फेंक रहे थे। बीच की सीट पर कम्बल ओढ़े मैं शान से राजा बना बैठा था और नीचे की तरफ बैठे थे इंजीनियर साहब, जो शेर और सांभर के स्थान पर नींद के शिकार में अधिक दिलचस्पी दिखा रहे थे। ड्राइवर की बगल में एक भाई मार्ग-प्रदर्शन के लिए भी बैठे।

रात अन्धेरी थी। चारों ओर सन्नाटा था। रास्ता बुरा नहीं था। सन्नाटे और अन्धकार पर प्रहार करती हुई जीप इस तरह मन्थर गति से आगे बढ़ रही थी, जिस प्रकार कोई जहाज समुद्र में से गुजर जाए। पेड़-पौधे एक बार चमकते और फिर अन्धकार में खो जाते। दूर-दूर तक कुत्तों के भूँकने तक की आवाज न सुनाई देती। बस, अपनी ही जीप का शोर कानों को थका रहा था। बीच में सुरेश भाई बोल उठते थे—"वह...वह देखो...!"

सर्चलाइट इधर-उधर घूमती, पर जंगल में कहीं कोई जुम्बिश नहीं होती।

"सुना आज तो शेर आया हुआ है!"

"सुना तो है।"

"दिखाई नहीं देता!"

"शेर तो क्या, यहाँ तो गीदड़ भी नहीं है।"

"वे तो शेर के डर से छिप गए हैं।"

"और शेर आपके डर से!"

सब लोग हँस पड़े। बाप रे, शेर रहते ऐसा सन्नाटा! जंगल में कोहराम मच जाना चाहिए, लेकिन यहाँ तो गहरे अन्धकार में लिपटे पेड़-पौधों के झुण्ड, मिट्टी के टीलों और पत्थरों के अतिरिक्त और कुछ न दिखाई देता था। किसी सांभर और हिरण की शक्ल तो क्या, आवाज तक नहीं सुनाई देती थी। हाँ, जीप की रोशनी में नाचने-वाला परिन्दा बार-बार हवा में तैरता हुआ सामने आ जाता।

सुरेश भाई ने उतावले बनकर पूछा—"आखिर आज ये कहाँ गए? कोई भी दिखाई नहीं देता।"

मामाजी बोले—"दे कैसे? तुमने पहले तो सूचना दी नहीं।"

इंजीनियर साहब जैसे नींद के झोंके से जागे हों—"ऊहूँ मामाजी, वे घर के अन्दर सो रहे हैं, सरदी है न ! क्यों बेचारों को जगाते हो ?"

हँसने के बाद फिर एक गहरा मौन व्याप्त हो गया। एक बार फिर हमने उस घने जंगल का चक्कर काटा। नदी के किनारे आ निकले। सामने कुछ झोंपड़ियाँ दिखाई दीं, जैसे कोई बड़ा जानवर बैठा हो। सुरेश भाई ने जस्त ली, पर शीघ्र ही मायूसी से हाथ पीछे हट गया। मुँह से निकला—"धत् तेरे की !"

मैंने कहा—"सुरेश भाई, दुनाली को झुकाओ मत। रोशनी में नाचनेवाली इस चिड़िया को ही मार डालो।"

बोले—"जी में आता है, इसे ही चबा जाऊँ। कम्बख्त खरगोश तक नहीं दिखाई दिया।"

सुरेश भाई बेहद निराश हुए, उन्हें कोई शिकार नहीं मिला। जरा क्रोधी स्वभाव के होते तो निश्चय ही तब वह पेड़ों को भून देते। निराश मैं भी था, मेरी कहानी रह गई, लेकिन सबसे अधिक निराशा तो डेरे पर पहुँचकर हुई। भाभीजी ने सब कथा सुनकर कहा—"आप लोग फिजूल उधर हैरान हुए, सांभर तो यहाँ आया था।"

"सच !" हम लोग अचरज से चिल्ला उठे।

मामाजी ने कहा—"सुरेश भाई को पूछता होगा !"

भाभीजी बोली—"हाँ, पूछ रहा था और यह भी कहता था कि आज तो हम उनके सामने आ ही नहीं सकते थे।"

"क्यों ?"

"क्योंकि पार्टी में एक भाई अहिंसा के उपासक हैं। उनके रहते हिंसा कैसे हो सकती है !"

अब क्या था, एक-साथ सबकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। इंजीनियर साहब बोले—"ओहो, तो यह बात थी ! मैं भी कहूँ, नदी के सारे-के-सारे मगर, जंगल के सारे जानवर और वह नया शेर—ये सब कहाँ चले गए ?"

"भई, बड़े समझदार हो गए हैं जानवर। अपने राजा का कितना खयाल करते हैं !"

वैसे अगर आज सामन्तवाद का युग होता तो इसमें कोई शक नहीं, सुरेश भाई मुझे ही गोली का निशाना बनाते, लेकिन तब तो यही हुआ कि वह हँसकर रह गए।

चलते समय इंजीनियर साहब ने सुरेश भाई को फिर आने का निमंत्रण दिया और मुझे सांभर की खाल का एक जोड़ी लोफर जूता बनवाकर भेंट किया।

पाठकों से प्रार्थना है कि वे इस भेंट का कोई विशेष अर्थ न लगाएँ और लोफर शब्द का अर्थ ढूँढने में भी सिर न खपाएँ।

× × × ×

पुनश्च:

कहानी लिखकर चुका ही था कि सामने एक चुहिया दिखाई दी। कई दिन से उससे परेशान था। बस, हैंडबेग उठाकर मार ही तो दिया। निशाना ऐसा अचूक बैठा कि चुहिया वहीं ढेर हो गई। फिर तो बच्चों ने घर सिर पर उठा लिया—"अहा, पिताजी ने चुहिया का शिकार किया! अहा, ताऊजी ने चुहिया मार डाली!"

मैंने गर्व से भरकर एक बार अपने अहिंसक (?) शिकार को देखा और सोचने लगा—क्यों न इस चुहिया की खाल का कुछ बनवाकर अपने साले साहब को भेंट किया जाए?

क्या? यह यदि आप मुझे सुझा सकें तो बड़ी कृपा हो।

होली है

शकुन्तला शर्मा

●

श्रीमती शकुन्तला शर्मा ने हिन्दी साहित्य और पाली से एम० ए० उत्तीर्ण किया। कविता, कहानी, एकांकी, समीक्षा—सभी कुछ लिखती हैं। हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। कई कहानियों और एकांकियों का गुजराती, तेलगू, बँगला में अनुवाद भी हुआ है। नृत्य और संगीत में विशेष रुचि है। आपके पति श्री कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्खू' हिन्दी के यशस्वी कथाकार हैं।

रचनाएँ

'अंजलि', 'चाँद खो गया,' आदि।

३, गौतमनगर, नई दिल्ली-१६

शिव ने अपना सर्प विष्णु के गले में हार की तरह डाल दिया

देवर्षि नारद को विधाता का समस्त प्रपंच नीरस-सा लग रहा था। सभी लोगों में शान्ति थी। देवर्षि को यह शांति जड़ता-सी जान पड़ रही थी। न किसी लंका का दहन हो रहा था, न ब्रज का प्लावन, न कहीं अमृत-विभाजन की समस्या थी, न कहीं इन्द्र को अपदस्थ करने की चेष्टा। ऐसी दशा में जाएँ भी तो कहाँ, मिलें भी तो किससे ? वीणा पर जितने राग छेड़े सब पुराने थे। नया राग बन ही नहीं रहा था। देवर्षि को अपनी बुद्धि पर सन्देह होने लगा था।

जब देवर्षि इसी चिन्ता में थे तभी ऋतुराज वसन्त के प्रिय सहचर फाल्गुन से उनकी भेंट हो गई। अजीब मस्ती, निराला रंग और अद्भुत धज थी उसकी। देवर्षि ने सोचा—नारद को भी चिन्ता हो सकती है पर इसे नहीं, आश्चर्य है ! तभी फाल्गुन बोला—"आश्चर्य है, देवर्षि, आप चिन्तित ! नारदीय वीणा मौन !"

नारद बोले—"वसन्त प्रिय, मुझे लग रहा है कि प्रलय की घड़ी आ पहुँची है।"

"प्रलय !" फाल्गुन ने देवर्षि की बुद्धि पर सन्देह करते हुए पूछा।

"हाँ प्रलय ही, जड़ प्रलय !" देवर्षि बोले।

फाल्गुन को यह और भी अद्भुत लगा ! अग्नि-प्रलय, जल-प्रलय का तो उसे पता था, यह जड़-प्रलय नई बात थी। विनय से पूछा, "कुछ समझ नहीं पाया आपकी आशंका को।"

नारद बोले—"काम के अनुगामी वसन्त की सेवा करते-करते तुम्हारी बुद्धि भी कहीं विलास करने चली गई है शायद ? अरे, देखते नहीं हो कैसी जड़ता है सर्वत्र ! मृत्यु से स्पर्द्धा करनेवाली जड़ता ! लगता है विधाता के नाटक का यवनिका पतन होनेवाला है।"

देवर्षि की बात पर फाल्गुन खिलखिलाकर हँस पड़ा। टेसू के फूलों-सी उसकी हँसी आसमान में उषा की लाली बनकर छा गई। तभी जैसे हवा भी हँसी। शून्य भी कलकल कर उठा। स्वर्ग-गंगा की लहरें भी नाच उठीं। पारिजात में नए-नए रंग उमड़ आए। कल्पवृक्ष में नए-नए प्रसून खिल उठे; और देवर्षि को लगा, जड़ता विदीर्ण हो रही है। चमत्कार।

चमत्कार यहीं समाप्त नहीं हुआ। देवर्षि की वीणा ने नए स्वर छेड़े, जिनका आशय था—हँसो। जड़ता को गति मिल जायगी, हँसो—मृत्यु भी जीवन को जन्म देगी।

इस मर्म को समझाकर देवर्षि बोले—"साधु, फाल्गुन, साधु ! तुमने सृष्टि को जड़ता के प्रलय से बचा लिया। अच्छा मैं चला, कल तुमसे फिर मिलूँगा।"

बस देवर्षि वीणा बजाते हुए इन्द्रलोक की ओर चल पड़े।

देवराज इन्द्र सहस्र-सहस्र आँखों से शची के सौन्दर्य का पान कर रहे थे। नारद के आगमन पर आशंका से उठकर उन्होंने प्रणामपूर्वक कहा—"कहिए देवर्षि, आज किस नई लीला का सूत्रपात करने आये हैं?"

देवर्षि ने हँसकर कहा—"तुम भी नएपन की बात करते हो! तुम्हारे स्वर्ग में भी कुछ नया रखा है! वही पुराना अमृत! वही अनादि कल्पवृक्ष! वही सनातन काल से चली आती अप्सराएँ और बुद्धि भी वही पुरातन!"

इन्द्र ने हँसकर कहा—"फिर इस पुरातन बुद्धि से उत्तर भी क्या दूँ? आज्ञा करिए किस निमित्त आगमन हुआ?"

"आज्ञा कुछ नहीं"—नारद बोले—"बमभोले शंकर का निमन्त्रण लेकर आया हूँ। कल तुम शची सहित वहीं आतिथ्य स्वीकार करना।"

"उपलक्ष्य क्या है, देवर्षि?" इन्द्र ने पूछा।

"बमभोले की इच्छा!" देवर्षि ने उत्तर दिया।

इसके बाद देवर्षि आनन्द की तरंगों पर थिरकते-से विष्णु-लोक जा पहुँचे। भगवान् विष्णु क्षीर सागर में भुजंग-शय्या पर शयन कर रहे थे। लक्ष्मी चरण-सेवा में रत थीं। नारद की वीणा से भगवान की निद्रा टूटी। बोले—"कैसे आए, वत्स?"

नारद ने सप्रणाम सूचित किया—"पिनाकी ने कल चक्रपाणि को लक्ष्मी सहित आमन्त्रित किया है।"

"उपलक्ष्य?"—विष्णु पूछ रहे थे।

नारद ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"शिव ने अपने नन्दी का विवाह इन्द्र की कामधेनु से रचाया है।"

विष्णु को स्वयं शिव की बारात न भूली थी, जब वह पार्वती को ब्याहने हिमालय के घर गए थे। ब्रह्मा का कहना था कि न तो ऐसा दूल्हा देखा है, न ऐसी अनोखी बारात। उन्हें भविष्य की इस बारात की कल्पना करते हुए छोड़कर ही, नारद ब्रह्मा को सूचना देने चल दिए।

ब्रह्मदेव सरस्वती के साथ बैठे हुए वेदों के नए अर्थों की खोज कर रहे थे। नारद को उपस्थित देखकर पूछा—"वत्स! घर की याद कैसे आ गई?"

नारद ने प्रणामपूर्वक कहा—"देव, महादेव के कार्य से उपस्थित हुआ हूँ। कल आप देवी सरस्वती सहित कैलाश पधारें।"

"कोई विशेष निमित्त उपस्थित हुआ है?" विधाता ने पूछा।

"हाँ—गणेश के विवाह की समस्या है। देवी पार्वती हठ करती हैं, अनुरूप कन्या के लिए आपका परामर्श चाहिए।"

ब्रह्मा ने चिन्तित होकर कहा—"पर मैंने तो गणेश के विवाह का विधान ही नहीं रखा है।"

नारद चलते हुए बोले—"यह मैं क्या जानूँ! यदि शिव के तृतीय नेत्र से अपनी

सृष्टि की रक्षा करना चाहें तो व्यवस्था करनी ही होगी।"

विधाता को चिन्तित ही छोड़कर नारद वरुण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य आदि देवताओं और सभी दिक्‌पालों को नए-नए निमित्त बताकर शिवलोक के लिए न्यौत आये।

इसके उपरान्त नारद स्वयं शिवलोक पहुँचे। कैलाश के उच्च सानु पर पद्‌मासन में विराजमान शिव ने पूछा—"कहो देवर्षि, इस उपेक्षित कैलाश को कैसे कृतार्थ किया?"

नारद ने अत्यन्त विनीत भाव दर्शाते हुए कहा—"नारायण! नारायण!! क्या कहते हैं, देव! कैलाश तो मेरी कामनाओं का लोक है, पर आज तो मैं कुछ अद्‌भुत ही संवाद लेकर आया हूँ।"

"क्या?" शिव ने पूछा।

देवर्षि बोले—"इन्द्र की एक आँख कामधेनु की सींग से फूट गई है। तब से वह अत्यन्त दुःखी है। वह सोचता है कि भगवान् शंकर के पास एक नेत्र अधिक है, उन्हीं से माँग लाये। कम-से-कम सहस्राक्ष का विरुद तो बना रहेगा।"

शिव ने हँसकर कहा—"इसमें तुम्हारा परामर्श रहा होगा, नारद!"

पास बैठे कार्तिकेय भी हँस पड़े और गणेश तो हँसते-हँसते बेहाल ही हो गये। नारद ने कृत्रिम रोष के साथ कहा—"कुमार, तुम भी अपने मयूर को सम्हालो। देव विष्णु कह रहे थे कि अपना गरुड़ वृद्ध हुआ, कार्तिकेय का मयूर मिल जाय तो ठीक! कल वह भी इसी निमित्त आनेवाले हैं।"

गणेश ने हँसकर कहा—"तब तो मेरे मूषक पर भी किसी की दृष्टि होगी और माता पार्वती के सिंह के लिए भी कोई लालायित होगा।"

नारद बोले—"नारायण! नारायण!! सिंह जैसा भयानक वाहन न तो शची को ही प्रिय होगा, न लक्ष्मी-सरस्वती को ही। रहा मूषक, वह देवासुर संग्राम में इन्द्र की सहायता भी कर नहीं सकता। अब रहे ब्रह्मा, उनकी अवश्य ही शिव के नन्दी पर दृष्टि है। कहते थे—वृद्ध हुआ, अब अपने पाँवों चला नहीं जाता। शिव से नन्दी को भिक्षा लेनी ही होगी।"

इसके उपरान्त देवर्षि वहाँ न रुके। देवी पार्वती के आग्रह पर भी नहीं, और वीणा बजाते हुए चल दिये।

अगले दिन यथासमय सभी देवता शिवलोक जा पहुँचे। इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु को वहाँ देखकर कुमार कुछ चंचल हुए। सोचा, अवश्य ही नारद की सूचना में कुछ सार है। अपनी चिन्ता को उन्होंने बुद्धि के देवता गणेश के सम्मुख रखा—"तुम्हीं बताओ भैया, कैसे अपने मयूर की विष्णु से रक्षा करूँ? पिताजी तो भोले हैं। नन्दी दे देंगे और नेत्र भी··पर··"

गणेश ने क्षण-भर सोचकर कहा—"तुम चिन्ता न करो, सब व्यवस्था हो जायगी। तुम माताजी से कहकर स्वादु व्यजन तो बनवाओ। बस इतना ध्यान रखना कि उन सब व्यजनों में भाँग और धतूरे की मात्रा कम न रहे।" वैसी ही व्यवस्था

हुई। सभी देवता चक्रबद्ध होकर तृप्तिपूर्वक महादेव का प्रसाद ग्रहण कर रहे थे। तभी विष्णु ने बात चलाई—"महादेव, नन्दी के लिए तुमने अच्छी सोची। सचमुच ही कामधेनु सब तरह से उसके योग्य है।" शिव को आश्चर्य हुआ और गणेश को प्रसनन्ता। सोचा—धतूरे का प्रभाव है।

विष्णु की बात समाप्त भी न हो पाई थी कि ब्रह्मा बोले—"और हाँ देव शंकर, यह गणेश के विवाह की तुम्हें क्या चिन्ता हुई? पहले कार्तिकेय की तो सोचो।"

शिव की समझ में कुछ आ न रहा था। पार्वती माँ भी ममता से भरकर बोलीं—"ब्रह्मदेव, विवाह की चिन्ता तो होनी ही चाहिए। सभी ने अपने बेटों को नारद बनाने का संकल्प तो नहीं कर लिया!"

तभी इन्द्र की आँखें भाँग-धतूरे के प्रभाव से आरक्त हो उठीं—उन्हें ऐसा लगा जैसे उनकी सारी देह ही झुलस उठी है। विचलित से बोले—"देव, यह कैलाश का कैसा प्रभाव! मेरी आँखों की रक्षा तो करो।"

तभी कार्तिकेय ने गणेश के कान में कहा—"देख रहे हो इस प्रपंची इन्द्र को! कैसी भूमिका बाँध रहा है!"

इतने में विष्णु ने विजया के नशे में झूमते हुए कार्तिकेय से सस्नेह पूछा—"तुम्हारा मयूर तो सानन्द है न, कुमार?"

कुमार ने डरते-डरते कह दिया—"कृपा है आपकी, भगवन्!"

सभी देवों ने देवी पार्वती के बनाए दिव्य व्यंजनों का खूब भोग लगाया। क्षुधा जैसे सबकी विराट हो चली थी। महादेव का प्रसाद भी भोजन की मात्रा के अनुपात में रंग ला रहा था। इन्द्र बोलते तो वाणी स्खलित होने लगती। ब्रह्मा, विष्णु और महेश से अद्भुत परिहास करने लगे। लक्ष्मी, सरस्वती और शची, पार्वती के व्यंजनों की प्रशंसा करते-करते पागल हो उठीं। उधर नन्दी को जब कार्तिकेय से यह पता लगा कि ब्रह्मा उसे शिव से माँगने आये हैं तो वह पागल हो देवाधिदेव के चरणों की रज उड़ा-उड़ाकर दिशाओं को अंधी करने लगा। गणेश किसी नए खिलवाड़ की कल्पना में मौन ही थे।

इतने में देवर्षि नारद फाल्गुन को लेकर कैलाश पधारे। उन्होंने देवों की ओर इंगित करते हुए कहा—"देखते हो, फाल्गुन! मैंने मुक्त आनन्द के तुम्हारे जीवन-दर्शन के लिए एक नवीन भूमिका तैयार की है। आज तुम प्रसन्नता में भरकर नाचो। मैं वीणा बजाता हूँ।"

तभी मस्ती-भरी बयार बही। कैलाश के हिमश्वेत झरनों में केसरिया रंग उमड़ उठा। हिममण्डित शिलाएँ कुसुमों की क्रोड़ बन गईं। नारद की वीणा से कुछ ऐसे मन्द स्वर निकले कि कार्तिकेय का मयूर नर्तन करने लगा। सब देव उल्लास के उस पर्व में एक-दूसरे को कण्ठ से लगाने लगे। शिव ने अपना सर्प विष्णु के गले में हार की तरह डाल दिया। विष्णु ने वैजयन्ती-माला शिव को पहना दी। ब्रह्मा साम के मनोहर मन्त्र गाने लगे। इन्द्र ने मेघों को रसदान करने की आज्ञा दी। गणेश निर्झरों के दिव्य

वारि को अपनी सूंड में भर-भरकर देवों पर स्निग्ध बौछारें करने लगे। उन बौछारों से शून्य में सहस्रों लक्ष इन्द्रधनुष बन गये, जैसे दिशाएँ एक-दूसरे पर रंगभरी पिचकारियाँ छोड़ रही हों।

और कहते हैं तब से जब-जब फाल्गुन पृथ्वी पर आता है तब-तब यहाँ भी शुद्ध उल्लास का वैसा ही पर्व होली के रूप में देखने में आता है।
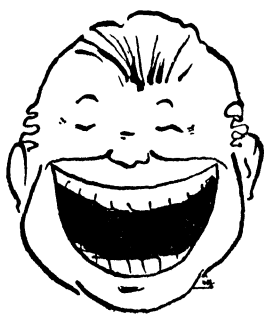
किशोर की मूँछें

शान्ति भटनागर

●

श्रीमती शान्ति भटनागर का जन्म सन् १९१५ में मेरठ में हुआ था। लिखने का चाव बहुत पुराना है। सन् १९३६ से 'माधुरी,' 'चाँद' आदि पत्रिकाओं में सामाजिक समस्याओं पर 'रजनी' नाम से लेख और कहानियाँ लिखीं। लखनऊ से निकलनेवाली स्त्रियोपयोगी पत्रिका 'कला' का डेढ़ वर्ष तक सम्पादन किया। राजाजी की कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया जो 'कुब्जा-सुन्दरी' नाम से प्रकाशित हुआ। 'रैबेका,' 'रुक्मिणी', 'युद्ध और शान्ति' नाम से तीन विदेशी उपन्यासों के अनुवाद किये जो 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में धारावाहिक रूप से छपे।

रेडियो से भी आपकी वार्ताएँ प्रसारित होती रहती हैं। सन् १९५५ से 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादकीय-विभाग में कार्य कर रही हैं। आपके पति श्री बांकेबिहारी भटनागर हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के यशस्वी सम्पादक हैं।

२५।६, ईस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली

किशोर परेशान था आज उसकी मूँछें मक्खन की तरह क्यों फिसल रही हैं !

किशोर को स्टालिन जैसी मूँछें रखने का बहुत शौक था। इसमें वह अपना बड़प्पन समझता और समझता अपने को स्टालिन का अनन्य भक्त। कॉलिज में, घर में, अपने मित्रों में—सभी जगह वह अपनी मूँछों की डींग हाँका करता। परन्तु उसकी छोटी बहन लता इससे बड़ी चिढ़ा करती। वह सदा इस ताक में रहती कि कब अवसर मिले और कब वह भैया की मूँछों का मजाक उड़ाये। एक दिन जैसे ही किशोर ने दूध पीकर गिलास नीचे रखा, लता ने झट उसके दोनों हाथ पकड़ लिए और चिल्लाकर छोटे भाई गोपाल से कहा—"गोपाल, देख बड़े भैया की मूँछों से दूध बरस रहा है।"

किशोर ने झटककर लता से अपने दोनों हाथ छुड़ा लिए और रूमाल से मूँछें साफ करता हुआ अपनी माँ से बोला—"अम्मा, देखो! लता को समझा दो, वह मुझसे ऐसी बेहूदी बातें न किया करे, नहीं तो मार बैठूँगा मैं उसे किसी दिन।" और तब अम्मा ने हँसते हुए लता को समझाया—"ना बेटी, अब तू बड़ी हो गई है। बड़े भाई की इस तरह हँसी नहीं उड़ाते।"

फिर भी लता दिन में एक-दो बार किशोर की मूँछों की चर्चा कर ही देती। उधर कॉलिज में भी साथी छींटें उड़ाये बिना न रहते। कुछ ने तो उसका नाम ही स्टालिन रख छोड़ा था और कुछ उसे गोरा-चिट्टा होने के कारण रूसी भालू कहकर पुकारते थे। किशोर इन बातों से बुरा नहीं मानता था, बल्कि उलटा फूलकर कुप्पा हो जाता था और अपने आप में सचमुच स्टालिन की प्रतिच्छाया देखने लगता था।

कॉलिज में उसका अन्तिम वर्ष था। विदा की पार्टी के साथ-साथ विद्यार्थियों ने फोटो का भी प्रोग्राम बनाया। किशोर के कुछ शुभचिन्तक साथियों ने उसे समझाया—"जरा अपनी मूँछें छँटवा लो। यह फोटो सदा कॉलिज में रहेगा। क्यों जन्म-भर अपनी हँसी उड़वाने का मसाला छोड़े जाते हो?" परन्तु उसने उनकी बातें हँसी में उड़ा दीं और बड़े तपाक के साथ सबके बीच में खड़े होकर फोटो खिंचवाया। फोटोग्राफर ने उसे कितनी गौर से देखा और साथ की छात्राएँ किस प्रकार मुँह पर रूमाल रखकर मुसकराईं, इस ओर उसका ध्यान गया या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; परन्तु जब तक फोटो खिंच नहीं गया वह अकड़ा ही खड़ा रहा।

इधर किशोर ने एम० ए० पास किया उधर कन्यावालों ने उसके पिता को विवाह के लिए घेरना शुरू किया। डिप्टी कलेक्टर के एम० ए० पास पुत्र से अपनी

कन्या का सम्बन्ध करने के लिए कौन लालायित न होता ? उसकी माँ के पास तो दो वर्ष से सन्देसे आ रहे थे। परन्तु वह मन में रामकिशन तहसीलदार की एक-मात्र पुत्री उषा को अपनी पुत्र-वधू बनाने का निश्चय किए बैठी थी। उषा ने उसी वर्ष बी० ए० पास किया था। देखने में सुन्दर, नाचने और गाने में प्रवीण और इससे भी अधिक अपने तहसीलदार पिता की सारी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी थी। इस सम्बन्ध में किशोर को भी कुछ आपत्ति नहीं थी और उषा की माता को भी विश्वास था कि किसी दिन उसकी बेटी डिप्टी कलेक्टर के घर की शोभा बनेगी।

एक दिन उषा का मन टटोलने के लिए उसकी माँ ने कहा—

"किशोर को तो तूने देखा है, उषा ?"

"हाँ, हाँ, देखा क्यों नहीं है।"

"कैसा लगता है तुझे ?"

"क्यों ?" उषा ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"उससे मैं तेरे ब्याह की बात पक्की कर रही हूँ।"

उषा कुछ देर तक तो चुप रही, फिर ठठाकर हँस पड़ी और बोली—

"मैं उस बांगड़ू से कभी ब्याह नहीं करूँगी।"

माँ ने कारण पूछा तो उषा ने कागज पर बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला एक चेहरा बना दिया और नीचे लिख दिया 'बांगड़ू'। माँ पहले तो मुसकराई; फिर बोली—"दुत पगली, यह भी कोई बात है ! ब्याह के बाद जब वह देखेगा कि तुझे मूँछें पसन्द नहीं है तो वह आपसे आप कटवा लेगा।"

इसके बाद माँ ने गम्भीर बनकर उषा को देर तक समझाया, पर वह नहीं मानी और आखिर में तंग आकर बोली—"अच्छा, अगर वह मूँछें कटवा लें तो मैं ब्याह कर लूँगी।"

परन्तु इतनी बड़ी बात कन्या-पक्षवाले मुँह पर कैसे ला सकते थे ? यह तो व्यक्तिगत मान-अपमान का प्रश्न था। उषा की माँ ने तो चाहा भी कि एक दिन किशोर को बुलाकर हँसी-हँसी में मूँछों की बात कह दे, पर उसे साहस नहीं हुआ। एक तो किशोर के पिता डिप्टी कलेक्टर थे, दूसरे वह खुद किशोर के अक्खड़ स्वभाव की बातें सुन चुकी थी। इस पर जब सहेलियों में चर्चा छिड़ी तो उन्होंने भी एक स्वर से उषा के निर्णय की प्रशंसा की। अतः किशोर का मोह छोड़कर उषा के माता-पिता ने उसका विवाह दूसरी जगह पक्का कर दिया।

डिप्टी साहब की पत्नी को जब पता लगा कि उषा की शादी कहीं और तय हो गई है तो उन्हें बहुत बुरा लगा। पहले तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने मन-ही-मन उषा के माता-पिता को घमण्डी आदि विशेषणों से सम्बोधित किया और ऐंठकर कहा—"इतराते हैं अपनी छोकरी की खूबसूरती पर !" परन्तु बाद में उन्हें यह बात अधिक दिन तक नहीं खटकी। पचासों जगह से खुशामदें हो रही थीं। तहसीलदार की तो कौन कहे; बड़े-बड़े डॉक्टर, जज और रईस किशोर को दामाद बनाने को इच्छुक

थे। डिप्टी साहब एक बार बातों-बातों में कानपुर के डॉक्टर हरवंशलाल की पुत्री तारा के लिए अपनी सहमति दे भी चुके थे। घर में चर्चा चलने पर उनकी पत्नी ने भी उनके निश्चय का समर्थन किया।

रूप-गुण में तारा भी उषा से कुछ कम नहीं थी। अन्तर केवल इतना था कि जहाँ उषा कॉलिज की हवा ले चुकी थी वहाँ तारा ने घर पर ही शिक्षा प्राप्त करके इण्टर पास किया था और बी० ए० के लिए भी घर पर ही तैयारी कर रही थी। स्वभावतः उषा जितनी चंचल थी, तारा उतनी ही सीधी थी। जिस समय उसके मामा ने आकर उसकी माँ से कहा—'डिप्टी कलेक्टर का सबसे बड़ा लड़का है, एम० ए० पास है, टैनिस का चैम्पियन है, देखने में भी बड़ा सुन्दर है—गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, लम्बी नाक, स्वस्थ सुडौल शरीर' तो वह अपने भावी पति के काल्पनिक चित्र को हृदय में बसाकर गद्‌गद् हो गई।

तारा के विवाह का दिन आ पहुँचा। घर-भर में आनन्द छा रहा था। बारात आने की धूम मच रही थी। प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्र से शीघ्र दूल्हे को देखने की लालसा थी। तारा भी उत्सुकता से छोटे भाई और भतीजों की, जो बारात का स्वागत करने स्टेशन गये थे प्रतीक्षा कर रही थी। वह जानती थी कि वे लौटकर घर में कुछ-न-कुछ बातें तो करेंगे ही।

सुरेश और दिनेश जब स्टेशन से लौटे तो लगे हँस-हँसकर बातें करने। एक ने कहा—"जीजा जी हैं तो बहुत गोरे-चिट्टे परन्तु उनकी मूँछें कुछ अजीब-सी हैं।" दूसरे ने कहा—"देहाती-से लगते हैं, हमें तो पसन्द नहीं आये।" और तीसरे ने हँसते हुए कहा—"जनाब, मैं लड़की होता तो पहले उनकी मूँछें काट देता तब विवाह करता।"

तारा की माँ, जो काम में व्यस्त रहने पर भी लड़कों की बातें सुन रही थी, लड़कों को डाँटकर बोली—"चुप रहो बदतमीज कहीं के! मूँछें रखना क्या बुरी बात है? बिना मूँछ का मर्द कैसा? भगवान् ने मूँछें देकर मर्द के मुँह की शोभा बढ़ा दी है, नहीं तो औरत-मर्द में फ़र्क क्या रह जाय?"

माँ की डाँट सुनकर सब लड़के बाहर भाग गये और माँ अपने काम में लग गई। परन्तु तारा के मन में कुछ खुटका हुआ—'ऐसी भी क्या मूँछें हैं जो लड़कों के मन में पहले वे ही समा गईं। चाचाजी, बाबूजी, मामाजी सभी के मूँछें हैं परन्तु उन्हें तो कोई कुछ नहीं कहता।' वह इसी सोच-विचार में सारे दिन पड़ी रही। शाम को द्वारचार के समय भी भीड़ अधिक होने के कारण वह अपने पति-देवता के दर्शन न कर सकी। फिर भी अपनी भाभियों को धीरे-धीरे मुसकराते और एक-दूसरे से कुछ फुसफुसाते हुए देखकर वह समझ गई कि दाल में कुछ काला अवश्य है।

भाँवरें पड़ने के बाद तारा की छोटी बहन खूब सारा चाँदी का वर्क लपेटकर एक बड़ा-सा पान दूल्हे के लिए लाई और बोली—"जीजाजी, पान लीजिए।" किशोर ने हाथ बढ़ाकर पान उठा लिया और मुँह में रख ही रहा था कि किसी ने पीछे से चिल्लाकर कहा—"अबे कल्लू, पंखा बन्द कर नहीं तो चाँदी का वर्क उड़कर दूल्हे

साहब की मूँछों से चिपट जायगा।" और सचमुच इतने कल्लू पंखा बन्द करे, चाँदी के वर्क ने उड़कर किशोर की मूँछों को अलंकृत कर दिया। आज तक कभी किशोर को अपनी मूँछों के कारण इतनी शर्म नहीं उठानी पड़ी थी। नये आदमियों के बीच वह कुछ घबरा-सा गया और रूमाल से जल्दी-जल्दी मूँछें साफ करने लगा। पीछे से फिर आवाज आई—"पानी लाऊँ ?" और तभी किसी ने उत्तर दिया—"हाँ, हाँ, साबुन और तौलिया भी।"

तारा की माँ ने इस बार फिर परिस्थिति सँभाली और लड़कों को डपटकर कहा—"नये दूल्हे के साथ इस तरह का मजाक करने का अब रिवाज नहीं रहा। यह गवाँरपन मुझे अच्छा नहीं लगता। खबरदार, जो अब किसी ने कोई मजाक किया !" और इसके बाद वह दूल्हे को उठाकर अन्दर कमरे में ले गई।

बेचारी तारा घूँघट के अन्दर सब-कुछ सुन रही थी। बाबा और दादी के कारण उसे घूँघट काढ़ना पड़ा था और इसलिए वह अब तक उन मूँछों की असलियत से अनभिज्ञ थी जिन पर दोपहर से इतनी टीका-टिप्पणी हो रही थी। फिर भी उसका हृदय धक्-धक् कर रहा था और उसे डर लग रहा था कि कोई कुछ और न कह बैठे।

माँ के डाँटने के बाद से सब लोग चुप हो गए थे। केवल विदा के समय छोटी भाभी ने चुपके-से तारा से कहा—"बीबीजी ! इनकी मूँछों की जरा कद्र करना, बेचारों ने बड़ी नाजो-अदा से पाला होगा।" भाभी का व्यंग्य सुनकर तारा की आँखों में आँसू आ गए।

सुसराल में आकर तारा ने जब अपने स्टालिन की मूँछें देखीं तो सन्न रह गई—'ओह भगवान्, इस बीसवीं सदी में इन्हें यह क्या सूझा ?' पतिदेव का रूप उसे भाया नहीं पर उसने सोचा—धीरे-धीरे समझा-बुझाकर मूँछें छँटवा दूँगी।

लता शरीर थी और किशोर भी सुसराल के मजाक के बाद से कुछ चौकन्ना हो गया था। उसने आते ही लता से कुछ खुशामद और कुछ डपट के साथ कह दिया था—"अपनी भाभी के सामने मेरी मूँछों के बारे में कुछ मत कहना, नहीं तो मैं बाबूजी से कह दूँगा। तू तो मेरी अच्छी-सी बहन है, मैं तुझे बहुत बढ़िया-सी साड़ी लाकर दूँगा।" उस समय तो लता ने साड़ी के लालच में हाँ कर ली और दो-तीन दिन इस विषय में कुछ नहीं बोली, परन्तु चंचल बालिका कब तक चुप रहती ! एक दिन नई भाभी से पूछ ही बैठी—"भैया की मूँछें तुम्हें कैसी लगती हैं, भाभी ?" तारा को चुप देखकर वह फिर बोली—"हमें तो अच्छी नहीं लगतीं। भैया को न-जाने क्या सूझा है जो अपना अच्छा-खासा चेहरा बिगाड़ रखा है।"

"तो उनसे कह दो कि तुम्हें उनकी मूँछें पसन्द नहीं हैं," तारा ने धीरे से कहा।

लता ने मुँह बनाकर कहा—"अरे राम, वह तो मुझ पर इतना बिगड़ते हैं कि पूछो मत। अगर कभी मैं भूलकर भी उनकी मूँछों का जिक्र कर बैठती हूँ तो मुझे रुलाये

बिना नहीं छोड़ते।"

तारा ने कुछ सोचकर कहा—"अच्छा, अम्मा जी से कह दो वह उन्हें समझा देंगी।"

लता ने फिर उसी तरह मुँह बनाकर कहा—"तुम नहीं जानती, भाभी, भैया बड़े जिद्दी हैं, अम्मा तो क्या पिताजी, ताऊजी तक झख मारकर रह गए लेकिन उन्होंने किसी की नहीं सुनी, कह दिया—'इसमें क्या कोई ऐब है, अपनी-अपनी पसन्द है।"

तारा ने हारकर कहा—"तब तुम्हें ही क्या ? उनका मुँह अच्छा न लगे न सही, तुम्हारा मुँह तो सुन्दर है।"

लता कुछ झेंपकर चुप हो गई और बातों का विषय बदल गया। परन्तु तारा उधेड़बुन में पड़ गई। नई-नई पत्नी, पति के सम्मुख अभी तो बोलने में भी शर्म आती है, मूँछों का विषय कैसे छेड़े! वह प्रतिदिन कुछ कहने का विचार करती, परन्तु कह न पाती। आखिर आठ दिन तक चुपचाप सुसराल में रहकर वह अपने पिता के घर चली आई।

मायके पहुँचते ही तारा को जिस बात का भय था वही सामने आई! छोटी भाभी ने पहली बात यही पूछी—"नन्दोई जी की मूँछें तो कुशलपूर्वक हैं?" और बड़ी भाभी ने छोटी का कंधा हाथ से हिलाकर कहा—"नन्दोई जी की मूँछों के लिए इतनी परेशान हो तो उनसे माँग क्यों न लो!" उसी समय सुरेश आ गया और भाभियों की बातें सुनकर बोला—"वाह, कोई मुफ्त की चीज है जो सेंत में दे देंगे! दूध पिला-पिलाकर इतनी बड़ी कर पाये होंगे!"

तारा किसी से क्या कहे ? लोगों की हँसी उसे तीर-सी लगती। बात कुछ तथ्य की थी नहीं, परन्तु उससे अपने पति की बुराई सुनी नहीं जाती। वह उदास-सी रहती, न नए गहनों का चाव होता, न नए कपड़ों का। किसी से मिलते-जुलते घबराती, कहीं उनकी मूँछों के विषय में कोई कुछ कह न बैठे। फिर भी नई-नई बात थी, दिन में एक-दो बार कोई-न-कोई चुटकुला सुनने को मिल ही जाता।

जब से तारा मायके आई, किशोर उसके विरह में एक-एक क्षण बेचैनी से काट रहा था। विदा कराकर लाने का मुहूर्त्त एक मास पश्चात् था। इस लम्बी अवधि को उसने भाँति-भाँति के सुख-स्वप्न देखकर बिताया और अन्त में सुसराल जाकर विदा करा लाने का दिन आ ही पहुँचा। परन्तु विवाह के बाद से किशोर को अपनी मूँछों की ओर से कुछ चिन्ता-सी होने लगी थी। भावी अनिष्ट की आशंका से कभी-कभी वह सोते हुए भी चौंक पड़ता। कभी-कभी वह सपना देखता कि उसकी मूँछें हवा में उड़ी जा रही हैं और वह उनके पीछे-पीछे दौड़ रहा है। आँखें खुलने पर जब वह मूँछों को टटोलकर यथा-स्थान पाता तो उसे बड़ा सन्तोष होता। ऐसी दशा में जब दुबारा सुसराल जाने का प्रश्न आया तो वह हिम्मत हार बैठा और अस्वस्थता का बहाना लेकर पड़ गया। विवश होकर माता-पिता को उसके छोटे भाई और

विश्वस्त नौकर को बहू को विदा कराकर लाने के लिए भेजना पड़ा।

तारा आ तो गई पर किशोर से वह कुछ खिंची-खिंची-सी रहती। वह उसकी मूँछों की इतनी बुराई सुन चुकी थी कि लाख चेष्टा करने पर भी अपने को सहिष्णु न बना पाती। एक तो मूँछें उसे स्वयं पसन्द न थीं, दूसरे जिससे भी बातें होतीं किशोर की मूँछों की चर्चा छिड़े बिना न रहती। वह लाख अपने हृदय को समझाती—'भला कोई बात भी हो, मर्दों के तो मूँछें हुआ ही करती हैं।' परन्तु उसका हृदय विद्रोह कर उठता। प्रतिदिन वह किशोर से कुछ कहना चाहती किन्तु भय और संकोच उसके मुँह से शब्द न निकलने देते। इसी असमंजस में वह कभी-कभी झुँझला उठती। कृष्ण और राधा के बीच बंसी कलह कराती थी, उसे लगता जैसे मूँछें उसके और किशोर के बीच कलह करा देंगी।

इसी उधेड़बुन में होली का त्यौहार भी आ गया। घर में धूमधाम से तैयारियाँ होने लगीं। लता और गोपाल ने तरह-तरह के रंगीन गुलाल और टेसू के फूल मँगाये। नई-नई पिचकारियाँ आईं। माँ ने इस वर्ष सवाया पकवान बनाया। बहू के लिए नई साड़ी, नया गहना भी खरीदा गया किन्तु तारा और किशोर दोनों ही कुछ उदास-से थे।

धुलेंडी में एक दिन बाकी था। माँ ने लता से कहा—"लता, ड्राइवर से कहकर कार बाहर निकलवा लो और तुम और बहू दोनों बाजार जाकर नई चूड़ियाँ पहन आओ। कल के लिए कुछ अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ भी लेती आना। गोपाल और किशोर तो पार्टी में गये हैं, अपने साथ चन्दू को लेती जाना।"

बाजार जाने के नाम से लता की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। चटपट कपड़े पहन और भाभी को साथ ले वह चल दी। बाजार में नन्द-भावज ने नई-नई बढ़िया चूड़ियाँ पहनीं, मिठाइयाँ खरीदीं और फिर वे छोटे बाजार में जा पहुँची। वहाँ पचासों छोटी-छोटी दूकानें थीं जिन पर हर तरह की चीजें बिक रही थीं। बहुत-सी दूकानों पर तो छोटे लड़के ही बैठे थे और आवाज लगा रहे थे—"हर माल ढाई-ढाई आने में, हर माल पाँच-पाँच आने में।" उनसे मोल-भाव करने की आवश्यकता नहीं थी। जो चीज चाही पसन्द करके उठा ली और पैसे दे दिये। लता ने वहाँ से खूब सारी चीजें खरीदीं। तारा ने भी कुछ आवश्यक वस्तुएँ खरीद लीं और फिर अँधेरा होने से पूर्व वे घर वापस आ गईं।

बाजार से लौटने पर लता ने कई बार तारा को अपने आप मुसकराते देखा। उसने जानना चाहा कि बात क्या है किन्तु तारा ने कोई उचित उत्तर न देकर उसे हँसी-हँसी में ही बहका दिया। उस रात तारा को कुछ प्रसन्न देखकर किशोर के भी आनन्द का ठिकाना न रहा। वह रात बड़े हर्ष से बीती और सुबह जब किशोर उठा तो बहुत प्रसन्न था। तारा अपने नित्य कर्म में व्यस्त हो गई और किशोर सोचने लगा—'पहली होली है, तारा को क्या उपहार दूँ?'

मोहल्ले में होली की धूम मच गई। किशोर के साथी दरवाजे पर आकर किशोर को आवाजें देने लगे। किशोर जल्दी-जल्दी कपड़े पहनकर बाहर चला गया।

अन्दर लता और तारा में रंग खिलने लगा, पड़ोस की लड़कियों ने भी आकर हुल्लड़ मचाना शुरू कर दिया। दीवारें रंग से भर गईं, आँगन में टेसू और गुलाल के कारण कीच-सी हो गई। घण्टे-भर तक हू-हल्ला करने के बाद वे गई ही थीं कि किशोर और गोपाल भी मोहल्ले में से रंग खेलकर वापस आ गये। किशोर ने अवसर देखकर चुपके-से गुसलखाने में से रंग की भरी हुई बाल्टी उठा ली और तारा के ऊपर उँडेल दी। तारा ने भी धोती के छोर में से बँधी हुई गुलाल की पुड़िया निकालकर किशोर का मुँह रंग दिया। गुलाल पानी में भीग गया था इसलिए किशोर की मूँछों में चिपका रह गया।

पुड़िया छीनकर किशोर तारा से बदला लेना ही चाहता था कि ऊपर से माँ ने चिल्लाकर कहा—"बस-बस, बहुत खेल चुके तुम सब। अब मुँह मीठा कर लो और नहा-धो डालो। देर तक भीगे कपड़े पहनने से ठंड लग जायगी।" नौकर ने मिठाई और नमकीन की प्लेटें चुन दीं। लता, किशोर, तारा और गोपाल खाने बैठ गये। लता किशोर की मूँछों को, जिनमें गुलाल बुरी तरह चिपक रहा था, देख-देखकर हँस रही थी। और समय होता तो वह मजाक उड़ाये बिना न रहती, परन्तु उस समय वह रंग में भंग डालना नहीं चाहती थी। वह कभी भाभी से, कभी भैया से मिठाई छीन-छीनकर खाने में तल्लीन हो रही थी!

तारा नहा रही थी और कुछ सोच-सोचकर मुसकरा रही थी। लता किशोर के कमरे में खड़ी किशोर द्वारा लाया हुआ तारा का होली का उपहार देख रही थी और किशोर गुसलखाने में परेशान हो रहा था कि आज उसकी मूँछें मक्खन की तरह क्यों फिसलती जा रही हैं। दो-चार बार और मुँह रगड़ा तो ऐसा मालूम हुआ जैसे नाक के नीचे की जगह बिलकुल चिकनी हो गई। किशोर ने जल्दी-जल्दी साबुन धो डाला और आँखें खोलकर वह सामने शीशे की ओर जो बढ़ा तो खड़ा-का-खड़ा रह गया। "अरे, यह मूँछों की होली कैसे हो गई, सपना तो नहीं देख रहा हूँ?" आँखें मलकर उसने फिर शीशे पर दृष्टि डाली किंतु फिर वही होंठों के ऊपर चिकनी चमकती हुई जगह। नीचे की ओर देखा तो मूँछों के बाल इधर-उधर आपस में लिपटे हुए अपनी दुर्दशा पर आँसू बहा रहे थे और पास ही कोने में एक रंगीन कागज पड़ा हुआ था जिस पर छपा हुआ था—'बाल-सफा पाउडर।' किशोर को एक क्षण के लिए बड़ा तैश आया और अपनी प्रिय वस्तु को खोने पर उसे ग्लानि भी हुई, पर दूसरे ही क्षण उसने अपने को सम्हाल लिया और वह मन-ही-मन मुसकरा उठा।

कुछ झेंपता और सकुचाता हुआ किशोर जब गुसलखाने से बाहर निकला तो उस पर सबसे पहले दृष्टि लता की पड़ी। हर्ष से वह बालिका एकदम चीख पड़ी—"ओ भैया, तुम्हारी मूँछें कहाँ गईं?"

"होलिका देवी की भेंट चढ़ा दी, लता," किशोर ने तारा की ओर कनखियों से देखते हुए कहा—"अब तो, भवानी, प्रसन्न हो!"

तारा ने भी नीची निगाहों से किशोर को देखा और मुसकराकर मुँह फेर लिया।

उस रात को पति-पत्नि ने एक दूसरे के हृदय की ग्रन्थियाँ खोलकर सच्ची सुहाग-रात मनाई।

"देखिये तो, अब आप कितने सुन्दर लगते हैं," तारा ने कहा।

"सच, तुमसे भी अधिक ?" किशोर ने पूछा।

तारा लज्जा से सिकुड़ गई और किशोर ने उसे अपने अंक में छिपा लिया।
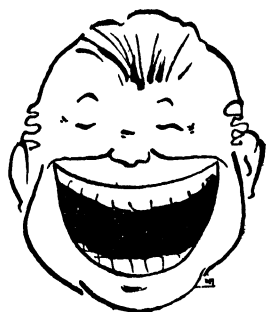
जब श्रीमती जी मैके चलीं

श्रीकृष्ण

●

श्री श्रीकृष्ण का जन्म सन् १९३४ में मेरठ में हुआ था। प्रथम कहानी 'नज़र' थी, जो 'सरिता' के फरवरी १९५२ के अंक में प्रकाशित हुई। तब से आप निरन्तर साहित्य-रचना में लगे हैं। हिन्दी की प्रायः सभी उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ छपती रहती हैं। आपकी रुचि विशेषकर व्यंग्य की ओर है।

आपके नाटक और कहानियाँ रेडियो से भी प्रसारित होते रहते हैं। अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में भी आपकी बहुत-सी रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। आजकल आप मेसर्स आत्माराम एण्ड संस से सम्बद्ध हैं।

रचनाएँ

'तरकश के तीर', 'सुबह का भूला', 'बहू-बेटी', आदि।

४३-रामनगर, मेरठ
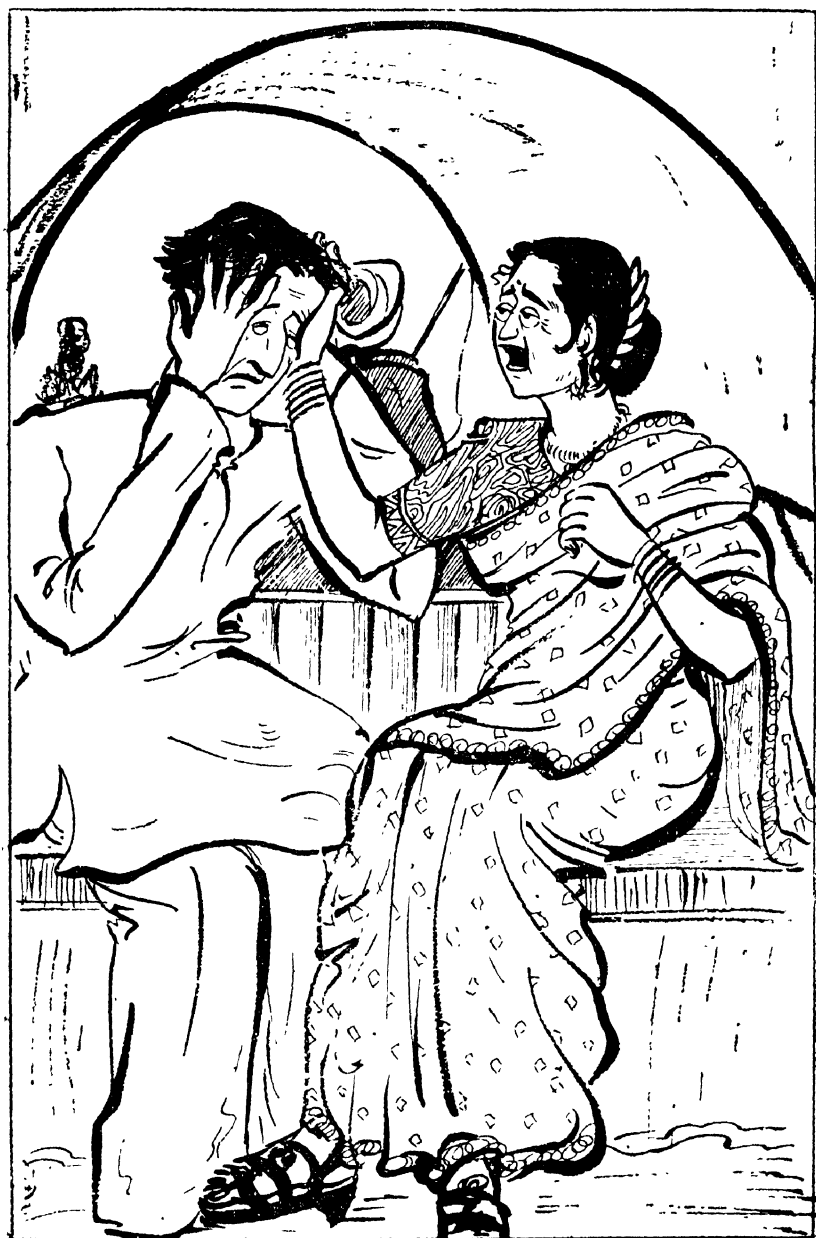
"अरे, तुम्हारा तो माथा तप रहा है! तुम्हें तो बुखार है..."

उस दिन ज्यों ही श्रीमती जी ने यह शुभ समाचार सुनाया कि उनके मैके से उन्हें बुलाने की चिट्ठी आई है और वह उसके अनुसार मैके तशरीफ ले जा रही हैं, तो आप जानिए—दोनों पहर मिल रहे हैं, झूठ नहीं बोलूँगा—मुझे इतनी प्रसन्नता हुई, जितनी किसी को लाटरी खुलने पर भी नहीं होती होगी। प्रसन्नता की बात यह थी कि पूरे पाँच साल बाद श्रीमती जी अपने मैके जा रही थीं। यह पाँच साल का समय मैंने किस प्रकार काटा था यह मैं ही जानता हूँ। बस, यह समझ लीजिए कि रूस में क्या स्टालिन की तानाशाही चलती होगी, जो हमारे यहाँ श्रीमती जी की चलती थी।

पौने दस बजे घर से दफ्तर के लिए चलो और पाँच बजे तक वापस आ जाओ। यदि कभी पन्द्रह-बीस मिनिट की भी देर हो जाती, तो उसी दिन सवाल-जवाब हो जाते—"कहाँ चले गए थे? आज इतनी देर कहाँ लगा दी? कुछ घर की भी चिन्ता है? तुम्हारी तरफ से कोई मरता मरे, जीता जीए, तुम्हें तो बस अपने गुलछर्रें उड़ाने से मतलब···"

यदि कभी सिनेमा देखने की इच्छा होती, तो इसकी काट में उनका यह तर्क होता—"सिनेमा देखे बिना क्या प्राण निकले जा रहे हैं? या डॉक्टर ने नुस्खे मे लिख दिया है? सिनेमा में दिखाया ही क्या होगा, किसी का किसी से प्रेम हो गया, माँ-बाप बीच में आ गए, बस, मर गए···"

बहुत दिनों से मित्रों की शिकायत चली आ रही थी कि मैंने उन्हें कभी चाय पर नहीं बुलाया। श्रीमती जी से जब भी इसकी चर्चा की तो वह भड़क उठीं—"मैं पूछती हूँ कि कभी उन्होंने भी तुम्हें पलोथनी खाने को बुलाया है, कि तुम्हीं कहीं के धन्ना सेठ हो! कहीं तुम्हारी अकल पर कीड़ा तो नहीं बैठ गया! उनका क्या, उन्हें तो एक-न-एक मूँजी फँसा चाहिए···"

अपने मित्रों के बारे में श्रीमती जी की यह सम्मति सुनकर अपने राम की जबान को ताला लग गया। जिन्दगी क्या थी, एक दूर-दूर तक शुष्क मरुस्थल बन गई थी···चलो, कुछ दिनों तक तो खुली हवा में साँस लूँगा, दस-दस बजे घर में आऊँगा, न कोई कहनेवाला होगा, न सुननेवाला। मित्रों की भी सारी शिकायतें दूर कर दूँगा। रोज सिनेमा की दो-दो शो देखूँगा। पूरे पाँच साल की सारी कसर अब निकाल लूँगा।

अगले दिन सुबह होते ही श्रीमती जी ने एक लंबी-चौड़ी फेहरिस्त सामने लाकर रख दी। और कोई दिन होता, तो इसी फेहरिस्त को लेकर मुझमें और श्रीमतीजी में महाभारत छिड़ जाता, किन्तु आज मैंने चूँ भी नहीं की, बल्कि फेहरिस्त में अगर

एक रुपए गज की छींट लाने के लिए लिखा था, तो मैं केवल श्रीमती जी को प्रसन्न करने के विचार से सवा रुपए गजवाली छींट ले आया। आखिर किसी तरह टलें तो! मावा एक सेर लिखा था, किन्तु मैं दो सेर उठा लाया। श्रीमती जी ने जब कहा, "इतने की क्या जरूरत थी, एक सेर ही काफी होता?" तो मैं बिगड़कर बोला, "अरे, तो क्या हुआ? आखिर इतने दिनों बाद जा रही हो, एक सेर मावे के लड्डू क्या सजेंगे, कुछ तो लेकर जाओ!"

और श्रीमतीजी बाग-बाग हो गईं।

जब ताँगा द्वार पर आ खड़ा हुआ और श्रीमती जी देखती-भालती, घर पर हसरतभरी निगाह छोड़ती, बाहर निकलीं तो मेरी ओर देखकर बोलीं, "देखो, घर का कितना अच्छी तरह खयाल रखते हो! तुम में यह बहुत बुरी आदत है कि तुम चीज को जिस जगह से लेते हो उस जगह नहीं रखते। जरा ध्यान रखना, सुनते हैं पड़ोसी के छोरा को चोरी की आदत है। तुम रहते हो कुछ खोए-से! कोई चीज न गायब कर दे। और देखो, जब दफ्तर जाया करो, तो रसोई की नाली में कोई ईंट लगा दिया करना, बिल्ली घुस आती है। रात को घर से गायब मत रहना। कभी तुम तो दोस्तों के साथ गुलछर्रे उड़ाते रहो और कोई घर का सफाया कर जाये! आजकल चोरियाँ बहुत हो रही हैं। रात-बिरात को घर से न निकलना, आजकल घर से निकलने का धरम नहीं है। तुम बिजली जली ही छोड़कर सो जाते हो। कोई मैं रोज-रोज मैके से बुझाने के लिए आने से तो रही! ऐसा न हो कि सारी तनखा मरे बिलवाले को ही दे बैठो! देखो, पिछलीवाली आलमारी के निचले खाने में अचार रखा है और उसी के बराबर में सोडा रखा है, कभी बूरा समझकर दूध में डाल लो। बैठक का डंडेला बहुत ढीला है, धक्का देने से ही खुल जाता है, पीछे की चिटखनी लगाकर तब बन्द करना... और समझे! जब कहीं जाओ, तो जीने के कुंडे में कील फँसा दिया करना। लकड़ियाँ बाहर ही छोड़े जा रही हूँ, बरखा आये तो भीतर डाल देना...रात को ज्यादा देर तक मत पढ़ना, तुम्हारी आँखें वैसे ही कमजोर हैं..."

गरज कि ताँगे तक पहुँचने में श्रीमती जी को कम-से-कम पौना घण्टा लगा। मुझे डर था कि कहीं साइत की मारी कोई काली बिल्ली रास्ता न काट जाये, मगर ऐसा नहीं हुआ।

पूरे रास्ते-भर श्रीमती जी का यह भाषण जारी रहा। आखिर जब सुनते-सुनते कान पक गये, तो अब तक तो 'हूँ, हाँ' भी कर रहा था, अब वह भी करना छोड़ दिया और दोनों हाथों में सिर दबाकर बैठ गया।

श्रीमती जी ने जब यह देखा, तो बोलीं, "क्या बात है? क्या जी ठीक नहीं है? यह तुम कैसे हो रहे हो?"

सोचा, शायद इसी तरह इनकी इस जीभ-रूपी कतरनी से छुटकारा मिले। बोला, "हाँ।"

उन्होंने घबराकर मेरे माथे पर हाथ रखकर देखा—"अरे; तुम्हारा तो माथा

तप रहा है। तुम्हें तो बुखार है। तुमने यह पहले क्यों नहीं बताया ? बेकार में सवा रुपये का खून करा दिया न !"

फिर ताँगेवाले की ओर मुँह फेरकर उन्होंने कहा, "ओ भैया, ओ ताँगेवाले भैया, ताँगा वापस फेर ले। अब हम नहीं जायँगे।"

पासा पलट गया था। मेरा ऊपर का दम ऊपर और नीचे का नीचे रह गया। घबराकर बोला, "नहीं, नहीं, तुम शौक से जाओ। माथा तो यों ही गरम हो रहा होगा। आखिर गरमी क्या थोड़ी पड़ रही है ? तुम क्यों अपने प्रोग्राम पर पानी फेरती हो ?"

मगर श्रीमती जी भी एक ही हैं। अपने आगे किसकी सुनती हैं ! तड़पकर बोलीं, "भला यह कैसे हो सकता है ? हाय राम ! तुम तो परायों जैसी बातें करते हो ! मेरे लिए पहले तुम हो, बाद में और कोई। तुम यहाँ बुखार में पड़े रोते रहो और मैं वहाँ अपने ऊपर लाड़ बिखराती रहूँ। नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जहाँ पाँच साल तक जाना नहीं हुआ, वहाँ एक-दो साल और भी सही···भैया ताँगेवाले, हमें एक से लाख तक नहीं जाना है। ताँगा वापस कर ले।"

थोड़ी देर बाद श्रीमती जी ताँगे से सामान वापस उतार रही थीं और मैं मन-ही-मन उस घड़ी को कोस रहा था, जब मेरे माथे ने दर्द का अनुभव किया था। मुझे इस बात का अनुमान पहले से ही लगा लेना चाहिए था कि श्रीमती जी को जितनी चिन्ता इस संसार में मेरी है, उतनी किसी और की नहीं।

इसीलिए तो कहता हूँ कि श्रीमती जी संसार की सर्वश्रेष्ठ पत्नी हैं।

इण्टरव्यू

सत्यप्रकाश संगर

●

डॉ० सत्यप्रकाश संगर का जन्म सन् १९१७ में मैनपुरी में हुआ था। आपने पंजाब विश्वविद्यालय से सन् १९४० में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होकर तथा छात्रवृत्ति प्राप्त कर बी० ए० (आनर्ज) की परीक्षा पास की तथा एक वर्ष पश्चात् सन् १९४१ में पंजाब विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम रहकर एम० ए० (आनर्ज) की डिग्री प्राप्त की।

विभाजन से पूर्व आप डी० ए० वी० कालिज, लाहौर में इतिहास के प्राध्यापक थे। विभाजन के पश्चात् मध्य-प्रदेश में चले गये और वहाँ प्राविंशियल एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस में चुन लिये गये। वहाँ से राजकीय कालिज, भोपाल में आये और फिर भोपाल शिक्षा-विभाग के प्रमुख अधिकारी के पद पर नियुक्त हुए। आजकल माधव कालिज, उज्जैन में प्राध्यापक हैं। आपकी प्रथम कहानी सन् १९४७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी।

रचनाएँ

'घर की आन', 'कली मुसकराई', 'चाँदरानी', 'अफ्रीका का आदमी', 'अवगुण्ठन', 'नया मार्ग', 'कितना ऊँचा कितना नीचा', 'लम्बे दिन जलती रातें', आदि।

माधव कालिज, उज्जैन

और स्याही उछलकर उनके मुँह पर जा गिरी

"नमस्ते, मुंशीजी !" मैंने कमरे में प्रविष्ट होकर कुरसी पर बैठे हुए साहब को सम्बोधित करते हुए कहा।

"नमस्ते !"

"मैं इण्टरव्यू के लिए आया हूँ।"

"पधारिए," उन्होंने मेरी ओर निगाह उठाए बिना कहा।

वह कुछ लिख रहे थे। उनके सामने मेज पर फाइलों के ढेर पड़े थे और फर्श पर भी। दीवारों के साथ बड़ी-बड़ी अलमारियाँ थीं जिनमें ए० आई० आर० की मोटी-मोटी जिल्दें रखी थीं। एक एडवोकेट के कमरे में और हो ही क्या सकता था ! फिर रायबहादुर दुर्गादास तो नगर के प्रमुख और उच्च कोटि के वकीलों में से थे।

कुरसी पर बैठते हुए मैंने मुंशीजी के चेहरे पर एक उड़ती हुई निगाह दौड़ाई। यदि मेरे साथ मेरा कोई मित्र होता तो हमारे लिए हँसी को वश में रखना असम्भव हो जाता। दुबले-पतले शरीर पर एक छोटा-सा चेहरा था जिस पर सबसे अधिक प्रत्यक्ष उनकी पली हुई मूँछें थीं। उस्तरे से सफाचट किये हुए सिर के बीच बालों का सघन गुच्छा ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे चटियल मैदान में एक झाड़ी।

लिखना बन्द करके मुंशीजी अपनी कुरसी से उठे और मुझसे कुछ कहे बिना चले गए—रायबहादुर को मेरे आने की खबर करने, मैंने सोचा।

नगर के सफल और प्रमुख वकील होने के नाते तथा सामाजिक और शैक्षणिक कार्यों में रुचि लेने के कारण रायबहादुर दुर्गादास कई अन्य स्कूलों और कालिजों के अतिरिक्त, रामदास कालिज फॉर गर्ल्स की प्रबन्धकारिणी-समिति के अध्यक्ष थे। उनके बंगले पर ही आज कालिज के लिए इतिहास के प्रोफेसर का चुनाव होना था।

एम० ए० पास करने के कई मास बाद तक सड़कों की धूल फाँकते और दफ्तरों के दरवाजे खटखटाते मैं तंग आ चुका था। अँग्रेजी पत्रों में निकले विज्ञापनों के उत्तर में आवेदन-पत्र देकर अपनी जो थोड़ी-बहुत पूँजी थी, वह भी समाप्त कर चुका था। किसी भी कालिज में पार्ट-टाईम जगह हासिल करने के लिए अत्यन्त उत्सुक था। रामदास कालिज में कुछ देर पढ़ाने के पश्चात् किसी अच्छे कालिज में स्थान प्राप्त कर सकूँगा, इसकी मुझे आशा थी, यद्यपि बी० डी० अग्रवाल और रामस्वरूप भटनागर इस कालिज में कई वर्ष से पढ़ाने के बावजूद इसे छोड़ने को तैयार नहीं थे। वे कालिज में तो केवल सौ पाते, परन्तु प्राइवेट ट्यूशन से चार-चार सौ कमाते थे।

दो दिन पूर्व रामदास कालिज फॉर गर्ल्स के सेक्रेटरी की ओर से इण्टरव्यू का

पत्र पाकर मैं हर्ष-विह्वल हो उठा था। परन्तु दूसरे ही क्षण मुझ पर उदासी छा गई थी। इण्टरव्यू के लिए सूट का क्या होगा? मेरा अपना सूट राजेन्द्र अपने मामा की लड़की के विवाह में शामिल होने के लिए ले गया था। मैं कमीज, पाजामा, धोती या निकर पहनकर इण्टरव्यू में नहीं जा सकता था। नया सूट दो दिन में सिल सकता था, लेकिन पैसे नहीं थे।

मित्रों में कोई ऐसा नजर नहीं आ रहा था जिससे सूट माँग सकूँ। इनमें से अधिकतर वे थे जो फीस दिये बिना खैराती कालिजों में पढ़ते थे। मुझे याद आया कि रोशनलाल ने कहीं बाहर आने-जाने के लिए सूट बनवा रखा है। वास्तव में बनवाया नहीं, बल्कि कबाड़ी की दुकान से खरीदकर उसे रंगवा लिया है। यद्यपि उसका सूट मेरे पूरी तरह फिट नहीं आता था, लेकिन काम चलाने के लिए बुरा नहीं था।

रोशनलाल का सूट और हैट पहनकर और टाई लगाकर मैं बाहर निकला। मोची से जूतों पर पालिश करवाई और राजेन्द्र का फाउंटेनपेन लगाकर मैं वहाँ इंटरव्यू के लिए पहुँच गया। थोड़ी देर बाद कुछ और लोग आ गए। उन्हें देखकर मेरे आनन्द की सीमा न रही। वे सब-के-सब अनाथालय के मालूम होते थे। उन्हें देखकर ऐसा लगता था जैसे वे कालिज में प्रोफेसरी के लिए नहीं, विधवाश्रम के लिए भीख माँगने आए हैं। उनमें से केवल एक व्यक्ति सूट पहने था और वह भी सूती। एक सज्जन बन्द गले का कोट पहने थे, एक खादी के धोती-कुरते में आए थे, और एक कमीज, पाजामा और छोटा कोट पहने हुए थे।

चपरासी ने मेरा नाम पुकारा और मुझे अपने पीछे आने का संकेत किया। लड़कियों के स्कूल का यह चपरासी रायबहादुर के मुंशी से अधिक रोब-दाबवाला व्यक्ति था। इंटरव्यू-रूम के पास पहुँचकर चपरासी ने चिक उठाई। कमरे में प्रवेश करते ही यदि मैं जल्दी से कुरसी का सहारा न लेता तो मेरे गिर पड़ने में कोई सन्देह नहीं था। मेरे बिलकुल सामने अध्यक्ष की कुरसी पर वही सज्जन बैठे थे जिन्हें मैंने मुंशीजी समझा था। यही थे रायबहादुर दुर्गादास—रामदास कालिज फॉर गर्ल्स की प्रबन्धकारिणी-समिति के अध्यक्ष। मुझे इस प्रकार घबराए हुए देखकर रायबहादुर बोले—

"क्या तबियत ठीक नहीं है?"

"हाँ, जरा सिर चकरा गया था।"

"अभी से!" बाईं ओर से एक बारीक-सी आवाज आई।

मैंने गरदन घुमाकर सफेद रेशमी साड़ी पहने एक महिला को देखा। यह थीं कालिज की प्रिंसिपल मिस नारायण।

"आजकल के नवयुवकों को यह सामान्य बीमारी है," दाईं ओर से मेरे कान में आवाज पड़ी।

मैंने देखा बहुत छोटे कद और छोटी मूँछोंवाले एक सज्जन कुरसी पर बैठे हैं, जो कह तो मुझसे रहे थे, लेकिन देख रहे थे रायबहादुर की ओर। वह नाटे भी थे

और भैंगे भी।

मैं इतना घबरा गया कि कुछ क्षण तक यह निर्णय न कर सका कि खड़ा रहूँ या बैठ जाऊँ।

"तशरीफ रखिए," अध्यक्ष महोदय बोले।

"धन्यवाद," अपना हैट मेज पर रख कुरसी पर बैठते हुए मैंने कहा। तब अचानक मुझे कुछ सूझी। एक झटके के साथ मैं अपनी सीट से उठा और रायबहादुर को देखकर सिर हिलाते हुए बोला—

"नमस्ते!"

"नमस्ते!" वह मुसकराकर बोले।

फिर मैंने प्रिंसिपल और सेक्रेटरी को भी उसी प्रकार नमस्ते की और अपनी जगह पर बैठ गया। इन तीनों ने एक-दूसरे की ओर देखा जैसे कह रहे हों—'यह भी खूब रही!'

"मिस्टर प्रकाश!" रायबहादुर मुझे सम्बोधित करके बोले, "आपने एम० ए० कब पास किया?"

"इसी वर्ष।"

"किस विषय में?" नाटे व्यक्ति ने पूछा।

"हिस्ट्री में।"

"हिस्ट्री ही में क्यों?" प्रिंसिपल बोलीं।

"अच्छी लगती है।"

"कौन?"

"हिस्ट्री।"

"और पॉलिटिक्स?"

"उससे घबराता हूँ।"

"क्यों?"

"शराफत का यही तकाजा है," मैंने उत्तर दिया।

"मेरा मतलब है पॉलिटिकल साइन्स," मिस नारायण अपने प्रश्न को स्पष्ट करते हुए बोलीं—"इतिहास और राजनीति-शास्त्र का चोली-दामन का साथ है। आज-कल सब लोग डबल एम० ए० करते हैं।"

"हिम्मतवाले होते हैं," मैंने कहा।

"पुरुष होकर आपमें हिम्मत नहीं?" कुमारीजी व्यंग्यपूर्वक कहने लगीं—"मैं स्त्री हूँ, चार विषयों में एम० ए० हूँ; बी० टी० और एल-एल० बी भी।"

"और आपमें हिम्मत नहीं!" नाटा व्यक्ति गरदन हिलाकर कहने लगा।

"साहब, एक से अधिक एम० ए० करने के मैं पक्ष में नहीं।"

"क्यों?"

"इससे मनुष्य मन्द-बुद्धि हो जाता है।"

"शट अप !" नाटा व्यक्ति अपनी कुरसी से उछलकर बोला ।

"आजकल के पढ़े-लिखों को बात तक करने की तमीज नहीं," मिस नारायण अपना मुँह रूमाल से पोंछती हुई बोलीं ।

"अच्छा, यह बताइए," रायबहादुर शायद बात बदलने के विचार से बोले, "आपने हिस्ट्री क्यों ली ?"

"साहब, इसलिए···बस इसलिए···कि ले ली ।"

"लेकिन क्यों ?"

"क्योंकि इकनॉमिक्स आती नहीं, अँग्रेजी कठिन लगती है, पॉलिटिक्स में रुचि नहीं ।"

"हिस्ट्री में है ?" नाटे व्यक्ति ने पूछा ।

"जी !"

"तो बतलाइए," मिस नारायण बोलीं, "नूरजहाँ शेर अफ़गन से प्यार करती थी या जहाँगीर से ।"

"पहले शेर अफ़गन से, बाद में जहाँगीर से," मैंने कहा ।

"अच्छा बताइए," रायबहादुर पूछने लगे, "एलिजबेथ ने शादी क्यों नहीं की ?"

"यह तो वही जाने," मैंने उत्तर दिया, "परन्तु कुछ स्त्रियों के लिए पति चुनना भी तो कठिन हो जाता है । भारत में भी ऐसे बीसियों उदाहरण मिलेंगे जब चालीस वर्ष की हो जाने पर भी स्त्रियाँ विवाह नहीं करतीं," मैंने मिस नारायण की ओर कनखियों से देखते हुए कहा ।

उनका चेहरा सुर्ख हो उठा—क्रोध से या लज्जा से, पता नहीं । छूटते ही बोलीं, "यह बताइए कि टोडरमल की पत्नी नाश्ते में क्या खाती थी ?"

मैंने महसूस किया जैसे किसी ने सिर पर डण्डा मारा हो । लेकिन मैं जल्दी ही सँभल गया और उलटे उनसे पूछने लगा—

"कौन-सी पत्नी ?"

अब प्रिंसिपल के घबराने की बारी थी । बोलीं—"दूसरी ।"

"परन्तु उसकी तो विवाह के शीघ्र पश्चात् ही मृत्यु हो गई थी," मैंने बात बनाते हुए कहा ।

"बिलकुल ठीक, मैं यही पूछना चाहती थी," मिस नारायण अपनी लज्जा को छिपाती हुई बोलीं ।

अब प्रश्न करने की बारी नाटे व्यक्ति की थी । बोला, "मिस्टर प्रकाश, यह बताइए कि रजिया याकूब से क्यों प्यार करती थी ?"

"क्योंकि वह उसे अच्छा लगता था," मैंने तुरन्त उत्तर दिया—"लेकिन दिल के मामले में शक्ल की विशेष महत्ता नहीं होती—यदि श्रीमान्‌जी का संकेत याकूब के हब्शी होने की ओर है ।"

"तुम्हारा विवाह के विषय में क्या विचार है ?" हिस्ट्री से सोशियोलॉजी की ओर आते हुए नाटे व्यक्ति ने कहा।

"कोई बुरा विचार नहीं," मैंने गम्भीरता से कहा।

"मेरा मतलब है कि आप विवाह में प्रेम को उचित समझते हैं ?"

"बिल्कुल, और विवाह के बिना प्रेम को भी उचित समझता हूँ।"

"आप विवाहित हैं ?"

"जी, नहीं।"

"क्यों नहीं ?"

अब मुझे क्रोध आना आवश्यक था, क्योंकि यह मेरा व्यक्तिगत मामला था, जिसमें मैं किसी प्रकार का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता था। लेकिन यहाँ बात और थी। मैंने क्रोध को दबाते हुए कहा, "शादी करने की सोच रहा हूँ।"

"कब ?"

"नौकरी मिलने के बाद।"

"नौकरी मिलने के बाद !" प्रिंसिपल साहबा जैसे हवा में उछलती हुई बोलीं, "आपका मतलब है कि आप कालिज में आकर यह काम करेंगे ? असम्भव ! यह कभी नहीं हो सकता। सुना, रायबहादुर आपने ?"

"मेरा मतलब यह नहीं था।"

"मैं मतलब सब समझती हूँ," वह उसी प्रकार क्रोधावेश में बोलीं, "आपने अभी तक इसलिए शादी नहीं की कि कालिज में आकर कर सकें, खूब !"

"लेकिन··"

"लेकिन आपको इस बात का पता होना चाहिए," रायबहादुर बीच ही में टोककर बोले, "कि लड़कियों के कालिज में एक कुँवारे पुरुष को कैसे लिया जा सकता है ?"

"और फिर जो नौजवान भी हो," नाटा व्यक्ति बोला।

"और इस पर इतना सुन्दर सूट पहने हुए हो," प्रिंसिपल बोलीं।

जैसे मेरे सिर पर एक हथौड़ा पड़ा हो। सुन्दर सूट !

"हाँ," नाटा व्यक्ति मिस नारायण की ओर देखकर मुझसे बोला, "लड़कियों के कालिज में आप इतना सुन्दर सूट पहनकर आयेंगे ?"

"नहीं, साहब ! यह सूट··'यह'··'सूट'··" मैं एकदम रुक गया।

"आप क्या कहना चाहते हैं ?"

"मैं कालिज के लिए सूट रंगवाऊँगा नहीं।"

वे तीनों एक-दूसरे की ओर यों देखने लगे जैसे उन्हें मेरे पागलपन पर पूर्ण विश्वास हो गया हो।

"आप इतने फैशन-पसन्द क्यों हैं ?" मिस नारायण बोलीं।

"कालिज में आने के बाद फैशन छोड़ दूँगा।"

"मिस्टर प्रकाश," रायबहादुर दाएँ हाथ में पकड़ी हुई पेन्सिल को बाएँ हाथ के अँगूठे पर बजाते हुए बोले, "आप कितना वेतन लेंगे ?"

"कितना ?" मैंने हैरानी से कहा, "जितना विज्ञापन में लिखा था।"

"विज्ञापन की बात छोड़िये। यहाँ की रीति के अनुसार आपको प्रति मास पचास रुपये कालिज को दान देने होंगे।"

"दान ! पचास रुपये महीना ! छः सौ रुपये प्रति वर्ष ! इतना दान तो, राय-बहादुर, लखपति भी नहीं देते होंगे," मैंने अतिशयोक्ति से काम लेते हुए कहा।

"वास्तव में बात यह है कि हम पचास रुपये वेतन में देते हैं और कागज पर सौ रुपये लिखवाते हैं, ताकि हमें यूनिवर्सिटी से ग्राण्ट मिलती रहे।"

मेरे मन में आया कि मेज पर पड़ा पेपरवेट रायबहादुर के मुँह पर दे मारूँ और उनकी मूँछें नोच लूँ। परन्तु दिमाग ने दिल को समझाया कि ऐसा करने से लाभ तो कुछ न होगा और हानि बहुत हो जायेगी। फिर मुझे अपनी बेकारी के दिन अपनी आँखों के सामने घूमते हुए नजर आने लगे। होटल का चार महीने का बिल, धोबी के पैसे, मित्रों का उधार। मैंने खून का घूँट भरा और चेहरे पर बनावटी मुसकान लाने की कोशिश करते हुए कहा, "यह तो बिलकुल उचित है। शिक्षा देनेवाली संस्था को दान देने से बढ़कर पुण्य का कार्य और क्या हो सकता है !"

रायबहादुर बड़ी शान्ति से बोले, जैसे कुछ बात ही न हो, "दूसरी बात यह कि गरमियों की छुट्टियों का वेतन नहीं मिलेगा।"

मुझे महसूस हुआ जैसे कोई पूरी शक्ति से मेरी टाँग खींचने की कोशिश कर रहा हो।

"क्या यह भी दान में गिना जायगा ?" मैंने पूछा।

"हाँ।"

"स्वीकार है," मैंने कहा, "लेकिन क्या कुछ नकद भी देना होगा ?"

"अपनी जेब से नहीं," रायबहादुर ने उत्तर दिया।

"दूसरों की जेब से कैसे दे सकता हूँ ?"

"दान माँगकर।"

"तो मुझे भीख भी माँगनी होगी ?"

"अपने लिए नहीं, विद्या के लिए भीख माँगना पुण्य का कार्य है।"

"यदि इसके बदले मैं अपनी जेब से नकद देकर पुण्य कमाना चाहूँ तो महीने में कितने रुपये देकर पिंड छुड़ा सकता हूँ ?"

उन तीनों ने एक-दूसरे की ओर देखा। आँखों-ही-आँखों में बातें कीं। फिर रायबहादुर बोले, "पाँच रुपये में। आपको पैंतालीस मिला करेंगे।"

"स्वीकार है।"

"आपको काम के विषय में तो मालूम होगा ?" प्रिंसिपल ने पूछा।

"क्या इतिहास पढ़ाने के अतिरिक्त कुछ और भी काम करना होगा ?"

"हाँ, इतिहास के अठारह पीरियड लेने होंगे; छः नागरिक-शास्त्र के, छः राजनीति-शास्त्र के, छः अँग्रेजी के।"

"अंग्रेजी के ? अंग्रेजी तो मैं नहीं पढ़ा सकता।"

"क्यों ?" नाटे व्यक्ति ने पूछा, "क्या आपने इतिहास का एम० ए० यूनानी भाषा में पास किया है ?"

"मगर अंग्रेजी तो वही पढ़ा सकता है जो अंग्रेजी का एम० ए० हो।"

"खैर, पढ़ा सकने की बात तो छोड़िये, मिस्टर प्रकाश," रायबहादुर बोले, "दरअसल जरूरत ऐसे आदमी की है जो ये सब विषय पढ़ा सके।"

"परन्तु विज्ञापन में तो इस विषय में कुछ नहीं लिखा था।"

"सब बातें विज्ञापन में कैसे आ सकती हैं ? तो क्या आपको स्वीकार नहीं है ?"

मेरी आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा; फिर वही सड़कों की पैमाइश, बेकारी के लम्बे दिन !

"स्वीकार है। बिलकुल स्वीकार है," मैंने कहा, "मैं सप्ताह में छत्तीस पीरियड पढ़ाऊँगा और उसके साथ अंग्रेजी भी।"

"और सप्ताह मे तीन पीरियड अर्थशास्त्र के," प्रिंसिपल बोलीं।

"परन्तु अर्थशास्त्र तो मैंने केवल बी० ए० तक पढ़ा है।"

"और यहाँ कौन एम० ए० को पढ़ाने को कहा है ! आप केवल इण्टर क्लास को पढ़ायेंगे। तैयारी करके आदमी क्या नहीं पढ़ा सकता ! प्रोफेसर वी० डी० तो तैयारी करके कानून भी पढ़ा सकते हैं।"

"और आप इण्टर को नहीं पढ़ा सकेंगे ?" नाटा व्यक्ति बोला।

"पढ़ा सकूँगा," मैंने गला साफ करते हुए कहा।

"इसके अतिरिक्त," सेक्रेटरी साहब एक आँख से चेयरमैन, दूसरी से प्रिंसिपल को देखते हुए मेरी ओर उँगली करके बोले, "आपको प्रति मास लड़कियों की फीस वसूल करके बैंक में जमा करानी होगी और कालिज का हिसाब-किताब रखना होगा।"

"सेक्रेटरी साहब," रायबहादुर बोले, "यह भी कोई कहने की बात है ! ऐसे साधारण काम तो चलते ही रहते हैं।"

"लेकिन, रायबहादुर, मेरा हिसाब कमजोर है। गड़बड़ हो जायगी।"

"आपका क्या मजबूत है ?" प्रिंसिपल मिस नारायण मेरी ओर घूरकर बोलीं, "आपको अंग्रेजी आती नहीं, इकनॉमिक्स पढ़ा नहीं सकते, फीस में गड़बड़ हो जायगी—आखिर आपने एम० ए० में क्या पढ़ा है ?"

"इतिहास," मैंने उत्तर दिया।

"मिस्टर," नाटा व्यक्ति बोला, "आप विचित्र उत्तर दे रहे हैं। आप क्या खाकर आये हैं ?"

"टोस्ट और आमलेट," मैंने तुरन्त उत्तर दिया, क्योंकि प्रोफेसर जौहरी ने बताया था कि इंटरव्यू में तुरन्त उत्तर देना चाहिए, चाहे गलत ही हो। यद्यपि मैं

केवल चाय का एक प्याला ही पीकर आया था, पर रोब डालने के विचार से मैंने ऐसा कह दिया।

नाटे व्यक्ति के चेहरे पर क्रोध के चिह्न नजर आने लगे। वह बोला, "लड़कियों के कालिज में पढ़ानेवालों को अण्डे, माँस और मछली नहीं खाने होंगे।"

"भविष्य में नहीं खाऊँगा," मैंने उन्हें विश्वास दिलाया।

"हाँ, एक बात और," मिस नारायण बोलीं।

दिल को मजबूत करके मैं नया वार सहने को तैयार हो गया।

"आपको रायबहादुर की लड़की को एक घण्टा रोज पढ़ाना होगा। वह इस वर्ष बी० ए० की परीक्षा दे रही है।"

"कालिज में?"

"घर पर।"

"घर तो·····"

"मॉडल टाउन में है—यही न?" नाटा व्यक्ति बोला, "तो क्या हो गया! सात मील का फासला ही तो है। सैर हो जायगी, नहीं तो साइकिल पर चले जाना।"

"साइकिल तो मेरे पास है नहीं।"

"तो क्या मोटर-साइकिल है?" नाटा व्यक्ति व्यंग्यपूर्वक बोला, "बस में चले जाना।"

"उसमें तो पैसे लगेंगे।"

"तो क्या मुफ्त जाना चाहते हो?" नाटा व्यक्ति मेरी बात का मजाक उड़ाता हुआ बोला, "अरे मियाँ, कितने पैसे लगेंगे—चार आने ही तो। तुम्हारे जैसे नवयुवक इससे दुगने पैसे तो सिगरेट और पान में ही उड़ा देते हैं।"

"लेकिन न मैं सिगरेट पीता हूँ, न पान खाता हूँ।"

"मैं आपसे यह नहीं पूछ रहा कि आप क्या और क्यों खाते हैं! आप सीधा जवाब दीजिए—स्वीकार है या नहीं?"

"स्वीकार है, एकदम स्वीकार है," मैंने तुरन्त कहा।

"तो ठीक है। अब आप जा सकते हैं," रायबहादुर बोले, "आप आज ही से कालिज में काम शुरू कर दीजिए।"

"आज ही से?"

"और कब से?" नाटे व्यक्ति ने मुझे डाँट पिलाते हुए कहा, "आपकी तैयारी नहीं होगी?"

"नहीं, साहब, मेरा सूट······"

"हाँ, आपका सूट इतना सुन्दर नहीं होना चाहिए। आप बिलकुल मामूली सूट पहनकर आइए। दूसरे, सुन्दर बनने की कभी कोशिश मत करना। बाल वर्ष-भर में दो-तीन बार कटवाना, वह भी छुट्टियों में। क्रीम और सुरमा कभी न लगाना।

कालिज में लड़कियों से बात करते समय नीची निगाह रखना। कभी चेहरे पर मुसकराहट नहीं लानी होगी। यह भी ध्यान रखें कि अकेली लड़की से कभी बात न करें।"

"प्रोफेसर से भी?"

"हाँ, लेडी प्रोफेसर से भी नहीं," नाटे व्यक्ति ने कहा।

मैंने सेक्रेटरी की ओर देखकर पूछा, "आपकी लड़की किस क्लास में पढ़ती है?"

"आपको इससे क्या?" वह भैंगी आँखों में अपना सारा क्रोध समेटकर बोले, "तुम्हें इससे क्या मतलब?"

"मेरा मतलब है कि उसे भी·····"

"क्या उसे भी?" वह पूरी शक्ति से दाएँ हाथ का मुक्का मेज पर मारते हुए बोले, लेकिन इसका प्रभाव मेरे बजाय दवात पर हुआ और उसकी स्याही उछलकर उनके मुँह पर जा गिरी। उन्होंने हाथ से स्याही को पोंछा और जब हाथों को देखा तो क्रोध से नीले-पीले हो गए और मुझे डाँटकर बोले—"आप फौरन तशरीफ ले जाइए।"

मैं अपनी सीट से उठा। तीनों को नमस्ते करके मेज पर रखा हैट लेकर मैं कमरे से बाहर निकलने लगा था कि सेक्रेटरी की आवाज मेरे कान में पड़ी—"मिस्टर! आप मेरा हैट लिये जा रहे हैं।"

मैं वापस लौटा। उस हैट को मेज पर रखा, दूसरा उठाया और जल्दी-जल्दी कमरे से बाहर निकल गया।
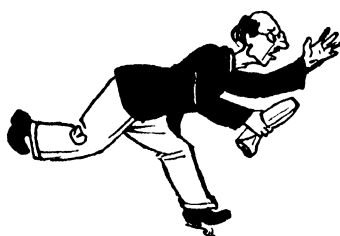
घोड़े की वापसी

सतीश सरकार

●

श्री सतीश सरकार का जन्म सन् १९३० में हुआ था। प्रथम कहानी १९५१ में लिखी थी। अब तक कुल तीस-पैंतीस के लगभग कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें से दो 'सरगम', बम्बई और 'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली द्वारा आयोजित प्रतियोगिताओं में पुरस्कृत हो चुकी हैं। आप 'स्वतन्त्र भारत' के रिपोर्टर और 'उत्तरा' लखनऊ के संयुक्त संपादक भी रहे हैं। पिछले दो वर्षों से सेण्ट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टिट्यूट, लखनऊ के सूचना-विभाग में कार्य कर रहे हैं। संगीत में रुचि है।

सेण्ट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट, छतरमंजिल, लखनऊ

"मेरा घोड़ा भाग गया है, डाक्टर साहब," फजलू ने रुआँसे होकर कहा।

डाक्टर सिद्धनाथ होमियोपैथी के डाक्टर थे और उनके पास हर मर्ज का इलाज था। लेकिन एक भी मर्ज के मरीज ऐसे नहीं थे जो ज्यादा तादाद में उनके दवाखाने में आना पसन्द करते। यह वाकई बड़ी अजीब बात थी और इसके लिए डाक्टर साहब को जिम्मेदार ठहराना गैर-जिम्मेदारी की बात ही समझी जानी चाहिए और इसकी वजह से अगर कोई उनकी काबलियत पर शक कर बैठे तो यह उसकी जहालत होगी।

आपने उनके दवाखाने में कदम रखा कि उन्होंने फौरन अपनी कुर्सी छोड़ दी और तपाक से हाथ मिलाया। इसके बाद फौरन ही बाँई तरफ स्टैण्ड पर रखे तसले में लोशन मिले हुए पानी से हाथ धोया और बिलकुल किसी अमेरिकन फर्म के सेल्समैन की भाँति मुसकराते हुए बोले —"कहिए, कैसे तकलीफ की ?"

"कुछ पेट में तकलीफ है, डाक्टर साहब।"

पेट में तकलीफ हो, या दिल में या दिमाग में, डाक्टर साहब वैसे ही मुसकराते हुए कहेंगे, "कोई बात नहीं, घबराने की क्या बात है ? पहले आराम से बैठ तो जाइए," ताकि आपको इत्मीनान हो जाए और आप खुलकर बातें कर सकें। इसके बाद वह सिगरेट पेश करेंगे और अगर आप सिगरेट पीते हैं, तो जाहिर है कि आप उसी वक्त से डाक्टर साहब के दोस्त हो जायेंगे। अगर आप सिगरेट नहीं पीते तो वह चाय के लिए पूछेंगे। जाहिर है आप मना कर देंगे और उस हालत मे भी आप उनके दोस्त बन जायेंगे।

आप जब इत्मीनान से बैठ गये तो डाक्टर साहब ने अपनी तकरीर शुरू की। उन्होंने आपको बताया कि होमियोपैथी में पचास-पचास मर्जों की एक दवा और एक-एक मर्ज की पचास-पचास दवायें होती हैं। मर्ज की डायग्नोसिस, यानी मर्ज क्या है इसका यकीनी तौर पर पता लग जाना, इलाज की सबसे पहली शर्त होती है। इस डायग्नोसिस के बहुत तरीके हो सकते हैं। लेकिन होमियोपैथी में लक्षण पूरे-पूरे पता चल जाएँ तो यह समझ लीजिए कि दवा मिल गई और सही दवा की अगर एक खूराक भी ले ली गई तो मर्ज की जड़ ही उखड़ जाती है।

"हाँ," डाक्टर साहब बोले—"तो अब अपने लक्षण जरा तकलीफ के साथ बताइये।"

आपने अपना पहला लक्षण बयान किया और उसके ऊपर डाक्टर साहब ने आपसे पाँच सवाल पूछे। आपने पाँच लक्षण बताये और उन्हें पचीस मिल गये। इसके बाद आप तो खामोश हो गये, लेकिन डाक्टर साहब खामोश नहीं हुए। अब उन्होंने

कुछ ऐसे सवाल पूछे जिनका जवाब आप खुद ही नहीं जानते।

"मर्ज का छोटे-से-छोटा लक्षण भी अपनी अलग अहमियत रखता है," वह अपने हर मरीज को समझाया करते—"मरीज को डाक्टर से कुछ भी छिपाना नहीं चाहिए।"

उनका कोई भी मरीज अपने मर्ज के तमाम लक्षण बयान नहीं कर सका। इसलिए अगर किसी को सही दवा नहीं मिल सकी तो इसके लिए डाक्टर साहब को तो जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। फिर भी उनके मरीजों की संख्या दिन-प्रतिदिन कम होती गई। पहले, सप्ताह में दो-तीन मरीज आ जाया करते थे; अब उतने ही मरीज एक महीने में आने लगे। यही रफ्तार बहुत अरसे तक रही।

आखिरकार उन्हें ऐसा केस मिला जिसका एक भी लक्षण उनसे छिपाया नहीं गया। ऐसा पहली ही बार हुआ था, और पहली बार डाक्टर नाथ की दवा ने अपना असर दिखाया।

फजलू ताँगेवाले का घर डाक्टर सिद्धनाथ के घर से मिला हुआ है। उसका खानदानी पेशा ताँगा हाँकना है और उससे पहले उसका बाप भी वही ताँगा हाँका करता था जिसे वह खुद पिछले सत्रह सालों से हाँकता आ रहा है। अभी चार महीने पहले जब उसका पुराना घोड़ा मर गया तो उसने एक नया घोड़ा किश्तों पर खरीद लिया था। यह घोड़ा पिछले घोड़े की तरह नहीं बल्कि बहुत बिगड़ैल और अपनी तबियत का बादशाह था। ताँगे में जुतने से पहले वह रेस के मैदान में दौड़ा करता था। एक आँख में कुछ खराबी पैदा हो जाने की वजह से वह मैदान छोड़ने पर मजबूर हुआ।

आम तौर पर देखा गया है कि घोड़े का मिजाज भी बहुत-कुछ इन्सानों से मिलता-जुलता होता है। मिसाल के तौर पर, इंसान के सिर पर सवार होकर उससे कुछ भी कराया जा सकता है; घोड़े की पीठ पर सवार होकर उससे भी बहुत-कुछ कराया जा सकता है। लेकिन जिस तरह हर इन्सान का मिजाज एक-सा नहीं होता, हर घोड़े का मिजाज भी एक-सा नहीं होता। फजलू के इस नये घोड़े का मिजाज दूसरे घोड़ों से अलग था और अभी पिछले सप्ताह जब सबेरे तड़के फजलू उसे अस्तबल से निकालकर रेलवे के फाटक की तरफ टहलाने ले चला, तो वह उससे छूटकर भाग निकला।

फजलू के लिए यह हादसा मामूली सिरदर्द से ज्यादा तकलीफदेह साबित हुआ। वह घोड़ा सिर्फ उसकी जीविका का साधन ही नहीं था, बल्कि उसे उस पर बेहद नाज भी था। उसके साथी दूसरे ताँगेवाले—नब्बन, तिरबेनी, ननकू, बख्तावर आदि उसकी तकदीर सराहते। इतना ताजा और दिलेर घोड़ा, इतनी मामूली रक़म में और जिसे किश्तों में अदा किया जाना हो, किसी ताँगेवाले को मिल जाये तो दूसरे ताँगेवालों में उसकी इज्जत का कई गुना बढ़ जाना कोई अजीब बात नहीं। फजलू को अपने बच्चों से ज्यादा इस घोड़े का ख्याल रहता और वह उसकी सेवा कुछ ऐसी भावना से करता जैसे वह उसका मालिक न होकर, घोड़ा उसका मालिक हो। दरअसल, वह अपने घोड़े

से मुहब्बत करने लगा था।

जिस सुबह घोड़ा भागा उस दिन-भर फजलू उसकी तलाश में भटकता रहा। उसने चारों दिशाओं में उसे तलाश किया। वह जिस दिशा को जाता, उसे दूसरी दिशा से अपने घोड़े की हिनहिनाहट आती मालूम पड़ती और वह मुड़ जाता। इस तरह उसने चारों दिशाओं में तलाश की, हालाँकि घोड़ा भागा एक ही दिशा को था। उस रात वह बिलकुल नहीं सोया। वह बीड़ियों पर बीड़िया फूँकता रहा और उसने अपने मकान की चहारदीवारी के भीतर ही काफी चहलकदमी भी की, हालाँकि दिन में वह अपने पैरों के साथ काफी ज्यादती कर चुका था। उस दिन के बाद भी एक सप्ताह तक उसकी हालत किसी ऐसे फिल्म के हीरो की तरह रही जिसमें हीरोइन को डाकू उठा ले गये हों। पूरे सप्ताह तक वह दिन-भर भटकता फिर और रात को बीड़ियाँ फूँक-फूँक जागता रहा। हर कुछ मिनट पर रह-रहकर अपने अजीज घोड़े की हिनहिनाहट उसके कानों में गूँजती रही।

इस एक सप्ताह के भीतर ही फजलू के चेहरे पर थकान की लकीरों के साथ-ही-साथ तकरीबन चौथाई इंच लम्बी दाढ़ी भी नजर आने लगी और उसकी बीवी को पक्का यकीन हो गया कि अब तक अगर डाक्टर के मशविरे की जरूरत नहीं पड़ी थी तो अब उसके बगैर काम भी नहीं चल सकता। चुनांचे उसके इसरार करने पर फजलू ने डाक्टर सिद्धनाथ के दवाखाने का रुख किया।

डाक्टर सिद्धनाथ ने फौरन ही कुरसी छोड़ दी और तपाक से हाथ मिलाया। फिर लोशन मिले हुए पानी में हाथ धोते हुए बोले—"कैसे तकलीफ की, फजलू?"

"मेरा घोड़ा भाग गया है, डाक्टर साहब," फजलू ने रुआँसे होकर कहा।

"कोई बात नहीं जी, घबराने की कोई बात नहीं," डाक्टर साहब बोले—"आराम से बैठ तो जाओ, भाई।" और फिर सिगरेट का पैकेट फजलू की तरफ बढ़ाया।

डाक्टर साहब के इस हमदर्दी के बर्ताव से फजलू की आँखों में आँसू भर आये। वह सिगरेट निकालकर जलाने जा ही रहा था कि एकाएक उसके कानों में अपने खोये घोड़े की हिनहिनाहट बड़े जोर से गूँज उठी और वह तेजी से उठकर दूकान के बाहर की तरफ भागा।

अब, कोई भी डाक्टर यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि उसके दवाखाने में आने के बाद फौरन ही मरीज भाग निकले। फिर डाक्टर साहब अपने स्कूल के जमाने में कई बार सालाना दौड़ों में हिस्सा भी ले चुके थे। यह सच है कि फजलू का घोड़ा काफी तेज दौड़ लिया करता था, लेकिन खुद उसे दौड़ने का बिलकुल रियाज नहीं था। इसके अलावा उसे यकीनी तौर पर यह भी मालूम नहीं था कि उस वक्त वह अपने घोड़े की तलाश में किस तरफ दौड़कर जाये। यही कारण थे कि दूकान की सीढ़ियों के नीचे उतरते ही फजलू डाक्टर साहब की गिरफ्त में आ गया और उसे वापस दवाखाने में लौटना पड़ा।

डाक्टर साहब फजलू को कुरसी पर बिठाने के बाद बड़े प्यार-भरे लहजे में बोले, "अब जरा दम ले लो, फिर अपने मर्ज के लक्षण बताना। घबराने की कोई बात नहीं है।"

फजलू को जितने भी लक्षण मालूम थे, उसने डाक्टर साहब के सामने बयान कर दिये। दिन-भर चारों दिशाओं में भटकते फिरना, रात को नींद न आने की वजह से बीड़ियाँ फूँकते रहना, हजामत बनाने की इच्छा का न होना वगैरह, और डाक्टर साहब के अधिकांश सवालों का उसने जवाब भी सही दे दिया। यहाँ तक कि जब डाक्टर साहब ने यह पूछा कि क्या यह मर्ज उसके खानदान में किसी और को भी इससे पहले हो चुका है, तो उसने फौरन जवाब दिया कि हाँ, एक बार जब वह छोटा था और गुम हो गया था तो चार दिनों तक उसके बाप को भी यही मर्ज रहा था जिसमें कि आज वह मुब्तिला है।

इस जवाब को सुनने के बाद डाक्टर साहब की केस में दिलचस्पी और भी बढ़ गई। उन्होंने पूछा, "फिर आखिर वह ठीक किस दवा से हुए ?"

"दवा तो उन्होंने कोई ली ही नहीं थी," फजलू बोला "मुझे तो याद नहीं, लेकिन अम्मा बताती थी कि जिस वक्त मुझे लाकर उनके सामने खड़ा कर दिया गया, उसी वक्त वह एकदम चंगे हो गये।"

डाक्टर साहब कुछ देर खामोश रहकर सोचते रहे, फिर बोले—"तो आखिर इसमें इतना परेशान होने की क्या बात है ?"

"मैं उस घोड़े के बगैर जिन्दा नहीं रह सकता, डाक्टर साहब," फजलू रुआँसा होकर बोला।

"मैं जानता हूँ," डाक्टर साहब बोले, "यही तो तुम्हारे मर्ज का खास लक्षण है।"

कुछ देर दोनों खामोश रहे, फिर डाक्टर साहब बोले—"तुम्हारा घोड़ा जिस दम तुम्हें वापस मिला, उसी दम तुम बिलकुल चंगे हो जाओगे। फिर इसमें इतना घबराने की क्या बात है ? अच्छा, तुम्हारे घोड़े की उम्र क्या है ?"

"मेरे पास चार महीने से था। इससे पहले दो साल सात महीने वह रेस में दौड़ा और जब लाला हरनामसिंह ने उसे खरीदा था, तब वह छः साल का था।"

डाक्टर साहब ने कागज पर लिखकर हिसाब लगाया—"कुल मिलाकर तकरीबन नौ साल हुए। आमतौर पर वह किस चाल में चलना पसन्द करता था ?"

"दुलकी, डाक्टर साहब।"

"दिन में कितनी बार हिनहिनाता था ?"

फजलू को इस सवाल का जवाब नहीं सूझा। डाक्टर साहब ने इसी सवाल को दूसरे ढंग से पूछा, "मेरा मतलब है, दिन-भर में दस बार से कम या ज्यादा ?"

"ज्यादा," फजलू ने जवाब दिया।

"बीस बार से ज्यादा या कम ?"

"ज्यादा।"

"तीस बार से ?"

"कम।"

"ठीक," डाक्टर साहब सन्तुष्ट होकर बोले, "अब यह बताओ कि वह हिनहिनाता किस तरह से था ? मेरा मतलब यह कि कुछ घोड़े गर्दन उठाकर हिनहिनाते हैं, कुछ गर्दन झुकाकर। वह किस तरह हिनहिनाता था ?"

"वह तो, डाक्टर साहब, दोनों तरह से हिनहिना लेता था।"

"तब तो वाकई बड़े गजब का घोड़ा था !" डाक्टर साहब बोले—"लेकिन मैं जो जानना चाहता हूँ वह यह कि ज्यादा जोर से वह किस पोजीशन में हिनहिनाता था ?"

फजलू ने बताया कि सबसे अधिक जोर के साथ तो वह गर्दन और दोनों अगले पैर हवा में उठाकर हिनहिनाता था।

"बिलकुल ठीक !" डाक्टर साहब बोले, "अब मैं अपना आखिरी सवाल पूछूँगा। याद रखो कि इस सवाल के जवाब पर ही सारा दारोमदार है। समझ गये न ?"

"जी हाँ।"

"डाक्टर के सवालों का जवाब खूब सोच-समझकर देना चाहिए।"

"जी हाँ।"

"तो फिर अब यह बताओ कि भागकर घोड़े ने किस तरफ का रुख किया ?"

फजलू को जवाब देने में बिलकुल दिक्कत का सामना नहीं करना पड़ा। सारा दृश्य एकबारगी उसकी आँखों के सामने आ गया। उसने फौरन जवाब दिया, "वह तो, डाक्टर साहब, इस कदर तेजी के साथ भागा जैसे यह साबित कर रहा हो कि उसे रेस के मैदान से निकालनेवालों के दिमाग में गोबर भरा हो।"

"लेकिन आखिर उसने रुख किस तरफ का किया ?"

"पूरब की तरफ," फजलू ने जवाब दिया।

'पूरब की तरफ' सुनते ही डाक्टर साहब अपनी कुरसी पर से तकरीबन तीन इंच ऊपर उछल गये। "पूरब की तरफ !" वह चिल्लाये और दौड़कर कमरे के पूर्वी कोने का रुख किया जहाँ उनकी दवाइयों की अलमारी खड़ी थी।

डाक्टर साहब को इस कदर जोश में देखकर फजलू को अपने घोड़े की याद बहुत जोर से आ गई। लेकिन इस बार याद में वह व्याकुल नहीं हुआ। इतनी जल्दी वह मुसकरा सकेगा, इसकी उसने कल्पना नहीं की थी, फिर भी वह मुसकरा रहा था।

डाक्टर साहब ने एक शीशी लाकर फजलू के सामने रख दी। उन्होंने कहा, "इस दवा का दाम ग्यारह आने है। तुम इसी दम जाओ और रेलवे लाइन के पास-वाली नहर में इसे खाली कर आओ। अब घबराने की कोई बात नहीं है। तुम्हारा घोड़ा जोश में आकर भाग निकला है; जोश ठण्डा होते ही होश में आ जायेगा और वापस घर लौट आयेगा।"

लेकिन पानी की तरह लगनेवाली किसी चीज से भरी हुई एक छोटी-सी शीशी की कीमत, जिसे नहर में ले जाकर बहा दिये जाने की हिदायत हो, ग्यारह आने फजलू को बहुत ज्यादा मालूम पड़ी। वह बोला—"लेकिन अगर जोश कम होने पर वह वापस आ ही जायेगा, तो इस दवा की क्या जरूरत है, डाक्टर साहब?"

"तुम इन बातों को नहीं समझ सकते," डाक्टर साहब बोले—"यह कोई होमियोपैथी का डाक्टर ही समझ सकता है। फजलू, वक्त खराब करने से कोई फायदा नहीं। जाओ, और कल इसी वक्त आकर हाल बता जाना।"

फजलू ने बड़े बे-मन से पैसे जेब से निकालकर दिये और चला आया।

और अगले दिन जब फजलू डाक्टर सिद्धनाथ के दवाखाने में आया, तो वह बिलकुल चंगा था और उसकी हजामत भी बनी हुई थी। वह पैदल चलकर नहीं बल्कि अपने ही ताँगे पर बैठकर आया था जिसमें वही घोड़ा जुता हुआ था जिसके भाग जाने पर उसे वह मर्ज हो गया था जिसका हाल बताने के लिये इस वक्त उसे वहाँ आना था। अब यह बताने की जरूरत नहीं कि नहर का पानी पच्छिम से पूरब की ओर बहता था और न यही बताने की जरूरत है कि जिद्दी-से-जिद्दी घोड़े को भी आखिर प्यास तो लगती ही है। लेकिन चूँकि इस मजमून को पढ़नेवाले बहुत-से लोग इस शहर के बाहर भी होंगे, इसलिए यह बता देना जरूरी हो जाता है कि अब डाक्टर सिद्धनाथ 'घोड़ा डाक्टर' के नाम से मशहूर हो गए हैं। और यहाँ मशहूर के मतलब मशहूर ही हैं क्योंकि अब उनकी दूकान में मरीजों का टोटा बिलकुल नहीं रहता, वहाँ रोज सुबह-शाम इंसानों की भीड़ लगी रहती है।

डाकू

सरयूपण्डा गौड़

●

श्री सरयूपण्डा गौड़ का जन्म सन् १९०३ में बिहार के शाहाबाद जिले के जगदीशपुर में हुआ था। साहित्यिक क्षेत्र में आप सन् १९२४ से उतरे हैं। उसी वर्ष 'महावीर' साप्ताहिक, पटना के सम्पादकीय-विभाग में रहे। सन् १९२५ में आगा काश्मीरी के 'दी ग्रेट शेक्सपीयर थियेट्रिकल कम्पनी' में अभिनेता, प्रोम्पटर और पुस्तक-संशोधक तथा १९३६ में मासिक पत्रिका 'आर्य-महिला', काशी के प्रधान सम्पादक रहे। हिन्दी साहित्य के हास्य-क्षेत्र में आपका विशिष्ट स्थान है।

रचनाएँ

'अश्रुगंगा', 'अंधकार', 'गुण्डा', 'लेखक की बीबी', 'चार चंडूल', 'ससुराल की होली', 'आदाबअर्ज', 'मूर्ख महा-सम्मेलन', 'मिस्टर तिवारी का टेलीफोन', 'लखनऊवाली', 'दुल्हे का दाम', आदि।

जगदीशपुर, शाहाबाद, बिहार

भरी पिस्तौल का घोड़ा पकड़े थानेदार कमरे की ओर बढ़े जिसमें डाकू बंद थे

प्रायः एक बजे रात में जोर-जोर से झकझोरकर हिलाती हुई मेरी श्रीमतीजी घबराहट-भरी आवाज में बोलीं—"अजी, उठो भी ! वह सुनो, बड़ा हल्ला मचा है। लाला गिरधारीदास के घर में डाकू घुसे हैं।"

अब आप जरा गौर फरमाइये इस मुसीबत को ! बर्फ उगलनेवाली जाड़े के एक बजे की रात, गिलाफ से गर्म बदन, मीठी नींद में बेसुध पड़ा आदमी, डाकू के पीछे नंगे बदन दौड़ने के लिये जगाया या ललकारा जाय तो बिचारे को कितनी झलाहट होगी ! कितना बुरा मालूम होगा ! ये डाकू कम्बख्त भी एक ही मरदूद होते हैं, चले हैं जाड़ों में डाका डालने ! फिर चले भी तो पकड़े क्यों गये ! होशियारी से काम करते।

इतने में वह फिर बोलीं—"अजी ! उठो ! उठो ! उठो !!"

मुझे ऐसा लगा, जैसे मुझे कोई कैदखाने में घसीटे लिये जा रहा हो। मैं उन्हें फटकारता हुआ बोला—"क्या बकबक लगा दी ! मैं इस जानमार जाड़े में कहीं नहीं जाता, चाहे किसी के घर में डाकू घुसें या शेर ! मुझे सोने दो।" मैंने दूसरी ओर करवट बदली।

किन्तु श्रीमतीजी भी एक ही सत्याग्रही निकलीं, बोलीं—"अजी वाह ! धन्य है तुम्हारी बुद्धि ! मुहल्लेवाले तो बेचारे लुट जायँ और तुम पड़े-पड़े खर्राटे लेते रहो, क्यों ?"

मैं फिर झलाता हुआ बोला—"मुहल्लेवाले लुटें या मरें, मैंने किसी का ठेका थोड़े ले रखा है ! न मैं थानेदार, न चौकीदार और न 'बीमा-कम्पनी' का प्रोप्राइटर ! फिर मैं क्यों इस कड़ाके के जाड़े में अपनी गर्म देह को बर्फ बनाता फिरूँ ? और यदि मुझे शीत लग जाय तो ? करेंगे मदद रुपये-पैसे के गिरधारीलाल !"

वह—"तो तुम्हारे घर भी आग लगे या पानी बरसे, वह भी झाँकने तक न आयेंगे। फिर झक मारोगे !"

मैं—"न आयें मेरी बला से ! मगर हम इस वक्त इस जाड़े में मरने नहीं जाते !"

वह—"न जाओगे ? राम ! राम ! तुम्हें ऐसा कहते जरा भी शर्म नहीं मालूम होती ?"

मैं—"शर्म ! शर्म काहे की ? क्या हमने कहीं डाका मारा है ?"

वह चिढ़कर बोलीं—"तुम्हारे जैसे बुजदिल एक चुहिया तो मार ही नहीं सकते, डाका क्या मारेंगे ! क्या तुम्हारी जान में डाका मारना बड़ा आसान काम है ? अजी, होश में आइये हजरत ! डाका मारनेवाले का सीना गज-भर का होना चाहिये जो एक बार मौत से भी मुकाबला करने की हिम्मत रखता हो। तुम्हारी तरह वे जाड़े और पाले से नहीं घबराते।"

मुझे उनकी बात कुनैन से भी ज्यादा कड़वी लगी। मैं उन्हें ललकारता हुआ बोला—"बड़ी वीर बनी हो, तो तुम्हीं क्यों नहीं चली जातीं, जो मुझे उपदेश सुना रही हो!"

वह उत्तेजित हो उठीं—"मैं जाऊँ! अच्छा लो मैं जाती हूँ, पर सुबह मुँह दिखाने के लायक न रहोगे, इसे जान रखना।"

सचमुच वह चल पड़ीं। अब लाचार हो मुझे भी गद्दे और गिलाफ का सुख त्यागकर उस चाण्डाल जाड़े में नंगे बदन दौड़ना पड़ा। केवल गंजी पहने, हाथ में डंडा लिए शयन-गृह से बाहर हुआ। क्या बताऊँ—! उस समय उनकी जिद मुझे जैसी बुरी मालूम हो रही थी! काश, 'बीबी बदलौअल' का रिवाज हमारे समाज में होता, तो मैं उनकी जैसी सुन्दरी युवती को बिना कुछ 'फिरता' लिए ही फौरन से पेश्तर बदल डालता, चाहे मुझे उनके एवज में बच्चोंवाली जोरू ही क्यों न मिलती।

वह दरवाजे तक पहुँच चुकी थीं। मैं लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उनके पास पहुँचा। वह मुझे लज्जित करती हुई बोलीं—"जरा देखो तो! मारे आदमियों के गली भरी हुई है। छोटे-छोटे बच्चे तक छड़ी लिए—'मारो, पकड़ो' चिल्लाते भागते जाते हैं। क्या तुम इनसे भी नाजुक और मुलायम हो?"

आदमियों की यह भीड़, यह कशमकश जो मैंने देखी, तो मेरे दिल में भी वीरता और साहस का ज्वार-सा उठ आया, तुरंत बाहर गली में निकल आया और दौड़ा लाला गिरधारीदास के मकान की ओर।

वहाँ कितनी भीड़ थी, न पूछिये! ऐसी रेल-पेल, ऐसा भीड़-भड़क्का—तो कुम्भ-स्नान के समय भी न होगा। हजारों आदमी कच्छ चढ़ाये, हाथों में डण्डा, भाला, लाठी, बर्छा संभाले हुए जमा थे। शकल घबराई हुई, चेहरे पर एक अजीब परेशानी छाई हुई। अब मेरी समझ में आया, मामला कितना संगीन था और मेरा न आना हमारे हक में कितना बुरा होता! मन-ही-मन मैंने अपनी देवीजी की घोर बुद्धिमत्ता की घोर प्रशंसा की। लाला गिरधारीलाल और उनके दोनों सुपुत्र—महावीर और अंगद, घुटने तक धोती चढ़ाये, सिर में गमछा लपेटे, कन्धे पर लाठी रखे अपने मकान के चारों ओर 'मारो, पकड़ो' का शोर मचाते पागल-से दौड़ लगा रहे थे। हाँफते-हाँफते गरीबों का बुरा हाल था। लुहार की भाथी की तरह जोर-जोर से उनकी साँसें चल रही थीं। चेहरा उड़ा हुआ, तबीयत घबराई हुई, जुबान से बोली तक निकलना मुश्किल! खाली 'मारो, पकड़ो' की एक रट उनकी जुबान पर जैसे लिख गई थी। और साहब बात भी ऐसी ही थी, जिस बेचारे के घर डाकू घुसें, जिसका सर्वस्व लूटा जा रहा हो यदि वह विकल न हो, तो कौन होगा!

मुहल्ले के मुखिया बाबू रामभरोसेसिंह लाला गिरधारीलाल को बुलाकर घटना के विषय में पूछने लगे। लालाजी ने बताया—"करीब यही आधा घंटा हुआ, हम अपने घर में पड़े थे। सब लड़के भी अपने-अपने कमरों में सो रहे थे कि एकाएक मुझे मालूम हुआ जैसे मेरे भंडारघर का बक्स कोई पटक-पटककर तोड़ रहा है। मैंने

पड़े-ही-पड़े महाबीर को पुकारा—"महाबीर ! भण्डारे का बक्स क्यों ढनढना रहा है ! देख तो !" महाबीर तो न उठ सका, उसने अपनी स्त्री को भेजा। वह लालटेन लिए घर में गई और वहीं लालटेन पटककर 'बाप, बाप' चिल्लाती अपनी कोठरी को भगी। तब तक महाबीर आँगन में आकर 'डाकू-डाकू' चिल्लाने लगा। सो साहब, मैं भी उसकी चिल्लाहट सुनकर घबराया-सा बाहर आँगन में आया और पूछा, 'क्या है रे ?' तब तक कि उधर से अङ्गद भी अपने घर में 'चोर-चोर' चिल्लाता बौखलाया-सा बाहर निकला। मालूम हुआ, भण्डारे में डाकू बैठे हैं। हमने तो साहब दौड़कर उस घर की सांकल चढ़ा दी है। औरतें सब अपनी-अपनी कोठरी में किवाड़ें बन्द किये सटकी बैठी हैं। हम बाप-बेटे बाहर आकर शोर मचा रहे हैं। अब पता नहीं कि डाकू घर में ही बन्द पड़े हैं या किवाड़ तोड़कर भाग गये। हमारे पिछवाड़े का थोड़ा-सा हिस्सा टूटा हुआ है, हमारा खयाल है डाकू उसी राह घर में आये और हाय ! हाय ! हमारी जिन्दगी-भर की कमाई, हमारी कुल जमा-पूँजी बक्स में है। हम तो लुट गये, दादा ! यह मुहल्ले के भेदिया का काम है जिसने ऐसा सटीक निशान दिया। हाय ! हाय !" लालाजी सिर पीट-पीटकर रोने लगे।

रामभरोसेसिंह बोले—"घबराओ नहीं, लाला, मैं समझता हूँ डाकू कहीं गये नहीं हैं, वे जरूर घर में घिर गये हैं। यह तुमने बुद्धिमानी की जो उस घरकी जंजीर चढ़ा दी और तुरंत हल्ला मचाया ? इतने जल्दी डाकू भाग नहीं सकते।"

लालाजी विकल-से हो बोले—"आपके मुँह में भगवान बसें ! आपका कहना सच हो, नहीं तो हमें उजड़ा हुआ ही समझिये। हाय राम ! अब हमारे बच्चे क्या खायँगे ! किसकी छाँव में रहेंगे !" लालाजी 'टटकी बहुरिया'-सा नेंटा छिड़क-छिड़क-कर फिर रोने लगे।

रामभरोसेसिंह बोले—"भगवान् सब मंगल करेंगे। लाला, घबराओ नहीं। हम अभी सब साले डाकुओं को पकड़ते हैं।" फिर बाबू साहब ने लोगों से कहा—"देखो, सब लोग अपना-अपना हरवा-हथियार सँभाल लो और लालाजी का घर घेर लो ताकि अब जो डाकू हों, तो वे भागने न पाएँ और तुम लोग कोई बीस जवान, जिसके पास भाला, बर्छा या और कोई वैसा हथियार हो, हमारे साथ घर के भीतर आँगन में चलो।"

बाबू साहब की आज्ञानुसार कुछ लोग तो लालाजी का घर घेरकर खड़े हो गये और बीस चुने हुए जवान हाथों में भाला, बर्छा, गँड़ासा लिए घर के आँगन में आ खड़े हुए। देखा गया, जिस घर में लालाजी ने डाकुओं के बन्द होने की बात कही थी, उस घर की साँकल अभी ज्यों-की-त्यों चढ़ी है। लोगों को इतमीनान हुआ। लालाजी की भी जान-में-जान आई। अब विचार होने लगा, कौन घर में घुसकर डाकुओं का मुकाबला कर उन्हें गिरफ्तार करे। सब एक-दूसरे का मुँह जिज्ञासा-भरे भाव से ताक रहे थे—'देखें कौन माई का लाल मैदान में उतरता है !' बाबू रामभरोसे सिंह भी खड़े-खड़े सोच रहे थे—'खीर तो बड़ा मीठा था, पर इसे खाना बड़ा टेढ़ा है। डाकुओं का सामना ठहरा ! सब जान पर खेलने को तैयार होते है, पता नहीं,

उनके पास क्या-क्या और कैसे-कैसे हरबे-हथियार हैं। अजब नहीं कि उनके पास बन्दूकें हों, पिस्तौलें हों और किवाड़ खोलते ही वे 'धाँय-धाँय' दागना शुरू कर दें। फिर तो सारे बल्लम और बर्छे, लाठी और गँड़ासे जहाँ-के-तहाँ धरे रह जायँगे। इनसे कुछ काम न निकलेगा उनके पिस्तौल, बन्दूकों के सामने! वे सबको बात-की-बात में मारते-काटते निकल जायँगे। परन्तु अब—? अब तो, जब यहाँ आ गये तो झख मारकर कुछ-न-कुछ करना ही होगा।' वह लोगों को ललकारते हुए बोले—"क्या देखते हो, यारो! खोलो जंजीर! घुसो घर में और पकड़ो सब सालों को!"

मगर किसी के पैर न उठे, मानो सब-के-सब म्युजियम की मूर्त्तियाँ हों। बाबू साहब ने फिर ललकारा—"क्यों यारो! क्या वही-सब माई के लाल हैं, उन्हीं की माँ ने शेर पैदा किये हैं? क्या हम गीदड़ हैं? चलो, बढ़ो, ताकते क्या हो!"

भज्जू अहीर आगे आया और बोला—"इसमें शेर-बकरी की बात नहीं है, पिरथीनाथ! ऊ साले डाकू हैं। अपनी जान जब आदमी हथेली पर धर लेता है तब चलता है किसी के घर डाका डालने या सेंध मारने। काम जरा विचार के करना चाहिये। उन सबके पास में बन्दूक, पिसतउल हो अउर किवाड़ खोलते ही साले 'धाँय-धाँय' फैर करना शुरू कर दें, तब! तब सरकार, सबकी जान मुफुत में चली जायगी अउर वे भाग भी जायँगे। हमारा विचार है कि दू आदमी थाने दउड़ें, अउर दरोगा जी के साथ कम-से-कम दुइ बन्दूक लिये आएँ, तो अलबत्ता किवाड़ खोलने की हिम्मत की जाय।"

भज्जू की बात भरोसेसिंह को जँची, मानो उन्हीं की आत्मा बोल रही हो। बोले—"हाँ भाई, बात तो तुमने लाख रुपये की कही। बिना कोई वैसे हथियार के किवाड़ खोलना खतरे से खाली नहीं है, यह मैं भी सोच रहा था। अच्छा, इसमें से दो जने थाने जाओ और सब हालत दारोगाजी से बयान करके बन्दूक के साथ उनको लिवा लाओ। क्यों, भज्जू भगत?"

भज्जू सहर्ष बोला—"हाँ, पिरथीनाथ!"

दो आदमी थाने दौड़े और आधे घण्टे के बाद दारोगाजी बन्दूक और चार सिपाहियों के साथ घटना-स्थल पर आ गये। सारा वाकया उन्होंने गिरधारीलाल से दरयाफ्त किया, फिर अपने दाहिने हाथ में भरी पिस्तौल का घोड़ा पकड़े उस कमरे की ओर बढ़े जिसमें डाकू बन्द थे।

उनके पीछे उनके चार सिपाही काँखों तले बन्दूक दाबे और उन सिपाहियों के पीछे बीसों आदमी भाला, बर्छा, लाठी, गँड़ासा लिए चले। शोर मचा—"बोलो, बोलो, श्री महाबीर स्वामी की जय!" मानो कहीं किले पर चढ़ाई होने जा रही हो। दारोगा बेचारे भी चौकन्ने थे। बार-बार पीछे मुड़-मुड़कर अपने सिपाहियों को देख रहे थे और 'देखना, होशियार रहना' वगैरह की नसीहत भी करते जाते थे। सिपाही भी अपने पीछेवाले आदमियों को देख रहे थे। गोया सब एक दूसरे की आशा और भरोसे पर कदम बढ़ा रहे थे। अब दारोगाजी उस घर के पास

पहुँच गये और सांकल पर हाथ रखते हुए बोले—"देखिये, आप सभी लोग अपने-अपने हरबे-हथियार से दुरुस्त हो जाइये, अब हम जंजीर खोलते हैं। याद रखिये, किवाड़ खुलते ही डाकू एक बार भाग निकलने के लिये अपनी पूरी ताकत लगायेंगे मगर जरा भी खौफ न खाइयेगा।"

एकाएक 'झन्न' से सांकल खुलने की आवाज हुई और सबकी छाती में जैसे धक् से लगा। 'मारो, पकड़ो' का कोलाहल मच गया। पहले दारोगाजी घर में घुसे, फिर सिपाही। मगर डाकुओं का कहीं पता न चला। अब लोग कई लालटेनें और टार्च लिए घर में घुस पड़े। इधर-उधर कोने में, बक्सों और अनाज की बोरियों की आड़ में लोग डंडे और लाठियाँ कोंच-कोंचकर डाकुओं का पता लगाने लगे कि सहसा एक अनाज के कुठिले पर रखा टीन का बक्स भड़भड़ाता हुआ धांय से जमीन पर गिरा। लोग सतर्क हो गये। डाकू अनाज के कुठिले से निकले। फिर लोगों की दृष्टि उस ओर गई तो देखा, बाबू रामभरोसेसिंह का वह पोरसे-भर का पछाहीं काला कुत्ता 'टिपुआ' गों-गों करता इधर-उधर निकल भागने की राह ढूँढ रहा है। "धत्तेरी की! अजी! टिपुआ ससुरा था, टिपुआ! कहाँ के डाकू और कहाँ के चोर! राम, राम! इस जाड़े की रात में सारे मुहल्ले के आदमी—बच्चे से लेकर बूढ़े तक—दो घण्टे से परेशान हो रहे हैं। यह लालाजी के परिवार की अक्लमंदी का नतीजा है, जिनको कुत्ता और डाकू का फर्क समझ में न आया।" सब एक स्वर से यही कहने लगे। दारोगाजी भी आँगन में खड़े-खड़े झल्ला रहे थे—"क्यों, साहब, इस घर में सब दीवाने ही रहते हैं क्या? ओफ़्फोह! कहिये, इस जाड़े की रात में फिजूल के लिये इतने आदमियों के साथ मेरी भी नींद और आराम हराम हुआ!"

गिरधारीलाल बोले—"मैं क्या करता, हुजूर, महबिरवा ससुर इस घबराहट के साथ आँगन में आकर चिल्लाने लगा कि मुझे कुछ सोचने-विचारने की फुर्सत ही न रही। और मेरी भी कुछ ऐसी अकिल मारी गई कि मैं भी उसी के सुर-में-सुर मिलाकर चिल्ला पड़ा।"

अंगदजी बोले—"और बाबूजी, भइया का चिल्लाना सुनकर हमारी भी अकिल ठिकाने न रही कि इनसे कुछ पूछताछ करूँ। सोचा, बिना डाकुओं को देखे यह काहे को चिल्लायेंगे!"

इतने में जनाना-घर की जंजीर बजी। मर्दुए जब अपनी निर्दोषता का प्रमाण दे अपना नाम पागलों की लिस्ट से कटाना चाहते हैं, तो औरतें बेचारी ही क्यों उसकी सूची में रहें। अंगद दौड़े हुए गये और क्षण-भर में वापस आये। दारोगा ने पूछा—"क्योंजी, इस बार कौन-से डाकू की खबर लाये हो!" अंगद बगलें झाँकते बोले—"डाकू की खबर तो क्या होगी, सरकार, भाभी कहती हैं कि मैंने भण्डार से लौटकर उसमें कुत्ते के घुसने की ही बात कही थी, पर जानें क्यों वह 'डाकू-डाकू' चिल्लाते, बौखलाये से आँगन में भाग आये। भाभी उन्हें पकड़कर घर में लानेवाली ही थीं कि तब तक बाबूजी भी चिल्लाते हुए अपने घर से निकलकर आँगन में भागे, फिर लोग जमा

होने लगे। अब भाभी आये तो कैसे ?"

महावीरजी उबले—"झूठी है शैतान ! आप तो 'बाप-माँ' चिल्लाती भागी और मुझे बेवकूफ बना रही है ! सुनिये साहब···"

दारोगाजी धैर्य-च्युत होकर बोल उठे—"माफ कीजिये, एक तो आपने मुफ्त में इस जाड़े की रात में कुत्ते जैसे एक मामूली जानवर के लिए घण्टों हैरान किया। अब हम घण्टे-भर खड़े-खड़े आपके सारे कुनबे की सफाई सुनें। सुनिये, मेहरबानी करके अब ऐसा फिजूल का गुलगपाड़ा मचाकर मुहल्लेवालों के साथ ही मुझे भी तंग करने की अक्लमन्दी कभी न कीजियेगा, वर्ना मैं आप सब लोगों का चालान दे दूँगा, फिर वहीं डाकू पकड़ते रहियेगा। समझे !"

तीनों बाप-बेटे लज्जा से जमीन में गड़े जा रहे थे। लोग भी इनके परिवार की बुद्धिमत्ता की आलोचना, प्रत्यालोचना करते अपने-अपने घर चले। बन्दे ने भी घर की राह ली। मेरा तो गुस्से से यह हाल हो रहा था कि इन सारे खप्तुलहवासों का मुँह नोच लूँ ! घर का घर पागल ! इन मूर्खराजों की अकल में यह बात भी न आई कि डाकू हल्ला होते ही भाग खड़े होंगे या इतनी आसानी से घर में बन्द हो जायँगे ?

घर में पैर रखते ही देवीजी ने पूछा—"क्या हुआ ? पकड़े गये डाकू ?"

मैं—"हाँ।"

वह—"कितने थे ?"

मैं—"एक।"

वह चकित-सी होकर बोलीं—"सिर्फ एक डाकू और इतना हो-हल्ला !"

मैं—"और डाकू का हुलिया भी सुन लो—आबनूस का कुन्दा, चार पाँव, डेढ़ बित्ते की जीभ, 'गों-गों' की बोल !"

वह—"अजी, मजाक छोड़ो, सच बताओ क्या बात थी ?"

मैं—"कुछ नहीं, सिर्फ रामभरोसेसिंह का वह बड़का काला कुत्ता टिपुआ उनके भण्डार-घर में घुसा था, और इन अकल के दुश्मनों ने मारे चिल्लाहट के आसमान सिर पर उठा लिया। कहो, झूठमूठ इस जाड़े में तुमने मुझे कितना सताया !"

वह—"अजी, मैं क्यों सताती ! मैंने तो समझा बेचारे के घर डाका पड़ रहा है, एक टोले में रहने के नाते हमारा फर्ज था उनकी मदद करना। मैं क्या जानती थी, उनका घर पूरा पागलखाना है ! डाकू और कुत्ते की पहचान उन्हें नहीं है।"

मैं—"तुम्हारी ही तरह समझ रखनेवाली उनके घर की एक देवीजी के 'कृपा-काण्ड' का यह फल था कि सारा मुहल्ला ही नहीं, बेचारा थानेदार भी जाड़े की इस जालिम रात में, खुले आकाश के नीचे दो घण्टे तक 'कुण्डली का फल' मिटाता रहा।"

"अच्छा, रहने दो," कहती हुई वह बेचारी भी लज्जित-सी हो रहीं।

निन्न्यानवे का फेर

सुरेशसिंह

कुँवर सुरेशसिंह का जन्म सन् १९१० में कालाकांकर के प्रसिद्ध राजघराने में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा लखनऊ में हुई, इसके बाद आप काशी हिंदू विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये गये। काशी में आप स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद, श्री हरिऔध, श्री रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन आदि विद्वानों के संपर्क में आये और आपकी रुचि हिन्दी की ओर बढ़ी। आपने महात्मा गांधी द्वारा किये गये 'नमक-आंदोलन' में भी भाग लिया था जिसके फलस्वरूप आप छः महीने के लिये कारावास भेज दिये गये। जेल से लौटने पर साहित्य-सेवा में जुट गये। आपने 'कुमार' नामक बालोपयोगी मासिक-पत्र भी निकाला था। 'अधिकार', 'किसान' आदि कई पत्रों का संपादन किया। लेकिन अंत में आपने जीव-विज्ञान संबंधी साहित्य के निर्माण को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया और १९४० से इसी विषय के साहित्य की रचना में लग गये।

आप उत्तर-प्रदेश की विधान-परिषद् के सदस्य हैं।

रचनाएँ

'असली मुर्गाछाप', 'जीवों की दुनिया', 'जीवों की कहानी', 'हमारी चिड़िया', 'हमारे जानवर', 'जीव-जगत', आदि।

कालाकांकर, अवध

डाक्टर कहता गया—"...अरे आप तो रोने लगीं ! रोने से भला क्या होगा !..."

मेरी बीबी डाक्टर है। डिगरीयाफ्ता डाक्टर नहीं, बस योंही शौकिया कह लीजिए। या यों समझ लीजिए कि तफरीहन उन्हें डाक्टरी करने का एक खफ्त-सा है।

खैरियत यही है कि मरीज मैं ही अकेला हूँ, नहीं तो अभी तक उन्हें आदमी को जहर देने के जुर्म में कई बार फाँसी हो चुकी होती; लेकिन मैं ठहरा उनका एकमात्र पति, इसलिए मुझे उनके शौक को पूरा करने के लिए जिन्दा रहकर उसी तरह का मरीज बन जाना पड़ता है जिसके बारे में वह किताबों में पढ़कर दवा करने की ख्वाहिश जाहिर करती हैं। रोग का जैसा लक्षण वह बताती हैं, मैं भी ठीक उन्हीं लक्षणों को अपने में बताता हूँ और जो दवा वह तजवीज करके देती हैं, मैं चुपके-से उसे फेंककर उन्हीं के कहने के मुताबिक दवा का असर बताकर अच्छा हो जाता हूँ। बस, इसी तरह उनकी डाक्टरी और हमारी बीमारी चलती रहती है।

बीबी साहिबा अब तो ऐलोपैथी यानी आजकल की डाक्टरी की कायल हैं, लेकिन पहले वह होमियोपैथी, हकीमी, वैद्यकी और न-जाने कौन-कौन-से तरीकों को आजमा चुकी हैं। ऐलोपैथी में भी अभी चीर-फाड़ का उन्हें शौक नहीं हुआ, नहीं तो ब्लेड और चाकू से अब तक घर के पालतू कुत्ते-बिल्लियों की चीर-फाड़ तो हो ही चुकी होती।

पहले उन्होंने होमियोपैथी से अपनी डाक्टरी की शुरुआत की। मेरे पड़ोस में ही एक घोष बाबू रहते थे, जो पेन्शन लेने के बाद घर में ही बैठकर गरीबों को मुफ्त दवा बाँटते थे। उनके मकान के सामने से बिना दवा खाए चिड़िया भी उड़कर नहीं जा सकती थी, आदमी की क्या मजाल! वह जिसे भी उधर से जाते देखते, बड़े प्यार से अपने पास बुलाते और उससे इधर-उधर की बातें करके उसमें कोई-न-कोई रोग निकाल ही लेते। मैं भी पड़ोसी होने के नाते दूसरे-चौथे उनके यहाँ पहुँच ही जाता था। मुझे देखते ही घोष बाबू कहते—"बेटा, आज तुम्हारी आवाज क्यों भारी-भारी-सी लग रही है? जान पड़ता है पेट साफ नहीं है? सवेरे सोकर उठने पर थकावट-सी जान पड़ती है न? अच्छा, तुम फिक्र न करो। बेटी पून्ना! ओ बेटी पून्ना! जरा सुरेश दा को ३० ब्राइनियाँ तो दे दो।" और मैं चुपचाप जबान बाहर निकाल देता, जिस पर थोड़ी-सी छोटी-छोटी चीनी की गोलियाँ शीशी ठोंक-ठोंककर गिरा दी जातीं।

भला ऐसा उस्ताद पाकर मेरी बीबी साहिबा बिना शागिर्दी किये कैसे रह सकती थीं! धीरे-धीरे घोष बाबू ने उन्हें बहुत-कुछ बता दिया और एक दिन मैंने देखा कि घर में एक लकड़ी का बक्स, जिसमें पचासों शीशियों में चींटी के अंडे की तरह की गोलियाँ

भरी हैं, पहुँच गया है। साथ ही आठ-दस किताबें भी, जिनमें रोगों का निदान और दवाओं की खूबियाँ दर्ज थीं, मेज पर रखी हैं।

मैं जानता था कि ये गोलियाँ मेरे ही ऊपर इस्तेमाल होंगी, और हुआ भी यही। घोष बाबू के यहाँ तो चौथे-पाँचवे इन्हें खाना पड़ता था, लेकिन यहाँ सवेरे-ही-सवेरे कोई-न-कोई रोग निकालकर नाश्ते की जगह मुझे ये चीनी की गोलियाँ मिलने लगीं।

एक दिन इत्तफ़ाक से सवेरे ही मेरे एक मित्र मुझसे मिलने आये। मैंने चाय मँगाई तो मालूम हुआ कि घर में चीनी नहीं है। बीबी साहिबा भी घोष बाबू के यहाँ बैठी थीं। बड़ी मुसीबत में पड़ गया। कोई सूरत न देखकर मैंने होमियोपैथी के बक्स की शीशियों की सारी गोलियाँ निकाल लीं और उन्हें पीसकर चीनीदानी में भर दिया, जिससे चीनी का मसला फिलहाल तो तै ही हो गया। बीबी साहिबा भी आई और चाय में शामिल हो गईं, लेकिन उन्हें पता न चला कि हम लोग आज चाय में ब्राइनियाँ, नक्स, एकोनाइट, चुजा, पल्सेटिला आदि मजे में पी रहे हैं।

दूसरे दिन जब उन्होंने अपनी दवाइयों का बक्स खोला तो बड़ा हाय-तोबा मचाया, लेकिन जब मैंने उन्हें बताया कि कल की चाय उनके इस जादू के बक्स की बदौलत ही इतनी अच्छी हुई तब पहले तो वह बहुत उछली-कूदीं, लेकिन इतना तो उन्हें विश्वास हो गया कि ये गोलियाँ वास्तव में चीनी के अलावा और कुछ नहीं है। इस प्रकार होमियोपैथी से हमारा पिंड छूटा।

मैंने सोचा कि चलो जान बची, लेकिन अधिक दिन नहीं बीतने पाये कि एक हकीम साहब की आमद-रफ्त हमारे यहाँ शुरू हुई। इनकी पैदाइश तो किसी जमाने में यहीं हुई थी, लेकिन इतनी उम्र-तक देश-विदेश की खाक छानने के बाद अब वह यहीं का कब्रिस्तान आबाद करने के लिए वापस लौट आये थे। उनकी ख्वाहिश थी कि गाँव में सरकार की ओर से एक सरकारी शफ़ाखाना खोल दिया जाये और उसमें उनको हकीम मुकर्रर कर दिया जाये, जिससे यहाँ के लोगों को भी जल्द अल्लामियाँ के घर का रास्ता देखने में सहूलियत हो जाये। आप इसी शफ़ाखाने की कोशिश के लिए रोज हमारे यहाँ हाजिरी देने पहुँचने लगे।

बीबी साहिबा को उन्होंने हिकमत के ऐसे-ऐसे किस्से सुनाए कि वह इनको खास हकीम लुकमान का वंशधर समझने लगीं। हकीम साहब की मदद से तरह-तरह के शरबत तैयार होने लगे और घड़ी-घड़ी हकीम साहब की तलाश होने लगी। कभी मुझे अंगूर की पत्ती की टाँग में कोई दवा दी जाती तो कभी मूली की पत्ती के अर्क में। दिन-भर इमामदस्ते में एक-न-एक नौकर कुछ कूटता ही रहता।

शरबत तक तो मुझे भी कोई आपत्ति न थी। लेकिन मूली का अर्क गले के नीचे न उतरता था। मैं इस मुसीबत से छूटने की तरकीबें सोचने लगा, लेकिन हकीम मलडल मौत की तरह सवेरे ही से आकर डट जाते थे। एक बार वह शीशी में कोई माजून लेकर आए। उसका काला रंग देखते ही मेरे होश उड़ गए। लेकिन बीबी

साहिबा ने उसकी तारीफ सुनी तो फौरन एक चम्मच में निकालकर मुझे चटा दिया। उसकी कड़ुवाहट से सारा सिर घूम गया। मैंने बेहोशी का बहाना किया और दम साधकर लेट गया। घर-भर में तहलका मच गया। कोई पंखा झल रहा है तो कोई सिर पर गुलाबजल छिड़क रहा है। हकीम साहब घर जा चुके थे। थोड़ी देर में मैंने आँख खोली तो बीबी साहिबा ने पूछा—"कैसी तबीयत है ?"

मैंने धीरे से कहा—"तबीयत तो अब ठीक है, लेकिन दवा वाकई बहुत तेज है। जान पड़ता है हकीम साहब के पास जरूर कोई लुकमानी नुस्खा है। इस दवा में यकीनन मेमिआई मिली हुई है।"

बीबी साहिबा ने पूछा—"मेमिआई क्या ?"

"मेमिआई नहीं जानतीं ?" मैंने कहा—"अरे मेमिआई तो पहले सभी बड़े हकीम बनाया करते थे। उसको बनाने के लिए किसी काले आदमी को उलटा टाँगकर उसके सिर में छेद कर दिया जाता है और उसके नीचे आग जलाकर एक तसला रख दिया जाता है। वह आदमी आग से तड़प-तड़पकर मर जाता है और उसके बदन का सारा अर्क सिर के छेद से टपक-टपककर तसले में भर जाता है। इसी अर्क को हकीम लोग मेमिआई कहते हैं और इसको बड़े-बड़े हकीम ही बना सकते हैं। आजकल तो कोई इसे बना ही नहीं सकता। यह तो बस पुश्तैनी हकीमों के यहाँ ही मिल सकती है।"

मेरी बीबी साहिबा ने घृणा से मुँह फेरकर कहा—"उँह, ऐसी गंदी चीज ये हकीम अपनी दवाओं में मिलाते हैं।" और उन्होंने उसी दम हकीम साहब की दवाओं को घर से बाहर फिंकवा दिया।

मैंने सोचा अब शायद शान्ति के दिन आ गए, लेकिन थोड़े ही दिनों में एक अशान्तिरूपी वैद्यराज हमारे यहाँ आ धमके। काला-सा स्थूल शरीर, बड़े-बड़े विशाल नेत्र, माथे पर त्रिपुंड, साक्षात् यमराज के स्वरूप ! सिर्फ भैंसे की जगह रिक्शे पर आते थे। एक लड़के की फीस माफ कराने के सिलसिले में हमारे यहाँ आए तो उन्होंने हमारी बीबी साहिबा पर आयुर्वेद का ऐसा रंग जमाया कि वह उन्हें साक्षात् धन्वन्तरि का अवतार समझने लगीं।

वैद्यराज ने मेरी नाड़ी देखकर वात, कफ और पित्त तीनों की अधिकता बताई और मेरे लिए तरह-तरह के पाक और रसायन तैयार होने लगे। पाक तो मुझे भी स्वादिष्ट लगा, लेकिन अदरख के रस के साथ चाटने के लिए जो दवा वैद्यजी ने दी, उससे मेरी खोपड़ी भन्ना गई। इस वैद्य-रूपी यमराज के पंजे से कैसे मुक्ति मिले, मुझे यही चिन्ता सताने लगी। मैंने एक दिन अपनी बीबी साहिबा से कहा—"आयुर्वेद पर मेरा भी विश्वास है, लेकिन जहाँ इसका चसका लगा नहीं कि फिर आदमी कंगाल ही हो जाता है।"

मेरी बीबी साहिबा ने पूछा—"यह कैसे ?"

मैंने कहा—"ये वैद्य लोग धीरे-धीरे घर-भर के सोना-चाँदी और मोती-मूँगे का भस्म बना डालते हैं; घर में एक जेवर भी इनके मारे नहीं बचने पाता।"

यह सुनते ही मेरी बीबी साहिबा के कान खड़ हुए और उन्होंने 'अक्लमंद को इशारा काफी है' वाली कहावत पर इस खूबी से अमल किया कि मुझे दुबारा कहने की जरूरत न पड़ी और वैद्यजी की पतंग कट गई।

मैंने सोचा कि अब मेरे भाग्य में शान्ति और सुख की गंगा-यमुना का संगम लिखा है, लेकिन अभी दिल्ली दूर थी। मेरे गाँव के अस्पताल के जो नए डाक्टर आगरे से आये थे, वह हमारी बदकिस्मती से इतने मिलनसार निकले कि अस्पताल से निकलते ही वह सीधे ही हमारे यहाँ पहुँच जाते। घर के अकेले आदमी, सीधे कालिज से निकले हुए। मेरे यहाँ रेडियो और अखबार के लालच में शाम को पहुँचते तो फिर देश-भर के सारे रेडियो-स्टेशनों के बन्द होने पर ही घर लौटते। मेरे यहाँ वह जब तक रहते तब तक या तो मेरा रेडियो खोले रहते या फिर उनका खुद का रेडियो खुल जाता और फिर किसकी मजाल जो उनकी बात काट सके। लेकिन डाक्टर साहब की बातों का विषय एक ही रहता कि एलोपैथी चिकित्सा सबसे अच्छी होती है और बाकी सब तरीके ठगने के ढंग हैं।

वह अपनी बातों के सिलसिले में और अपने कथन को सत्य साबित करने के लिए आजकल की सभी प्रसिद्ध दवाइयों का गुण-गान रोज एक-दो बार तो कर ही डालते थे। उनका रंग मेरी बीबी साहिबा पर सबसे जल्दी और गहरा चढ़ा। इन्जेक्शन से फौरन फायदा होते सभी ने देखा है। इससे सहल और आसान चीज उन्हें और कोई न लगी—न इमामदस्ते की जरूरत और न करमबीख की। एक पतली-सी इन्जेक्शन की पिचकारी कैसा जादू दिखाती है कि बड़े-बड़े वैद्य और हकीम उसके आगे पानी भरें।

उन्होंने डाक्टर साहब से सलाह करके दो-तीन साइजों की सीरेन्ज मंगा लीं और साथ ही जितनी किस्म की दवाइयाँ मिल सकीं वे भी धीरे-धीरे घर पर पहुँच गईं। मेरे रोज इन्जेक्शन लगने लगे—कभी मिल्क का तो कभी विटामिन बी का। जरा-सा चलने में साँस फूली तो 'हार्ट अटैक' का शुबहा करके कोरामिन की सुई लगा दी गई, और बदन में चींटी के काटने का भी दर्द हुआ तो मारफिया की सुई लगाकर मुझे सुला दिया गया। इस प्रकार महीने-भर में ही मेरी बीबी साहिबा बिना किसी का प्राण लिए इन्जेक्शन लगाने में माहिर हो गईं। इतना जरूर हुआ कि मेरी दोनों बाँहें झाँझर हो गईं और उन पर तिल रखने की कौन कहे, सुई की नोक के लिए भी जगह न रह गई।

मैंने सोचा शायद मेरी बीबी साहिबा को अब दया आ जाएगी, लेकिन अगर डाक्टर दया दिखाने लगें और मरीज अपनी मनमानी करने लगें तो फिर शायद ही कोई अच्छा हो। इसीलिए मैंने भी इनका उत्साह-भंग करना उचित नहीं समझा। धीरे-धीरे जब इन्जेक्शन की सब तरह की दवाइयाँ मेरे ऊपर इस्तेमाल की जा चुकीं तब इधर की नई ईजाद दवाओं का नम्बर आया। जरा-सी छींक आ गई तो कोई-न-कोई 'माइसीन' खिला दी जाती। स्टेप्टो माइसीन की शीशियों को बहुत ही खूब-

सूरत देखकर मैं भी चाहता था कि जल्दी ही वे खाली हों तो तम्बाकू रखने के लिए इस्तेमाल करूँ। इससे शीशियों के लालच में पहले तो मैं भी इन्हें जल्दी-जल्दी खा गया, लेकिन उनकी तेजी देखकर मेरा जी उनसे काँपने लगा। पर इतनी आजादी तो थी नहीं कि बीमार होकर पड़ा रहूँ जब कि घर ही में एक बड़े ऊँचे दरजे का डाक्टर मौजूद हो।

एक दिन रात को ज्यादा देर जागने की वजह से सवेरे उठा तब तबीयत कुछ भारी-भारी-सी जान पड़ी। मेरी बदकिस्मती ही समझिए कि मुँह से निकल गया—"आज कुछ तबीयत भारी-भारी-सी लग रही है।" बस फौरन मेरे मुँह में थर्मामीटर लगा दिया गया। टेम्परेचर ९९ डिगरी निकला। इतना टेम्परेचर मेरी बीबी साहिबा को बदहवास कर देने के लिए काफी था। मुझे फौरन चाय पीकर बिस्तर पर लेट जाने का हुक्म मिल गया और अस्पताल से टेम्परेचर का चार्ट मँगाकर मेरे सिरहाने टाँग दिया गया। जब दस बजे टेम्परेचर लिया गया तब फिर ९९ डिगरी निकला। दो बजे फिर जब टेम्परेचर लिया गया तब भी वही ९९-का-९९ ही निकला।

मैंने बीबी साहिबा को समझाया कि रात में जगने की थकावट से थोड़ा टेम्परेचर हो गया है; यह अपने-आप ही ठीक हो जाएगा। लेकिन वह ऐसा मरीज पाकर उसे अपने चंगुल से इतनी जल्दी भला कैसे निकल जाने देतीं! शाम को जब डाक्टर साहब आये तब उनसे घण्टों राय-मशविरा हुआ और कई मोटी-मोटी किताबें देखने के बाद यह तय हुआ कि यह थोड़ा-सा टेम्परेचर बहुत ही खतरनाक होता है। अभी कहा नहीं जा सकता कि यह मलेरिया है या इन्फ्लूएन्जा। टाइफाइड भी हो सकता है और, परमात्मा न करे, यह टी॰ बी॰ की शुरुआत भी हो सकती है। इसलिए इसके लिए कम-से-कम एक सप्ताह तो पूरी तरह आराम करना चाहिए और टेम्परेचर किस ओर जाता है, इसे गौर से देखना चाहिए। लिहाजा मैं एकदम मरीज बनाकर चारपाई पर लिटा दिया गया और दिन में पाँच बार मेरा टेम्परेचर लिया जाने लगा।

एक ही दिन आराम करने पर मेरी तबीयत में जो थकावट और भारीपन था, वह चला गया लेकिन फिर भी न-जाने क्यों मेरा टेम्परेचर वही ९९-का-९९ ही बना रहा।

सात दिन तक यह क्रम चलता रहा। मैं बहुत स्वस्थ और तन्दुरुस्त था, लेकिन मेरा टेम्परेचर ९९ से नीचे नहीं उतरता था और एक सप्ताह बीत जाने पर भी जब वह ९९ से कम न हुआ तब मुझे भी फिक्र होने लगी। वैसे जाहिरा कोई घबराने की वजह नहीं दिखाई देती थी, लेकिन फिर भी कभी-कभी यह चिन्ता जरूर सताने लगती थी कि क्या वजह है कि टेम्परेचर न तो ९९ से आगे बढ़ता है और न पीछे घटता है। मेरी बीबी साहिबा को तो पूरा यकीन हो गया कि मुझे टी॰ बी॰ हो गई है। वह मुझे लेकर लखनऊ चली आईं और वहाँ मेरा सबसे मिलना-जुलना बन्द कर दिया गया। दोस्त लोग आते तो उन्हें मेरी बीबी साहिबा कोई-न-कोई बहाना बताकर उलटे पाँवों लौटा देतीं। कोई बड़े बुजुर्ग आ जाते तो उनसे बड़ी

आजिजी से कहतीं—"डाक्टरों ने थोड़ा भी बोलने के लिए मना किया है, लेकिन आइये देख लीजिये।"

और वह मेरे पास बैठने भी न पाते कि बीबी साहिबा उन्हें आरजू-मिन्नत करके मेरे पास से हटा ले जातीं। इस प्रकार मैं एकदम टी० बी० का मरीज करार दे दिया गया और मेरी तीमारदारी भी उसी ढंग से होने लगी।

मैं भी अजीब उलझन में पड़ा था कि क्या बात है जो मेरा टेम्परेचर डेढ़ महीना हो जाने पर भी ९९ से नीचे नहीं उतर रहा है। चौबीसों घण्टे जब थर्मामीटर लगाइये टेम्परेचर वही ९९ आता है। मैं इस ९९ के फेर में ऐसा फँस गया था कि कुछ समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ, क्या न करूँ।

इस समय मुझे एकाएक अपने मित्र डाक्टर कोहली की याद आई जो मेरे साथ कालिज में था और अब डाक्टरी पास करके आठ-दस साल से अल्मोड़े में डाक्टरी करता था। वह खास तौर पर टी० बी० के मरीजों का ही केस लेता था और जो मरीज भुवाली के सेनीटोरियम में हालत ज्यादा खराब होने के कारण नहीं लिये जाते थे, वे डाक्टर कोहली का नाम सुनकर अल्मोड़े पहुँच जाते थे।

मैंने डाक्टर मित्रा को अपना पूरा हाल लिख भेजा और उससे प्रार्थना की कि वह जब लखनऊ आये तब मुझसे जरूर मिल ले। आठ-दस दिन में ही उसका उत्तर आ गया कि वह दस-पंद्रह दिन के भीतर ही लखनऊ आ रहा है।

मेरी बीबी साहिबा को भी डाक्टर कोहली के आने का समाचार सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई, लेकिन वह उसके बातूनीपन से बहुत ऊब जाती थीं। इस बार भी वह आकर कहीं मुझसे उतनी ही बातें न करे, इसका डर उन्हें पहले ही से सताने लगा। लेकिन किसी के डरने से पंजाबी भाई अपनी शोरगुल मचाने की आदत तो छोड़ नहीं देंगे, इससे वह मुझी को बार-बार ताकीद करने लगीं कि मैं डाक्टर को अपने कमरे में अधिक न बैठाऊँ। मुझे रोज अपने वायदे को दुहराना पड़ता, लेकिन उन्हें जैसे किसी तरह सन्तोष ही नहीं होता था।

खैर, किसी तरह वह दिन भी आ गया जब एक दिन सवेरे मुझे डाक्टर की आवाज बाहर सुनाई पड़ी, और दो ही चार मिनट में वह अपना सामान बाहर के बरामदे में रखकर मेरे कमरे में दाखिल हुआ।

"ओह हो! यह क्या तमाशा बना रखा है तुमने? इस तरह से आराम से लेटने को मिले तो भाई मैं तो जिन्दगी-भर बीमार बना रहूँ!" उसने कमरे में घुसते ही कहा। फिर इधर-उधर देखकर बोला—"अरे भाभी नहीं दिखाई पड़ती! कहाँ गईं इतने सवेरे? कुछ चाय वगैरह मिलेगी या घर में सभी लोग बीमार हैं?"

मैंने उसे कुरसी दिखाते हुए कहा—"अरे यार बैठो तो! तुम आये नहीं कि सारे घर में जैसे भूचाल-सा आ गया। हाथ-मुँह तो धो लो। भाभी डाक्टर साहब के यहाँ गई हैं, आती ही होंगी।"

मैंने नौकर को पुकारकर उसका सामान कमरे में रखने और चाय तैयार

करने को कहा।

डाक्टर ने कहा—"मैं हाथ-मुँह धो लूँगा। लाओ, जब तक चाय आती है तब तक तुम्हें एक्जामिन ही कर डालूँ। इस तरह चुपचाप चारपाई पर पड़े रहोगे तो टी० बी० न होगी तो भी हो जाएगी।"

यह कहकर पहले उसने मेरा टेम्परेचर-चार्ट गौर से देखा और फिर नौकर को पुकारकर अपना अटैची-कैस लाने को कहा।

"जरा टेम्परेचर देख लूँ और तुम्हारा चेस्ट एक्जामिन कर लूँ तब तुम्हारी बीमारी का पता चले," मेरी तरफ देखकर उसने कहा।

मैंने कहा—"तो मुझसे क्यों नहीं कहा ? थर्मामीटर तो यहीं है। नौकर शायद बाहर गया है।" यह कहकर मैंने अपना थर्मामीटर सिरहाने से निकालकर उसे दे दिया।

डाक्टर ने थर्मामीटर उतारकर मेरे मुँह में लगाया और दो-तीन मिनट बाद जब उसने बाहर निकालकर देखा तो टेम्परेचर वही ९९ था। इतने में नौकर डाक्टर का अटैची-केस लाकर कमरे में रख गया।

डाक्टर ने एस्थैटिसकोप निकालकर मेरी छाती और पीठ की अच्छी तरह जाँच की और फिर अपने थर्मामीटर से मेरा टेम्परेचर लिया। मैंने टेम्परेचर जानने की कोशिश नहीं की, क्योंकि पाँच ही मिनट में बिना कोई दवा खाये सिर्फ डाक्टर के छू देने से तो टेम्परेचर डाउन नहीं हो जायेगा। डाक्टर ने भी थर्मामीटर देखकर कुछ नहीं कहा और उसे धोकर अपनी जेब में रख लिया।

"अच्छा जी, तो अब जरा हाथ-मुँह धो लूँ। चाय आती ही होगी। कल शाम से कुछ खाने को नहीं मिला। पेट में चूहे ही नहीं बिल्लियाँ भी कूद रही हैं।" यह कहकर वह गुसलखाने की ओर चला गया।

चार मिनट में हाथ-मुँह धोकर वह जल्दी ही कमरे में लौट आया और चाय के लिए हल्ला मचाने लगा। इसी समय मेरी बीबी साहिबा डाक्टर के यहाँ से लौटीं। मेरे कमरे में इतना हो-हल्ला सुनकर वह घबराई हुई सीधे वहीं आ पहुँचीं।

डाक्टर ने उन्हें देखते ही कहा—"नमस्ते जी, आप ही का इन्तजार कर रहा हूँ। मारे भूख के अब जबान नहीं खुल रही है। यह ठहरे बीमार आदमी, आप सवेरे ही से गायब हैं और रह गया आपका नौकर, वह तो चिड़ियाखाने में रखने के काबिल है। एक घण्टे से चिल्ला रहा हूँ, लेकिन चाय का पता नहीं। जान पड़ता है कि चाय की पत्तियाँ तोड़ने वह आसाम चला गया। अब आप ही जरा तकलीफ कीजिए, नहीं तो एक चारपाई मेरे लिए भी भाई साहब के बगल में लगवानी पड़ेगी।"

बीबी साहिबा ने कई बार बीच में रोकने की कोशिश की, लेकिन पंजाब मेल कहीं छोटे-मोटे स्टेशनों पर रुकती है ! वह लाचार चाय का इन्तजाम करने चली गईं, जिससे डाक्टर का मुँह किसी तरह बन्द किया जा सके। थोड़ी ही देर में मेज पर चाय आ गई और वह वहीं डाक्टर को चाय पीने के लिए बुला ले गईं।

खाने के कमरे में डाक्टर को अकेला पाकर उन्होंने कहना शुरू किया—"डाक्टर साहब, इन्हें यहाँ के डाक्टरों ने एकदम रेस्ट लेने को कहा है। बोलने तक की सख्त मनाही कर दी है उन लोगों ने। साथ-ही-साथ यह भी मुझसे कह गये हैं कि कोई दूसरा भी इनके कमरे में अधिक न बोले, नहीं तो इनकी हालत ज्यादा खराब हो सकती है। फिर आप तो खुद ही इतने मशहूर डाक्टर हैं। आप खुद ही सब-कुछ समझते होंगे। फिर भी मैंने कहा कि आपको यहाँ के डाक्टरों की राय बता दूँ।"

लेकिन डाक्टर नाश्ते की सफाई में इतना मशगूल था कि उसने बीबी साहिबा के समझाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया और चाय पीने के बाद उनकी ओर मुखातिब होकर कहा—"हाँ भाभी, अब आत्मा सन्तुष्ट हो गई। अब आइये, काम की बातें हों, क्योंकि मुझे आज ही शाम को अल्मोड़े लौट जाना है।"

"तो चलिये पहले उनको ठीक से एक्जामिन तो कर लीजिये, लेकिन परमात्मा के लिए उनके कमरे में ज्यादा शोर न मचाइयेगा।"

डाक्टर ने कहा—"मैंने आते ही उनकी अच्छी तरह जाँच कर ली है। रोग अपनी जड़ अच्छी तरह जमा चुका है। उनको कम-से-कम एक साल से हलका-हलका टेम्परेचर रहता रहा होगा। लेकिन किसी को इसका पता भी न चला होगा। टेम्परेचर का साल-भर से बराबर ९९ रहना बहुत ही ज्यादा खतरनाक होता है। यह तो भीतर-ही-भीतर आदमी को भून डालता है और उसको इसका पता भी नहीं चलता कि वह एकदम खोखला हो गया है। दस वर्ष में मुझे सिर्फ दो केस ऐसे मिले हैं और यह तीसरा केस भाई साहब का मेरे सामने है। अब आपसे छिपाना क्या! इसकी कोई दवा अभी तक ईजाद नहीं हुई है। इसमें तो 'जब तक साँसा तब तक आसा' बस इसी पर भरोसा करना चाहिए।"

डाक्टर कहता गया—"लेकिन आप घबराएँ नहीं। मैं कोई बात उठा नहीं रखूँगा। अरे, आप तो रोने लगीं! रोने से भला क्या होगा! अब तो जी कड़ा करके मेरी सब बातें आपको शान्ति से सुननी चाहिएँ।"

मेरी बीबी साहिबा ने आँसू पोंछते हुए कहा—"डाक्टर, आप किसी तरह इनको बचने का उपाय करें। रुपए-पैसे की कोई परवाह न करें। मैं घर बेचकर इनकी दवा करूँगी।"

डाक्टर ने कहा—"भाभीजी, आप घबराएँ नहीं, सब ठीक हो जाएगा। पहले आप मेरी बात तो ठंडे दिल से सुन लें। मैं आपसे कुछ ऐसी बातें कहने जा रहा हूँ जिन पर आप क्या किसी पढ़े-लिखे आदमी को यकीन न आयेगा। लेकिन यदि आप मेरे साथ दस साल तक पहाडों और जंगलों में रही होतीं तो आप भी आज इन बातों पर मेरी तरह विश्वास करने के लिए मजबूर हो जातीं।

"भाभीजी, मैं टी० बी० के लिए क्यों इतना मशहूर हो गया हूँ, इसका भेद कोई नहीं जानता। मैंने ऐसे-ऐसे केस अच्छे किये हैं, जिन्हें बड़े-बड़े डाक्टरों ने दस दिन चलना गैर-मुमकिन बताया था। लेकिन यह सब इन अंग्रेजी दवाइयों से नहीं, बल्कि

अपने देश की जड़ी-बूटियों से सम्भव हुआ। लेकिन आज पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी दवाओं और इन्जेक्शनों को ही सब-कुछ समझते हैं। इसलिए मैं भी ऊपर से अंग्रेजी बाना बनाये रखता हूँ। लेकिन मेरी सारी डाक्टरी अपने देश की जड़ी-बूटियों पर ही चलती है।

"अब आपसे छिपाना ही क्या, भाभी। एक बार अल्मोड़े में एक महात्मा आये। कोई उनकी उम्र दो सौ साल तो कोई तीन सौ साल की बताता था। बड़े ही सिद्ध महात्मा थे। लोगों को मिट्टी उठाकर दे देते थे तो बड़े-से-बड़ा रोग अच्छा हो जाता था। मैं भी उनके दर्शनों को गया और उनका चमत्कार देखकर मुग्ध हो गया। मैं फिर घर न लौटा और उनके साथ हो लिया। उन्होंने हर तरह से पीछा छुड़ाना चाहा, लेकिन मैंने अस्पताल में अपना इस्तीफा भेज दिया और तीन वर्ष तक उनके साथ बरफिस्तान में रहा। मेरी लगन देखकर वह मुझसे बहुत खुश हो गये और उन्होंने मुझे दो-चार जड़ी-बूटी दिखाकर कहा—'जा बेटा, इन जड़ी-बूटियों से तेरा बड़ा यश फैलेगा और तेरे पास आकर क्षय का कोई रोगी निराश होकर नहीं जायेगा !'

"मैं उनसे विदा लेकर अल्मोड़े लौट आया और तब से वहीं अपना काम करता हूँ। लेकिन भाभीजी, ऐसी टी० बी० जैसी भाईजी को हुई है, उसकी कोई दवा नहीं है।"

मेरी बीबी साहिबा की आँखें फिर आँसुओं से डबडबा आईं। डाक्टर ने फिर अपनी बातों की तूफान मेल छोड़ दी—"अजी, आप मेरी सब बातें तो पहले सुन लीजिए। मैं उन महात्मा को भला कहीं छोड़ सकता था ! मैंने इसका भी उपाय उनसे पूछा, लेकिन उन्होंने इसकी कोई दवा मुझे नहीं बताई, बल्कि एक मंत्र मुझे बताया और कहा कि इस मंत्र से कोई भी आदमी रोगी का रोग अपने ऊपर ले सकता है। आपने हिस्ट्री में पढ़ा ही होगा कि बाबर ने अपने बेटे हुमायूँ का रोग अपने ऊपर इसी तरीके से ले लिया था।

"लेकिन भाभीजी, मैंने अभी किसी के ऊपर इसकी आजमाइश नहीं की, क्योंकि तब से मुझे कोई ऐसा केस ही नहीं मिला और फिर कौन अपनी जान देकर दूसरे की जान बचाता है !"

मेरी बीबी साहिबा ने फौरन कहा—"डाक्टर, मैं तैयार हूँ। अगर मेरी जान देकर इनकी जान बच जाए तो मैं हर तरह से तैयार हूँ। आप आज ही अपने मंत्र की परीक्षा करें।"

डाक्टर ने कहा—"यह नहीं हो सकता, जी। मेरे लिए तो जैसे भाईजी हैं वैसे ही आप हैं। दो में से एक न रहेगा तो सारा घर चौपट हो जाएगा। मैं अकेला आदमी हूँ—आगे नाथ न पीछे पगहा। फिर मैं डाक्टर भी हूँ और तन्दुरुस्त भी हूँ। मेरा यह रोग जल्दी कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। मैं इसे एक मुद्दत तक दवाओं के जोर से अपने शरीर में पाले रह सकता हूँ। इसके अलावा एक दोस्त के नाते मेरा भी तो कोई फर्ज है"

बीबी साहिबा ने कहा—"नहीं डाक्टर, यह किसी तरह नहीं हो सकता। आप मुझे यह मंत्र जल्दी ही बता दें।"

"लेकिन अब तो जो कुछ होना था वह हो गया।" डाक्टर ने मुसकराकर कहा—"मैंने आते ही भाईजी को देखा और उनका रोग अपने ऊपर ले लिया। मुझे खुशी है कि उन महात्मा का मंत्र सच्चा निकला। आपको यकीन न हो तो आप भी देख सकती हैं।"

यह कहकर उसने हमारा थर्मामीटर अपने मुँह में लगा लिया और थोड़ी देर बाद जब उसे मुँह से बाहर निकाला तब सचमुच उसमें ९९ डिगरी टेम्परेचर था।

"अब आइए भाभीजी, चलकर भाईजी को भी देख लीजिए।" डाक्टर ने कुरसी से उठते हुए कहा और वे दोनों मेरे कमरे में आकर कुरसियों पर बैठ गए।

डाक्टर ने मेरा थर्मामीटर जूठा होने की वजह से अपना थर्मामीटर उतारकर मेरी बीबी साहिबा को दिया और मेरा टेम्परेचर लेने को कहा।

मेरी बीबी साहिबा ने काँपते हुए हाथों से मेरे मुँह में थर्मामीटर लगा दिया। दो-चार मिनट गुजरने के बाद डाक्टर ने कहा—"अब भगवान का नाम लेकर देखिए तो कितना टेम्परेचर है?"

बीबी साहिबा ने थर्मामीटर निकालकर देखा तो टेम्परेचर एकदम नारमल था। मारे खुशी के उनकी आँखों से आँसू निकल पड़े। उन्होंने बड़ी कृतज्ञता की दृष्टि से डाक्टर की ओर देखा।

डाक्टर उठकर अपने कमरे में कपड़े बदलने चला गया तब मेरी बीबी साहिबा ने मुझसे सारी बातें बताकर कहा—"यह आदमी नहीं देवता है। ऐसे सच्चे दोस्त भला किसको नसीब होते हैं।" और वह तब तक उसी का गुण-गान करती रहीं जब तक वह कपड़े बदलकर मेरे कमरे में वापस नहीं आ गया।

डाक्टर ने कमरे में आते ही मुझे खींचकर चारपाई से बाहर किया और कहा, "उठो जी, तुमको भी खामख्वाह बीमार बनने का शौक है। इतनी अच्छी बीबी पा गये हो, इसी से दिन-भर चारपाई पर आराम करना सूझता है। जाओ, जल्दी कपड़े बदलकर तैयार हो जाओ। आज बाहर किसी बढ़िया होटल में भाभीजी ने दावत खिलाने को कहा है। अल्मोड़े में पहाड़ियों के हाथ का कच्चा-पक्का खाना खाते जी भर गया। फिर भाभीजी की तरह कोई होशियार घरवाली भी तो नहीं मिली कि खूब बढ़िया-बढ़िया खाना पकाकर खिलाती।"

मैं चुपचाप उसके हुक्म के मुताबिक कपड़े बदलने चला गया। दो महीने चारपाई पर लेटे-लेटे जी ऊब गया था। चारपाई से उतरा तो जान पड़ा जैसे शरीर में नया जीवन आ गया है।

हम लोग दोपहर को हजरतगंज के एक नये रेस्ट्राँ में खाना खाने गये। वहाँ से बाहर निकलकर डाक्टर ने कहा—"भाभीजी, आज बहुत दिनों बाद पेट भरकर खाना मिला है। आज की दावत के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद! भगवान

करे जल्दी ही फिर इसी तरह की दावत हो और मैं नये मुन्ना के लिए अल्मोड़े से खिलौने लेकर मुबारकबाद देने आऊँ।"

बीबी साहिबा ने शरमाकर सिर झुका लिया, लेकिन उनकी आँखें तो अनुग्रह के भार से पहले ही से झुकी हुई थीं।

डाक्टर अपने मित्रों से मिलने के लिए शाम तक की छुट्टी माँगकर एक ओर चला गया और हम लोग घर लौट आये।

शाम होते ही डॉक्टर वापस आया और अपना सामान वगैरह ठीक करने लगा। मेरी बीबी साहिबा ने उसे दो-एक दिन और रोकना चाहा, लेकिन वह किसी प्रकार राजी न हुआ, क्योंकि उसे कुछ मरीजों को दूसरे ही दिन इन्जेक्शन देना था।

हम लोग उसे पहुँचाने स्टेशन तक गये। जब ट्रेन छूटने लगी तब उसने एक बन्द लिफाफा मेरी बीबी साहिबा को देकर कहा—"भाभीजी, इसे घर पर इतमीनान से पढ़ियेगा। इसमें आपके लिए और भाईजी के लिए कुछ जरूरी बातें नोट कर दी हैं।"

घर आकर बीबी साहिबा ने लिफाफा खोला तो उसमें एक पत्र निकला जो इस प्रकार है—

श्रीमती भाभीजी,

नमस्ते।

मुझे बहुत अफसोस है कि आज आपसे बहुत झूठ बोलना पड़ा, लेकिन बिना झूठ बोले न तो मजा ही आता और न मजेदार दावत ही मिलती। दरअसल भाईजी को कोई बीमारी नहीं थी। वह तो बस निन्यानवे के फेर में पड़ गये थे। आपके पास जो जापानी थर्मामीटर है, वही इनकी बीमारी का जिम्मेदार है। उसे आप चाहे जिसे लगाकर देखिये, हमेशा नारमल की जगह उसमें ९९ डिगरी ही आयेगा। मैंने इसकी जाँच सवेरे ही कर ली थी और भाईजी का टेम्परेचर भी अपने थर्मामीटर से नारमल पा लिया था। लेकिन चूँकि आप दवाइयों और डाक्टरों के चक्कर में बहुत ज्यादा रहती हैं, इससे मुझे मजाक करने की सूझी और मैंने आपसे योगी, महात्मा और मन्त्र के किस्से गढ़कर सुना दिये और उससे अपना टेम्परेचर ९९ और अपना थर्मामीटर भाईजी को लगाकर उनका टेम्परेचर नारमल दिखा दिया।

इस मजाक के लिए माफी चाहता हूँ। लेकिन नये मुन्ना की बात मजाक नहीं है। उसके लिए भाईजी खुद ही मंत्र जानते हैं।

आपका, डाक्टर

पत्र पढ़कर मेरी बीबी साहिबा ने उसे मेरे ऊपर फेंककर कहा—"बड़ा शैतान है! इस बार आयेगा तो इसका बदला लूँगी।"

और उस दिन से मुझे बीमारी से और बीबी साहिबा को डाक्टरी से छुट्टी मिल गई।

साहित्यकार का अन्त

स्वदेशकुमार

●

श्री स्वदेशकुमार का जन्म सन् १९२१ में मेरठ में हुआ था। जन्म का नाम परमेश्वरप्रसाद सक्सेना है। शिक्षा-काल में ही हिन्दी और अंग्रेजी में लिखने लगे थे। प्रोफेसर बनने का विचार था, पर १९४२ के राष्ट्रीय-आंदोलन में भाग लेने के फलस्वरूप जब कारागृह से छूटकर आये, तो परिस्थितियों ने पत्रकार बना दिया।

१९४६ में हिन्दी की लोकप्रिय मासिक पत्रिका 'सरिता' के सह-सम्पादक नियुक्त हुए। आजकल भी वहीं हैं। इस बीच अनेक कहानियाँ, लेख और नाटक लिखे, जो प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। रंगमंच से विशेष प्रेम है।

आर० १९, हौज़ खास एंक्लेव, नई दिल्ली-१६.

"छपाई अच्छी है, कागज भी कीमती है, पर मूल्य कुछ अधिक है···"

यदि मैं आपको उनके विषय में कुछ नहीं बताता हूँ, तो आपको अपनी मृत्यु-शैया पर सबसे बड़ा पश्चात्ताप यही होगा कि आपने एक महान् साहित्यिक का परिचय प्राप्त किए बिना ही अपना शरीर त्याग दिया, और कहीं आपको इस हेतु दूसरा जन्म न लेना पड़े।

वैसे तो जन्म-पत्री में उनका नाम 'ख' से निकला था। पण्डितजी ने कहा कि 'ख' से 'खरदूषण' आदि कोई भी नाम गुणों के अनुसार रखा जा सकता है। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् उनका नाम खचेड़ू रख दिया गया।

लेकिन जब खचेड़ूजी को कुछ तमीज आई और उन्हें अपने वास्तविक गुण और व्यक्तित्व का आभास मिलने लगा, तो अपने माता-पिता की मूर्खता और अदूरदर्शिता पर बहुत झुंझलाए। उन्होंने अपना नया संस्करण निकाला और स्वयं को पंडित लक्ष्मीशंकर 'उलझन' के कवितामय नाम से प्रसिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे। यह नाम उनके समस्त गुणों का परिचायक था, जैसा कि इसकी संधि करने से स्पष्ट हो जायेगा।

लक्ष्मी की वह उठते-बैठते पूजा करते थे, यद्यपि उसके वरदान से अभी अछूते ही थे। शंकर के समान भोले लगते थे और अपना जीवन उन्हें एक न सुलझनेवाली उलझन प्रतीत होता था, जैसा कि प्रत्येक दार्शनिक को लगता है।

किन्तु उनको पूरा नाम लेकर कोई नहीं पुकारता था। जिसकी जैसी श्रद्धाभक्ति होती थी, वह उन्हें वही कहता था। कोई प्रेमी केवल लक्ष्मी ही कहता था—और फिर धीरे से मुसकरा पड़ता था। इस सम्बोधन से वह न-जाने क्यों किसी कोमलांगिनी के समान शर्म से लाल हो जाते थे और पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदने लगते। दृष्टि भी नीचे किए रहते। शंकर कहनेवाले कुछ ऐसे अन्दाज से उन्हें बुलाते जैसे अपने पुराने नौकर को पुकार रहे हैं, और शंकरजी दुम हिलाने लगते। 'उलझन' सुनकर उन्हें बहुत गर्व होता और वह एक कुशल अभिनेता की तरह उलझन की साकार मूर्ति बन जाते।

बाल वह बाब कट रखते थे—इसलिए नहीं कि उन्हें विलायती मेम बनने का शौक था, बल्कि इसलिए कि ऐसे बाल कवियों की सबसे बड़ी पहचान होती है। आँखें इतनी छोटी थीं कि लगता था कि बाहरी दुनिया के बजाए अपने शरीर में वास करनेवाली आत्मा का दर्शन करना चाहती हैं। बाल कम उमर में ही सफेद हो जाने के कारण चेहरे के श्याम वर्ण से मिलकर प्रकाश और छाया का अच्छा कंट्रास्ट पैदा करते थे, और उनका फोटो खींचने में अनाड़ी-से-अनाड़ी फोटोग्राफर को भी कोई दिक्कत नहीं होती थी। जब वह पान खा लेते, तो उनका मुख टेकनीकलर का मजा

देने लगता। यदि हवा का झोंका आ जाए, तो वह सड़क की बाईं ओर चलते-चलते उड़कर दाईं ओर पहुँच जाते थे।

उनकी शिक्षा-दीक्षा सबके लिए एक रहस्य थी। इस सम्बन्ध में कई दन्त-कथाएँ प्रचलित थीं। कोई उन्हें गुरुकुल का स्नातक समझता, तो कोई किसी यूनिवर्सिटी का ग्रेजुएट! कोई मसखरा उन्हें केवल जामा-मस्जिद तक ही पढ़ा हुआ बताता। लेकिन वह अपने को रिसर्च स्कॉलर बताते थे। उनकी गंभीर मुद्रा और मोटे शीशे के चश्मे को देखकर लोगों को विश्वास करना ही पड़ता था।

एक दिन मैं उनसे पूछ ही बैठा कि वह किस विषय पर रिसर्च कर रहे हैं। मेरा प्रश्न सुनकर पहले तो उनका रंग पीला पड़ गया, फिर एकदम लाल हो उठा। क्रोध का पारा ११० डिग्री पर चढ़ाकर (गर्मी से चश्मे का शीशा पिघलते-पिघलते बचा) चश्मे के ऊपर से झाँकते हुए बोले—

"आपने मुझे क्या समझ रखा है? मैं विषय-वासना पर रिसर्च क्यों करूँ? यह कोई शरीफों का काम है!"

मैंने स्थिति की गंभीरता समझकर कहा—"मेरा यह अर्थ नहीं था। मैं तो पूछ रहा था कि आप विज्ञान, इतिहास, गणित आदि किस पर रिसर्च कर रहे हैं?"

"अजी, यह सब बकवास है! दुनिया में सिरफिरे लोग क्या कम हैं, जो मैं इन पर रिसर्च करूँ?"

"तो फिर आप किस पर कर रहे हैं?" मैंने उत्सुक होकर पूछा।

"अजी जनाब, मैं तो इस बात पर रिसर्च कर रहा हूँ कि मैं रिसर्च करूँ या न करूँ?"

मैं निरुत्तर हो गया।

कुछ दिन पश्चात् मैं उनकी प्रगति जानने के विचार से उनके यहाँ गया, तो दूर से ही उन्हें किसी मोटी-सी पुस्तक पर कुछ इस स्थिति में झुके हुए देखा, जैसे प्राइमरी स्कूल के लड़के मुर्गा बनने पर हो जाते हैं। पास पहुँचकर मैंने पूछा—

"किस ग्रन्थ का अध्ययन हो रहा है?"

उन्होंने बड़ी बाँकी अदा से गरदन उठाकर कहा:

"डिक्शनरी—वृहत् हिन्दी शब्द-सागर का।"

मेरी कुछ समझ में नहीं आया। पूछा—"डिक्शनरी का अध्ययन? यह तो आज ही देखा!"

"तुमने अभी देखा ही क्या है? तुम अभी बच्चे हो!" एक ही वाक्य में उन्होंने मेरे तीस सालों पर पानी फेर दिया! "अरे भाई, डिक्शनरी में सारे शब्द दिए होते हैं। जिसने इसका अध्ययन कर लिया, उसको फिर साहित्य में पढ़ने को रह ही क्या गया?"

उनके तर्क का खण्डन करना मेरी बुद्धि के बाहर था। मैंने दूसरा प्रश्न किया—"तो आपने साहित्यकार बनने का निश्चय कर लिया है?"

"क्या करें, भाई, मजबूरी है। आजकल अच्छे साहित्य की इतनी कमी है कि मैंने उसे पूरा करना अपना कर्त्तव्य समझा।"

अब उन्होंने एक साहित्यिक के बाह्य आडम्बर की ओर ध्यान दिया। बाल तो लम्बे थे ही। अब वह कंघे से उनके साथ कम छेड़छाड़ करते। दो लटें उनके माथे पर झूमती रहतीं, तेल का उपयोग भी कम ही होता। काजल का थोड़ा खर्च बढ़ गया। खद्दर का ढीलाढाला कुर्त्ता, जिसकी बाँहें आवश्यकता से अधिक लम्बी होतीं। मोटी धोती घुटनों से कुछ ही नीचे तक लटकती रहती। पैरों में मोटे तले की फटाफट बजती चप्पलें कत्थक नृत्य का समाँ बाँध देतीं। दो-तीन मोटी-मोटी पुस्तकें हर समय उनकी बगल में दबी रहती थीं।

एक दिन वह अपनी बगलवाली किसी पुस्तक की समालोचना करने लगे—"छपाई अच्छी है, कागज भी कीमती है, पर मूल्य कुछ अधिक है। भूमिका बहुत सुन्दर लिखी गई है, लेकिन पुस्तक में कोई तत्त्व नहीं है।"

उत्सुकतावश मैं वह पुस्तक उनसे लेकर देखने लगा। मुझे बीच के कई पृष्ठ आपस में जुड़े हुए मिले। मैंने पूछा—"आपने यह पुस्तक पढ़ी भी है?"

गम्भीर मुख बनाकर वह बोले—"पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है? पूरी पुस्तक पढ़कर आलोचना करने का अब रिवाज नहीं है। जिसकी भूमिका अच्छी हो—बस, समझ लो कि उस पुस्तक में कोई सार नहीं। आजकल भूमिका पर ही अधिक जोर दिया जाता है।"

खैर, साहब, तो बड़ी तेजी से वह साहित्यिक बनते चले जा रहे थे। एक दिन बड़े गर्व के साथ उन्होंने बताया कि पहला पड़ाव तो उन्होंने मार लिया। बोले—"एक-चौथाई साहित्यिक तो बन गया हूँ। एक प्रेस में प्रूफ-रीडरी करने लगा हूँ।"

मैंने कहा—"यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है। पर यह तो बताओ, मित्र, बाकी तीन-चौथाई साहित्यिक बनने के लिए क्या-क्या करना होगा?"

"कविता, कहानी और लेख लिखना, फिर किसी पत्रिका का सम्पादक बनना, और अन्त में कोई महाकाव्य लिखकर उसे किसी परीक्षा के पाठ्य-क्रम में लगवा देना।"

प्रूफ-रीडरी करते हुए जब उन्हें तीन महीने हो गए, तो उनकी प्रगति जानने के लिए मैंने पूछा—"भाई, अब तक तो काफी अभ्यास हो गया होगा। कितने दिन और प्रूफ-रीडरी करते रहोगे?"

"मित्र, जिस प्रकार मिनिस्टर बनने के लिए जेल जाना आवश्यक है, उसी प्रकार साहित्यिक बनने के लिए प्रूफ-रीडरी करनी जरूरी है। जितने दिन अधिक जेल काटी, उतनी ही बड़ी मिनिस्टरी मिलती है, वैसे ही जितने दिन अधिक प्रूफ-रीडरी करोगे, उतने ही बड़े साहित्यिक बनोगे।"

लेकिन दूसरे ही दिन पता चला कि मालिक से मतभेद होने के कारण उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया है। मतभेद का कारण यह था कि गलत शब्द तो प्रायः उनकी दृष्टि से चूक जाते थे, परन्तु सही शब्दों पर उन्हें न-जाने क्यों शंका होने लगती

थी, और बिना शब्दकोष में देखे वह उन्हें अपनी ओर से ठीक कर देते थे। शब्दकोष का बराबर प्रयोग करना वह अपमानजनक समझते थे, क्योंकि उसका अध्ययन वह एक बार कर चुके थे—और अपनी स्मरण-शक्ति पर उन्हें पूरा विश्वास था। जब शब्दों के साथ उनका यह अत्याचार सीमा से बढ़ गया, तो प्रेस के मालिक ने उन्हें त्याग-पत्र देने पर विवश करने में ही हिन्दी भाषा का हित समझा।

लेकिन वह अपनी धुन के पक्के थे। एक दिन उन्होंने शुभ समाचार सुनाया कि वह एक पत्रिका के सम्पादक बन गए हैं। एक सेठ को उन्हीं की तरह साहित्यिक बनने का शौक चर्राया था। बस, उसे पटाकर उन्होंने पत्रिका निकालने पर राजी कर लिया।

पत्रिका निकलने लगी। उसमें एक कविता सेठजी के नाम से प्रकाशित होती। सेठानीजी ने भी सोचा कि घर की पत्रिका है, लगे हाथों वह भी कुछ साहित्य-सेवा कर लें। एक कविता उनके नाम से भी जाने लगी। दोनों को लिखने का भार 'उलझनजी' पर था।

'उलझनजी' पत्रिका के काम में ऐसे उलझे कि और सब बातें भूल गये। देर तक दफ़्तर में बैठे रहते। साहित्यिकों से वाद-विवाद होता रहता, जिसमें श्रोता का पार्ट 'उलझनजी' अदा करते। उनके मतानुसार सर्वत्र उनकी धाक जम गई।

लेकिन उनकी सम्पादकी की धाक उनकी पत्नी पर नहीं जम सकी। देर-सवेर घर लौटने का कारण पत्नी की परेशानी बढ़ गई। उन्हें खाना लिए बैठा रहना पड़ता था। जब पत्नी ने इसकी शिकायत की तो 'उलझनजी' झुँझलाकर बोले—

"तुम जैसी अनपढ़ गँवार को क्या पता कि साहित्यिकों का जीवन कितनी कड़ी तपस्या है! हम लोगों को तो विवाह करना ही नहीं चाहिए; क्योंकि साहित्य-सेवा में घर-गृहस्थी सबसे बड़ी बाधा होती है। खैर, अपनी ही किस्मत खराब है।" उन्होंने अपनी तकदीर ठोंक ली।

पत्नी तुनककर बोली—"किस्मत तो मेरी ही खराब है, जो किताबों का बोझा ढोनेवाले से विवाह हुआ! तुम साहित्यिक किधर से हो? जन्म-पत्री में गलत नाम नहीं निकला था।"

अपनी योग्यता की इस अर्थपूर्ण तुलना से 'उलझनजी' बौखला उठे। यदि संयोगवश मैं वहाँ न पहुँच जाता, तो वह पत्नी के ऊपर दुलत्ती झाड़ ही बैठते। मैं उन्हें पुचकारकर बाहर लाया, हरी घास पर टहलाया, उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा की, तब कहीं उनका पारा नार्मल पर आया।

इस दुर्घटना के पश्चात् 'उलझनजी' और भी देर से घर लौटने लगे। घर से उन्हें वैराग्य हो गया, लेकिन उनकी रसिकता बढ़ती गई। इसका प्रमाण था उनकी पत्रिका में प्रकाशित होनेवाली कविताएँ, जिनकी लेखिकाएँ लड़कियाँ होती थीं। पाठिकाओं के पत्रों का उत्तर वह स्वयं सुन्दर-सुन्दर अक्षरों में लिखते, जिसके प्रत्येक शब्द से उनका प्रेमी हृदय झाँका करता था। अपने ही नगर की एक लेखिका राधाजी

की ओर 'उलझनजी' विशेष रूप से आकर्षित थे। उनकी कविता हर अंक में प्रकाशित होने लगी। राधाजी अपने पत्रों में उनके प्रति असीम श्रद्धा प्रकट करतीं। इसे प्रेम का प्रथम चरण समझकर उन्होंने भी राधाजी को अपनी प्रेम की वंशी सुनानी शुरू कर दी।

उनकी बेताबी इतनी बढ़ी कि वह राधाजी के प्रत्यक्ष दर्शनों के लिए लालायित हो उठे, और एक पत्र द्वारा अपनी तीव्र इच्छा उन पर प्रकट कर दी। शीघ्र उत्तर भी आ गया कि दो दिन पश्चात् वह उनसे मिलने उनके दफ़्तर में आयेंगी।

बस, फिर क्या था! उनके स्वागत के लिए 'उलझन जी' ने दफ़्तर की सफाई करवा डाली। मेज-कुरसी पर पालिश हुई। अपनी विद्वत्ता का रोब दिखाने के लिए कई पुस्तकें खरीदकर दफ़्तर में सजा दीं।

राधाजी के आगमन का दिन आया। आज 'उलझनजी' ने अपने शरीर को विशेष परिश्रम करके माँजा। बालों में सरसों के तेल की जगह सुगन्धित विलायती तेल डाला। कंघे को काफी कष्ट दिया। कपड़ों में ईवनिंग-इन-पेरिस की पूरी शीशी खपा दी। नई चप्पलें खरीदीं, मुँह में पान दबाया। पूरे दूल्हा बनकर रोज के समय से काफी पहले ही दफ्तर में पहुँच गए। आज उन्हें समय की गति बहुत मन्द लग रही थी। बेताबी में उठकर इधर-उधर चक्कर काटने लगते।

आखिर ग्यारह बजे। राधाजी के आने का समय हो गया। 'उलझनजी' हृदय को शान्त रखने का प्रयत्न करते हुए कुरसी पर बड़ी अदा से पोज बनाकर बैठ गए। तभी चपरासी ने अन्दर आकर राधाजी का कार्ड दिया। उलझनजी का हृदय धक-धक करने लगा। पर अपनी उतावली दबाकर, ऊपर से गम्भीर मुद्रा बनाए हुए रोबीले स्वर में उन्होंने चपरासी से कहा—"उन्हें अन्दर ले आओ।" और फिर एक मोटी-सी पुस्तक खोलकर उस पर झुक गए।

राधाजी आईं और उनके सामने खड़ी हो गईं। लेकिन 'उलझनजी' जान-बूझकर उस मोटी पुस्तक में ही उलझे रहे।

इसी स्थिति में जब एक-दो मिनिट बीत गए और 'उलझनजी' को विश्वास हो गया कि अब तक राधाजी पर उनकी विद्वत्ता का प्रभाव अवश्य पड़ गया होगा, तो उन्होंने चेहरे पर मुसकराहट लाकर गरदन ऊपर उठाई और अपनी कल्पना की सुन्दरी के रूप का रस-पान करने के लिए ज्यों ही उसके मुख पर दृष्टि डाली कि संज्ञाहीन होकर कुरसी पर लुढ़क गए।

सारे दफ्तर में खलबली मच गई। डाक्टर को फोन करके बुलाया गया। उसने परीक्षा करके बताया, "हृदय की गति मन्द है। भावुक होने के कारण वैसे ही इनका दिल बहुत कमजोर है। मालूम होता है इन्हें कोई बहुत गहरा सदमा पहुँचा है।"

दफ्तर के लोगों ने बताया कि यह आज सुबह से तो बहुत प्रसन्न थे—सदमे का कोई कारण समझ में नहीं आता, हाँ, यह देवीजी इनके पास अभी आई थीं। शायद इनसे कुछ कहा-सुनी हो गई हो।

राधाजी ने कहा कि उनसे तो एक बात भी नहीं हुई।

"आप इन्हें कब से जानती हैं ?" डाक्टर ने पूछा। उसे इन्हीं पर शक था।

"बहुत दिनों से इनका-मेरा पत्र-व्यवहार था। आज मैं इनसे मिलने आई थी।"

डाक्टर ने उनकी ओर घूरते हुए सीधा प्रश्न किया, "आप इनकी कौन हैं ?"

बिना किसी प्रकार की झिझक के राधाजी ने उत्तर दिया, "हमारा सम्बन्ध बहुत पुराना है। मैं इनकी सात फेरोंवाली पत्नी हूँ। आपको कोई आपत्ति है ?"

डाक्टर झेंप गया।

और इस दुर्घटना के पश्चात् महान् साहित्यकार पंडित लक्ष्मीशंकर 'उलझन' फिर से खचेड़ू बन गए। काश कि उनकी पत्नी हिन्दी साहित्य की—अपने कारण हुई—महान क्षति का अनुमान कर पातीं !

तुलसीदास की बोलती बन्द

हरिशंकर शर्मा

●

वयोवृद्ध साहित्य-सेवी श्री हरिशंकर शर्मा का जन्म सन् १८९३ में अलीगढ़ में हुआ था। आप प्रथम श्रेणी के हास्य-लेखक, सुकवि, विख्यात् सम्पादक और सच्चे साधक हैं। हिन्दी, संस्कृत और उर्दू पर आपका पूर्ण अधिकार है। आप 'आर्यमित्र', 'निराला', 'सैनिक' आदि कई पत्रों के सम्पादक, कितनी ही संस्थाओं के सदस्य और साहित्य-पुरस्कारों के निर्णायक रह चुके हैं। १९४६ में प्रयाग में होनेवाले पत्रकार-सम्मेलन का सभापतित्व आपने ही किया था। आपकी साहित्यिक-सेवाओं के कारण इस वर्ष आगरा विश्वविद्यालय ने आपको साहित्य के डाक्टर की उपाधि प्रदान करने का समाचार प्रसारित किया है।

रचनाएँ

'मन की मौज', 'पिंजरा-पोल', 'चिड़ियाघर', 'मटकाराम मिश्र', 'गड़बड़-गोष्ठी', 'वेकि क्रिसन रुकमणी री', 'राम-राज्य', आदि।

शंकर-सदन, आगरा

चेयरमैन—"आप तो बहस करने लगते हैं…"

"राष्ट्र-भाषा हिन्दी की अभिवृद्धि और उन्नति देखकर, दिलदारों के दिल खुशी से बल्लियों ऊँचे उछलने लगते हैं। प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। कविता की दृष्टि से तो, सचमुच, हिन्दी उन्नति के 'एवरेस्ट' पर चढ़ चुकी है। वर्तमान समय में जितने कवि हैं, उतने बाबा वाल्मीकि और काका कालिदास के युग में भी न हुए होंगे। राजकवि-समाजकवि, सरकारकवि-दरबारकवि; धर्म्मकवि-कर्म्मकवि; राष्ट्रकवि-महाराष्ट्रकवि; क्रांतिकारीकवि-भ्रान्तिकारीकवि; वीरकवि-गम्भीरकवि; रहस्यकवि-भविष्यकवि; भजनीककवि-प्रत्यनीककवि; उपहारकवि-इश्तहारकवि; ठाठकवि-भाटकवि; फटकारकवि-चाटुकारकवि; हँसैयाकवि-गवैयाकवि; छायावादीकवि-कायावादीकवि; प्रगतिकवि-कुगतिकवि; प्रयोगीकवि-वियोगीकवि; जनानाकवि-मर्दानाकवि; चोरकवि-शोरकवि; व्यापारीकवि-परोपकारीकवि; रोगीकवि-भोगीकवि; वाहकवि-आहकवि; फीसकवि-खीसकवि; स्वच्छन्दकवि-गतिमन्दकवि इत्यादि सैंकड़ों प्रकार के कवि हिन्दी काव्य-कानन में किलोल करते दिखाई देते हैं।

"कोई कवि रवीन्द्र का अवतार है, कोई कवीन्द्र का प्रतिरूप। कोई तुलसीदास का ताऊ है, तो कोई सूरदास का दादा। कोई बिहारी से टक्कर लेकर योजनों आगे बढ़ गया है तो कोई केशव पर पाद-प्रहार कर उन्नति की अट्टालिका पर चढ़ गया है। कोई कवि युग-प्रवर्तक है तो कोई काव्य-कला-निवर्त्तक। कोई अनुभूति-विरक्त है तो कोई सम्भूति-अनुरक्त। निदान जिस नगर और जिस डगर में देखिए उसी में आपको हिन्दी के दस-पाँच 'बर्नार्ड शा', चार-छः रवीन्द्रनाथ, एक-दो विश्वकवि इत्यादि की प्रांजल प्रतिभा-प्रभा पुण्य तलाश करती दिखाई देगी। यह सब हिन्दी की सुन्दर सत्ता और मोहक महत्ता नहीं तो क्या है!

"जिस हिन्दी-गगन-मण्डल में ऐसे महाकवियों की कविता-कादम्बिनी विमल वारि-वर्षाकर विश्व को विमोहित कर रही हो, जिस राष्ट्रभाषा के सत्कवियों ने अपने चमत्कारी और हृदयहारी प्रभाव से सारे संसार के साहित्य को सुरभित कर दिया हो, उसमें बीसियों 'विश्वकवि' तो हों, पर 'ब्रह्माण्डकवि' कोई न हो, इससे अधिक आश्चर्य, लज्जा और परिताप की बात और क्या हो सकती है! क्या हिन्दीवालों के लिए यह डूब मरने का अवसर नहीं है?" इतना कहकर कविवर केकीकुमारजी जोर-जोर से रोने और आँसुओं से पग धोने लगे। निरुत्साहपूर्ण वातावरण और निराशामय विषाद से उनका कलित कलेवर कान्तिहीन-सा दिखाई देने लगा।

कवि-कोविद केकीकुमार की ऐसी अशोभनीय अवस्था देख श्रीमती कपोतकान्ताजी चिन्ता-चिता से दग्ध होकर विदग्ध हो गईं। वह अपने तरुण मित्र का समर्थन

करती हुई कहने लगीं—

"वस्तुतः संसार बड़ा कृतघ्न यानी एहसान-फरामोश है। हम लोग हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने चले हैं। 'विश्व' ही नहीं 'ब्रह्माण्ड' तक, हिन्दी कविता-कामिनीके नयनाभिराम नृत्य से कृतकृत्य हो रहा है। लोक-लोकान्तरों में, देवी-देवता तक, हिन्दी के हिंडोले में बैठकर, साहित्य-सुधा-रस पान करने में, अपने को कृतार्थ और सिद्धार्थ मानते हैं; परन्तु आश्चर्य है कि हिन्दी में अब तक किसी ब्रह्माण्डकवि की कल्पना भी नहीं की गई···"

अभी कपोतकान्ताजी अपनी पूरी बात भी न कह पाई थीं कि कविवर काक-किशोरजी आवेश से अँगड़ाइयाँ लेने लगे। उन्होंने अपनी जीभ-जवांमर्द को मुख-मर्द में मूँदकर बहुतेरा संयम की सांकलों में बाँधना चाहा, परन्तु वह तो विशृंखल विद्रोही की भाँति उद्धत और उद्दण्ड बनकर तीव्र तुण्ड से तुरन्त तुमुल युद्ध करने को तैयार हो गई। वह बोले—

"अन्याय, घोर अन्याय ! देश परतन्त्र-पाश को 'पाश-पाश' कर स्वतन्त्रता की स्वच्छ सड़क पर स्वच्छन्द दौड़ने लगा है। दासता की वज्र-बेड़ियाँ तोड़ स्वतन्त्रतादेवी ने अपना अटल आसन जमा लिया, परन्तु नेता-विजेता; लीडर-प्लीडर, मिनिस्टर-सिकत्तर; राष्ट्रपति-योगियती किसी को भी यह नहीं सूझा कि जिस हिन्दी के एक साधारण-से गीत (झण्डा-गान) ने दलित देश-वासियों में विशुद्ध वीर-भावना भरकर, लाखों नर-नारियों को बलि-वेदी पर चढ़ा दिया। त्याग-तपस्या के मैदान में बढ़ा दिया, ब्रिटिश साम्राज्य के छक्के छुड़ा दिए, एटम बम के होश उड़ा दिए, गौरांग महाप्रभु भारत से भगा दिए और अन्त में आजादी दिला दी, उसमें कोई 'ब्रह्माण्ड-कवि' नहीं। कैसी कृतघ्नता और कितना लज्जाजनक व्यापार है !·····"

कवि कारण्डवजी—"बेशक-बेशक, विदेशी भाषाओं की तो बात ही क्या, बंगला, मराठी, गुजराती, गुरुमुखी, तमिल, तेलगू, कनारी, मलयालम आदि किसी भी भारतीय भाषा की हिम्मत न हुई जो भारत-माता के इस संकट-काल में आड़े आकर, उसका पराधीनता-पाश काटने के लिए आगे बढ़ती। अकेली हिन्दी, हाँ, हिन्दी ही प्रचण्ड रणचण्डी का रूप धारण कर स्वातन्त्र्य-संग्राम में कूदी, फाँसी के झूले पर झूली और कारागार की काली कोठरियों में गूँजी-गरजी। यहाँ तक कि उसकी सगी-सहेली बनने का दम भरनेवाली उर्दू बेगम ने भी साथ न दिया। ऐसी कर्तव्यपरायण, भव्य भावान्विता भगवती भारत-भाषा के काव्यालोक में 'ब्रह्माण्ड कवि' कलाधर की कीर्ति-कौमुदी का न छिटकना बड़े ही दुःख और आश्चर्य की बात है ! कई वर्षों से 'ब्रह्माण्ड कवि' के निर्वाचन का आन्दोलन चल रहा है, परन्तु किसी भी साहित्य-संस्था ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। क्यों देतीं ! ये संस्थाएँ तो 'चन्दा-चयन' और 'वोट-बटोरन' को ही अपना चरम आदर्श और ध्रुव ध्येय बना चुकी हैं।"

कुल्लूक कवि—"तुम लोगों की बेढंगी और विचित्र बातें सुनते-सुनते मेरा मन-मयूर विषाद से व्याकुल होकर व्यथित हो उठा है। तुम्हें क्या मालूम कि संसार

में क्या हो रहा है। कभी कोई समाचार भी पढ़ते हो, या यों ही ऊल-जलूल बातें बकते रहते हो ? ज्ञात होता है, तुमने 'नैशिक सन्देश' के ताजे अंक नहीं पढ़े। उनमें 'ब्रह्माण्ड कवि-कमीशन' के विस्तृत समाचार छपे हैं। 'निखिल ब्रह्माण्ड विराट् वाङ्मय-सम्मेलन' की ओर से यह कमीशन नियुक्त हुआ है, जो सारे कवियों से वार्तालाप कर उनकी योग्यता की जाँच करेगा और सर्वश्रेष्ठ कवि को 'ब्रह्माण्ड कवि' की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत करने की सिफारिश करेगा।"

कौशिक कवि—"कुल्लक कविजी ने बिलकुल ठीक कहा है। 'नैशिक सन्देश' के ये सारे अंक मेरे पास हैं। आधुनिक महाकवियों के 'इण्टरव्यू' पीछे लिए जाएँगे। पहले पुराने ढर्रे के यानी दकियानूसी छोटे-मोटे कवियों के इण्टरव्यू लिए जा रहे हैं। सबसे पहले तुलसीदास नामक किसी कवि के 'इण्टरव्यू' का हाल छपा है। पढ़कर बड़ी हँसी आती है और आश्चर्य होता है कि इस प्रकार के बूढ़े-बबक्कड़ों को भी 'ब्रह्माण्ड-कवि' बनने का शौक चर्रा उठा है। नये युग के कुछ पढ़े-लिखे महाकवि इस ओर ध्यान देते तो कुछ बात भी थी।"

कपोतकान्ता—"वाह, खूब! यह तो आपने बड़ा सुन्दर समाचार सुनाया। कृपया 'नैशिक सन्देश' के वे अंक दिखाइए, जरूर दिखाइए।"

केकी कवि—"अच्छा, इस कमीशन के सदस्य कौन-कौन हैं?"

कौशिक कवि—"प्रो० रहस्यानन्द शर्मा, प्रिंसिपल छायासिंह वर्मा और आचार्य कायाकिशोर। इन तीन व्यक्तियों की समिति नियुक्त हुई है। प्रिंसिपल वर्मा समिति के अध्यक्ष हैं। जिन कवियों के नाम 'हिन्दी-इतिहास' में आए हैं, वे ही कवि-पुंगव 'इण्टरव्यू' को बुलाए जाएँगे, अन्य नहीं।"

कीर कवि—"खैर, आप तुलसीदास के 'इण्टरव्यू' की रिपोर्ट सुनाइए, हम सब शान्त होकर सुनेंगे। जरा धीरे-धीरे, जोर-जोर से और स्पष्ट। देखिए, कोई शब्द छूटने न पाए।"

कुल्लूक कवि—"अच्छा, सुनिए—

ब्रह्माण्डकवि कौन हो ?

तुलसीदास की बोलती बन्द : कवि-कुल में कोलाहल : एक असफल इण्टरव्यू

(हाथ में माला, लम्बी धोती, मोटा दुपट्टा, सिर पर कनटोप और पैरों में पादुकाएँ धारण किए तुलसीदास का प्रवेश।)

चेयरमैन—(सामने पड़ी कुर्सी पर बैठने का संकेत करते हुए) आइए, विराजिए। आपका शुभ नाम तुलसीदास है। कहाँ रहते हैं ? यानी किस स्थान से पधारे हैं ? क्षमा कीजिए, मैं आपसे और आपकी रचनाओं से विशेष परिचित नहीं हूँ। नाम तो कहीं सुना है।

तुलसी—मैं सीधा सुरधाम से आ रहा हूँ। आपका निमंत्रण कल ही मिला था।

चेयरमैन—आप अंगरेजी तो न जानते होंगे। खैर, 'साहित्यरत्न' किस डिवी-

जन में पास किया है ? विशारद किया हो तो यही बताइए। प्रथमा तो की ही होगी।

तुलसी—नहीं, मैंने देववाणी संस्कृत, अवधी और···

चेयरमैन—(बीच में टोककर) अच्छा, आपने आधुनिक हिन्दी साहित्य का व्यापक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। यानी नवीन हिन्दी-ग्रंथों से आपका सम्बन्ध नहीं है। अच्छा तुलसीदासजी, आपने किसी कालिज की बिल्डिंग यानी इमारत, जिसे आप लोग भवन कहते हैं, देखी है ? किसी आंग्लभाषाभिज्ञ हिन्दी आचार्य के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया है ?

तुलसी—मैंने कभी कोई कालिज नहीं देखा और न वहाँ के किसी विद्वान् का दर्शन-लाभ किया है। मैं तो कथा-वार्ता करता रहा हूँ।

चेयरमैन—(साथी सदस्यों से अंगरेजी में– 'इस्टीरियो टाइप्ड बैकवर्ड एण्ड आकवर्ड !' अच्छा, तुलसीदासजी आपने हिन्दी के किन-किन महाकाव्यों का अध्ययन किया है ?

तुलसी—वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, नैषध, माघ, किरात, नल-चम्पू और शास्त्र तथा पुराण भी।

चेयरमैन—नहीं, नहीं, इन पुराने ढर्रे की साधारण पुस्तकों से मेरा मतलब नहीं है। आधुनिक काव्य आपने कौन-कौन पढ़े हैं ?

तुलसी—आधुनिक काव्यों से श्रीमान का क्या अभिप्राय है, सो मैं समझना चाहता हूँ।

कायाकिशोर—'कनवैसिंग कौशल', 'पगड़ी उछाल', 'तृणवत्मन्यते जगत्', 'अहम्मन्य मानव', 'आत्मश्लाघा-महत्व', 'छन्द छवि-विद्रावण', 'भाव-भस्माकर', 'रस-विषकरण', 'अलंकार-क्रन्दन' आदि काव्यों में से आपने किस-किस का अध्ययन किया है ?

तुलसी—श्रीमन्, मैंने तो इन ग्रन्थों के कभी नाम भी नहीं सुने।

रहस्यानन्द—रीतिकालीन रस, छन्द, अलंकार आदि व्यर्थ के बखेड़ों में तो आपका विश्वास नहीं, यानी इस व्यर्थवाद में पड़कर तो आपने अपनी प्रतिभा-प्रभा का मन्दीकरण नहीं किया ?

तुलसी—आप इन्हें 'व्यर्थ' और 'बखेड़ा' बताते हैं, मैंने तो इन्हें बड़े आदर···

चेयरमैन—बहस मत कीजिए, महाराज ! आप तो 'हाँ' या 'न' में उत्तर देते चलिए। खैर, मतलब यह कि आप रीतिकालीन कूड़ा-करकट को पसन्द करते हैं। अच्छा, आपकी लिखी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक कौन-सी है ?

तुलसी—मेरे लिखे 'रामचरित-मानस' को लोग अधिक पढ़ते हैं।

चेयरमैन—हाँ, नाम तो इस किताब का सुना है, कहानियों की अच्छी किताब बताई जाती है। क्या उसमें कवित्व और प्रगतिशीलता भी है ?

तुलसी—मैं कैसे निवेदन करूँ, इसका निर्णय तो आप स्वयं उसे पढ़कर ही कर सकते हैं।

चेयरमैन—बाबा, हमें अवकाश कहाँ, जो ऐसी चीजों को पढ़ते फिरें ! अच्छा, यह तो बताइए, आपने अपनी कोई कृति राजाओं और सेठों को समर्पित कर कुछ लाभ उठाया ? किसी श्रीमान् का चित्र अपनी पुस्तक में छपवाया ?

तुलसी—हम साधुओं का राजा-महाराजाओं से क्या सम्बन्ध ! दो मधूकड़ियाँ खा लीं और पड़ रहे। कैसा चित्र और कहाँ का लाभ ?

चेयरमैन—आप तो बहस करने लगते हैं ! स्पष्ट कहिए कि नहीं ! व्याख्यान देने की क्या जरूरत है !

कायाकिशोर—अच्छा, तुलसीदासजी, आपकी पुस्तकों पर जिन लोगों ने भूमिकाएँ लिखी हैं, उनमें आंग्लभाषाभिज्ञ आधुनिक आचार्य कौन-कौन हैं ?

तुलसीदास—मैंने किसी से कोई भूमिका नहीं लिखाई।

चेयरमैन—रेडियो पर भी कभी आप बोले ? यानी माइक (लाउड स्पीकर) की ओर मुँह करके भी कभी कुछ कहा है ?

तुलसी—कभी नहीं।

चेयरमैन—रबर छन्द, केंचुआ छन्द, फेंचुआ छन्द, स्वच्छन्द छन्द आदि छन्दों का भी आपने कभी प्रयोग किया ?

तुलसी—नहीं, ये छन्द मैंने पिंगल-शास्त्र में कहीं नहीं पढ़े। फिर प्रयोग कैसा ?

चेयरमैन—रहस्यवाद, छायावाद, कायावाद, मायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोग-वाद, पलायनवाद आदि वादों के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं, विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिए ?

तुलसी—निश्चय ही साहित्य-दर्पण, नाट्य-शास्त्र, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, रस गंगाधर आदि ग्रंथों में इनका उल्लेख नहीं··फिर मैं···

चेयरमैन (बात काटकर)—तुलसीदासजी, इन दिमाग सड़ानेवाली किताबों की सूची न गिनाइए। प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर दीजिए।

तुलसी—जी, मैं इन वादों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता।

रहस्यानन्द—यों कहिए। अच्छा 'इलियट' और 'हडसन' ने काव्य तथा कला की क्या परिभाषा की है ?

तुलसी—ये दोनों कौन हैं—पुस्तक या मनुष्य अथवा और कुछ ? मेरी इस सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं है।

कायाकिशोर—अच्छा, किस-किस कृति पर आपको क्या-क्या पुरस्कार और पदक मिले हैं ? अपनी सरकारी सहायता प्राप्त पुस्तकों के नाम बताइए।

तुलसी—मैंने कोई पुस्तक पदक-पुरस्कार या सहायता-प्राप्ति के लिए नहीं लिखी। मैंने तो जो लिखा भगवान श्रीराम के अर्पण कर दिया।

चेयरमैन—कवि-सम्मेलनों से आपको कितनी भेंट और पदक, पुरस्कार तथा प्रमाण-पत्र मिले हैं ? कहाँ-कहाँ से ? और कब-कब ?

तुलसी—कहीं से नहीं, कभी नहीं ! कवि-सम्मेलनों में मैं नहीं जाता, क्यों कि

भगवान ने मेरी वाणी में जनता को रिझाने की शक्ति प्रदान नहीं की।

चेरयमैन—आपने कोई ऐसी भी कविता लिखी जिसे आप स्वयं न समझते हों ?

तुलसी—ऐसी कविता कैसे लिखी जा सकती है ? बिना सोचे-समझे कौन कविता करेगा !

चेयरमैन—आप तो बहस बहुत करते हैं, 'इण्टरव्यू' का तरीका बिलकुल नहीं जानते। 'हाँ' या 'न' में उत्तर दीजिए। 'ब्रह्माण्ड-कवि' बनने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है, वे सब अवश्य पूछी जायेंगी। बताइए, आपने कोई ऐसी कविता लिखी, जिसे आप स्वयं न समझते हों ?

तुलसी—जी नहीं।

चेयरमैन—(स्वगत—'ऐसी कविताएँ लिखना प्रतिभाशाली कवियों का काम है। आपसे तो उनकी आशा भी नहीं की जा सकती थी !') खैर, हाँ, आपने बड़ी-बड़ी सभाओं में नेताओं, विजेताओं के स्वागत-गान तो पढ़े होंगे। कुछ महत्त्वपूर्ण अवसरों का उल्लेख कीजिए।

तुलसी—जगवन्दन रघुनन्दन के अतिरिक्त किसी नेता-विजेता के गुण-गान मैंने नहीं किए और न कभी सभाओं में स्वागत-गीत ही पढ़े।

चेयरमैन—आप अनन्त की ओर कितनी ऊँचाई तक उड़े हैं ?

तुलसी—बिलकुल नहीं।

चेयरमैन—हृत्तन्त्री के तार बजाने का कैसा अभ्यास है ? उषा का घूँघट कभी उघाड़ा ?

तुलसी—कभी नहीं।

रहस्यानन्द—सुन्दरी की स्वर्णिम पलकों के झूलों पर झूलते समय आपको क्या अनुभव होता है ?

तुलसी—मैं कभी नहीं झूला।

चेयरमैन—सिने-गीत लिखने का पारिश्रमिक लेते हैं, या कुछ मासिक तय कर रखा है ? कितने गीत लिखे हैं ?

तुलसी—गीत तो मैंने बहुत लिखे हैं, परन्तु वे 'स्वान्तः सुखाय' लिखकर भगवान के अर्पण कर दिये हैं।

चेयरमैन—साल-भर में आप कितने दर्जन काव्य लिख लेते हैं ? उनमें से 'क्रान्तिकारी' और 'युगप्रवर्तक' दो-चार काव्यों के नाम बताइए।

तुलसी—जीवन-भर में एक-दो अच्छी रचनाएँ बन पड़ीं, यही बहुत है। दर्जनों की तो बात ही क्या ?

चेयरमैन—अच्छा, आपको काव्य-रचना का बहुत ही कम अभ्यास है। जीवन में एक-दो काव्य ! ऐसी मन्द गति ! खैर, आपके लिखे गद्यगीत और अतुकान्त काव्य कितने हैं ?

तुलसी—मैंने इन दोनों शैलियों का अनुकरण नहीं किया।

कयाकिशोर—साहित्य की आप किस गोष्ठी से सम्बन्धित हैं, अर्थात् आपका 'प्रोपेगैण्डा' यानी प्रचार करनेवाले कौन-कौन मित्र हैं ?

तुलसी—मेरा किसी गोष्ठी-वोष्ठी से सम्बन्ध नहीं। मैं तो अकेला हूँ, भगवान की चरण-शरण में पड़े रहना ही मेरे तुच्छ जीवन का ध्येय है।

चेयरमैन—कवि-जीवन के लिए कोई-न-कोई गोष्ठी तो जरूरी है, आपकी कोई गोष्ठी नहीं, आश्चर्य की बात है ! खैर, आपकी किन-किन सम्पादकों और समालोचकों से घनिष्ठता है ?

तुलसी—किसी से नहीं, मैं तो एकान्त में जीवन बितानेवाला फक्कड़ आदमी हूँ।

चेयरमैन—आपने अपने पूर्ववर्ती प्रसिद्ध कवियों या श्रेष्ठ साहित्यकारों में से किस-किस के दोष-दर्शन कराकर, अक्षय कीर्ति कमाई है ?

तुलसी—किसी के नहीं, मैं तो सबका भक्त, प्रशंसक और शिष्य हूँ। मैंने तो सब-कुछ अपने पूर्ववर्तियों से ही सीखा है।

रहस्यानन्द—भावापहरण करने या दूसरों की रचनाओं को अपने नाम से छपाने में कितनी कुशलता प्राप्त की है ? यानी इन दोनों कलाओं में कैसी गति है ?

तुलसी—मैंने दूसरे ग्रन्थों से भाव लिए हैं, और उनका स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया है—'नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।'

चेयरमैन—आपने कोई 'थीसिस' लिखी है ? 'थीसिस' को आप समझते हैं ?

तुलसी—सुना है, 'थाइसिस' बड़ा संहारक रोग होता है। बस, इतना ही जानता हूँ।

चेयरमैन—(मुसकराकर—मन ही मन—'बड़े वज्र मूर्ख से पाला पड़ा है, कुछ समझता ही नहीं ! एकदम सदियों पुराना !') अच्छा, तुलसीदासजी, यह और बताइये कि आपने अपने ग्रन्थों या ग्रन्थांशों को पाठ्य-क्रम में नियुक्त कराने के लिए क्या-क्या कौशल किये ? उनके बदले में रायल्टी ली या कापी-राईट दे दिया ?

तुलसी—आपसे निवेदन तो किया, श्रीमान्, कि मैंने तो स्वान्तसुखाय ही सब-कुछ लिखा है, आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं। 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-भाषा-निबन्धमतिमंजुलमातनोति।'

चेयरमैन—अच्छा, आप चाय, भंग या और जो-कुछ पीते हों उसकी व्यवस्था की जाय।

तुलसी—जी, कुछ नहीं। धन्यवाद।

चेयरमैन—पान-तम्बाकू और बीड़ी-सिगरेट भी नहीं।

तुलसी—जी नहीं, बिलकुल नहीं।

चेयरमैन—अच्छा, अब आप जा सकते हैं। नमस्कार।

(तुलसीदासजी जाते हैं)

तुलसीदासजी के चले जाने पर कमीशन के सदस्यों ने बड़ा कहकहा लगाया।

चेयरमैन ने हँसते हुए अपने साथियों से घृणापूर्वक कहा—"देखा, दुर्भाग्यवश कैसे-कैसे अनाड़ी लोग हिन्दी के महाकवि बन बैठे हैं। मध्यमा और प्रथमा तक पास नहीं! आलोचना और भूमिका का नाम नहीं सुना। किसी कालिजकुमार के चरणारविन्द में बैठने का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया। अनन्त ज्ञानदायिनी अनघा आंग्लभाषा से सर्वथा शून्य। परन्तु फिर भी चल दिये 'ब्रह्माण्ड-कवि' बनने! ऐसे अपढ़ और पिछड़े हुओं से बातें करना, अपने अमूल्य समय को नष्ट करना और 'ब्रह्माण्ड-कवि' की गौरव-गरिमा को गिराना है। अब ये ओल्ड स्कूल के दकियानूसी बूढ़े लोग 'इण्टरव्यू' के लिए हरगिज न बुलाये जायँ। नवीन शैली और प्रगति-परम्परा के प्रतिभाशाली कवियों को ही निमन्त्रण दिया जाय। सूर, केशव, बिहारी, देव, भूषण, पद्माकर, मतिराम, सेनापति, रसखान, रहीम आदि सबके नाम सूची से काट दिये जायँ और अगला 'इण्टरव्यू' आगामी होलिकोत्सव के दूसरे दिन, भौगाँव-भवन, शिकारपुर में हो।"